क्षमा याचना

इस ग्रन्थ के निर्माता आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महाराज के वह शब्द आज भी कानों में गूंज रहे हैं कि स्वर्गीय गुरुदेव के रचित सभी ग्रंथों का मुद्रण एक के बाद एक तुम्हारे प्रेस से होता रहे, आचार्य श्री जी की मुझ पर कुछ कृपा ही थी जो इन शब्दों के साथ यह ग्रंथ भी मुझे मुद्रण के लिये सौंपा गया।

दुर्भाग्यवश कुछ फार्म छपने के बाद मेरे बीमार पड़जाने से लम्बे समय तक मुद्रण का कार्य स्थगित रहा। आज उस दिन को स्मरण कर आत्मग्लानि, खिन्नता और टीस सी उठती है कि उन के जीवनकाल में यह ग्रंथ शीघ्र मुद्रित कर उनकी सेवा में उपस्थित न कर सका।

देर में देर होने के कई कारण बनते रहे, जिससे पाठकों एव विशेषरूप से पूर्व हुए ग्राहकों को इस ग्रंथ की पर्याप्त प्रतीक्षा करनी पड़ी। किन्हीं भी कारणों से होने वाली देरी के लिये मैं प्रकाशक एव पाठक महानुभावों से क्षमा प्रार्थी हूं।

आनन्द प्रिंटिंग प्रेस
जयपुर।

ईश्वरलाल जैन

[नवयुग निर्माता]

चरित्र नायक श्रीमद् विजयानंदसूरिजी महाराज

[नवयुग निर्माता]

श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर

न्यायांभोनिधि जैनाचार्य १००८ श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज
संवत १९४२ का चातुर्मास सुरतमें.

[जैनानंद प्रीं. प्रेस, दरिया महाल सूरत की तरफसे भेट

प्रस्तावना

-:०:-

काश ! आज आचार्यश्री विद्यमान होते !

"क्या इसकी प्रस्तावना आप नहीं लिखोगे पंडितजी ? नहीं आपको ही लिखनी होगी।" आपश्री की इस प्रेम, माधुर्य और वात्सल्यगर्भित वचनावलि का स्मरण आते ही दिल भर आता है, कण्ठरुद्ध और वाणी गद्‌गद् हो उठती है। तभी सहसा मन पुकार उठता है काश ! आज आचार्यश्री विद्यमान होते ! अस्तु।

कुछ अपने विषय में—

स्वर्गीय सूरिसम्राट् श्री मद्विजयानन्द सूरि (श्री आत्मारामजी) महाराज के जीवनचरितात्मक इस महान् ग्रंथ के रचयिता विश्ववन्द्य मानव महान्, परमश्रद्धेय, युगवीर आचार्य श्री मद्विजयवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज से मेरा सम्बन्ध लगभग ४० वर्ष तक रहा। बड़ा भाग्यशाली था मेरे जीवन का वह दिन जब उनका पुण्य सम्पर्क प्राप्त हुआ। बस फिर तो मैं उन्हीं का हो गया और उन्होंने भी जिस दिन से मेरा हाथ पकड़ा तो जीवनपर्यन्त अपनी छत्रछाया से विलग नहीं होने दिया।

काशी मे अध्ययन समाप्त कर वापिस देश लौटने के कुछ महिनों बाद ही मुझे पुण्य सहवास का सौभाग्य प्राप्त हो गया। तब मैं एक अध्यापक के रूप में आपकी सेवामें उपस्थित हुआ था। यह तब की बात है जब कि वि० सं० १९६८ में आपश्री का चातुर्मास वड़ोदा स्टेट के प्रसिद्ध नगर मियां गाम में था। उस समय लगभग १८ साधु मेरे पास व्याकरण, न्याय और काव्यादि विभिन्न विषयों के अध्ययनार्थ नियुक्त किये गये थे। उस समय मुझे वैदिक परम्परा के शास्त्रीय साहित्य का ही ज्ञान था। जैन परम्परा के धार्मिक साहित्य के विषय मे तो मैं बिलकुल ही कोरा था यहां तक कि जैन साधुओं के आचार विचारों का भी मुझे कुछ ज्ञान नहीं था। आपश्री के पुण्य सहवास में आने के कुछ समय बाद जैन ग्रन्थों के स्वाध्याय का अवसर प्राप्त हुआ और उस ओर अभिरुचि बढ़ी।

जैन सद्‌ग्रन्थों के अध्ययन और मनन से जहां जैन सिद्धान्तों से परिचय हुआ वहां हृदय में रही हुई साम्प्रदायिक संकीर्णता के लिये भी कोई स्थान न रहा और प्राचीन सभी भ्रान्त धारणाऐं जाती रहीं।

इसके बदले जैन और वैदिक दर्शन शास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन के लिये मनमें उत्सुकता बढ़ी। फलस्वरूप दो चार छोटी मोटी पुस्तकें लिखने का भी साहस हुआ। दूसरे शब्दों में कहूँ तो-स्वामी दयानन्द और जैनधर्म, पुराण और जैनधर्म, दर्शन और अनेकान्तवाद और चैत्यवाद समीक्षा आदि पुस्तकों की रचना उन्हीं के सत्संग, सद्भाव और प्रोत्साहन का परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त अहिंसा-जीव दया तथा जीवरक्षा में पूर्ण विश्वास और इस दिशा में प्रतिवर्ष दो मास, कई वर्षो तक हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद में किया जाने वाला जीवदया का प्रचार और उसमे प्राप्त हुई सफलता उन्हीं की सत्प्रेरणा और शुभाशीर्वाद का फल था। सारांश यह कि जीवन में यत्किंचित् जो भी रचनात्मक कार्य किया है वह उन्हीं की कृपा से हो सका है। महाराजश्री ने मेरे लिये क्या कुछ किया, मुझ पर उनका कितना स्नेह और कितनी कृपा थी इसका वर्णन करने लगूं तो वह कर्तव्यभार (प्रस्तावना लिखना) जो वे मुझे सौप गये हैं बीच मे ही रह जायगा। वाणी और लेखिनी तो पहले ही कृतज्ञता के बोझ से दबी जा रही है और मन विह्वल सा हो रहा है। फिर भी उनकी पुण्य स्मृति-वही तो प्राणों का एक मात्र बल रह गई है।

ग्रन्थकर्ता के विषय में—

युगवीर आचार्य श्री विजयवल्लभसूरीश्वर जी महाराज की अपने गुरुदेव-(न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री मद्विजयानन्दसूरि-श्री आत्मारामजी महाराज) के श्रीचरणों में अपार श्रद्धा थी। जीवन के ८४ वर्ष पारकर जाने और गुरुदेव के निर्वाण पद प्राप्त करने के ५५ वर्ष बाद भी उनकी पुनीत सेवा में बिताया हुआ एक २ क्षण इस विनीत शिष्य के स्मृति पटल पर अंकित था। अपनी इस अनन्य श्रद्धा से उद्वेलित होकर ही उन्होंने गुरुदेव की पुण्यश्लोक जीवनगाथा लिखने का सुन्दर और सफल प्रयास किया। ज्यों ज्यों ग्रन्थ का कलेवर पनपकर बढ़ता गया त्यों त्यों उनके मनमें आनन्द की लहरियां वेग पकड़ती गई परन्तु जीवन की डोरी कम होती गई। ग्रन्थ सम्पूर्ण होकर छपने को चला गया किन्तु बड़े खेद से कहना पड़ता है कि ग्रन्थ की इति के साथ ही उनके अपने जीवन की भी इति होगई। ग्रन्थ को प्रकाशित रूप में देखने की उनकी अभिलाषा पूरी न हो सकी। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन का भार सौंपते हुए आचार्यदेव को यह भी इच्छा थी कि इसकी प्रस्तावना भी मैं ही लिखूँ। परन्तु संकोचवश साहस नहीं होता था, इतने महान् पुरुष की रचना के सम्बन्ध मे मेरे जैसा कोई साधारण व्यक्ति क्या लिख सकता है। हृदय भर आता है कि उनकी यह आज्ञा उनकी उपस्थिति मे पूरी करने का सद्भाग्य प्राप्त न हो सका। अतः उनकी अनुपस्थिति मे उनकी आज्ञा पर पुष्प चढ़ाना अपना परमकर्तव्य समझते हुए यथामति ये दो शब्द लिखने आवश्यक होगये।

ग्रन्थकर्ता आचार्यश्री अपने युग के परम मनीषी अद्वितीय विद्वान्, लेखक और प्रवक्ता, परम तपस्वी, तत्त्ववेत्ता और विश्वधर्म के नेता थे। मानव को उसकी महानता दर्शाकर मानव की प्रतिष्ठा और गौरव को बढ़ाकर, उसे आत्म दर्शन की महान साधना मे लगाकर मानव का परम हित और

कल्याण ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य रहा । इस उद्देश्य को उन्होंने जीवन रहते पूरा करने का भरसक प्रयास किया। जैन समाज की जो अभूतपूर्व सेवाएँ उन्होंने की हैं वे उनके विशिष्ट ज्ञान, संयम त्याग और तपोमय जीवन के ज्वलन्त उदाहरण हैं, उन्हीं में से अन्तिम इस ग्रन्थ की रचना है।

जीवन के प्रारम्भ में ही उन्हें सांसारिकजीवन-गृहस्थजीवन के प्रति वैराग्य उत्पन्न होगया, लगभग १३ वर्ष की अल्पायु में ही चरित्रनायक के उपदेशामृत से वैराग्य की यह भावना परिपक्व हुई और उन्हीं की शरण में आकर आपने इस कल्याणमय संयम मार्ग का अनुसरण किया। जीवन में गुरुदेव से जो पाया उसी पूंजी से मानव समाज ही नहीं प्राणिमात्र की ६६ वर्ष पर्यन्त सेवा की। प्रत्येक जनहित कार्य में परम श्रद्धेय गुरुदेव की पुनीत स्मृति उनका मार्ग निदर्शन करती रही।

गुरुदेव के प्रति मनकी श्रद्धा और भक्ति के भाव जब २ वर्षा ऋतु की बाढ के वेग से उमड़ते और संभाले न संभलते तब २ उन भावों को लेखिनी द्वारा बन्द कराते गये। इस तरह इस महान् ग्रंथ की रचना हुई। जब तक स्वयं जीवित थे, वे गुरु महाराज का सबसे बड़ा जीवित स्मारक थे, जिन्होंने चरितनायक महामुनि श्री आत्मारामजी महाराज के दर्शन किये और तत्पश्चात् ग्रंथकर्ता (आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी) को भी कर्मरत देखा, वे बरबस कह उठते कि जैसे गुरु थे वैसे ही बल्कि उनसे भी बढ़कर उनके शिष्य हैं और जब जीवन की लीला समाप्त की तो जाते हुए गुरुदेव के स्मारक रूप में अनेक विद्यालय, गुरुकुल, कालेज, हाई-स्कूल, कन्या पाठशाला, पुस्तकालय, गुरुमन्दिर और धर्मशाला आदि के साथ २ अपनी यह रचना भी छोड़ गये।

इस ग्रन्थ के अवलोकन से पाठकों को-(जिन्हें लेखक से थोड़ा भी सम्पर्क प्राप्त हुआ हो उन्हें विशेषतया और जिन्हें यह सौभाग्य नहीं मिला उन्हें साधारणतया) लेखक के सौम्य स्वभाव, गम्भीर अध्ययन, उर्वर मस्तिष्क, स्वस्थ विवेचन शैली, अदम्य ग्राह्यशक्ति, जाग्रत विवेक और मानव के साधन-सम्पन्न रूप के दर्शन होंगे। उन्होंने अपने चरितनायक गुरुदेव के जीवन की घटनाओं के विशद वर्णन में तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की सम्यग् विवेचना की है। स्वयं धार्मिक नेता और संसार से विरक्त होते हुए, एक परम मेधावी परमतपस्वी सांसारिक व्यामोह से अतीत महापुरुष की जीवनी लिखते हुए भी संसारियों के लिये सांसारिक जीवन को सफलता पूर्वक यापन करने के विषय में भी बड़ी बारीकी से विचार किया है। गुरु महाराज के जीवन को ध्रुव मानकर जीवन के प्रत्येक पहलू का सूक्ष्म और गहन दृष्टि से अवलोकन किया है। उनके ज्ञान-चक्षु और चर्म-चक्षु दोनों में एक सामजस्य स्थापित कर जीवन को देखा है। हृदय और मस्तिष्क, भावना और कर्तव्य के सन्तुलन को कायम रक्खा है। जीवन में ही नहीं लेखन कला में भी यह कठिन साध है। गुरुदेव की जीवनी को उन्होंने कागज पर ही नहीं लिखा अपितु अपने कार्य से उसे जीवन-पृष्ठों पर भी अंकित किया। दोनों दिशाओं में वे सफल रहे, यही उनकी महानता और महान् सफलता है। उन्होंने कहा और किया, किया तब कहा, ऐसे आदर्श

मानव की लेखिनी का बल भी असाधारण होता है। और वह बल मानव समाज के हित और कल्याण के लिये ही अर्जित और व्यय किया जाता है।

मेरे जैसे साधारण या किसी अन्य महान् लेखक के कहने से नहीं-(और मेरे जैसे का इस प्रकार लिखना या कहना अपनी वाणी और लेखिनी को पवित्र करना ही है) बल्कि अपने में स्वयं लेखक के अनुभव और श्रम द्वारा उद्भासित होने से ऐसी कृति महान् होती है। किसी महापुरुष के जीवन सम्बन्धी, ग्रन्थ की रचना लेखन कला में बड़ी प्रवीणता और दक्षता मांगती है। जब तक चरितनायक के जीवन, उसके जीवन की घटनाओं, उसके विचारों और कृत्यों में अपने को घुला मिलाकर भी अलग रहकर न देखें, और उन संस्कारों में झांककर उसकी प्रवृत्तियों का मनन करके अपनी एकाकारता द्वारा उसे स्वस्थ रूप में चिन्तन न करें तब तक वह रचना सफल नहीं हो सकती। इस ग्रन्थ में इन सभी उपकरणों का समावेश है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रसंगोपात्त आस्तिक नास्तिकवाद, ईश्वरवाद, अद्वैतवाद, मुक्तिवाद, अनेकान्तवाद और मूर्तिवाद आदि अनेक दार्शनिक और धार्मिक विषयों की विशद विवेचना की गई है। सारांश कि पूज्य आचार्यश्री ने अपनी इस रचना को केवल जैन स्वाध्यायियों की दृष्टि से ही नहीं अपितु समूचे मानव समाज के अध्ययन मनन की दृष्टि से इसे सब की वस्तु बनाकर उत्कृष्ट और महान् बना दिया है। इसलिये यह ग्रन्थ ही नहीं बल्कि इसे पढ़ने का अवसर जिन सज्जनों को प्राप्त होगा वे भी धन्य होंगे।

अतः इन पंक्तियों पर अधिक ध्यान न देकर पाठक आचार्यश्री की इस महान् कृति का अध्ययन आरम्भ करें, जीवन में यह भी एक करने योग्य कार्य है। इसे कीजिये और कृतकृत्य हूजिए! इतना सा कर्तव्य भार निभाकर मैं भी विमरता हूँ।

वि०—हंसराज

"आवश्यक दो शब्द"

(श्रीमद् विजय समुद्रसूरिजी महाराज)

-:o:-

परम वन्दनीय सद्‌गुरुदेव का बहुल वर्षों से यह विचार था कि स्वर्गीय आचार्यदेव श्री विजयानन्द सूरीश्वर-श्रीआत्मारामजी महाराज का एक सांगोपांग जीवन चरित्र लिखकर प्रकाशित किया जावे, इस बात की उन्होंने मेरे साथ कई दफा चर्चा की थी। परन्तु यह कार्य उनके सिवा अन्य किसी से शक्य भी नहीं था, और इसके अतिरिक्त देश के विभाजन ने भी इस शुभ कार्य में काफी रुकावट उत्पन्न कर रक्खी थी।

वि० सं० २००२ के लगभग गुजरांवाला में आपने इस कार्य का आरम्भ किया, जब कभी आपके मन में गुरुदेव के जीवन की कोई घटना स्मरण में आती आप उसी वक्त अपने पास में उपस्थित किसी साधु को लिखवा देते। इसी प्रकार संकलना करते हुए अन्त में श्री सिद्धाचल में किये जाने वाले चातुर्मास में आपने इसे मुनि श्री प्रकाशविजयजी को पास बिठाकर क्रमपूर्वक लिपिबद्ध कराने का प्रयास किया और बम्बई में पधारने के बाद अपने परम विश्वास पात्र पंडित हंसराजजी शास्त्री को इसके संशोधन और संपादन का भार सौंपा। और उन्ही की सम्मति से आनन्द प्रिंटिंग प्रेस जयपुर मे इसको छपवाने का निश्चय हुआ। गुरुदेव के इस आदेश को सहर्ष स्वीकार करते हुए पंडितजी ने इस काम को अपने हाथ में लिया और प्रेस के मालिक पं० ईश्वरलालजी की देख रेख में इसका मुद्रण हुआ।

इस ग्रंथ मे स्थानकवासी सम्प्रदाय के लिये अधिकांश "ढूंढक मत या ढूंढक पन्थ" इस नाम का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि यह सम्प्रदाय उस समय इसी नाम से प्रसिद्ध थी। स्थानकवासी शब्द का व्यवहार तो उसके बाद होने लगा है। † उस समय के प्रख्यात साधु साध्वी तो "ढूंढत ढूंढत ढूंढलियो सब वेद पुराण कुरान मे जोई" इत्यादि उक्तियों के द्वारा इसी नाम का समर्थन करते थे, इसलिये हमारे भाइयों को इस शब्द पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये। और यह तो सबको विदित ही

---

† अब तो इस मत का-"श्री वर्द्धमान श्रमण संघ" (श्रावक संघ) नाम करण किया गया है।

है कि श्री आत्मारामजी महाराज ने स्थानकवासी परम्परा को त्यागकर संवेगी परम्परा की साधु दीक्षा अंगीकार की और तदनुसार पंजाब में जैन परम्परा के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा की।

इस पर से यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि उनकी यह पुण्यश्लोक जीवन गाथा, उक्त समुदाय के लिये यद्यपि रुचिप्रद नहीं हो तो भी यदि समुच्चयरूप से देखा जाय तो श्री आत्मारामजी महाराज ने जैन समाज पर अपने सद्ग्रन्थों द्वारा जो स्थायी उपकार किया है उसमें उक्त सम्प्रदाय को भी उनका कृतज्ञ होना चाहिये।

गुरुदेव की संयत लेखिनी ने इस जीवन चरित्र को लिखते समय बड़ी सावधानी से काम लिया है, कहीं पर भी भाषा समिति की अवहेलना नहीं होने दी। शोक तो मात्र इसी बात का है कि वे स्वयं इस जीवन गाथा को पूर्णरूप से प्रकाशित हुई २ न देख पाये। भावीभाव अमिट है।

विनीत—सद्गुरुदेवचरणानुरागी—

समुद्रसूरि
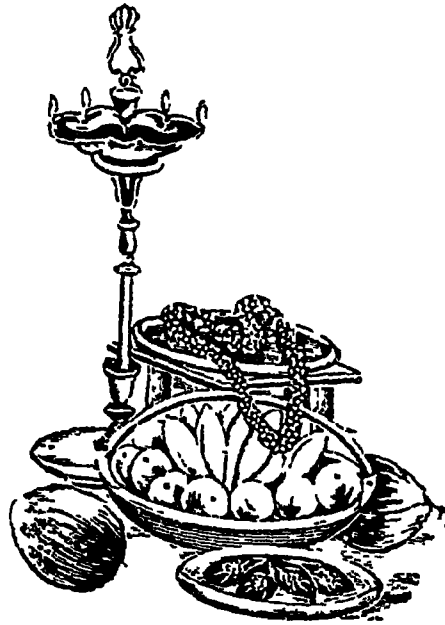
धन्यवाद

पंजाब केसरी, अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकाल-कल्पतरु स्वर्गीय जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वरजी द्वारा लिखित अन्तिम ग्रन्थ रत्न 'नवयुग निर्माता' पाठकों के हाथ में है। यह ग्रन्थ न्यायाम्भोनिधि, प्रातःस्मरणीय स्व० जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्दसूरिजी प्रसिद्ध नाम "श्री आत्मारामजी महाराज" की जीवन घटनाओं और निष्काम सेवाओं पर ही नवीन प्रकाश नहीं डालता, बल्कि इसमें जैन आगमों का साररूप नवनीत इस कुशलता के साथ उपस्थित किया गया है कि पाठकों को जैन धर्म व आचार सम्बन्धी कई बातों का ज्ञान सरलता से हो जाए।

मैंने १९२९-३० ई० में उर्दू में 'आत्मचरित्र' लिखा था जिसे श्री आत्मानंद जैन महासभा की ओर से प्रकाशित किया गया था। उस समय मुझे उनके जीवन के सम्बन्ध में सबसे अधिक सामग्री व परिचय गुरुदेव श्री विजयवल्लभसूरिजी से ही प्राप्त हुआ था मैंने गुरुदेव से विनती की थी कि वे स्वयं गुरुवर श्री आत्मारामजी का जीवनचरित्र विस्तारपूर्वक लिखकर जैन शासन का उपकार करें। किन्तु वे धार्मिक, सामाजिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे। उनके जीवन का एक एक क्षण जैनधर्म के प्रचार, शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना और प्राणी मात्र की सेवा के लिए अर्पित था। समय की कमी के कारण उन्होंने सेवक को इस महान् कार्य के लिए उत्साहित किया। संघ की ओर से उन्हें लगातार प्रार्थना की जाती रही कि वे स्वर्गीय श्री आत्मारामजी के जीवन व कार्यों के विषय में अधिक से अधिक प्रकाश डालें। फलतः १९५१ ई० में पालीताना के चातुर्मास के समय आपने इस महान् कार्य का श्रीगणेश कर दिया और बम्बई के चातुर्मास में वह पूर्ण हो गया। पाठक शायद जानते होंगे कि स्व० गुरुदेव श्री आत्मारामजी को इस पवित्र तीर्थ पर १९४३ वि० सकल श्रीसंघ ने आचार्य पदवी से विभूषित किया था और उस समय श्री विजयवल्लभ 'छगन' नामक नवयुवक के रूप में दीक्षार्थी बन वहां उपस्थित थे। अतः स्वाभाविक था कि यह अन्तः प्रेरणा उस मुक्तिधाम पर स्फुरित होती।

जैनाचार्य श्री विजयवल्लभसूरि का जन्म कार्तिक शुक्ला दूज को वि० सं० १९२७ में बडौदा में हुआ था।

१५ वर्ष की आयु में उन्होंने गुरु आत्म का ही पहली बार दिव्य धर्मोपदेश सुना और उसी समय से अक्षय आत्मधन की प्राप्ति के लिए वे उनके अनुयायी बन गए। १९४४ वि० में आपने उनसे गुरुमंत्र लेकर जैन साधु का जीवन स्वीकार किया और १९५३ वि० में उनके स्वर्गवास के समय तक उन्हीं की छत्रछाया में रहकर उनसे अधिक से अधिक ग्रहण करने का भागीरथ प्रयत्न किया। उनके उच्च चरित्र, क्रियात्मक जीवन, अनुपम तप, त्याग व संयम की छाप आप पर लगी हुई थी। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता का प्रतिबिम्ब आपके हृदय पर अंकित हुआ। उन्होंने भी समाज के नेतृत्व व पथ प्रदर्शन का कार्य आपके यौवनपूर्ण बलिष्ठ कन्धों पर डाला। आपने भी गुरु के मिशन को जीवन का श्वास बनाकर अपनी ८४ वर्ष की आयु तक धर्म, समाज, देश व मानवता की सेवा के लिए आत्मसमर्पण कर दिया। आपने गुरुभक्ति का, सच कहा जाए, तो एक नया रिकार्ड कायम किया। वृद्धावस्था और नेत्रज्योति की क्षीणता को पराजित करते हुए आपने उस महान् काम को पूर्ण कर दिया। सच तो यह है कि गुरुआत्म के विषय में कुछ भी लिखने का वास्तविक अधिकार भी उन्हें था, और इस विषय के अधिकारी विद्वान् व जानकार भी वही थे।

ग्रंथ के प्रकाशन का कार्य भी सरल न था। उदार महानुभावों की गुरुभक्ति से प्रेरित होकर महासभा ने इसका बीड़ा उठाया। जिन दानी महानुभावों ने आर्थिक सहायता देकर कार्य को सुगम बनाया है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ। पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान् व सुवक्ता पं० हंसराजजी शास्त्री के कठोर परिश्रम का परिणाम है, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। उसे छापने में श्री ईश्वरलालजी जैन 'स्नातक' ने तत्परता दिखाई है, मैं उनका भी धन्यवाद करता हूँ।

ग्रन्थ अभी प्रेस में था कि हमारे आराध्य गुरुदेव श्री विजयवल्लभ सूरिजी का देवलोक गमन हो गया। उनके पट्टधर आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी व उनके शिष्य मंडल की अनथक कोशिशों से महासभा को इस काम को पूरा करने में सफलता मिली है। मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ।

श्री आत्मानन्द जैन कालेज अंबाला शहर के संस्कृत व जैनविभाग के अध्यक्ष प्रो० पृथ्वीराज जी एम० ए० शास्त्री ने भी गुरु आत्म का एक खोजपूर्ण जीवन चरित्र लिखा है और उनके अमर ग्रन्थों से उनके विचार संगृहीत किए हैं। अब उसका प्रकाशन हाथ में लिया जाएगा। आशा है समाज पूर्ण सहयोग व सहायता देगी।

सेवकः—

बाबूराम जैन

एम. ए., एल एल. बी. प्लीडर जीरा

प्रधान श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब

अम्बाला शहर।

६-१२-१९५५

[नवयुग निर्माता]

चरित्र नायक श्री विजयानंदसूरि के पट्टधर

卐 卐

विजय वल्लभसूरिश्वरजी महाराज

बाल्यावस्थामे १९४६ सम्वत् मे

[जैनानंद प्रीं प्रेम दरिया महाल सूरत की तरफसे भेट
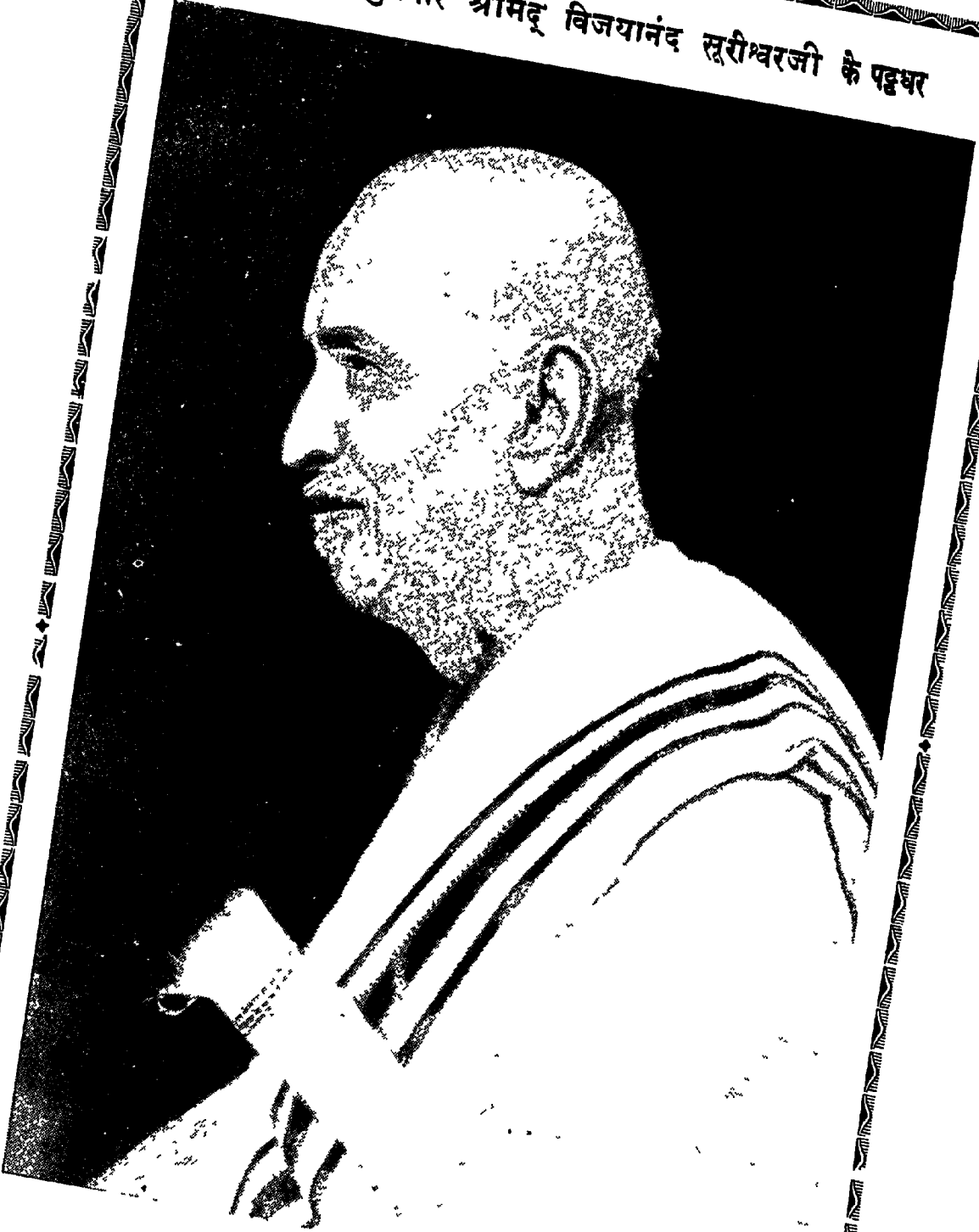
आचार्य श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज

जन्म : सं. १०२७

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक

आचार्यपद : १९८१

स्वर्गवास : २०११

[जनानंद प्री. प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेंट

सद्गुरु श्री वल्लभ स्मारक योजना

—ՋՋՋՋ—

जैन बन्धुओं के लिए धन, बुद्धि और श्रम दान का स्वर्ण अवसर श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब का वार्षिक अधिवेशन १०-११ सितम्बर सन १९५५ को मालेर कोटला में श्री ज्ञानदासजी एम० ऐस० सी० पी० ई० ऐस० सीनियर सब जज की अध्यक्षता में हुआ था। उस अधिवेशन में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ था कि परम पूज्य परमोपकारी जैनधर्म भूषण जैनाचार्य श्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज का स्मारक देहली मे बनाया जावे। भारतवर्ष की राजधानी देहली आज संसार के प्रसिद्ध व्यक्तियों के लिए तीर्थ स्थान बना हुआ है। ऐसे प्रसिद्ध नगर मे स्वर्गीय आचार्य श्री का स्मारक बनाना जैन शासन की सच्ची प्रभावना है।

स्मारक की संक्षिप्त रूपरेखा

१ विशाल सुन्दर समाधिभवन, दोनों गुरुदेवो के कलापूर्ण स्टैचू, जीवन घटनाओं व मिशन पर प्रकाश।

२. विशाल पुस्तकालय, भंडारों के ग्रन्थों का संग्रह, आधुनिक व प्राचीन साहित्य सामग्री का संग्रह।

३. प्रचीन मूर्तियों, शिलालेखों आदि का सग्रह साथ ही कला भवन।

४ जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, आचार पर अनुसंधान (रिसर्च)

५ उपयोगी साहित्य व लेखों पर प्रकाशन।

६. अध्ययन के लिए आने वाले जिज्ञासुओं के ठहरने का प्रबन्ध।

देहली में जमीन के लिए प्रयत्न

देहली मे आचार्य श्री का स्मारक निर्माण करने का विचार एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक निश्चय है इस का उद्देश्य भारतीय कला और जैन साहित्यक प्रचार है। अत: भारत सरकार से स्मारक के लिए राज घाट के निकट सस्ते मूल्य पर भूमि देने के लिए प्रार्थना की गई है। हमें पूर्ण आशा है कि स्मारक के लिए भूमि बहुत शीघ्र ही प्राप्त हो जावेगी और स्मारक का शिलान्यास उत्सव इस वर्ष किया जावेगा।

श्री वल्लभ स्मारक निधि

श्री वल्लभ स्मारक की योजना की सफलता के लिए वल्लभ स्मारक निधि स्थापित की गई है जिस का खाता महासभा की वर्किंग कमेटी के निश्चय के अनुसार पंजाब नैशनल बैंक अंबाला शहर में

ता० २६-१२-५५ से खोल दिया गया है। मार्च १९५६ के अन्त तक निधि में पचास हजार रु० जमा होने पर भारत सरकार से भूमि प्राप्त की जावेगी। महासभा का निश्चय है कि सन् १९५६ मे एक लाख रु० का फंड एकत्रित किया जावे और सन् १९५७ में फिर एक लाख और एकत्रित करने का प्रयत्न किया जावेगा।

अपील

पाठकों से सानुरोध प्रार्थना है कि पंजाब केसरी स्वर्गीय जैनाचार्य के स्मारक के सफल बनाने के लिए यथाशक्ति आर्थिक सहायता देकर अपने धनका सदुपयोग करके अपने जीवन को सफल बनावें। गुरु भक्ति के लिए लाखों रुपये का दान देने वाले गुरु भक्त आज भारतवर्ष में विद्यमान हैं। उन्हें अब अपना ध्यान वल्लभ स्मारक की ओर लगाना चाहिए।

प्रेमी तथा श्रद्धालु गुरुभक्तो ! देहली नगर की ओर दृष्टिपात करो। आगे बढो और देश की राजधानी में गुरुदेव श्री वल्लभ का झंडा गाड़ दो। अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुसार दान देकर देहली में गुरु देव का आदर्श एवं अनुपम स्मारक बनाने में अपना पूर्ण सहयोग दो ताकि गुरुवर्य का अमर झंडा भारत की राजधानी में लहराता हुआ दृष्टि गोचर हो। सत्य और अहिंसा के अवतार भगवान महावीर तथा और पट्टधर आचार्यों के रचित साहित्य और कला कौशल को सुरक्षित रखने के लिए और संसार में जैन दर्शन और साहित्य के प्रचार के लिए तन, मन, धन से पूरी पूरी सहायता करें।

प्रधान —

बाबूराम जैन

एम. ए एल. एल. बी. प्लीडर
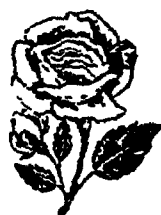
नवयुग निर्माता
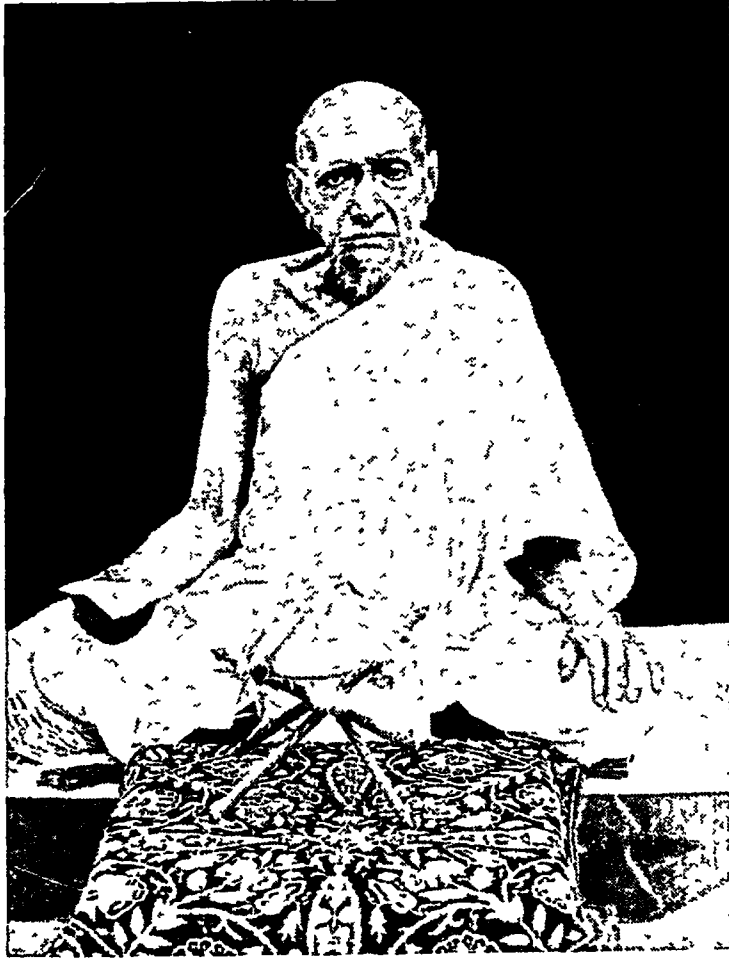
प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी महाराज

आनन्द प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर ।

नवयुग निर्माता

शान्तमूर्ति श्री हंसविजयजी महाराज

आनन्द प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर।

* विषयानुक्रमणिका *

अध्याय				पृष्ठ संख्या

"सम्पादन के विषय में दो शब्द"

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादनका काम मुझे आचार्यश्री की आज्ञा से स्वीकार करना पड़ा, मेरा अनुभव इस विषय में बहुत ही परिमित है, इसलिये इसमे अनेक त्रुटियों का होना सम्भव है, फिर भी अपनी ओर से इसके संशोधन और सम्पादन में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं किया गया। मुझे इस विषय मे— आनन्द प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री ईश्वरलालजी का अधिक सहयोग मिला. तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। इसके अतिरिक्त—

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जना ॥

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार पाठक अपनी सज्जनता का परिचय देते हुए सम्पादन सम्बन्धी त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं देंगे, इस शुभाशा से विरमता हूँ।

विनीत—

हंस

चरित्र नायक श्रीमद् विजयानंदसूरिश्वरजी म० का
गुजरानवाला (पंजाब) में अग्निसंस्कार के स्थानपर
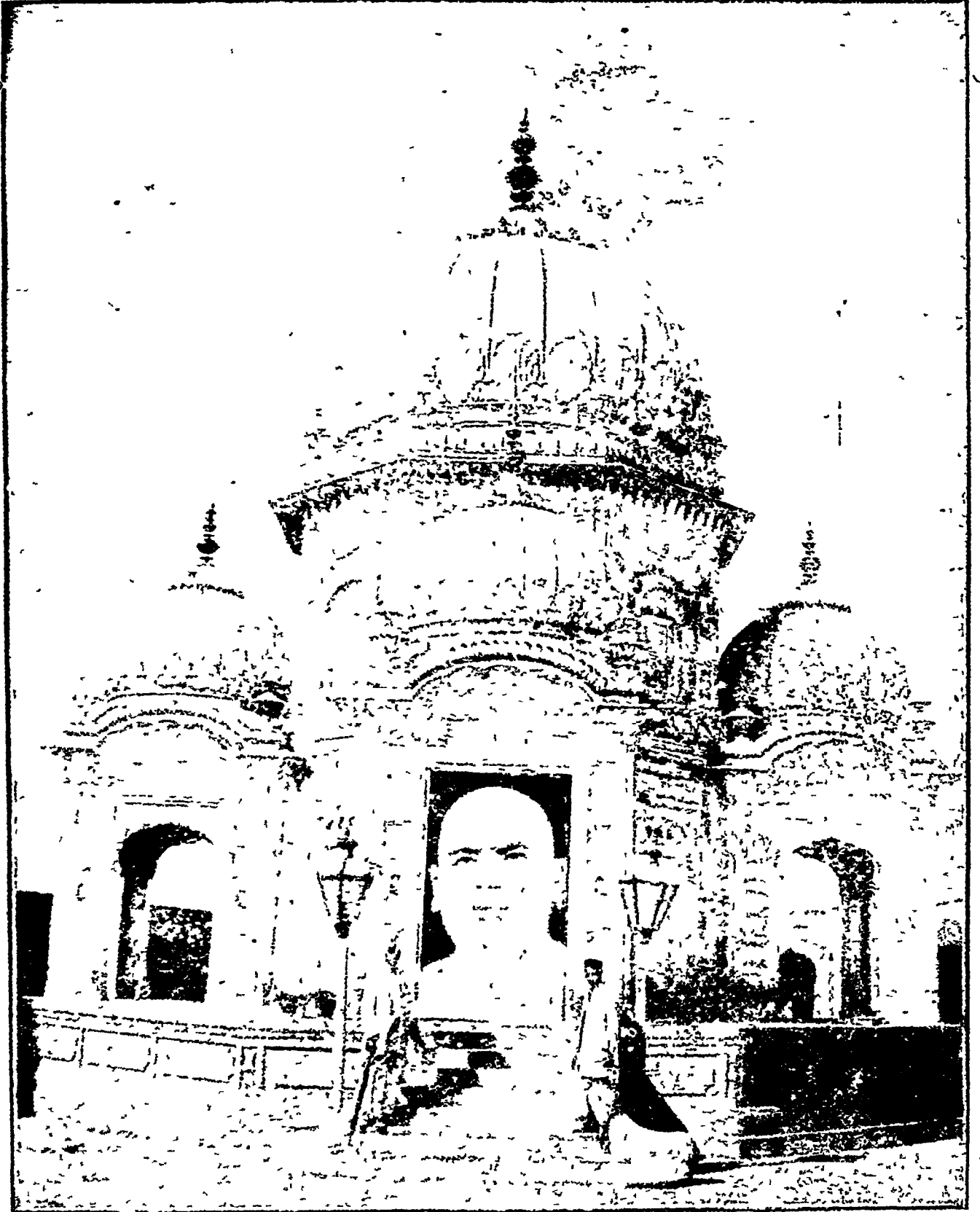
बांधा हुआ स्तुप [जैनानंद प्री. प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेट

[नवयुग निर्माता]

चारित्र नायक श्री विजयानंदसूरि महाराजकी देहरी
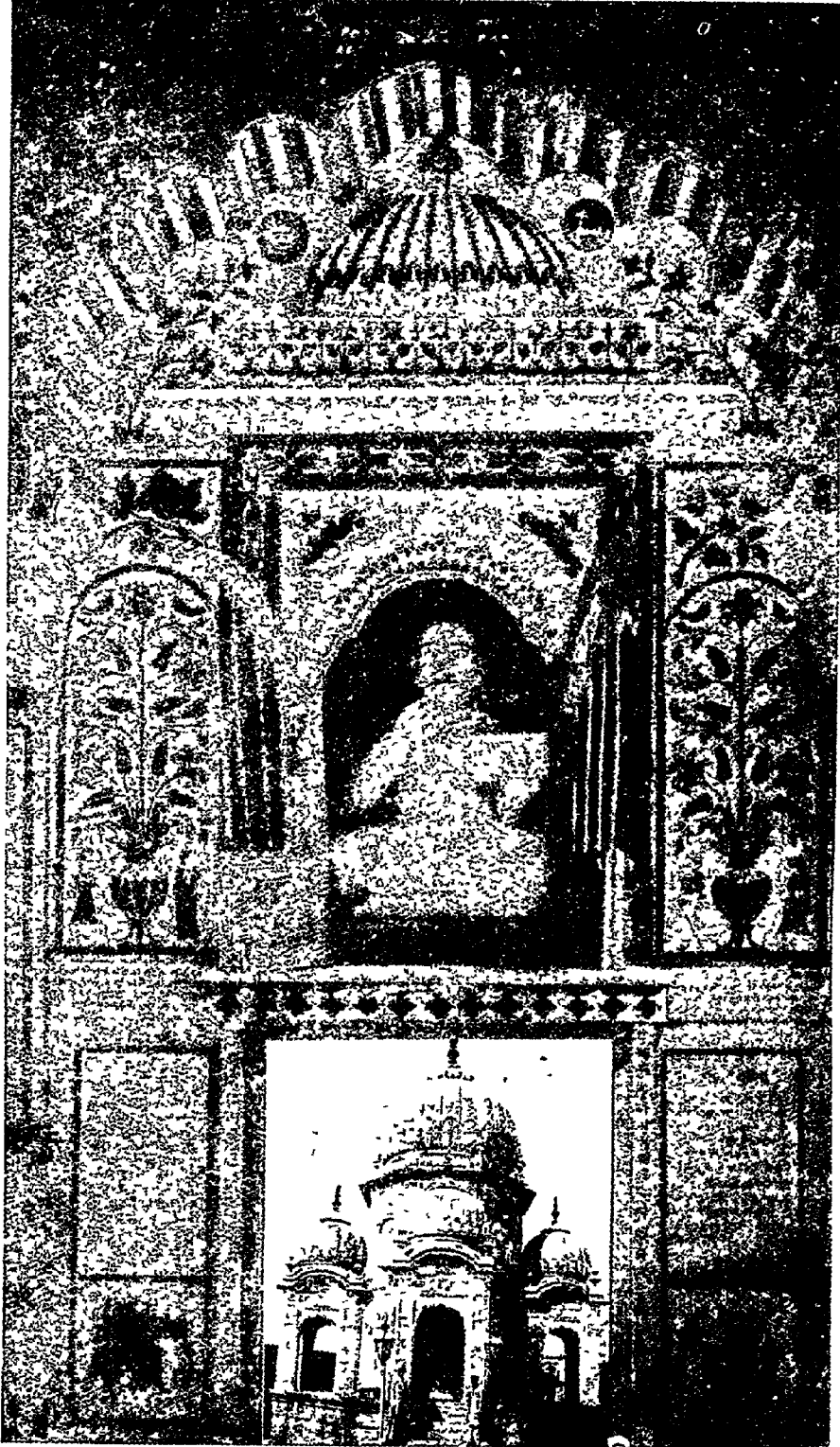
श्री शत्रुंजय तीर्थ उपर मुख्य टूंकमें जिसमे मूर्त्ति विराजमान है

[जैनानंद प्रीं. प्रेस, दरिया महाल सूरत की तरफसे भेट

नवयुग निर्माता

न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानन्द सूरि श्री आत्मारामजी महाराज

की जीवन गाथा

साकारं च निराकारं, सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
विश्ववन्द्यमहं वन्दे, वीतरागं जिनेश्वरम् ॥ १ ॥
येन क्रान्तिः समानीता, युगेऽस्मिन् जैनशासने ।
सद्गुरुं तमहं वन्दे, आत्मारामं मुनीश्वरम् ॥ २ ॥
योऽभूत् पञ्चनदीय भूमितिलकः सम्वर्द्ध मानोदयः ।
ध्वान्तं येन निराकृतं नु विततं वीरप्रभोः शासने ॥
सद्बोधेन सुबोधिता बहुजना देवार्चने प्राङ्मुखाः ।
तं सूरिप्रवरं नमामि विजयानन्दं गुरूणां गुरुम् ॥ ३ ॥
यत्कृपा-लेशमात्रेण, मूको वाचालतां व्रजेत् ।
वन्द्या सा शारदा देवी, ज्ञानसम्पद् विवर्द्धिनी ॥ ४ ॥

प्रारम्भिक यत् किंचित्—

आदर्श जीवी महापुरुषों की पुण्य श्लोक अमर जीवन गाथा में कई एक असाधारण विशेषतायें होती हैं। सांसारिक प्रलोभनों का त्याग, निजी स्वार्थों का बलिदान, लोक कल्याण की भावना, विशाल मनोवृत्ति, अव्याहत सत्यनिष्ठा और निर्निमेष अध्यात्म जागरण आदि अनेक विशेषताओं का वह संगम स्थान होती है। जिसके समीप उपस्थित होने वाले विकासगामी साधकों को अपनी प्रगति के लिये प्रोत्साहन मिलता है। इतना ही नहीं किन्तु वह मानव जगत् की डगमगाती हुई जीवन नौका को संसार सागर से पार करने

में एक चतुर कर्णधार का काम देती है। विषयवासना सन्तप्त प्राणिसमुदाय को सान्त्वना और शान्ति प्रदान करती एवं उन्मार्ग गामी जीवों को सन्मार्ग की ओर प्रस्थान करने की सतत प्रेरणा भी उससे मिलती है। इस लिये महापुरुषों की पुण्य जीवन गाथा का चिन्तवन और स्वाध्याय भी जीवन-शुद्धि अथवा जीवन विकास के विशिष्ट साधनों में से एक है। परम मनीषी श्रीमद् विजयानन्द सूरि श्री आत्मारामजी महाराज अतीत और वर्तमान युग के उन महापुरुषों में से एक थे जिन्होने सत्य अहिंसा और त्याग तपस्या को अपने जीवन का विशिष्ट अंग बना कर उसका सजीव उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया और मानव जगत को जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर प्रस्थान करने का दिव्य सन्देश दिया।

जैन परम्परा के इस नवयुग निर्माता महापुरुष के पुनीत चरणकमलों में निवेदित होने का सद्-भाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में यही क्रान्तिकारी महामहिम युग पुरुष थे मेरे सद्गुरुदेव जिनके पुण्य सहवास से प्राप्त हुए उज्ज्वल प्रकाश में जीवन के निर्माण का पुण्य अवसर उपलब्ध हुआ। आपका पवित्र नाम जब वाणी पर आता है वाणी मुखरित और गद्गद् हो उठती है, एवं स्मृति पथ पर आते ही मन में आनन्द का उद्दाम स्रोत बहने लगता है। आपके पुण्य सहवास और पुनीत चरण सेवा में विताये हुए वे क्षण कल्पना और स्मृति लोक में पुनः जाग्रत होकर जीवन को किसी अलौकिक सुखानुभूति से भरपूर कर देते हैं। जीवन के वे क्षण और जीवन के आज के क्षण इन दोनों में एक अद्भुत सा सामंजस्य स्थापित हो जाता है। आज की कल्पना, कल की वास्तविकता से मिल कर एक नई सृष्टि रच देती है जिसमें आत्मा की आनन्द विभूति का ही अधिक आभास होता है। आन्तरिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली आनन्द की उन घडियों को सार्थक और चिरस्थायी बनाने का एक उपाय सोचा है, वह है गुरुदेव की पुण्य जीवन गाथा का वर्णन। आन्तरिक सुखानुभूति अथवा मनःप्रसाद के लिए इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता है।

जिनके पुनीत चरण कमलों में बैठकर जीवन को समझने का साधन और प्रयास किया, जिनके पुण्य सहवास में अविनाशी आत्म-धन के उपलब्ध करने का सन्मार्ग और साधन मिला, ऐसे परमोपकारी गुरुदेव की पुनीत जीवन गाथा कहते हुए इस पुण्य सलिला सुरसरी में स्वयं भी डुबकी लगाता रहूँ और दूसरे सज्जनों को भी इसमें जीवन शुद्धि के लिए स्नान आदि का पुण्य अवसर मिले तो इसमें लाभ ही लाभ है। विश्व की इस महान आत्मविभूति की जीवन लीला के दृश्य अब आखों में एक के बाद एक आरहे हैं इस लिए अपनी बात को अब और न कह कर अपने और आपके (सहृदय पाठकों के) आनन्द में व्यवधान की इस दीवार को और लम्बी न करके वही बात आरंभ करता हूँ—गुरुदेव के जीवन की बात जिसके आदि अन्त और मध्य सब जगह आनन्द ही आनन्द है। आइये! आनन्द सुधा के इस महान सागर की यात्रा कर डालें।

अध्याय १

जन्म और बाल्य-काल

पंजाब प्रान्तीय फीरोजपुर जिला की जीरा तहसील में लहरा नाम के एक छोटे से ग्राम में कपूर वंश के क्षत्रिय वीर श्री गणेशचन्द्र की सतीधुरीणा माता रूपादेवी ने विक्रम सम्वत् १८६४ † की चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन सर्व गुण सम्पन्न एक सुन्दर बालक को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया। पुत्र प्राप्ति से माता पिता को कितना हर्ष होता है और उस हर्ष को व्यक्त करने के लिये वे कितने अधीर होते हैं यह सभी गृहस्थों के अनुभव में आई हुई बात है। क्षत्रिय वीर गणेश चन्द्र और माता रूपादेवी ने भी पुत्र जन्म की खुशी में उस समय की स्थिति और प्रथा के अनुसार किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी। गरीबों को दान दिया, स्वजन सम्बन्धिजनों का प्रीति भोजन आदि से सम्मान किया और बालक की दीर्घायु के लिये वृद्धों के आशीर्वचनों का सनम्र स्वागत किया। प्रसूति स्नान के बाद इस होनहार बालक का नामकरण संस्कार निष्पन्न हुआ जिसमें सर्व सम्मति से बालक का नाम "आत्माराम" रक्खा जो कि समय आने पर सर्वथा गुण निष्पन्न ही प्रमाणित हुआ।

आयु का बहुत सा भाग व्यतीत करने पर जीवन में पहली बार ही आत्माराम जैसे आदर्श शिशुरत्न को उपलब्ध करके इस आदर्श दम्पति श्री गणेशचन्द्र और रूपादेवी को कितना हर्ष हुआ होगा इसका माप तो वे ही करपाये होंगे, हां यह तो निस्सन्देह है कि लहरा ग्राम की जिस भूमि को बालक आत्माराम के चरण कमलों ने चिन्हित किया वह भूमि आज आर्य संस्कृति की एक विशेष परम्परा के लिये पवित्र तीर्थस्थान जितना ही महत्व रखती है।

यह तो एक दार्शनिक और सुनिश्चित सिद्धान्त है कि यह जीवात्मा अनन्त शक्तियों का भंडार है, अनन्त गुण सम्पदाओं का आकर (खान) है। परन्तु इन सत्तागत शक्तियों या गुणों का उसमें कब और कैसे

† गुजराती सम्वत् १८६३।

विकास होगा ? एवं कौन जीव किस समय कहां उत्पन्न होकर कैसे विकास करेगा ? यह सब तो भविष्य के गर्भ में निहित है इस का प्रत्यक्ष अनुभव तो समय आने पर ही होता है। जब कि वह व्यक्त दशा को प्राप्त करे इससे पूर्व तो उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कौन जानता था कि लहरा नाम के क्षुद्रसे ग्राम में आकर वसे हुए एक क्षत्रिय परिवार में जन्म लेने वाला आत्माराम नाम का यह बालक भविष्य में आर्य संस्कृति की एक विशिष्ट परम्परा का महान् आचार्य अथच क्रान्तिकारी युग पुरुष के रूप में विश्व-विश्रुत होगा। यह किसे खबर थी कि रूपादेवी जैसी ग्रामीण माता ने जिस बालक को जन्म दिया है भविष्य में वह उसी की गुण-गरिमा के प्रभाव से वर्तमान युग में वैसी ही ख्याति प्राप्त करेगी जैसी कि अतीत युग में स्वनाम धन्य माता त्रिशला आदि देवियों को उनके पुत्र रत्नों की गुणगरिमा से प्राप्त हुई है। एवं हिंसक मनोवृत्ति-प्रधान युद्धप्रिय क्षत्रिय वीर गणेशचन्द्र को तो शायद स्वप्न मे भी यह भान न हो कि उसका आत्मज अहिंसा का महान् पुजारी होगा और उसी के बल पर वह अपने अन्तरंग शत्रुओं को पराजित करने में अपनी वीरता का सदुपयोग करेगा।

गणेशचन्द्र महाराजा रणजीतसिंह की सेना में एक ऊंचे पदपर प्रतिष्ठित थे और उन्होंने समय समय पर तलवार के बल से अपने को एक विजयी सैनिक प्रमाणित किया था। वे हंसमुख मिलनसार और दृढ़काय पुरुष थे। आपके पूर्वज पिंडदादन खान के पास कलश नामा ग्राम में रहते थे और आप रामनगर के पास कस्बा फालिया में थानेदार थे। आपने धीरे धीरे महाराजा रणजीतसिंह की सेना में एक ऊंचे अधिकार को प्राप्त कर लिया। महाराजा रणजीतसिंह-की आज्ञा से आप हरि के पत्तन पर-जहां सतलुज और व्यास नदी का संगम है-एक सहस्र सैनिकों के साथ अधिकारी नियत हुए। नौकरी का समय समाप्त होने के बाद स्थान आदि की अनुकूलता जलवायु की स्वच्छता से आकर्षित होने के कारण आप वहीं पर रहने लगे। आप की जगह राजकुंवर ठेकेदार को महाराज ने नियुक्त किया। राजकुंवर प्रायः लहरा और जीरा में आया जाया करते थे, उनके सम्बन्ध से और समय के परिवर्तन से आपने लहरा को अपना निवास स्थान बनाया और जीरा में जो कि लहरा के समीप ही है-भी आने जाने के करण वहां के रईस लाला जोधे शाह ओसवाल से आपकी मैत्री हो गई। जोधामलजी भी लहरा में आया जाया करते थे। जब कभी आपके घरमें आते तो बालक आत्माराम से बहुत प्यार करते उसे गोद में लेकर बहुत खिलाते और बड़े प्रसन्न होते।

सोढी अत्तरसिंहजी एक अच्छे जागीरदार महन्त थे। राजदरबार में भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे अन्य विषयों के साथ साथ सामुद्रिक शास्त्र में भी प्रवीण थे। उनका भी प्रायः लहरा ग्राम में आना जाना होता था। गणेशचन्द्रजी से उनका अच्छा परिचय था।

एक दिन बालक आत्माराम के विशाल मस्तक और संगठित शरीर के अन्यहस्तपादादि अवयवों को देखते हुए उन्होंने कहा-कि यह बालक भविष्य में या तो राजा होगा या राज्यमान्य राजगुरु होगा। वे जब कभी लहरा में आते तो बालक आत्माराम को स्नेह भरी दृष्टि से देखते और घंटों तक उससे प्यार करते रहते।

सोढी साहव एक सम्पत्तिशाली गृहस्थ थे, उनके वहाँ अन्य सांसारिक वैभव की कमी न थी केवल कमी थी तो एकमात्र सन्तान की थी उनके वंशतन्तु को चलानेवाला कोई न था, अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वे किसे वनावे इसी चिन्ता में उनका जीवन व्यतीत होता था, एक दिन उन्होंने वालक आत्माराम को गोद मे उठाते हुए गणेशचन्द जी से कहा–कि आप यदि अपने इस वालक को मुझे देदे तो मैं इसको अपनी सारी सम्पत्ति का सर्वेसर्वा उत्तराधिकारी वनादूँ, कहो क्या विचार है ?

सोढ़ी साहव ! आप मेरे घनिष्ठ मित्र हैं और आपकी मेरे ऊपर कृपा भी वड़ी है परन्तु आपने जो मांग की है मुझे दुःख है कि मै उसे पूरी करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, आशा है आप मुझे क्षमाकरेंगे ? गणेशचन्द्र जी ने वड़ी नम्रता और गम्भीरता से उत्तर दिया।

तुमने मेरी मांग को ठुकराया है गणेशचन्द्र ! इस का परिणाम अच्छा न होगा । सोढी जी ने वड़ी गर्व भरी उक्ति से जवाव दिया। सोढी साहव की इस गर्वोक्ति का गणेशचन्द्र जी ने कुछ भी उत्तर न दिया और सोढी साहव निराश होकर वहां से चलदिये, मन में प्रतिकार की भावना लेकर। स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति पुरुप को विवेक हीन वना देती है। विवेकशक्ति के लुप्त होते ही मानव दानव वन जाता है। स्वार्थ के कीचसे दूषित हुई मनोवृत्ति, मानवको, वड़े से वड़ा अनर्थ करने पर उतारू कर देती है। धनिकों और शासकों मे इस दूपित मनोवृत्ति का अधिक प्रभाव देखने में आता है, धन और सत्ताके मद में उन्मत्त हुए व्यक्तियों ने कितने भयंकर अत्याचार किये हैं, इतिहास इसका प्रत्यक्ष साक्षी है, सोढी अत्तरसिंह ने गणेशचन्द्र के इनकार पर इसी दूपित मनोवृत्ति का परिचय दिया। गणेश चन्द्र को असह्य कष्ट पहुँचाने, उसे कारागार मे डालने के लिये अनेक प्रकार के षड़यंत्र रचे, और उसमें सोढी साहव को थोड़ी वहुत सफलता तो प्राप्त हुई मगर जिस उद्देश्य से उसने इस दानव कृत्यको अपनाया उसमें तो वह विफल ही रहा। जिस आत्माराम के लिये उसने मानवता को त्यागकर दानवता को अंगीकार किया उसकी प्राप्ति से तो वह वंचित ही रहा। इस सम्वन्ध में गणेश चन्द्र की दृढता और निर्भयता की जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। उसने अपने प्रिय पुत्र को पराया वनाने की अपेक्षा कारागार के कष्टों को सहन करना अधिक पसन्द किया। गणेश चन्द्र जी की इच्छा अपने प्रिय पुत्र को अपने जैसा शूरवीर सैनिक वनाने की थी, इसीलिये वे वालक आत्माराम को प्रतिदिन अपनी गोदमें लेकर उसे शूरवीरों और योद्धाओं की कथाये सुनाया करते थे। महाराजा रणजीत सिंह की वीरता और सिक्ख सैनिकों के साहस पूर्ण पराक्रमों का वर्णन अपने प्रिय पुत्र के सामने किया करते थे।

यूं तो प्रत्येक मानव का वालपन एकसा ही होता है, खेलना कूदना खाना पीना सोना और जागना, परन्तु महान आत्माओं का वालपन कुछ निराला ही होता है। वचपन की कोई न कोई विशेषता उनके आगामी महान जीवन का परिचय देदेती है ! "होनहार विरवान के होत चीकने पात" वाली लोकोक्ति वालक आत्माराम पर पूर्णतया संघटित होती है। आप सुन्दर स्वस्थ और वलिष्ट तो थे ही परन्तु इसके

साथ २ आपमें निर्भयता और साहस भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। एकवार लहरा में रात्रि के समय डाकुओं ने धावा वोला, तो गणेश चन्द्र जी हथियारों से लैस होकर गांव वालों की हिम्मत बढ़ाते हुए कुछ जवानों को साथ लेकर डाकुओं का सामना करने चले गये। वहां डाकुओं के साथ उन्होंने डट कर मुकावला किया, अन्त में डाकू मैदान छोड़कर भाग निकले। वहां से गणेश चन्द्र जी जव घर लौटे तो क्या देखते हैं वालक आत्माराम नंगी तलवार हाथ में लिए द्वार पर खड़े हैं। गणेश चन्द्र जी पुत्र को इस प्रकार डटे देखकर आश्चर्य चकित भी हुए और प्रसन्न भी। वोले—क्यों वेटा! तलवार लिये कैसे खड़े हो? "घर की रक्षा के लिये" आत्माराम जी ने उत्तर दिया।

"तुम अकेले इतने डाकुओं से घर की रक्षा कैसे कर सकते थे?"

वीर बालक आत्माराम ने निर्भय होकर उत्तर दिया—क्यों न कर सकता पिताजी? जब कि आप अकेले ग्राम की रक्षा कर सकते है तो क्या मैं घर की रक्षा नहीं कर सकता? वालक आत्माराम की यह बात सुनकर गणेश चन्द्र जी का मन प्रसन्नता से फूल उठा, उन्होंने उसे गोदी में उठाकर प्यार किया और उसके साहस की ओर ध्यान देते हुए मन मे अपने सद्भाग्य की भूरि २ सराहना की।

मानव जीवन अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों का केन्द्र है, इसमे अनेक तरह के उतार चढ़ाव दृष्टि गोचर होते है। जीवन यात्रा में इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग यह जीव के स्वोपार्जित मिश्रित (शुभाशुभ) कर्मों की देन है। इसी नियम के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करता हुआ मानव अपनी भवस्थिति को पूरा करता है।

क्षयान्ता निचयाः सर्वे, पतनान्ताः समुछ्रियाः।
संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्तं हि जीवनम्॥

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार गणेश चन्द्र जी की आशालता अभिपल्लवित ही होने पाई थी कि दुर्दैव की कोपाग्नि के सन्निधान से मुर्झा गई—सूखगई। उन्हें अपने प्रियपुत्र की साहस पूर्ण वालचर्या में वीज रूप से रही हुई गुणासन्तति के भावि विकास को देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। अथवा यूं कहिये कि वीर वालक आत्माराम को अपने वीर पिता की पुनीत छत्रछाया तले अपने चमत्कार पूर्ण भाविजीवन को विकासमे लाने की उपयुक्त सामग्री से वंचित रहना पड़ा। सारांश कि दोनों का दृष्टिगोचर होने वाला स्नेह बन्धन टूट गया। और दोनों एक दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गये। पिता को पुत्र का त्याग करने पर विवश होना पड़ा और पुत्र को पिता वियोग सहन करना पड़ा इस सम्बन्ध विच्छेद का कारण तात्विक दृष्टि से तो उदयगत कर्म की विषम परिस्थिति ही है और वाह्यदृष्टि से निमित्त इसमें सोढी अत्तर सिंह है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। वीर क्षत्रिय गणेश चन्द्र और मातारूपा देवी की एक मात्र जीवन पूंजी वालक आत्माराम को किसे सौंपा जाय, यह एक विषम समस्या इस दम्पति के लिये

उपस्थित हुई जिसने कुछ क्षणों के लिये इन दोनों को विचार विमुग्ध बना दिया। वास्तव में बात भी ऐसी ही थी। कुछ समय विचार करते २ दोनों पति पत्नी की दृष्टि जीरा के रईस लाला जोधामल के ऊपर गई। वे गणेश चन्द्र जी के घनिष्ट मित्र थे, दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था।

जिस समय मनुष्य सुखी और सम्पन्न होता है उस समय बरसाती मेंडकों की तरह इधर उधर से उसके अनेक मित्र निकल आते हैं, चारों ओर मित्रों का ही तांता बन्धा रहता है परन्तु विपत्ति-काल में वे गधे के सींग से बन जाते हैं, जाने कभी थे ही नहीं। परन्तु लाला जोधामल वैसे मित्रों में से नहीं थे, वे तो सच्चे मित्र थे वैसे ही जैसे कि नीति शास्त्र के एक श्लोक में वर्णित है—

कराविव शरीरस्य, अक्षणोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितो हितं कुर्यात्, तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

जैसे विना किसी की प्रेरणा से हाथ शरीर की और पलकें नेत्रों की रक्षा करते हैं इसी प्रकार जो व्यक्ति विपत्ति के समय अपने मित्र की सहायता के लिये तत्पर रहता है वही सच्चा मित्र है। लाला जोधामल भी ऐसे ही साबित हुए।

अपने प्रिय पुत्र आत्माराम को साथ लेकर गणेशचन्द्र अपने मित्र लाला जोधेशाह् के पास पहुंचे और अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहने लगे यह मेरे सारे जीवन की पूंजी है, मै इसे आपके सुपुर्द करता हूँ, आपसे बढकर मेरा और कोई विश्वास पात्र नहीं। मुझे आशा ही नहीं किन्तु पूरा विश्वास है कि आप मेरे इस जीवन धन को मेरे से भी अधिक सावधानी से सुरक्षित रखेंगे।

अपने मित्र की करुणाजनक स्थिति पर दुःख प्रकट करते हुये पूरी सहानुभूति से बालक आत्माराम को अपनी गोदी में उठाकर लाला जोधेशाह् बोले—तुम जानते हो गणेशचन्द्र! यह मुझे कितना प्यारा है? इससे मुझे कितना स्नेह है? आज से मै इसको अपना धर्म पुत्र बनाता हूँ, इसके पालन-पोषण का सारा भार मेरे ऊपर है, तुम इसके लिये बिल्कुल निश्चिन्त रहो! जो सुख और सुविधाये मेरे अपने बच्चों को मिलेगी वे सभी आत्माराम को प्राप्त होंगी। पढा लिखाकर इसको योग्य बनाऊंगा, इसका विवाह करूंगा, और अपनी सम्पत्ति मे से पूरा हिस्सा दूगा। आपके वियोग का मुझे असीम दुःख है परन्तु इस वियोग में आपकी यह अमानत मुझे पूरा आश्वासन देगी। जिस समय आत्मारामजी अपने पिता के साथ जीरा मे आये और अपने धर्म पिता जोधेशाह् की गोद मे पहुंचे उस समय आपकी आयु लगभग बारह वर्ष की थी। वि० स० १६०६ मे आपको जोधेशाह् की संरक्षता प्राप्त हुई।

लाला जोधामल के घर आकर बालक आत्माराम पहिले पहल तो बहुत उदास रहे, एक तो अपने माता पिता का वियोग, तिस पर वे यह भी न समझते थे कि उसे क्यों इस प्रकार त्यागा जा रहा है। इसके

अतिरिक्त नया घर, नया परिवार और नया वातावरण। बालक आत्माराम के मन को सद्यः आकर्षित न कर सका, परन्तु धीरे धीरे लाला जोधामल के निर्मल स्नेह और लाड़ प्यार ने उनके मन को जीत लिया और वे अपने नये मित्रों तथा संगी साथियों के साथ हिलमिल कर रहने लगे।

बच्चों का मन खेल कूद में अधिक लगता है। आत्मारामजी भी अपने समवयस्क मित्रों के साथ खूब खेलते कूदते, कभी हरे भरे खेतों और बागों की सैर करते तो कभी नदी के किनारे घूमते फिरते और नदी में तैरते परन्तु उनके खेलने कूदने में भी सबसे अलग एक विलक्षणता थी। उनकी आत्मा में छिपी हुई अदम्य शक्ति अपने को प्रकट करने का अवसर ढूंढती रहती। वे स्वयं यह न जान पाते कि उनके भीतर क्या कुछ होरहा है। लड़के खेल मे मगन होते तो आत्मारामजी अपनी अंगुलियों से धरती पर कई तरह के चित्र बनाते रहते, हाथ से खींची गई रेखायें अपने-आप मुंह बोलते चित्र बन जाती! उनकी इस तरह की बालक्रीड़ा को देखकर कोई भी कह सकता था कि बालक आत्माराम भारत में अपने समय का एक महान् चित्रकार होगा, परन्तु नहीं, आत्माराम को तो इससे भी अधिक महान् होना था, इसलिये उनकी कला व्यञ्जना बहुत आगे न बढी, क्योंकि संसार के इन बाह्य दृश्यों को चित्रित करने के स्थान पर उन्हें अपने हृदय में बसाकर स्थूल जगत के सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण जो करना था, यही तो था उनके जीवन का उद्देश्य जो आगे चलकर पूर्ण हुआ। परन्तु उस समय उनमे बस रहा चित्रकार ही अधिक चञ्चल और मुख्य स्थान लिये हुए था। थोड़े ही समय में ऐसी सुन्दर तस्वीरें बना देते कि देखने वाला दङ्ग रह जाता।

एक समय की बात है कि आत्मारामजी अपने मित्रों के साथ खेल रहे थे, खेलते खेलते आपने प्रथम अपने घर का नकशा बनाया, उसमें लाला जोधेशाह तथा उनके कुटुम्ब के चित्र बनाये इतने में कहीं से लाला जोधेशाह भी आ पहुंचे, चित्र को देखकर बड़े चकित हुये और लड़कों से पूछा—कि यह चित्र किसने बनाया है? उत्तर में सबने आत्मारामजी का नाम लिया यह सुन जोधामलजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और आत्मारामजी को बड़ी स्नेह भरी दृष्टि से देखते हुये वहां से चल दिये।

उन दिनों ताश का खेल ग्राम में नया ही आरम्भ हुआ था, आत्मारामजी ने एक ताश को देखकर वैसा ही दूसरा नया ताश तैयार कर लिया और अपने साथियों से खेलने लगे।

आत्मारामजी अपने साथियों के साथ ताश खेल रहे थे कि इतने में उधर से अंग्रेजी सेना के कुछ अफसर गुजरे, उनका ताश खोया गया था, उन्होंने लड़कों से ताश मांगा, पर लड़के कब अपनी खेल की चीज देते, किसी मूल्य से भी नहीं, परन्तु आत्मारामजी को उनका नायक समझ कर—"क्योंकि वे लगते ही ऐसे थे, लाखों में एक" उनसे दुबारा प्रार्थना की तो आत्मारामजी ने लड़कों से ताश लेकर उन्हें देदी, इसके बदले वे जो कुछ देनेलगे उसे धन्यवाद पूर्वक लेने से इनकार कर दिया। आपके इस सद् व्यवहार से अंग्रेज अफसर बड़े प्रसन्न हुए मगर साथी नाराज। उनका दिल टूटने लगा क्योंकि उनकी खेल की वस्तु जो उनसे

छिन गई। परन्तु आत्मारामजी अपने साथियों की नाराजगी को कैसे सहन करते उनको एक और नया ताश बना देने का वचन देकर उन्हें शान्त किया और दूसरे दिन उससे भी सुन्दर ताश बनाकर उनकी उदासीनता को प्रसन्नता मे बदल दिया।

इसके अतिरिक्त उस समय की, अंग्रेजों और सिक्खों में लड़ी गई लड़ाइयों के चित्र–जिनमें अंग्रेजी सेना और सिक्ख सेना का परस्पर युद्ध; दौड़ते हुए घुडसवार; इधर उधर भागते हुए सशस्त्र सैनिक आदि के दृश्य अंकित थे–और अपने धर्म पिता के घर का सांगोपांग चित्र, आपकी चित्र कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने थे जिन्हे देखकर प्रेक्षक चकित से रह जाते। लोग हैरान थे कि इसे यह कला कौन सिखा गया? परन्तु जो कृतियां उन्होंने अपने आगामी जीवन में प्रस्तुत कीं, उनके विषय मे वे क्या जानते थे? हां यह सब समझने लगे थे कि आत्माराम कोई साधारण बालक नहीं। विश्व की अन्यतम विभूति है।

यह चित्रकला उन्हें कोई सिखा न गया था, किन्तु इन चित्र रेखाओं में उनका आत्मा स्वयं अपने विकास के लिये अपनी अदृश्य शक्ति को किसी महान् कार्य में लगाने का मार्ग तलाश करता था और वह मार्ग था सत्य और अहिंसा का मार्ग। सत्य की खोज तो उन्होंने बाल अवस्था के समाप्त होते होते ही आरम्भ करदी थी। लड़के थोड़ी बात मे झूठ बोलते परन्तु आप इससे अलग रहते, आप को सत्य से अधिक प्यार और झूठ से अधिक घृणा थी। सत्यनिष्ठा आपके जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु थी। जिसे आप सर्व प्रकार से सुरक्षित रखने में सचेष्ट रहते। इसी सत्य-निष्ठा के प्रभाव से आप अपने समय के एक युग-प्रवर्तक महापुरुष बने। अब रही अहिंसा और जीव रक्षा की बात? इसे तो आपने अपने जीवन को भी जोखम में डालकर अपनाया, जिसके उदाहरण इतिहास में भी इने गिने ही मिलेगे। हुआ यह कि एक दिन सब बालक इकट्ठे होकर नदी में स्नान करने चले, नदी पर पहुंचे तो क्या देखते हैं कि एक मुस्लिम स्त्री अपने बच्चे को स्नान करा रही है, बच्चा किसी तरह उसके हाथ से निकल कर नदी में जा गिरा, वह उसे पकड़ने दौड़ी तो स्वयं भी जल के प्रवाह मे बह निकली। लड़के देखते के देखते ही रहगये, परन्तु बालक आत्माराम ने आव देखा न ताव झट नदी मे छलांग लगादी और बड़े यत्न से दोनों मां बेटों को बचाकर बाहर ले आये। जिससे ग्राम तथा आस पास में उनके साहस की भूरि भूरि प्रशंसा होने लगी।

लोगों की दृष्टि मे आत्मारामजी का यह काम भलेही प्रशंसनीय और बड़ा हो परन्तु उनका विशाल हृदय तो इसे कुछ भी नहीं समझता था, क्योंकि उनके विकासगामी आत्मा ने भविष्य में लाखों जीवों को अज्ञान के महासागर से उबार कर उन्हें मुक्तिपथ पर चलाने का साधन सुझाना यह भी तो उन्हें करना था जो कि समय आनेपर उन्होंने अथक परिश्रम से सफलता पूर्वक किया और इसी उद्देश्य की ओर उनका कदम बालपन से युवावस्था में पदार्पण करते ही अग्रसर होने लगा। क्षत्रिय वीर पुत्र आत्माराम जोधामल के परिवार में रहने के साथ ही साथ "अहिंसा परमो धर्मः" को जीवन का मूल मन्त्र मानने वाले धर्म की ओर आकर्षित होने लगे, जोधामल जी स्वयं धर्म प्रेमी व्यक्ति थे। स्थानकवासी जैन परम्परा के मन्तव्यानुसार संध्या

सामायिक आदि धार्मिक कृत्यों मे उनकी अभिरुचि थी। कुछ तो उस वातावरण का प्रभाव और कुछ उस समय में वहां आने वाले -स्थानकवासी जैन मुनियों की संगति दोनों ने मिलकर युवक आत्माराम के मनमें धर्म के प्रति जागरुकता उत्पन्न करदी। अब उनका मानसिक झुकाव था धर्म की ओर और अनास्था थी संसार की ओर, सांसारिक विषयों से उनका मन निरन्तर हटने लगा और ज्ञानार्जन में प्रगति करने लगा। परन्तु सत्य की खोज कैसे हो ? नवयुवक आत्माराम के कच्चे मन को यही बात निरन्तर सताने लगी। लोहा गर्म हो तो उसपर लगाई गई चोट काम कर जाती है। मन की ऐसी सन्देह दोलायित परिस्थिति के समय वहां चौमासा रहे हुए स्थानकवासी जैन मुनि श्री जीवनरामजी के वैराग्य गर्भित सदुपदेशों ने युवक आत्माराम के स्वच्छ मनपर बहुत गहरा प्रभाव डाला। जिससे उसका चित्त सांसारिकता से उखड़ कर त्याग की ओर झुकगया। त्याग ही सच्चा अर्जन है, सच्चे सुख लाभ का मार्ग त्याग मे ही निहित है इस प्रकार वे सतत चिन्तन से धीरे धीरे इसी ओर आकर्षित हुए युवक आत्माराम ने साधु बनने का मौन निश्चय कर लिया। परन्तु आपका यह मौन निश्चय चम्पक-पुष्पगत उत्कट-सुगन्ध की भांति सारे नगर मे फैल गया और उससे लाला जोधामल की चिन्ता बढ़ी। जोधामलजी की चिन्ता उचित थी। अपने मित्र की अमानत रूप इस पोषित पुत्र को धनी मानी और सफल गृहस्थ बनाने की उनकी चिन्ता, उसे त्याग मार्ग से हटाने की ओर लगगई। उन्होंने अपने प्राणप्रिय धर्मपुत्र आत्माराम को हर प्रकार से समझाने बुझाने का यत्न किया। अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये परन्तु सब व्यर्थ। धधकते हुए अग्नि के कोयले पर पड़ी जल की बूंद उसे क्या बुझा पाती, स्वयं ही नष्ट होकर रहगई। तब एक और उपाय सोचा गया, आत्मारामजी की माता रूपादेवी को बुलाया। मां का स्नेह बन्धन, मां के हृदय की पुकार और उसकी आंखों से बह रहे अश्रुसागर को पार करना बड़ा दुस्तर है। मातृस्नेह की इस चिकनी चट्टान पर से बड़े बड़े फिसल जाते हैं। वीर प्रभु की वीर आत्मा को मातृस्नेह की इस कड़ी जंजीर ने ही तो कुछ समय के लिए बान्धे रक्खा। पर युवक आत्माराम के मन की नौका न जाने किस धातु की बनी हुई थी कि मातृस्नेह के इस दुस्तर सागर को भी पार कर गई। उसकी पुकार ने भी उसके हृदय में किसी प्रकार की हलचल पैदा नहीं की। वह अपने विचार से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुआ। तब मां ने अपने मातृऋण और उपकार की आड़ ली, पर युवक आत्माराम को तो अकेली मां का ही नहीं किन्तु भारत की अन्य अनेक माताओं का ऋण चुकाना अभीष्ठ था, वे अकेली मां के लिये कैसे रुकते। जब यह वार भी खाली गया तो माता ने पुत्र के निश्चय के सामने सिर झुका दिया और पुत्र ने हर्षातिरेक से मां के पुनीत चरणों पर अपना मस्तक रखदिया और निर्धारित उद्देश की सफलता के लिये मां से आशीर्वाद मांगा जिसे माता ने भी प्रसन्नता पूर्वक दे दिया।

अब युवक आत्माराम केवल मां का, बाप का या परिवार का न होकर सारे विश्व का बनगया। उसने सत्य और अहिंसा की सतत प्रेरणा देने वाले साधु वेष को अपनाते हुए अपने नाम आत्माराम को सार्थक उज्ज्वल और महान् बनाने के लिए सन्मार्गपर प्रथम चरण रक्खा।

विक्रम सं० १६१० की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी के दिन मालेर कोटला में आपका दीक्षा समारोह सम्पन्न हुआ। स्थानकवासी जैन साधु श्री जीवनरामजी को आत्माराम जैसे शिष्यरत्न की प्राप्ति हुई और युवक आत्माराम ने उनके चरणों मे आत्म-निवेदन करके जीवन विकास का श्री गणेश किया। दीक्षित होने के बाद युवक आत्माराम अब मुनि आत्माराम के नाम से सम्बोधित होने लगे।

उन दिनों पञ्जाव में स्थानकवासी जैन मत का ही अधिक प्रावल्य था, प्राचीन जैन परम्परा तो लुप्त प्रायः हो रही थी, उसके अनुयायी भी अंगुलियों पर गिनने जितने रह गये थे। कहीं कहीं पर दिखाई देने वाला एक आध देव मन्दिर उसकी स्मृति बनाये हुये था। लोग प्राचीन जैन परम्परा की शास्त्रीय देवपूजा को सर्वथा भूल बैठे थे। यतियों की संरक्षता में रहे हुये किसी २ देव मन्दिर में सेवा पूजा का प्रबन्ध था। उस समय मंदिरों का स्थान थानकों ने ही ले रक्खा था। देव पूजा के विरोधी इस सम्प्रदाय ने प्राचीन जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर रक्खा था इस लिये जैनेत्तर लोग इसी सम्प्रदाय को जैन धर्म का सच्चा प्रतिनिधि मानते और इसी के आचार विचारों को जैन धर्म का वास्तविक स्वरूप समझते। परन्तु स्थानकवासी सम्प्रदाय प्राचीन श्वेताम्बर परम्परा से निकला हुआ देवपूजा विरोधी एक फिरका है, जिसका जन्म विक्रम की सोलवीं और १८ वीं शताब्दी के लगभग हुआ। इस फिरके के साधु चौवीस घंटे मुखपर पट्टी बान्धे रखते हैं। इस मत का विशेष वर्णन प्रसंगानुसार अन्यत्र किया जावेगा। पंजाब के जोधामल आदि सभी ओसवाल जो कि पंजाब मे भावड़े के नाम से प्रसिद्ध हैं-प्रायः इसी मत के अनुयायी थे। जो कि बहुत समय के बाद श्री आत्मारामजी के सदुपदेश से शुद्ध सनातन जैन धर्म के अनुयायी बने। इसी जैनमत की दीक्षा को श्री आत्मारामजी ने अपनाया परन्तु कुछ समय बाद ज्ञानचक्षु के उघडने से सत्य के पुजारी इस वीर क्षत्रिय ने कांचली को त्यागने वाले सर्प की भांति इसे असार समझ कर त्याग दिया और प्राचीन शुद्ध सनातन जैन धर्म में दीक्षित होकर इसी पंजाब देश में उसकी विजय दुंदभी बजाई। और उसकी विजय पताका को एक विशाल सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया।
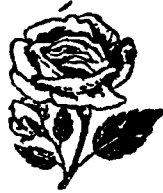
अध्याय २

भ्रमण और ज्ञानार्जन
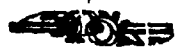
सत्य के जिज्ञासु मुनि श्री आत्माराम जी की अभिरुचि ज्ञानार्जन की ओर बढ़ी। सत्य-गवेषणा के लिये ज्ञानोपार्जन की इतनी ही आवश्यकता है जितनी कि अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु को उपलब्ध करने के लिये सूर्य या दीपक आदि के प्रकाश की आवश्यकता होती है। श्री आत्माराम जी की प्रतिभा इतनी तीक्ष्ण और निर्मल थी कि एक दिन में सौ श्लोक जितना पाठ कंठ कर लेना तो आपके लिये एक साधारण सी बात थी ? आपके गुरु श्री जीवन राम जी वैसे तो बड़े सरल और चरित्रशील व्यक्ति थे परन्तु अधिक पढ़े लिखे नहीं थे इस लिये काशीराम नाम के एक ढूंढ़क श्रावक के पास से आपने श्री उत्तरा-ध्ययन सूत्र के कितने एक अध्ययनों का स्वाध्याय किया। जैसाकि ऊपर कहा गया है आप एक प्रतिभाशाली कुशाग्र बुद्धि पुरुष थे इसलिये दीक्षा के उपरान्त थोड़े ही समय में व्याख्यान करने-उपदेश देने लग गये। गुरुजी के साथ विचरते २ सरसा-राणिया ग्राम में पहुँचे और सं० १९११ का चतुर्मास गुरुजी के साथ आपने वहीं पर व्यतीत किया। वहां पर मालेरकोटला के रहने वाले "खरायतीराम" नाम के एक वैश्य ने श्री जीवन राम जी के पास दीक्षित होकर आपका गुरुभाई बनने का श्रेय प्राप्त किया। §

सरसा राणिया के इस चतुर्मास में श्री आत्माराम जी ने वृद्ध पोसालीय तपगच्छ के श्री रूपऋषि जी के पास प्रथम आरम्भ कियेगये उत्तराध्ययन सूत्र को सम्पूर्ण किया।

---

§ ये महात्मा बडे आत्मार्थी और तपस्वी निकले, इन्होंने कुछ वर्षों बाद ढूंढक मत का परित्याग करके प्राचीन जैन परम्परा के सवेगीमत को अंगीकार किया और आत्मशुद्धि के लिये तपश्चर्या का आरम्भ कर दिया। आप जीवन पर्यन्त दो उपवास के बाद पारणा करते रहे। सवेगी मत मे दीक्षित होने पर गुरुदेव ने आपका नाम "खाति विजय" रक्खा। आपने अपने पुण्य-पादविहार से अधिकतया गुजरात और काठियावाड की भूमि को ही पावन किया अर्थात् आप गुजरात काठियावाड़ में ही विचरते रहे।

चतुर्मास की समाप्ति के अनन्तर ज्ञानोपार्जन के निमित्त आपने यमुना पार की ओर विहार किया और वहां श्री रूड़मल, नाम के साधु के पास से श्री उववाई–औपपातिक सूत्र का अध्ययन किया। वहां से दिल्ली होकर सरगथला नाम के ग्राम मे पहुँचे और सं० १६१२ का चतुर्मास आपने वहीं पर किया। यहां पर आपके दादा गुरु श्री गंगाराम जी का स्वर्गवास होगया।

चौमासे के बाद अपने गुरुभाई के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए आप जयपुर पधारे। जयपुर में अमीचन्द नाम के एक ढूँढ़क साधु विराजमान थे। उस समय उनकी बड़ी ख्याति थी और इस समाज में वे श्रुतकेवली के समान गिने जाते थे।

उनके पास आत्माराम जी ने आचारांगसूत्र का अध्ययन किया। एक दिन जयपुर के ढूँढ़क श्रावकों ने श्री आत्माराम जी से सानुरोध विनय पूर्वक कहा–कि "महाराज! आप बड़े योग्य साधु हैं आप निरन्तर ज्ञानाभ्यास मे लगे रहते है परन्तु एक बात का आपने अवश्य ध्यान रखना! आपने व्याकरण पढ़ने का ख्याल नहीं करना, यदि आप व्याकरण पढ़ने लग जाओगे तो आपकी बुद्धि बिगड़ जायगी! आपका श्रद्धान जाता रहेगा! यह व्याकरण नहीं किन्तु व्याधिकरण है अतः इसकी ओर कभी दृष्टि नहीं देना!" उस समय की बात समझिये अथवा किसी प्राग्भवीय कर्मविशेष का प्रभाव मानिये आत्माराम जी को उनलोगों का अहितकार कथन भी हितकारी प्रतीत हुआ। और उन्होंने शब्दार्थ ज्ञान में सब से अधिक उपकार करने वाले व्याकरण शास्त्र की ओर उस समय लक्ष्य नहीं दिया। § इसी लिये व्याकरण का कुछ ज्ञान रखने वाले मुनि–श्री फकीर चन्दजी के–"तुम प्रतिभाशाली व्यक्ति हो आत्माराम! तुम मेरे पास कुछ समय रहकर सिद्धहेम चन्द्रप्रभा व्याकरण पढो! इससे तुमको शब्दार्थ ज्ञान मे बहुत सहायता मिलेगी" इन वचनों का उनके मनपर कोई प्रभाव नहीं हो पाया। जयपुर से विहार करके आप अजमेर पहुंचे वहां पर विराजे हुए श्री लक्ष्मी जी, देवकरण और जीतमलजी आदि साधुओं से भी आपने कई एक जैन शास्त्रों का अभ्यास किया। वहां से फिर अमी चन्द जी के पास पढ़ने के लिये जयपुर मे आये और १६१३ का चौमासा वहीं पर किया। चौमासे के अनन्तर विहार करके नागोर (मारवाड़) पधारे वहां हंसराज नामाश्रावक के पास आपने अनुयोगद्वार सूत्र का अध्ययन किया। वहां से विहार करके जयपुर के वैद्यनाथ

---

§ "व्याकरणेन विनाह्यन्ध वधिर: कोशवर्जित:" इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार व्याकरण के ज्ञान से शून्य व्यक्ति की शब्दार्थ के यथार्थ ज्ञान मे वही करुणाजनक स्थिति होती है जैसी किसी वस्तु के रूप निर्णय मे एक जन्मान्ध व्यक्ति की देखने मे आती है। उनदिनो ढूंढक सम्प्रदाय में व्याकरण का ज्ञान रखने वाला कोई विरला ही साधु देखने में आता था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनायें भी हुईं कि पढे लिखे कुछ साधु इस मत का परित्याग करके प्राचीन जैन परम्परा में दीक्षित हो गये, इसका प्रभाव उन अनपढ साधुओ पर बहुत हुआ तब से भोली भाली अज्ञान जनता पर प्रभाव जमाने की खातिर श्रद्धाभ्रष्टता की आड़ लेते हुए उन लोगों ने व्याकरण आदि के पठन पाठन के विरुद्ध आन्दोलन करना शुरू करा दिया उसी के परिणाम स्वरूप जयपुर के लोगो का यह कथन था।

पटवा नाम के ओसवाल गृहस्थ के पास आपने पढ़ना आरम्भ किया पटवा वैद्यनाथ जैनागमों के अच्छे अभ्यासी थे और शब्द शास्त्र में भी उनका अच्छा प्रवेश था. एवं आगमों पर लिखेगये पूर्वाचार्यों के भाष्य और टीका आदि के कथन पर आस्था रखते थे। उन्होंने आत्माराम जी से कहा–कि यदि आप व्याकरण का अध्ययन करने के वाद जैनागमों का–उनके भाष्य और टीका आदि के साथ अभ्यास करें तो आपको वहुत लाभ होगा और पद पदार्थ का यथार्थ निर्णय भी आपके लिये सुकर हो जायगा! इत्यादि। परन्तु जैसे अजीर्ण ज्वर के रोगी को, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजनमें भी अभिरुचि नहीं होती वैसे ही वैद्यनाथ पटवा के वोधप्रद हितकारी वचन भी आत्माराम जी को रुचिकर नहीं हुए। कर्मों की विषम परिस्थिति का इससे अधिक जीता जागता उदाहरण और क्या हो सकता है ?

जयपुर से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाली (मारवाड़) से आप नागोर पधारे और सं० १६१४ का चतुर्मास यहीं पर किया। यहां आपने पूज्य कचौरीमल, नन्दराम और फकीर चन्द जी आदि साधुओं के पास सूयगडांग, प्रश्न व्याकरण. पन्नवरणा, और जीवाभिगम आदि आगम ग्रन्थों का अभ्यास किया। वहां उस समय श्री फकीर चन्द जी के पास उनका हर्ष चन्द नाम का एक शिष्य सिद्ध हेम–कौमुदी, (चन्द्र प्रभा नाम का व्याकरण ग्रन्थ) पढ़ता था। आत्माराम जी को कुशाग्रमति देख फकीर चन्द जी ने उनसे भी व्याकरण के इस ग्रन्थ का अध्ययन करने की प्रेरणा की परन्तु आपकी यह प्रेरणा–चिकने घड़े पर पड़ने वाली वून्द की भांति आत्माराम जी के पूर्वोक्त कुसंस्कार जन्य मलदिग्ध अन्तःकरण पर टिक न सकी! टिकती भी कैसे ? पूर्वोक्त अशुभ कर्म की भवस्थिति के पूर्ण होने का अभी समय जो नहीं आया था ? अस्तु। चौमासे की समाप्ति के वाद विहार करके मेडता, अजमेर और किशनगढ़ आदि शहरों में थोड़ा २ समय निवास करके १६१५ का चतुर्मास फिर जयपुर में किया इस भ्रमण में आपने अपने आगमाभ्यास को खूव उत्तेजित किया और दशवैकालिक उत्तराध्ययन, सूत्र कृतांग, स्थानांग, अनुयोगद्वार, नन्दी, आवश्यक (ढूंढक सम्प्रदाय का स्वकल्पित) और वृहत्कल्प आदि का पूर्ण रूप से अभ्यास कर डाला। उस समय अनुमान दस हजार श्लोक प्रमाण आगम साहित्य आत्माराम जी के मुखाग्र था। जैसा कि ऊपर वतलाया गया है—उस समय आत्माराम जी के मन में एक मात्र ज्ञानार्जन की ही तीव्र लग्न थी, वे जहां कहीं भी किसी पढ़े लिखे योग्य साधु का नाम सुनते वहीं पर पहुँचते और उस महानुभाव के पास जो कुछ भी ग्रहण करने योग्य होता उसे ग्रहण करने का भरसक प्रयत्न करते।

उन दिनों "मगनजी स्वामी" नाम के एक साधु ढूंढक सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, इसीलिये उनकी सम्प्रदाय में वहुत ख्याति थी। उनको मिलने की आपके मन में वहुत उत्कंठा थी। जयपुर का चौमासा पूर्ण करके श्री वख्तीराम नाम के साधु के साथ माधोपुर रणथम्भोर होते हुए मगन स्वामीजी के दर्शनार्थ आप वूंदी कोटा में पधारे। वहां आने पर पता चला कि मगनजी स्वामी भानपुर में विराजमान हैं तव आप भानपुर पहुंचे और मगनजी स्वामी से भेंट की। दोनों सन्तों के मिलाप में सात्विक स्नेह था. इसलिये एक दूसरे में दिल खोलकर विचारों का आदान प्रदान हुआ जिससे दोनों महानुभावों के मन को अपूर्व सन्तोष मिला।

उस समय आपके गुरु श्री जीवनरामजी "सलाना" ग्राम में विराजे हुए थे इस लिये भानपुर से विहार करके "सीत्ताम" और उजावरा होते हुये आप सलाना पहुंचे और गुरुजी से भेट की, वहां से रतलाम आये। उन दिनों रतलाम में सूर्यमल कोठारी नाम का एक गृहस्थ रहता था, जो कि अपने आपको ढूंढक मत का सबसे अच्छा जानकार समझता था। परन्तु उसकी मान्यता और ढूंढक मत की मान्यता मे एक विशेष अन्तर था, ढूंढक सम्प्रदाय वाले ३२ मूल आगमों को प्रमाण मानते हैं जब कि सूर्यमल कोठारी उनमे से केवल ११ अंगों को मान्य रखता था उसका कथन था कि जैन मत मे आचारांग प्रभृति केवल ग्यारां ही शास्त्र सच्चे एवं प्रमाणिक हैं। शेष तो यतियों की कल्पना से निर्मित हुये हैं। मुनि श्री आत्मारामजी ने अपने प्रवचन में इस सिद्धान्त की बड़ी तीव्र आलोचना की और कोठारी जी के सन्मुख बड़ी प्रौढ़ता से उनके उक्त मन्तव्य का प्रतिवाद करते हुए अपनी अकाट्य युक्तियों से उन्हें निरुत्तर कर दिया। §

आपका विचार वहांसे विहार करके चतुर्मास कहीं अन्यत्र करने का था परन्तु जनता के सप्रेम विशेष आग्रह से आपने वहीं चतुर्मास करने की अनुमति देदी और खचरोद, बदनावर, बड़नगर, इन्दौर तथा धारानगरी आदि शहरों मे भ्रमण करते हुए फिर रतलाम मे पधारे और सं० १६१६ का चतुर्मास वहीं किया। इस चतुर्मास में आपके प्रवचनों से जहां भाविक जनता को लाभ हुआ और कुठारी सूर्यमल के फैलाये हुए जाल से उन्हें छुटकारा मिला वहां आपको भी अपने ज्ञानार्जन में रही हुई कमी को पूरा करलेने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ।

दैवयोग से श्री मगन जी स्वामी का चतुर्मास भी रतलाम में ही था। भानपुर मे, मिलाप के समय मगन जी स्वामी से भी कुछ ज्ञानाभ्यास करने की आपकी जो उत्कंठा जाग्रत हुई थी उसे सन्तुष्ट करलेने का यह अच्छा अवसर था। इसलिये ढूँढक सम्प्रदाय की शास्त्रीय पूँजी के उपार्जन करने मे जो थोड़ी बहुत कमी आपको नजर आती थी उसे भी आपने बटोर लिया। इस सम्प्रदाय के सर्व मान्य ३२ आगम ग्रन्थों का, मर्मज्ञों के बतलाये हुए अर्थो सहित पूर्णरूप से मथन करडाला। दूसरे शब्दों में—उक्त सम्प्रदाय के माननीय सम्पूर्ण शास्त्रों के सर्वेसर्वा पारंगत होने के साथ २ उसके लब्ध प्रतिष्ठ साधुओं में भी आपको असाधारण और उल्लेखनीय स्थान प्राप्त हुआ। इधर ढूंढक मत या स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुयायी साधु और गृहस्थ वर्ग, भी आपजैसे आगम निष्णात प्रतिभाशाली चारित्रशील मुनिरत्न के उपलब्ध होने पर अपने सद्भाग्य की भूरि २ प्रशंसा करने लगा। इसके अतिरिक्त आपके गुरुवर्य श्री जीवनराम जी के हर्ष का तो

§ कुठारी सूर्यमल के निर्मूल मन्तव्य के प्रतिवाद में श्री आत्माराम जी ने जिन प्रामाणिक युक्तियों का अनुसरण किया था उनमें से उनके मुखारविन्द से सुनी और स्मृति में रही हुई एक युक्ति का यहां पर उल्लेख किया जाता है—यदि ग्यारह अंगशास्त्रों के सिवाय शेष सभी कल्पित हैं तो इन ग्यारह शास्त्रों मे उनके नाम का और विषयका निर्देश कैसे? जैसे कि श्री भगवती सूत्र में औपपातिक सूत्र का एवं पन्नवणा का उल्लेख कैसे? तथा समवायाग में कल्पसूत्र का निर्देश कैसे? इसलिये यह मान्यता प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

कहना ही क्या है, वे तो मन ही मन फूले नहीं समाते। जो पुत्र अपनी गुणसम्पत्ति से किसी कोने में छिपे हुए अपने पिता को लोकख्याति का भाजन बनादे एवं जो शिष्य अपनी विशिष्ट गुणगरिमा से जनता में असाधारण ख्याति प्राप्त करता हुआ अपने गुरुजनों के नाम को भी चार चान्द लगादे ऐसे पुत्र और शिष्यरत्न को प्राप्त करने वाला पिता या गुरु अपने आपको कितना भाग्यशाली मानता होगा इसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है हर्षातिरेक से पूरित मनोवृत्ति का शीघ्रगामी प्रवाह अपनी सीमा को पार करता हुआ न जाने कितने अपरिमित क्षेत्र को स्पर्श कर जाता है।

मुनि श्री आत्माराम जी ने स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में दीक्षित होने के वाद आजतक अर्थात् इन छै वर्षों में ज्ञानार्जन के लिये कितना परिश्रम किया और उसमें वे कहां तक सफल हुए, इसका दिग्दर्शन करा दिया गया, अब इस से आगे उनकी आगामी जीवन चर्या के पुनीत स्रोत में डुबकी लगाने का भी यत्न करिये। सम्भव है उससे अपना और आपका आन्तरिक कषायमल थोडा वहुत और धुल जावे?

अध्याय ३

तथ्य-गवेषणा की ओर

मानव के नैतिक और आध्यात्मिक विकास या ह्रास की तर-तमता में हेतुभूत एकमात्र उसकी मनोवृत्ति है। उदार अथच विवेक प्रधान मनोवृत्ति, उसके विकास या उत्थान का कारण बनती है जब कि संकुचित और विवेक शून्य मनोवृत्ति उसे ह्रास या पतन की ओर लेजाती है। इसी प्रकार तथ्य शोधक मनोवृत्ति में जब विवेक का उद्गम होता है तब उसका उपार्जन की ओर वेग से गति करने वाला प्रवाह रुक जाता और वह (मनोवृत्ति) उपार्जित पदार्थों के पृथक्करण की ओर प्रस्तुत होजाती है। तात्पर्य यह कि विवेक प्रधान मनोवृत्ति में अर्जन संरक्षण और पृथक्करण इन तीनों भावों को उचित स्थान प्राप्त होता है। ऐसी उदार मनोवृत्ति ही तथ्य की अन्वेषक या गवेषक समझी या मानी जाती है और इस प्रकार की मनोवृत्ति रखने वाला व्यक्ति ही तथ्य गवेषणा की ओर प्रस्थान करता या कर सकता है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय की समग्र ज्ञान विभूति को प्राप्त कर लेने के बाद मुनि श्री आत्मारामजी की उपार्जन प्रधान मनोवृत्ति में जब विवेक का प्रादुर्भाव हुआ तब उसके वेगशून्य प्रशान्त और निर्मल स्वरूप में निम्नलिखित विचार क्रमशः प्रतिबिम्बित होने लगे जबकि एक दिन श्री आत्मारामजी अपने दीक्षाकाल से तबतक के जीवन वृत्त की पर्यालोचना में निमग्न थे।

१—दीक्षाग्रहण करने के बाद मैंने इस मत के समग्र आगम ग्रन्थों को पढा वह भी एक बार नहीं अनेक बार, और केवल एक ही से नहीं अनेकों से सुना पढ़ा और मनन किया। एवं इस मत के गृहस्थ और साधु जितने भी विद्वान अच्छे पढ़े लिखे कहे व माने जाते हैं उन सबसे मिला और अच्छी तरह से वार्तालाप किया तथा आगम सम्बधी कतिपय पाठों के अर्थ को समझने के लिये जहां कहीं भी किसी विद्वान् साधु या गृहस्थ को सुना वहां ही पहुँचा और उससे अर्थ समझनेकी प्रार्थना की और उसने समझाया परन्तु एक दूसरे का कथन एक दूसरे से विरुद्ध ही सुनने में आया। एक कुछ अर्थ करता है तो दूसरा उसके विरुद्ध किसी अन्य ही अर्थ की प्ररूपणा करता है। किसके अर्थ को सच्चा और किसके

अर्थ को झूठा ठहराया जाय ? इसके अतिरिक्त शास्त्रों के जानकार बने हुए इन पंडितों में एक विलक्षण ही खूबी देखने मे आई–जहां किसी पाठ का कोई ठीक अर्थ न बैठता हो वहां दो चार मिलकर एक नया कल्पित अर्थ घड़ लेते हैं उसका नाम रक्खा जाता है पंचायती अर्थ। पंजाब प्रान्त में प्राय: इस पंचायती अर्थ का ही अधिक चलन है। तब यथार्थ अर्थ का निर्णय हो तो कैसे ?

२—जैनागमों में संस्कृत और प्राकृत इस नाम की दो भाषाओं का उल्लेख देखने में आता है। परन्तु इन भाषाओं का पूरा ज्ञान तो इनका व्याकरण जानने पर ही हो सकेगा। इसके अतिरिक्त प्रश्न व्याकरण में नाम, आख्यात, उपसर्ग, तद्धित, समास आदि का जो उल्लेख है वह तो सारे का सारा व्याकरण की मूल प्रक्रिया का ही संक्षेप है, तब व्याकरण जाने बिना इसका यथार्थ बोध कैसे होगा ? आख्यात क्या है ? उपसर्ग किसे कहते हैं ? एवं तद्धित और समास का स्वरूप क्या है ? और वह कितने प्रकार का है ? इत्यादि सारी बातें व्याकरण के मौलिक ज्ञान की अपेक्षा रखती हैं।

३—एक बात और भी विचारणीय है—इस सम्प्रदाय–[जिसमें मैं दीक्षित हुआ हूं] से भिन्न एक और जैन सम्प्रदाय भी है जो कि अपने को इससे अधिक प्राचीन कहता व मानता है। इधर पंजाब में तो उसका प्राय: अभाव सा ही है मगर गुजरात काठियावाड़ आदि में तो उसका बड़ा प्रभाव सुनने में आता है। यह सम्प्रदाय मन्दिर और मूर्त्ति को मानता एवं उसे आगम विहित बतलाता है, उधर इसके अनुयायी वर्ग की बहुत बड़ी संख्या सुनने में आती है और सैकड़ों नहीं बल्कि हजारों विशाल जिन-मंदिर इस सम्प्रदाय के अनुयायी धनिकों ने बनावाये हैं जो कि सदियों के बने हुए कहे जाते हैं। एवं उनमें विराजमान जिनेन्द्र देवों की प्रतिमायें भी बड़ी भव्य और विशाल तथा बहुत पुराने समय की सुनने में आती हैं जो कि इस सम्प्रदाय को प्राचीन प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहने देतीं। इस सम्प्रदाय में खरतरगच्छ तपागच्छ आदि अनेक गच्छ–समुदाय कहे जाते हैं। इन गच्छों मे अनेक ऐसे आगमवेत्ता धुरंधर विद्वान् हुए हैं जिन्होंने आगमों पर संस्कृत और प्राकृत में विस्तृत भाष्य और टीकायें लिखी हैं। ये सभी विद्वान् आगम सम्मत मन्दिर और मूर्ति को मानने वाले थे। जब कि मेरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायी साधु और गृहस्थ सभी इसके निषेधक हैं, इसे आगम बाह्य कहते व मानते हैं। तब इन दोनों में से जैन धर्म का सच्चा प्रतिनिधि किसे मानना चाहिये और जीवन मे किसे अपनाये रखना चाहिये ? यह है एक विषम समस्या या विकट उलझन जिसे हल करने या सुलझाने का भरसक प्रयत्न करना मेरे जैसे सत्य गवेषक आत्मार्थी साधु का सब से प्रथम कर्त्तव्य है और होना चाहिये।

४—जयपुर की मूर्ख मंडली के कथन को स्मृति पथ पर लाते हुए—"महाराज ! आप व्याकरण मत पढ़ना ! यदि पढ़ोगे तो आपकी बुद्धि बिगड़ जायगी ! आपका श्रद्धान जाता रहेगा यह व्याकरण नहीं व्याधिकरण है, अत: इसकी ओर दृष्टि नहीं देना"। छी: ! कितना जघन्य और निकृष्ट विचार। बुद्धिमत्ता की हद हो

गई! विवेक की इतिश्री होगई! "आप व्याकरण नहीं पढ़ना आपकी बुद्धि बिगड़ जावेगी। क्या इस से बढ़कर भी मूर्खता और बुद्धि हीनता की कोई जीती जागती मिसाल हो सकती है? यह तो ऐसी ही बात है जैसे कोई किसी से कहे कि तुम अमृत मत पीना यदि पीओगे तो मर जाओगे! पर उनसे भी बढ़कर मूर्ख और विचारशून्य तो मैं निकला, जिसने उनके सर्वथा अहितकर उपदेश को परम हितकारी समझकर ऐसी मुट्ठी में बान्धा कि जिसके आगे बन्दर की मुट्ठी भी हार मान जाय! तो फिर इसे मैं अपनी बुद्धिमत्ता समझूं या नितान्त मूर्खता? एवं इसकी भूरि भूरि प्रशंसा करूं या सतत निन्दा? यह भी एक विचारणीय समस्या है।

५—इतने में स्मृति पथ पर आई हुई अन्तर्ध्वनि को जैसे कोई सजग होकर सुने—"यदि आप व्याकरण का अध्ययन करने के बाद जैनागमों का—उनके भाष्य और टीका आदि के साथ अभ्यास करें तो आपको बहुत लाभ होगा, और पदपदार्थ का यथार्थ निर्णय भी आपके लिये सुकर हो जायगा! एवं—"तुम प्रतिभाशाली हो आत्माराम! मेरे पास कुछ समय रहकर तुम व्याकरण—चन्द्रप्रभा पढ़ो! इससे तुम को पदार्थ ज्ञान में बहुत सहायता मिलेगी!" पटवा श्री वैद्यनाथ और मुनि श्री फकीर चन्द जी की जीवन में विकास और उल्लास को उत्पन्न करने वाली सुधातुल्य इस हितशिक्षा का अनादर करने का ही यह परिणाम है कि आज मैं तथ्य निर्णय में 'किं कर्त्तव्य विमूढ़' बनकर आत्मवंचना का भाजन बन रहा हूँ। अस्तु अब तो श्यामसुन्दर के अनन्य भक्त सूर कवि की "सूरदास गुजरी सो गुजरी बाकी तहीं संभार" इस अवरोक्ति को ध्यान में रखते हुए तथ्यगवेषणा की ओर प्रस्थान करने में पाथेय रूप व्याकरण के पठन पाठन में प्रवृत्त होना यही मेरा मुख्य कार्य होगा। यह थी आत्माराम जी की विवेक प्रवीण मनोवृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाली—विचार सन्तति, जिससे उनकी आस्था को जबरदस्त धक्का लगा और उसका दृढ सिंहासन अपने स्थान से हिल गया! अब उन्हें जैन धर्म से अपनी सम्प्रदाय कुछ विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने लगी। जैनधर्म के प्राचीन आदर्श और उसके शास्त्रीय सिद्धान्तों में जितनी स्वच्छता दृष्टिगोचर हुई उससे अधिक धुँधलापन उन्हें अपने मत में नजर आने लगा। ऐसी दशामें सहसा उनके मुख से निकल पड़ा—

तब लग धोवन दूध है, जब लग मिले न दूध।
तब लौं तत्त्व अतत्त्व है, जब लौं शुद्ध न बूध॥

अर्थात् ज्ञान-विधुर मनुष्य को जब तक दूध नहीं मिलता तब तक वह धोवन-(लस्सी वगैरह) को ही दूध समझता है और उसके स्वाद की प्रशंसा करता रहता है। एवं दुग्ध के प्राप्त होने पर जब उसे दुग्ध में रहे हुए अपूर्व माधुर्य और स्वच्छता का अनुभव होता है तब उसे धोवन के असली रूप का पता चलता है इसीप्रकार मानव में जबतक विवेक प्रधान शुद्ध बुद्धि का स्फुरण नहीं होता तब तक उसका जाना हुआ तत्त्व वास्तविकता से बहुत दूर होता है और वह अतत्त्व को ही तत्त्व मानकर उसकी उपासना करता रहता है।

कहीं मैं भी इसी श्रेणी का विद्यार्थी तो नहीं ? लगता तो ऐसा ही है, परन्तु इन बातों का निर्णय तो तभी हो सकेगा जब कि मै व्याकरण आदि शास्त्रों में सम्यग् निष्णात होने के अनन्तर जैन परम्परा के मौलिक साहित्यका उसके भाष्य और टीका आदि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से स्वाध्याय करूं और फिर देखूं कि तथ्य क्या है ? एवं वीर प्रभु के उपदेश का वास्तविक प्रतिनिधित्व किस में है ? मेरी ढूंढक परम्परा में या दूसरी संवेगी जैन परम्परा में ? मगर इसके लिये कुछ समय अपेक्षित है जो कि अभी दूर है, फिर भी इसे निकट लाने का प्रयत्न तो चालू रखना ही चाहिये ।
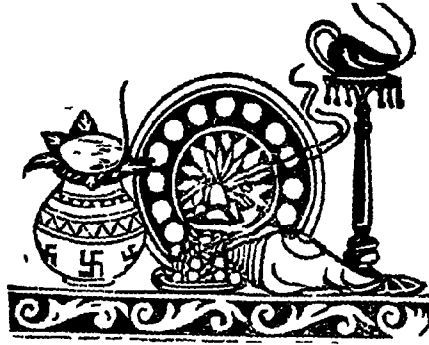
अध्याय ४

जिज्ञासा पूर्ति की ओर
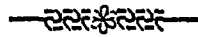
ऊपर उल्लेख की गई विवेकगर्भित मानसिक मंत्रणाओं को क्रियात्मक रूप देने के लिये उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में श्री आत्माराम जी ने गुजरात देश की ओर प्रस्थान करने का विचार किया। उन्होंने प्राचीन जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध शत्रुंजय-सिद्धाचल और उज्जयन्त-गिरनार आदि तीर्थों की बहुत प्रशंसा सुन रक्खी थी, उनको देखने एवं उस प्रदेश में रहने वाले विद्वान् जैन मुनियों से मिलने और उनसे धर्म सम्बन्धी वार्तालाप करने की बहुत इच्छा थी। परन्तु आपके गुरु श्री जीवन राम जी ने उधर जाने की आज्ञा नहीं दी। इसलिये रतलाम का चतुर्मास समाप्त होने के बाद आपने गुजरात की ओर प्रस्थान न करके चित्तौड़ की ओर विहार कर दिया। रास्ते में जावरा मंदसोर नीमच और जावद वगैरह शहरों में होते हुए चित्तोड़ पहुँचे। यहां पर कुछ दिन ठहरकर चित्तौड के पुराने किले के खंडहरों को देखा जो कि प्राचीन आर्य संस्कृति के चित्रकला प्रधान अतीत गौरव का स्मरण करा रहे थे। भग्नावशेष जैन मंदिर फतेपुर के महल, ऊंचे कीर्तिस्तंभ, प्राचीन जलकुंड, सुकोशल मुनि की तपो-गुफा, पद्मिनी की सुरंग और सूर्य कुण्ड प्रभृति अनेक प्राचीन भग्नावशेषों को देखते हुए भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव के साथ २ सांसारिक वस्तुओं की असारता और अस्थिरता का भी प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे। वहां से उदयपुर, नाथद्वार, कांकरोली, गंगापुर, भीलवाडा, सरवाड, जयपुर, भरतपुर, मथुरा और वृन्दावन आदि स्थानों की यात्रा करते हुए कोशी के रास्ते से दिल्ली पधारे। आपकी इच्छा तो यहीं पर चौमासा करने की थी परन्तु गुरुवर्य श्री जीवन राम जी के अनुरोध से यह चतुर्मास दिल्ली के बदले आपने "सरगथला" ग्राम मे किया, जिससे वहां की जनता को आपके सदुपदेश से बहुत लाभ मिला। विक्रम सं० १९१७ के इस चतुर्मास को सम्पूर्ण करके आप फिर दिल्ली मे आये। यहां से विहार करके यमुना पार खट्टा, लुहारा, विनौली, बडौत और सोनीपत्त आदि शहरों में विचरने के बाद १९१८ का चतुर्मास आपने दिल्ली में किया।

यहां इतना स्मरण रहे कि विहार मे और चतुर्मास में शास्त्र स्वाध्याय और पठन पाठन का कार्य आपका निरन्तर चालू रहता था, विहार में कुछ कम और वर्षावास मे अधिक। स्वयं स्वाध्याय करना और साथ के साधुओं को पढ़ाना यह आपका नियमवद्ध दैनिक कार्यक्रम था।

दिल्ली के चतुर्मास मे आपने पंजाव के पूज्य श्री अमरसिंह जी के शिष्यों श्री मुस्ताकराय और हीरालाल जी आदि को स्थानांग प्रभृति आठ शास्त्रों का अध्ययन कराया और स्वयं भी अन्य लौकिक शास्त्रों के स्वाध्याय में संलग्न रहे।

चौमासे के बाद दिल्ली से विहार करके सोनीपत्त, पानीपत्त आदि से होते हुए आप करनाल पधारे, यहां पर पूज्य अमरसिंह जी के चेले श्री रामबक्स, सुखदेव, बिशनचंद और चम्पालाल जी आदि आप से मिले। यहां आपने श्री बिशनचन्द और रामबक्स जी को अनुयोगद्वार सूत्र का अध्ययन कराया। वहां से आप अम्वाले पधारे, यहां कुछ दिन निवास करके आपने माछीवाड़े की ओर विहार किया, रास्ते में खरड़ और रोपड़ में कुछ समय निवास किया। इस यात्रा में भी बिशनचन्द और रामवक्स आदि साधु आपके साथ ही रहे और अभ्यास करते रहे इस अभ्यास में इन्होंने आचारांग-जीवाभिगम और नन्दी-सूत्र को आपसे पढ़ा।

रोपड़ में श्री सदानन्द नाम के एक अच्छे विद्वान् थे, व्याकरण शास्त्र में उनकी अच्छी गति थी। इसके अतिरिक्त वे सरल स्वभावी और सज्जन पुरुष थे। उनके पास श्री आत्माराम जी ने व्याकरण का अध्ययन आरम्भ किया। पंडित सदानन्द जी की सप्रेम पढ़ाने की अभिरुचि और प्रतिभासम्पन्न आत्माराम जी की ग्राहक शक्ति दोनों ने मिलाकर सोने पर सुहागे का काम किया। दोनों के मिलाप से वर्षों का काम महीनों में संपूर्ण हुआ। श्री अनुभूति स्वरूपाचार्य के आशुवोधदायक सरल व्याकरण के सम्यग् अध्ययन से श्री आत्माराम जी के हृदय में एक प्रकाश बहुल नवीन ज्ञानज्योति का उदय हुआ जिसके लिये आप चिरकाल से लालायित थे। स्वच्छ दर्पण में यथावत् प्रतिविम्बित होने वाले मुखादि अवयवों की भांति व्याकरण के आलोक से आलोकित हुए आपके हृदय में अब शब्दों के वास्तविक अर्थ स्फुट रूप से आभासित होने लगे। तव व्याकरण के अभ्यास से प्राप्त हुए स्वल्प प्रकाश में उत्तरोत्तर प्रगति करने की भावना से प्रेरित होकर आपने इस ओर और भी तीव्रगति से प्रस्थान करना आरम्भ कर दिया। जहां कहीं भी कोई शास्त्र निष्णात विद्वान् मिला वहीं पर आपने उससे पढ़ना आरम्भ किया और जीवन में तव तक विश्राम नहीं किया जबतक कि जिज्ञास्य विषय मे रही हुई जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो पाई। फल स्वरूप जैन परंपरा के प्राकृत संस्कृत वाङ्मय के पारगामी होने के अतिरिक्त वैदिक परंपरा के विशाल साहित्य-समुद्र के अवगाहन में भी आपकी व्यापक शेमुषी को अव्याहत गति प्राप्त हुई। इस का प्रत्यक्ष उदाहरण वह विशाल ग्रन्थ राशि है जिसके सृजन का श्रेय आपकी प्रवीण लेखिनी को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त व्यापक शास्त्रीय बोध से प्राप्त हुए निर्मल प्रकाश में आपने धर्म प्राण साधु जीवन का जो सुमार्ग निर्धारित किया, उसपर आरूढ़ होकर प्रस्थान

करते समय मार्ग मे उपस्थित होने वाली विकट वाधाओं को परास्त करने एवं मार्ग विरोधी कांटों को निर्मूल करने में जिस वीरोचित साधु साहस का परिचय दिया उसका वर्णन यथावसर किया जायगा।

रोपड़ में प्राप्त हुई व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान विभूति को हृदय की पुनीत गुफा में सुरक्षित कर लेने के वाद अव आपने अपने वालपन की क्रीड़ास्थली जीरा नगरी की ओर प्रयाण करने का निश्चय किया। मालेर कोटला पहुंचने पर आपने अपने गुरु श्री जीवनरामजी से भेट की। यहां से जीवनरामजी तो राणिया में चतुर्मास करने के लिये उधर को विहार कर गये आपने सुनाम को विहार कर दिया। सुनाम में पहुंचने पर आपको एक शिष्य की उपलब्धि हुई। यहां पर केवल शास्त्राभ्यास के लिये आपके पास रहे हुए पूज्य अमरसिंहजी के शिष्य विश्नचन्द और रामवक्ष आदि साधुओं ने आपसे आज्ञा लेकर अपने गुरु के पास जाने के लिये मारवाड़ की ओर विहार कर दिया और आप समाणा, पटियाला, नाभा, रायकोट और जगरावां आदि नगरों में विचरते हुए जीरा मे पधारे।

जीरा की विरह कातरा भूमि को प्रोषित भर्तृका सन्नारी की भांति अपने स्वामी का लगभग दश वर्ष जितने लम्बे समय के वाद स्वागत करने का यह पहला ही पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। और उसने सजल नेत्रा विरहिणी की तरह अपने प्रियतम के स्वागत मे जिस मूकप्रेम का परिचय दिया वह सचेतन जगत के वाचाल प्रेम से कहीं अधिक मूल्यवान था। इधर अपनी क्रीडास्थली में पादन्यास करते समय मुनि श्री आत्मारामजी के विरक्त हृदय में भी सहसा किसी अलौकिक-अनुराग का संचार होने लगा। उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि मानो कोई उनको अतीत की याद दिलाते हुए अपनी ओर आने और सप्रेम आतिथ्य स्वीकार करने का मूक संकेत कर रहा है। इस मूक संकेत में रही हुई सजीव प्रेरणा ने मुनि श्री आत्मारामजी को कुछ समय के लिये अपनी ओर आकर्षित करने में सफलता प्राप्त करली, अत्र आपके उदार मन में अपने वाल जीवन की क्रीड़ास्थली मातृभूमि का प्रसुप्त स्नेह कुछ क्षणों के लिये फिर सजग होउठा। और अतीत के गर्भ मे छिपी हुई जीवन की अनेक रहस्य पूर्ण घटनाओं के रेखाचित्र स्मृतिपट पर उभरने लगे। जिनके मोहक स्वरूप से आकर्षित हुआ आपका आत्मा किसी दूसरे ही लोक में विचरने लगा। वह मित्रों के साथ घूमना, वह हरे २ खेतों के दृश्य, वह नदी में तैरना, वह नदी मे डूवते हुए मां वेटे को वचाने के लिये नदी में कूदना, वह पृथवी में अंगुलियों से वनाये गये रेखाचित्र, वह ताश की रचना, वह मित्र गोष्ठी का नेतृत्व, वह धर्म पिता जोधेशाह का स्नेह भरा आलिंगन, वह दीक्षा के विचार, प्रत्यक्ष में उनका उत्कट विरोध, और वह है मातृस्नेह और उसका अटूट वन्धन इत्यादिक अतीत कालीन जीवन घटनाओं का स्मृतिलोक में अनुभव करते करते जव मनोवृत्ति में आत्मजागरण का उदय हुआ तो यह सव कुछ आपात रमणीय और क्षणिक मनोराज्य के सिवा और कुछ भी प्रमाणित न हुआ इसलिये ज्ञान सम्पन्न मुनि श्री आत्मारामजी अपने साथी साधु वर्ग के साथ चिरकाल से अनाथ वनी हुई जीरा नगरी को सनाथ वनाने के लिये आगे वढ़े।

मुनि श्री आत्माराम जी के शुभागमन की खबर मिलते ही जीरा की जनता वर्षाकालीन नदी के वेग की भांति आपके दर्शनों के लिये उमड़ पड़ी। नगर के सैकड़ों स्त्रीपुरुष आपका स्वागत करने के लिये एक से आगे एक होकर पहुँचे। सबने नतमस्तक होकर आपका सप्रेम स्वागत किया और आपके पुनीत दर्शनों से अपने को कृतकृत्य किया। सब के साथ आप थानक-उपाश्रय में पधारे तथा पाट पर विराजमान होकर सबको धर्म का उपदेश दिया जिसे सुनकर श्रोतालोग आनन्द से विभोर हो उठे! आपके वचनामृत का पान करके श्रोताओं की चिरकाल से मुर्झाई हुई आशालता फिर से पल्लवित हो उठी।

कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलने वाले और आपके साथ खेल कूद में पूरा हिस्सा लेने वाले आपके मित्रगण आपका हाथ पकड़ कर चलने के स्थान में अब आपके पुनीत चरणों में अपना मस्तक रखदेने में ही अपना परम सौभाग्य समझने लगे! एवं गोदी में उठाने तथा सप्रेम मस्तक चूमने वाले और पिता से भी अधिक लाड़ प्यार करने वाले आपके धर्म पिता योधामल और आपके साथ खेल कूद की स्पर्धा में उतरने वाला उनका परिवार आज आपकी चरण धूली को अपने मस्तक पर चढाने में ही अपना अहोभाग्य समझता है।

इस समय जीरा की जनता को श्री आत्मारामजी दो स्वरूपों में अवभासित होने लगे, एक स्मृति-गोचर दूसरा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला। स्मृति-गोचर वह जिसने जन्म से लेकर १६ वर्ष की आयु तक लहरा और जीरा को अपने जीवन की क्रीड़ास्थली बनाया, दूसरा वह जिसे इस समय सब धर्मनेता के रूप में प्रत्यक्ष देख रहे हैं। पहला मित्रों के स्नेह का पात्र और दूसरा उनकी श्रद्धा का भाजन है। पहले की आत्मा प्रसुप्त और दूसरे की प्रबुद्ध एवं पहला चलप्रज्ञ था जब कि दूसरा स्थितप्रज्ञ है। परन्तु मेरी दृष्टि में तो यह विभिन्नता वास्तविक नहीं किन्तु व्यावहारिक है। सत्तारूप से तो आत्मा एक अथच अभिन्न है, हां! बाह्य व्यवहार को लेकर उसमें विभिन्नता की कल्पना भी की जा सकती है, मगर उससे आत्मगत ऐक्य में कोई बाधा नहीं आती और जैन सिद्धान्त के अनुसार तो प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष उभयरूप है उसमें रहा हुआ सामान्य धर्म एकता का बोधक है जब कि विशेष धर्म उसकी विभिन्नता का परिचायक है। इसलिये नाम और अवस्था विशेष की दृष्टि से देखी गई वस्तु विभिन्न प्रतीत होती है और सामान्यग्राही दृष्टि से आत्मसत्ता के विचार से एक अथच अभिन्न है। अतः भेद और अभेद ये दोनों ही सापेक्ष्य हैं ऐकान्तिक नहीं।

लगभग दश वर्ष के अन्तर में श्री आत्मारामजी का जीरा में पधारना-जहां कि आपका आरम्भिक जीवन गुजरा हो, वहां की जनता के लिये बड़ा ही हर्षोत्पादक और उत्साहवर्द्धक था। आपने वहां की श्रद्धालु जनता के सप्रेम आग्रह से १६१६ का चतुर्मास यहीं पर किया। जीरा के इस चतुर्मास मे मुनि श्री आत्मारामजी को जैन परम्परा के विशुद्ध स्वरूप और उसके अनुरूप आचरणीय साधु वेष एवं धर्म सम्बन्धी अन्य तात्त्विक विषयों की छानबीन करने तथा व्याकरणादि शास्त्रों के अभ्यास में अधिक प्रगति करने का पर्याप्त अवसर मिला। फल स्वरूप, वस्तु तत्त्व के याथार्थ्य निर्णय की ओर मन्दगति से प्रस्थान करने वाली जिज्ञासा में फिर से

वेग का आरम्भ हुआ। जिस मातृभूमि ने आज से दश वर्ष पूर्व जीवन के विकास मार्ग की ओर प्रस्थित होने का संकेत किया था वही आज उस मार्ग मे उचित संशोधन करने की सबल प्रेरणा दे रही है। यही तो है हित-चिन्तक मातृजनोचित साधुकर्तव्य की सजीव झलक! अस्तु।

हां! इस सन्दर्भ में एक बात का जिकर करना रह गया जो कि इससे पूर्व ही किया जाना चाहिये था। पूज्य अमरसिंहजी के शिष्य श्री बिशनचन्द और रामबक्षजी आदि साधुओं ने अपने गुरु के पास जाने के लिये मारवाड़ की ओर विहार करते समय आपसे कहा—महाराज! आप जानते हैं कि इस समय पंजाब में अजीव पंथ § का कितना जोर है? यदि इसका प्रतिरोध न किया गया तो अपने सम्प्रदाय को बहुत धक्का लगेगा। हमारे देखते देखते इस मत के अनुयायियों की संख्या में काफी वृद्धि होगई है। वे सब अपने में से ही जारहे हैं इस लिये इस मत की जड़ को खोखला करने अथच इसका समूल नाश करने की ओर अवश्य प्रयास होना चाहिये। परन्तु यह काम किसी साधारण व्यक्ति के करने का नहीं इसे तो आप जैसा प्रतिभा–सम्पन्न प्रभावशाली महापुरुष ही कर सकता है। अतः हमारी आपसे सानुरोध प्रार्थना है कि आप इस ओर अवश्य ध्यान दें और इस पन्थ का समूलोन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध हो जॉय इससे हमारे गुरुजी को बहुत प्रसन्नता होगी और आपका यश फैलेगा। परन्तु इसके उत्तर में आपने–"देखा जायगा" केवल इतना ही कहकर अपने गंतव्य स्थान की ओर प्रस्थान कर दिया। भला! जिस महापुरुष की प्रकाश बहुल दृष्टि में जीव और अजीव दोनों ही पन्थ कुपन्थ अथच हेय प्रतीत होते हों उसके सन्मुख इस नगण्य प्रार्थना का क्या मूल्य?
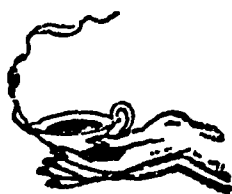
§ पंजाब देश मे ढूढकों के दो फिरके हैं। एक अनाज में जीव मानता है जब कि दूसरा नही मानता, जो नहीं मानता वह अजीव पंथ के नाम से प्रसिद्ध है।

अध्याय ५

सन्त-रत्न के समागम में

चातुर्मास के समाप्त होते ही जीरा से आपने आगरा की ओर प्रस्थान किया। अब आप किसी ऐसे विद्वान् मुनि की खोज में थे कि जो शास्त्रनिष्णात होने के अतिरिक्त उदार मनोवृत्ति का भी हो। और वस्तु तत्त्व के स्वरूप को उसके अनुरूप ही वर्णन करना अपना साधु जनोचित कर्तव्य समझता हो।

धर्मोपजीवी सम्प्रदायों में कतिपय ऐसे विद्वान् साधु भी देखने में आते हैं कि जो वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को भलीभांति समझते और उस पर आन्तरिक श्रद्धान रखते हुए भी व्यक्त रूप से सर्व साधारण में उसका प्रचार करने के लिये अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं परन्तु यदि कोई योग्य अधिकारी सच्ची जिज्ञासा को लेकर उनके सन्मुख उपस्थित होता है तो उसके सामने वे अपना हृदय स्पष्ट रूप से खोल देते हैं। उस समय उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता, संकोच भी क्यों हो? जब कि वे ऐसे समय की प्रतीक्षा कर रहे हों।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में उस समय के विद्वान् साधुओं में श्री मनोहरदासजी के समुदाय-टोले के वृद्ध पंडित मुनि श्री रत्नचन्द्जी का नाम उक्त प्रकृति के विद्वानों में विशेष उल्लेखनीय है। आप जैनागमों के अच्छे अभ्यासी थे और आगमों के प्राचीन भाष्य और टीकादि में स्फुट किये गये अर्थों को ही यथार्थ समझते और उन पर आस्था रखते थे। दूसरे शब्दों में-उनका बाह्य आचार व्यवहार तो ढूंढ़क पंथ का ही था परन्तु अन्तरंग तो उनका प्राचीन शुद्ध सनातन जैन परंपरा के शास्त्रीय आचारों का ही अनुगामी था।

इधर जीरा से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्री आत्मारामजी आगरे में पहुंचे। आगरे में आने का उनका उद्देश्य था मुनि श्री रत्नचन्द्जी के सहवास में कुछ समय रहकर ज्ञानाभ्यास में प्रगति करना और अपने 'सन्देह-दोलायित' मानस को एक केन्द्र पर स्थिर करना। इसके लिये आगरे का चतुर्मास आपके जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। मुनि श्री रत्नचन्द् जी के पुण्य सहवास में

आपको बौद्धिक विकास और मानसिक स्थिरता दोनों ही उपलब्ध हुए। सुव्यवस्थित शास्त्रीय-बोध और असंदिग्ध मनोवृत्ति यही तो दो जीवन निर्माण के आधार स्तम्भ हैं ? इन्हीं के आधार पर आध्यात्मिक जीवन के भव्यप्रासाद का सुचारु निर्माण, सम्पन्न होता है।

श्री आत्माराम जी ने मुनि श्री रत्नचन्द जी का नाम तो बहुत दिनों से सुन रक्खा था परन्तु उनके दर्शन का सौभाग्य उनको इससे पहले प्राप्त नहीं हुआ था इधर मुनि श्री रत्नचन्द जी भी श्री आत्माराम जी के नाम से तो परिचित थे, और उनको मिलने की उनके मनमे अभिलाषा थी मगर इसके लिये वे विवश थे। दोनों ओर से जागृत हुई अभिलाषाओं की पूर्ति उनके आपस के मिलाप में निहित थी जो कि समय सापेक्ष्य था। शारीरिक अथवा मानसिक कोई भी कार्य क्यों न हो उसकी निष्पत्ति समय की अपेक्षा रखती है। अन्य सभी कारण–सामग्री के रहते हुए भी समय से पहले कोई भी कार्य निष्पन्न या सफल नहीं हो सकता इसी प्रकार उक्त दोनों मुनिजनों की चिरंतन शुभ अभिलाषाओं की पूर्ति का समय जब निकट आया तो दोनों सक्रिय हो उठीं–एक गति रूप में दूसरी आकर्षणरूप मे, मिलन की भावना दोनों में है फलस्वरूप जीरा से चलकर श्री आत्माराम जी आगरे पहुँचे और आगरे में विराजे हुए मुनि श्री रत्नचन्दजी ने उनका सहर्ष स्वागत किया। दोनों मुनियों ने एक दूसरे का साधु स्वागत करते हुए मानसिक आलिंगन द्वारा अपनी चिरन्तन मिलन की अभिलाषा को एक दूसरे के सहयोग से पूर्ण करने के साथ २ अपूर्व शान्तरस का स्थायी अनुभव प्राप्त किया। मुनि श्री आत्माराम जी चाहते थे कि उन्हें कोई शास्त्र निष्णात उदारात्मा योग्य विद्यागुरु मिले और इधर मुनि श्री रत्नचन्द जी भी चाहते थे कि उन्हें कोई सुयोग्य पात्र विद्यार्थी मिले जिस मे वे अपने चिरकालार्जित विद्याधन को प्रतिष्ठित करके कर्तव्य भार से मुक्त हों। समय आया दोनो के शुभ मनोरथ पूरे हुए। आत्माराम जी को अभिलषित विद्यागुरु मिल गये और श्री रत्नचन्दजी को मनोनीत विद्यार्थी की प्राप्ति हो गई। दोनों के मिलाप ने सोने पर सुहागे का काम किया जिसकी फल श्रुति का उल्लेख जैन परम्परा के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से किया जायगा।

मुनि श्री रत्नचन्द जी ने श्री आत्माराम जी को निम्नलिखित शास्त्रों का मननपूर्वक सुचारुरूप से परावर्तन कराया–आचारांग, स्थानांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, नन्दी, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, षट्कर्मग्रन्थ, संग्रहणी, क्षेत्रसमास, सिद्ध पंचाशिका, सिद्धपाहुड़, निगोद छत्तीसी पुद्गल छत्तीसी, लोकनाडी द्वात्रिंशिका और नयचक्रसार आदि।

इन ग्रन्थों के पठन पाठन के समय दोनों महानुभावों में तात्त्विक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले विचार विनिमय मे अनेक प्रकार की नई २ बातें सन्मुख आतीं और उनका सन्तोषजनक समाधान होता। और कभी २ विनोदपूर्ण चर्चा भी होती। जब तक गुरु शिष्य की परीक्षा नहीं कर लेता, उसके हृदय को अच्छी तरह से टटोल नहीं लेता तब तक उसके सन्मुख वह अपना हार्द प्रकट नहीं करपाता। पठन पाठन और विचार विनिमय करते कराते कुछ समय बीत जाने के बाद एक दिन मुनि श्री रत्नचन्द जी ने कहा—

प्रिय आत्माराम ! तुम कहां २ विचरे ? क्या २ अध्ययन किया ? विहार यात्रा में तुम किन २ विद्वानों के संसर्ग में आये ? वहां से तुमको क्या अनुभव मिला ? अपनी सम्प्रदाय के आचार विचारों के सम्बन्ध में तुम्हारी निश्चित धारणा क्या है ? तुमने इनके विषय में कभी स्वतंत्ररूप से स्वयं भी ऊहापोह किया है ? और उस ऊहापोह से तुम किस निश्चय पर पहुँचे ? इत्यादि सभी वातों का स्पष्ट शब्दों में उत्तर दो ? तव श्री आत्माराम जी ने अपने दीक्षा काल से लेकर आगरे पहुँचने तक अपनी सारी जीवनचर्या को विगतवार कह सुनाया जिसमे जीवन की वाह्य और अन्तरंग दोनों परिस्थितियों का विशद वर्णन था। ऊपर उल्लेख किये गये इन के संक्षिप्त स्वरूप से पाठक तो सुपरिचित ही हैं ।

श्री आत्माराम जी की रहस्य पूर्ण जीवनचर्या की कहानी को सुनकर श्री रत्नचन्दजी वड़े प्रसन्न हुए और उनको गले लगाते हुए गद्‌गद् वाणी से वोले—कि आज मेरी चिरकाल से मुर्झाई हुई आशा-लता को पल्लवित और पुष्पित होने का सुनिश्चित सद्‌भाग्य प्राप्त हुआ। मुझे तुम्हारे जैसे प्रतिभाशाली सत्यगवेषक की ही आवश्यकता थी। आत्म-दौर्वल्य तथा अन्य कतिपय अनिवार्य प्रतिवन्धों से जो विचार मेरी मानस-परिधि से वाहर नहीं निकलने पाये उन्हें तुम्हारे सहयोग से किसी दिन विश्वमें प्रसारित होने का सुअवसर प्राप्त होगा ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इसलिये आज से मै अपना कोई भी हार्दिकभाव तुमसे छिपाये नहीं रखूंगा और धर्म सम्वन्धी प्रत्येक विषय के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट शब्दों मे तुम्हारे सन्मुख उपस्थित करने का यत्न करूंगा। तुम्हारे जैसे सत्य गवेषक योग्य अधिकारी का मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

श्री आत्माराम जी हाथ जोड़ कर वड़ी नम्रता से—महाराज ! आपकी इस अनन्य कृपा का मैं वहुत २ आभारी हूँ। इससे वढ़कर मेरा सद्‌भाग्य और क्या हो सकता है जो आप जैसे महापुरुष मेरे जैसे साधारण व्यक्ति पर इतना प्रेम दर्शा रहे हैं। मेरे जैसे शिष्य तो अनेक मिलेंगे परन्तु आप जैसे उदार चित्त विशिष्ट-ज्ञानवान विद्यागुरुओं का मिलना नितान्त कठिन है। आप ही के पास ज्ञानाभ्यास करते हुए मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है उसे शब्दों में व्यक्त करना मेरी शक्ति से वाहर है।

इसके वाद प्रतिदिन के एकान्त सत्संग में विवादास्पदीभूत हर एक विषय की शास्त्रीय चर्चा हुआ करती दोनों महानुभाव मन से एक दूसरे के अधिक समीप आगये। इसलिये जो भी वार्तालाप होता खुले दिल से होता, और उसमे तात्त्विक विवेचन के साथ साथ विनोद की भी पर्याप्त मात्रा रहती।

स्वमत के सिद्धान्तों का पर्यालोचन करते समय कभी कभी आपका परस्पर वड़ा मनोरञ्जक वार्तालाप होता-जिसका महाराजश्री के मुखारविन्द से सुना और स्मृतिपट पर रहा हुआ सारांश इस प्रकार है—

श्री रत्नचन्दजी—भाई आत्माराम ! वास्तव मे अपने हैं तो लौंका और लवजी के, मगर, जवरदस्ती से महावीर के वन रहे हैं। यदि निष्पक्ष होकर विचार करें तो अपनी वेषभूषा और आचार विचार सव भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से विपरीत ही जान पड़ते हैं।

आत्मारामजी—हां महाराज! मैने भी जहां तक विचार किया है, मुझे भी ऐसा ही भान होता है। आगम ग्रन्थों के सम्यग् अभ्यास से मैं तो अब इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि अपने मत वाले जो यह कहते हैं कि हम केवल ३२ सूत्रों को मानते हैं, वह भी मूल सूत्रों के मूलार्थ मात्र को, न कि उन पर व्याख्या रूप से रचे गये पूर्वाचार्यो के निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका आदि के अर्थों को भी मानते हैं। परन्तु इसपर कुछ गम्भीरता से विचार करता हूँ तो उनका यह कथन कोरा कथन मात्र ही है, जानते हुए भी व्यवहार में तो वे इनको भी नही मानते।

श्री रत्नचन्दजी—जानते हुए भी, वह कैसे ? जरा इसको स्पष्ट करो ?

आत्मारामजी—महाराज! आप स्वयं सब कुछ जानते हुए भी मुझ से पूछ रहे हैं ? इसमें तो कोई रहस्य छिपा हुआ मालूम देता है। मैं जहां तक समझा हूँ आप अपने शिष्य की परीक्षा ले रहे हैं कि इसको जो कुछ पढ़ाया गया है उसका परिणमन इसके हृदय में कैसा और कहा तक हुआ है ?

श्री रत्नचन्द जी—हां भाई! पूछा तो इसी विचार से है। जैसे पिता पुत्र को अपने से अधिक देखना चाहता है उसी प्रकार विद्यागुरु भी अपने शिष्य को अपने से अधिक ज्ञानवान और अधिक विचार-सम्पन्न देखने की इच्छा रखता है।

आत्मारामजी—यदि आप श्री की ऐसी भावना है तो लो मैं यथामति वर्णन करता हूँ—

१—श्री भगवती सूत्र ३२ सूत्रों में से एक है उसमें द्वादशांगी गणिपिटक का संक्षेप से नामोल्लेख कर के अन्य सब अंगों के लिए श्री नन्दीसूत्र के नाम का संकेत करते हुए सूत्रार्थ करने के जो तीन प्रकार बतलाये हैं। S उसको हम या हमारे पंथ वाले कहां स्वीकार करते हैं ? जब हम लोग निर्युक्ति को ही मान्य नहीं रखते तो निर्युक्ति मिश्रित और निर्विशेष अर्थ का ज्ञान ही कैसे होगा ? इसलिये ३२ सूत्रों की मान्यता भी केवल कथन मात्र है।

S "भगवती सूत्र का वह पाठ इस प्रकार है—कई विहेण भंते! गणिपिडए पन्नत्ते, गोयमा! दुवालसंगे गणिपिडए पन्नत्ते तं जहा—आयारो जाव दिट्ठीवाओ, से किं तं आयारो ? आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयार गो० एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा नन्दीए जाव सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्ति-मीसिओ भणिओ, तइओय निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे" (शतक-२५ उद्देश-३)

'सुत्तत्थो खलु पढमो'—इत्यादि गाथा नन्दीसूत्र में भी इसी प्रकार आती है। इसका संक्षिप्त भावार्थ यह है—प्रथम सूत्रार्थ देना, पीछे निर्युक्ति मिश्रित पाठ देना, तदनन्तर निर्विशेष अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ देना। यह तीन प्रकार की सूत्र-व्याख्या का निर्देश मूल सूत्र में किया गया है।

२—इसके अतिरिक्त पूर्वाचार्यों के किये हुए निर्युक्ति भाष्य और टीका आदि के विना आगम-गत मूल पाठ के अर्थ का पता ही नहीं लगता, एक उदाहरण लीजिये ? समवायांग सूत्र में एक पाठ आता है-

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं जावगणहरा सावचा निरवचा वोच्छिन्ना"

इसका परमार्थ पूर्वाचार्यों की व्याख्या की सहायता के विना कुछ भी समझ में नहीं आसकता। उक्त पाठ का अक्षरार्थ तो इतना ही प्रतीत होता है-कि उस काल और उस समय में कल्प का समोसरण जानना, जहां तक गणधर सापत्य-शिष्य सहित और निरपत्य-शिष्य रहित विच्छिन्न हुए। परन्तु इतने मात्र से इस सूत्र का कुछ भी परमार्थ समझ में नहीं आता। सूत्रगत "कप्पस्स समोसरणं" कल्प का समोसरण क्या वस्तु है ? और कल्प से यहां क्या अभिप्रेत है ? इसका उत्तर मूल वत्तीस सूत्रों में वर्षों ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा।

श्री रत्नचन्दजी—तभी तो मैंने पठन पाठन आरम्भ करते समय सव से प्रथम कहा था कि आगमों के अभ्यास में जबतक उनपर रचेगये पूर्वाचार्यों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका आदि ग्रन्थों का विशेष आश्रय न लिया जावे तबतक आगमों का रहस्य प्राप्त होना दुर्लभ है और उनके पर्यालोचन में संस्कृत प्राकृत के विशिष्ट-ज्ञान के अतिरिक्त व्याकरणादि अन्य शास्त्रों का ज्ञान भी अपेक्षित है। सो उसकी ओर तो हमारे मत वाले ध्यान ही नहीं देते।

आत्मारामजी—न महाराज ! केवल ध्यान नहीं देते इतना ही नहीं किन्तु उसका भरसक विरोध भी करते हैं। और व्याकरण को व्याधिकरण कहते हैं। मैं एक वक्त जयपुर में गया तो मुझे एक दो कट्टर ढूंढक पंथी श्रावकों ने कहा कि आप ने व्याकरण हरगिज़ न पढ़ना। यदि पढ़ोगे तो तुम्हारी श्रद्धा विगड़ जावेगी और जिनमत पर से आस्था उठ जावेगी। महाराज ! क्या कहूँ न जाने उनके इन वचनों का मेरे हृदय पर कैसे प्रभाव पड़गया ? मैं भी इसी विचार का बनगया और कई वर्षोंतक इस मूर्खता का शिकार वना रहा जिसका मुझे अधिक से अधिक पश्चाताप होता है। मैं उन दिनों यह सोच भी नहीं सका कि इन लोगों का यह उपदेश मेरी ज्ञान प्रगति में एक वड़ी से वड़ी रुकावट है। परन्तु सौभाग्यवश जव मुझे एक विद्वान् का सहयोग प्राप्त हुआ और मैंने उनके सदुपदेश से व्याकरण का अध्ययन शुरु किया तथा शब्दार्थ का वोध होने पर जब मैंने अपने पहले रटे हुए सूत्र-पाठों के अर्थ पर ध्यान दिया तो मुझे आश्चर्य ही नहीं किन्तु घृणा भी हुई, अपनी प्रगाढ़ मूर्खता पर ध्यान देते हुए मुझे मन ही मन वहुत लज्जित होना पड़ा। यदि मै कुछ समय पहले ही व्याकरण आदि का अभ्यास आरम्भ कर देता एवं न्याय तथा काव्यकोशादि का अभ्यास कर लेता तो मैं इतने दिन तक इस मिथ्या भ्रमजाल में फंसा न रहता।

श्री रत्नचन्द जी—अब इन वातों की चर्चा करना व्यर्थ है, संसार में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "सुवह का भूला हुआ यदि शाम को घर आजावे तो वह भूला नहीं कहा जाता" सत्य की ओर वढ़ी हुई तुम्हारी तीव्र जिज्ञासा ने इधर उधर भटकने के वाद अन्त मे सन्मार्ग के द्वारपर लाकर खड़ा कर ही दिया।

जो व्यक्ति अनेक विध कष्टों को सहन करके भी अपने साध्य को प्राप्त करलेता है उसके हर्षातिरेक के प्रवल प्रवाह में झेलेहुए सभी कष्ट तिनकों की तरह वह जाते है। इसमे सन्देह नहीं कि तुम्हारे साधु जीवन के कतिपय वर्ष-[जोकि विशिष्ट ज्ञानाभ्यास के लिये नितान्त उपयोगी थे] अजा के गलस्तनों की भांति निष्फल ही निकले, जिनका ध्यान करते हुए मेरे हृदय में भी कुछ खेद होता है, परन्तु आज तुम्हें प्राप्त हुई विशिष्ट-ज्ञान-सम्पदा के आगे मेरा यह खेद विलकुल नगण्य है। अपने पंथ वाले आगमोदधि के सर्वे सर्वा पारगामी विशिष्ट ज्ञान संपन्न पूर्वाचार्यों के यथार्थ अर्थों की अवहेलना क्यों करते है? उनके सद्ग्रन्थों को क्यों अमान्य अथच अप्रामाणिक कहा जाता है? इसका रहस्य तुमसे छिपा हुआ नहीं, आगमों के व्याख्यान रूप पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को मान्य रखने का अर्थ होता है ढूंढक सम्प्रदाय का समूलोन्मूलन। कारण कि इस सम्प्रदाय के मूल पुरुष "लोंका" जो विक्रम की सोलवीं शताब्दी के आरम्भ में जन्मे, और वर्षों तक जैन परम्परा के शास्त्रीय सिद्धान्त-रूप जिनमूर्ति की उपासना करते रहे। दैव संयोग से यतियों द्वारा अपमानित होने और अनार्य संस्कृति से प्रभावित होने के कारण उन्होंने जैन परम्परा में सब से प्रथम मूर्ति पूजा की उत्थापना का श्री गणेश किया, और उसके वाद तो "अन्धेनैव नीयमानः यथान्धः" के अनुसार येन केन उपायेन मूर्ति पूजा की उत्थापना को अपना परम कर्तव्य मानने लगे। इसके लिये मूर्ति सम्वन्धी आगम पाठों के मनमाने अर्थ करके भोली जनता को अपने मत के अनुयायी वनाने के प्रयत्न चालू रक्खे जो कि आज तक जारी हैं। आगम-विहित मूर्तिपूजा को आगम-बाह्य प्रमाणित करने के लिये आगमगत—"अरिहंत चेइयाइं" का कहीं अरिहन्त का ज्ञान, कहीं अरिहंत के साधु इत्यादि आगम विपरीत अर्थों की प्ररूपणा करके अज्ञ जनता में प्रतिष्ठा के भाजन वनने का प्रयास होने लगा. एवं जहां कहीं "जिनपडिमा" पाठ आया वहां "जिन" शब्द का कामदेव अर्थ करने का भी साहस किया। इसी प्रकार देवों के द्वारा की जाने वाली शाश्वत जिन प्रतिमाओं की पूजा को "देवकरणी" कह कर वला टाली और सतीधुरीणा द्रौपदी की पूजा को मिथ्यादृष्टि की पूजा कहकर अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया।

अगर ये लोग पूर्वाचार्यों के रचेहुए निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका आदि को मान्य करें तो फिर चैत्य के साधु या ज्ञान अर्थ को कहां स्थान मिल सकता है और "जिन" शब्द का कामदेव अर्थ करने का किसमें साहस हो सकता है? इसी प्रकार सूर्याभदेव की की हुई पूजा और उसके अनुसार किये जाने वाले सती द्रौपदी के पूजन की अवहेलना करने का भी कोई दम नहीं भरसकता। निर्युक्ति, भाष्य और टीकादि के न मानने में यही एक हेतु है। परन्तु इनके विना आगमों के परमार्थ को जानने में जो जो अड़चने आती है उनका तुम्हारे शास्त्राभ्यास के समय अनेक वार वर्णन किया जाचुका है, उनमें से समवायांग सूत्रका प्रस्तुत पाठ भी एक है. प्रस्तुत सूत्रगत "कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं" का परमार्थ-[जैसे कि तुमने कहा है] ३२ सूत्रों के मूलार्थ में ढूंढना वैसाही है जैसा कि तैल की इच्छा से वालुका के कणों को एकत्रित करके पीलने का यत्न करना। कल्प और समोसरण इन दो शब्दों का यथार्थ भाव समझने के लिये पूर्वाचार्यों की प्रामाणिक टीका आदि का अवलोकन करना होगा। ये लो समवायांग सूत्र की प्राचीनवृत्ति, निकालो इसमें से प्रस्तुत पाठ सम्वन्धी स्थल जो कि तुमको पहले ही अभ्यस्त है।

आत्माराम जी पुस्तक को हाथ में लेकर—महाराज ! समवायांग सूत्र की इस हस्तलिखित सटीक प्रति के अन्त में जो कुछ लिखा है पहले इसे आप सुनले, बाकी की बात पर पीछे विचार करलिया जावेगा।

श्री रत्नचन्द जी—अच्छा पहले उसी को सुनाओ ?

आत्माराम जी—तथास्तु बड़ी कृपा गुरुदेव ! वह पाठ इस प्रकार है—

"एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रम समानाम् ।
अणहिल पाटक नगरे रचिता समवाय टीकेयम् ॥"

श्री रत्नचन्द जी—इस का भावार्थ भी तुम्हीं सुनाओ ?

आत्माराम जी—बहुत अच्छा कृपानाथ ! लो भावार्थ सुनो—इस श्लोक का अक्षरार्थ यह है कि मैंने विक्रम सम्वत् ११२० मे अणहिल पाटक नाम के नगर में समवायांग सूत्र की यह टीका रची है। इसके अतिरिक्त इस टीका के रचयिता ने अपना नाम अभयदेवसूरि लिखा है और साथ ही अपनी गुरु शिष्य परम्परा का भी परिचय दे दिया है। यथा—श्री जिनेश्वरसूरि, श्री बुद्धिसागरसूरि और उनके गुरु श्री वर्द्धमानसूरि के नाम का उल्लेख किया है। इतना सुना चुकने के बाद श्री आत्माराम जी बोले—महाराज ! टीका के इस प्रशस्ति लेख से तो यही प्रमाणित होता है कि प्रस्तुत टीका के रचयिता श्री अभयदेवसूरि, हमारे पंथ के जन्मदाता श्री लौंका और लवजी से अनुमान चार सौ वर्ष पहले हुए हैं। इनका सत्ता समय वि० की बारवीं शताब्दी का आरम्भ है जब कि श्री लौंका और लवजी सोलवीं और अठारवीं शताब्दी में हुए हैं। इतनी प्राचीन प्रामाणिक टीका की अवहेलना करना मेरे विचार में या तो सरासर मूर्खता है या महान् दुराग्रह। इसके अतिरिक्त जब हम एक तरफ श्री अभयदेवसूरि की प्रतिभा और विद्वत्ता को देखते हैं तथा दूसरी ओर श्री लौंका जी और लवजी का लिखा हुआ एक अक्षर भी नहीं देख पाते—[जिससे कि उनकी ज्ञानसम्पत्ति का पता चल सके] तब हमारा मन अपने मत के सम्बन्ध में जो कुछ सोचता है उसे व्यक्त करते हुए कृपानाथ ! मुझे तो अब लज्जा आती है पहले तो मेरा ख्याल था कि हर एक धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक अर्थात् जन्मदाता चारित्रशील और विशिष्ट-ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति ही होता है या होना चाहिए परन्तु जब अपनी सम्प्रदाय के मूल पुरुषों की ओर ध्यान दिया जाता है तो यह कहने और मानने के लिये बाधित होना पड़ता है कि ज्ञान और चारित्रशून्य व्यक्ति भी मत-पंथ या सम्प्रदायों का सृजन कर सकते हैं।

श्री रत्नचन्दजी—भाई आत्माराम ! अकेले अभयदेवसूरि की ही क्या बात करते हो इन से भी पहले बहुत से आचार्यों ने आगमों पर विस्तृत भाष्य और टीकायें लिखी हैं। श्री अभयदेवसूरि से बहुत पहले श्री शीलांगसूरि ने आगमों पर टीकायें लिखी हैं उनकी टीकाओं में से इस समय केवल आचारांग और सुयगड़ांग इन दो आगमों की टीकायें ही उपलब्ध होती हैं, और इनसे भी बहुत पहले आगमों पर बृहत्काय भाष्य

लिखने वाले श्री गन्धहस्ती आचार्य हुए हैं जिनका भाष्य गन्धहस्ती महाभाष्य के नाम से विख्यात है। परन्तु उसका तो अब केवल नाम ही सुनने मे आता है श्री शीलांगाचार्य के समय में तो वह उपलब्ध था कारण कि श्री शीलांगसूरि ने अपनी टीका के आरम्भ में उस का उल्लेख किया है और उसी को अपनी व्याख्या का आधार बतलाया है।§ एवं उससे भी पहले चतुर्दश पूर्वधारी पंचम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने आगमों की व्याख्या रूप निर्युक्तियों की रचना की है इन्हीं आगममूलक निर्युक्तियों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये आचार्य श्री गन्धहस्ती, श्री शीलांगाचार्य, श्री अभयदेवसूरि, श्री हरिभद्रसूरि और आचार्य श्री मलयगिरि आदि विद्वानों ने आगमों पर भिन्न भिन्न नाम से विशद विवेचन किये हैं। परन्तु हमारी सम्प्रदाय वाले तो इनमें से किसी एक को भी मान्य नहीं रखते, अधिक क्या कहूँ इन का तो बाबा आदम ही सबसे निराला है। अस्तु, अब तुम अन्य बातों को छोड़कर समवायांग सूत्र की प्रस्तुत गाथा की टीका के स्थल को निकालो और पढ़ो। देखें श्री अभयदेव सूरि ने "कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं" की क्या व्याख्या की है। हमें तो वस्तुतत्त्व की खोज करनी है।

श्री आत्मारामजी—बहुत अच्छा महाराज! कहकर टीका के उक्त स्थलको निकाल कर पढ़ने लगे—

"एते च पूर्वोदिता अर्थाः समवसरणस्थितेन भगवता देशिता इति समवसरण वक्तव्यतामाह- "तेणं कालेणं तेणं समएणं कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं" इह णंकारौ वाक्यालंकारार्थौ अतस्ते इति प्राकृतत्वात् तस्मिन् काले सामान्येन दुषम सुषमा लक्षणे तस्मिन् समये विशिष्टे यत्र भगवान् एवं विहरतिस्मेति "कप्पस्स समोसरणं नेयव्वंत्ति" इहावसरे कल्प-भाष्य-क्रमेण समवसरण वक्तव्यता ज्ञेया सा चावश्यकोक्ताया न व्यतिरिच्यते । वाचनान्तरे तु पर्युषणा कल्पोक्त क्रमेणेत्यभिहितम्, कियद्दूरमित्याह-जावगणेत्यादि, तत्र गणधरः पंचमः सुधर्माख्यः सापत्यः शेषा निरपत्याः अविद्यमान शिष्य सन्ततय इत्यर्थः । "वोच्छिन्न त्ति" सिद्धा इति । परिनिव्वुया गणहरा जीयन्ते नापरा नव जणाउ । इंदभूइ सुहम्मो य रायगिहे निव्वुए वीरे" ।

भावार्थ—ये पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने समवसरण में बैठकर कहे हैं, इस सम्बन्ध से समवसरण की वक्तव्यता अर्थात् स्वरूप कहते हैं—तेणं कालेणं तेणं समएणं कप्पस्स समोसरणं नेयव्वं" इत्यादि। यहां दोनों णंकार वाक्यालंकार मे जानने। ते अर्थात् तिस कालमें—सामान्यतया दुषम सुषम कालमें—[चौथे आरे में] और उस विशिष्ट समय में जिस समय भगवान् इस प्रकार विचरते थे कल्पभाष्य में कहे हुए

§ शास्त्र परीक्षा विवरणमतिगहन च गन्धहस्तिकृतम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमंजसासारम् ॥ ३ ॥
[आचारांगसूत्र पृ० ३]

क्रम से समवसरण का स्वरूप जानना और कल्पभाष्य में कहा हुआ समवसरण का स्वरूप आवश्यक में कहे हुए समवसरण के स्वरूप से भिन्न नहीं है। तथा वाचनान्तर में पर्युषणा कल्प में कहे हुए क्रम से समवसरण का स्वरूप जानना। कहांतक जानना ? अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं—पांचवे गणधर श्री सुधर्मा स्वामी सापत्यं अर्थात् शिष्य सहित और शेष गणधर निरपत्य-शिष्य विना के मुक्ति को प्राप्त हुए, वहां तक समवसरण का स्वरूप समझना। यही बात निर्युक्तिकार कहते हैं-नवगणधर तो श्रमण भगवान् महावीर के जीते जी मोक्ष गये और इन्द्रभूति तथा सुधर्मास्वामी ये दो गणधर भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद राजगृही नगरी में मोक्ष पधारे।

श्री रत्नचन्दजी-तुमने इस टीका पाठ का क्या परमार्थ समझा ?

आत्मारामजी-महाराज ! मैंने तो इसका यह परमार्थ समझा है कि समवसरण का यथार्थ स्वरूप देखने के अभिलाषी को कल्पभाष्य-[जो कि बृहत्कल्प भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है] और आवश्यक सूत्र एवं पर्युषणाकल्प, जो कि दशाश्रुत स्कन्ध के आठवें अध्ययन रूप है और जो मूर्तिपूजक परम्परा में कल्पसूत्र के नाम से विख्यात है-इन तीनों सूत्रों को देखना और मान्य करना चाहिये। इसके सिवा और कोई गति नहीं। समवायांग सूत्र के इस मूल पाठ से प्रामाणिक कोटि में परिगणित होने वाले इन तीनों सूत्रों को अमान्य रखने का अर्थ तो यह होता है कि हमारी ३२ सूत्रों की मान्यता भी केवल कथन मात्र है वास्तव में हम इनको भी नहीं मानते। और यदि वास्तव में विचार किया जाय तो श्री स्थानांग सूत्र में जो तीन प्रकार के प्रत्यनीक* कहे हैं वे हमारी सम्प्रदाय पर प्रत्यक्ष रूप मे संघटित हो रहे हैं। तब इस प्रकार की आगम विरुद्ध मान्यता रखने वाले व्यक्ति-या समुदाय को आराधक कहना या विराधक मानना इसका निर्णय तो आप जैसे गीतार्थ मुनि ही कर सकते हैं।

श्री रत्नचन्द जी—तुम्हारा यह कथन बिलकुल सत्य है परन्तु क्याकरें ? हमारे सम्प्रदाय वालों को जिन प्रतिमाका विरोध जो इष्ट हुआ ? अर्थात् जिन प्रतिमा के विरोध की दुर्भावना हमारे मन से निकल जाय तो सारा विवाद ही खतम हो जाता है।

आत्माराम जी—अच्छा महाराज ! यह तो सब ठीक परन्तु समवसरण में तो जिन प्रतिमा का कोई प्रसंग दिखाई नहीं देता फिर उसके विषय में इतनी हिचकचाहट क्यों ?

श्री रत्नचन्द जी—वाहजी वाह ! तुमने तो ऐसी बात कही जैसे कोई समवसरण के स्वरूप से बिलकुल ही अनभिज्ञ हो ? मालूम होता है यह सब कुछ तुम जान बूझ करही कह रहे हो ? अच्छा कोई बात नहीं, लो सुनो—

---

* "सुयं पडुच्च तओ पडिणीया पं० तं० सुत्त पडिणीए, अत्थ पडिणीए, तदुभय पडिणीए"-(स्थानांग सूत्र)

भावार्थ— सूत्र के विरुद्ध सूत्र प्रत्यनीक, अर्थ के विरुद्ध आचरण करना अर्थ प्रत्यनीक और सूत्र तथा अर्थ इन दोनो के प्रतिकूल व्यवहार करना सूत्रार्थ प्रत्यनीक कहलाता है।

समवसरण में एकतरफ तो प्रभु स्वयं विराजते हैं और बाकी तीनतरफ प्रभु की तीन प्रतिमायें बनाकर देवता बैठाते हैं जो कि प्रभु के अतिशय से प्रभु के समान ही दृष्टिगोचर होती हैं। इसबात का उल्लेख बृहत्-कल्प भाष्य और आवश्यक निर्युक्ति में प्रभुके समवसरण के वर्णन प्रसंग में किया है।

श्री आत्माराम जी—महाराज ! आप उस पाठ की भी कृपा करो ?

श्री रत्नचन्द जी—भाई ! अब समय अधिक हो गया है कल या और किसी दिन दोनों पुस्तकें निकाल कर उनमें से समवसरण सम्बन्धी पाठ को निकालकर मैं तुम्हारा निश्चय करा दूंगा। इतना कह कर दोनों महानुभाव अपने २ स्थान पर चले गये।

दूसरे दिन जब श्री आत्मारामजी आये और विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके बैठगये तब श्री रत्न-चन्दजी ने सप्रेम सुखसाता पूछने के अनन्तर कहा—लो ! ये रहा बृहत्कल्प भाष्य का पुस्तक, इसमें से निकालो वह प्रकरण।

श्री आत्मारामजी—महाराज ! यह तो बहुत बड़ा है, अपने पास तो बहुत छोटा सा बृहत्कल्प है।

श्री रत्नचन्दजी—हां भाई ! वह तो केवल मूलमात्र है और समवायांग सूत्र में जिस कल्पसूत्र का उल्लेख किया है एवं जिसमें समवसरण का सांगोपांग वर्णन है वह बृहत्कल्प यही है। यह पुस्तक मैंने एक संवेगी साधु के भंडार से बड़ी कठिनता से प्राप्त किया है।

तब आत्मारामजी ने मुनि रत्नचन्द जी के आदेशानुसार पाठ निकाल कर पढ़ना प्रारम्भ किया—

"आयाहिण पुव्वमहो, तिदिसिं पडिरूवया य देवकया।
जेट्ठगणी अन्नोवा, दाहिण पुव्वे अदूरम्मि ॥ ११६३ ॥
जेते देवेहिं कया, तिदिसिं पडिरुवगा जिणवरस्स।
तेसिं पि तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥ ११६४ ॥" *

व्याख्या—आयाहिण त्ति-भगवान् चैत्यद्रुमस्य प्रदक्षिणां विधाय पूर्वमुखः सिंहासनमध्यास्ते। यासु च दिक्षु भगवतो मुखं न भवति तासु तिसृष्वपि तीर्थंकराकार-धारकाणि सिंहासन-चामर-छत्र-धर्म-

* बृहत्कल्प भाष्य मे समवसरण सम्बन्धी १८ गाथायें हैं [११७६ से ११६४ तक] इनमें १६ गाथाओं में समवसरण सम्बन्धी अन्य विषयों का वर्णन करने के बाद अन्त की दो गाथाओं में प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है।

"अथ किमिदं समवसरणं" ? इस प्रश्न के उत्तर में समवसरण का स्वरूप-वर्णन करने वाली १८ गाथायें दी हैं जिनमें अन्त की १७।१८ दो गाथाओं में देवोंके द्वारा प्रतिष्ठित की जानेवाली प्रभु प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार की गाथाओं का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में किया है।

चक्रालंकृतानि प्रतिरूपकाणि देवकृतानि भवन्ति यथा सर्वोऽपि लोको जानीते "भगवानस्माकं पुरतः कथयति"। भगवतश्च पादमूलं जघन्यत एकेन गणिना-गणधरेणाऽविरहितं भवति, सच ज्येष्ठोऽन्यो वा भवेत् प्रायो ज्येष्ठ एव। सच ज्येष्ठ गणिरन्यो वा पूर्वद्वारेण प्रविश्य दक्षिण पूर्वे दिग्भागे "अदूरे" प्रत्यासन्न एव भगवतो भगवन्तं प्रणिपत्य निषीदति। शेषा अपि गणधरा एकमेवाभिवन्द्य ज्येष्टगणधरस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निपीदन्तीति॥११६३॥

यानि तानि देवैः कृतानि तिसृषु दिक्षु जिनवरस्य प्रतिरूपकाणि तेषामपि "तत्प्रभावात्" तीर्थंकर प्रभावात् "तदनुरूपं" तीर्थंकररूपानुरूपं भवंति ॥११६४॥

भावार्थ—प्रभु, चैत्यवृक्ष को प्रदक्षिणा देकर पूर्वाभिमुख-पूर्व दिशा को सन्मुख करके सिंहासन पर विराजमान होते हैं। बाकी की तीन दिशाओं में देवता लोग प्रभु के समान छत्र चामरादि से अलंकृत तीन प्रतिमा बनाकर सिंहासनारूढ़ करते हैं। इस प्रकार चारों ही दिशाओं में प्रभु के दर्शन होते हैं। और प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि भगवान् मेरी तर्फ मुख करके बोल रहे हैं। भगवान् के अतिशय से देवों के द्वारा प्रतिष्ठित की जाने वाली प्रतिमायें भी साक्षात् प्रभु के समान ही भासती हैं। तथा भगवान का पादपीठ न्यून से न्यून एक गणधर सहित होता है अर्थात् प्रभु का पाद पीठ गणधर विना का नहीं होता। जिस समय जो गणधर बड़ा होवे उस समय वह बैठे, बड़ा या छोटा जो भी उपस्थित होवे वह पूर्व द्वार से प्रवेश करके प्रभु को प्रदक्षिणा देकर और नमस्कार करके अग्निकोण में प्रभु के न तो अधिक दूर हो और न अधिक समीप इस प्रकार बैठे, एवं शेष गणधर भी प्रभु को नमस्कार करके बड़े गणधर के आस पास बैठें।

आत्माराम जी—महाराज! समवसरण का यह तो सारा ही अधिकार वांचने और मनन करने योग्य है, और वास्तव में तो सारा सूत्र ही भाष्य और टीका सहित वांचने तथा समझने योग्य है?

भला महाराज! इसमें प्रतिमा सम्बन्धी और भी कोई उल्लेख है?

श्री रत्नचन्द जी—अरे भोले! इसमें प्रतिमा सम्बन्धी लेखतो इतने हैं कि तुम वांचते २ आश्चर्य-चकित हो जाओगे? और वे हैं भी इतने सरल और स्पष्ट कि उनमें किसी प्रकार के ननु नच को स्थान ही नहीं रहता। लो इस समय तुमको केवल एक पाठ और बतला देता हूँ बाकी तुमने स्वयं देख लेने कारण कि अब तुम योग्य हो गये हो और स्वय सब बातों को सोचने समझने की तुममें शक्ति है।

आत्माराम जी हाथ जोड़कर—महाराज! यह तो सब आप श्री की विशिष्ट कृपा का ही फल है। वास्तवमें मै तो बहुत सामान्य व्यक्ति हूँ।

श्री रत्नचन्द जी—अच्छा इसमें से १७७४ की गाथा निकालो और वहां से पढ़ना आरम्भ करो?

तब मुनि श्री रत्नचन्द जी की आज्ञानुसार महाराज आत्माराम जी ने बृहत्कल्प भाष्य की हस्तलिखित पुस्तक में से उक्तगाथा को निकाल कर पढ़ना आरम्भ किया। यथा—

(क) "साहम्मियाण अट्ठा, चउव्विहे लिंगओ जह कुडुंबी।
मंगल सासय भत्तीइ जं कयं तत्थ आदेसो ॥ १७७४ ॥

व्याख्या—चैत्यानि चतुर्विधानि, तद्यथा-साधर्मिक चैत्यानि, मंगल चैत्यानि शाश्वत, चैत्यानि, भक्ति चैत्यानि चेति ×××× तत्र स्वधर्मिकाणामर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिक चैत्यम् ॥

(ख) "अरहंत पइट्ठाए महुरा नयरीए मंगलाइं तु।
गेहेसु चच्चरेसु य, छन्नउइ गाम अद्धेसु ॥१७७६॥

व्याख्या—मथुरा नगर्यां गृहे कृते मंगल निमित्तमुत्तरंगेषु प्रथममर्हत् प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति, तानि मंगल चैत्यानि। तानिच तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति। ×××××××। शाश्वत चैत्य भक्ति चैत्यानि दर्शयति—

"निइयाइं सुरलोए भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ॥ ११७७ ॥

व्याख्या—नित्यानि शाश्वत चैत्यानि सुरलोके भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिक-देवानां भवन नगर विमानेषु उपलक्षणत्वात् मेरुशिखर वैताढ्याद्रिकूट नन्दीश्वर रुचक वरादिष्वपि भवन्तीति। तथा भक्त्या भरतादिभिर्यानि कारितानि अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् भक्तिकृतानि ॥

भावार्थ—चैत्य चार प्रकार के होते हैं यथा—साधर्मिक-चैत्य, मंगल-चैत्य, शाश्वत-चैत्य और भक्ति-चैत्य (१) जो साधर्मिकों के लिये वनाया जाय उसका नाम साधर्मिक-चैत्य है। (२) मथुरा नगरी में घर वनाकर मंगलार्थ द्वार के ऊपर जो तीर्थंकर देव की प्रतिमा स्थापित की जाती है उसे मंगल चैत्य कहते हैं। (३) देवलोक मे अर्थात् भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के भवन नगर और विमानों मे एवं मेरु वैताढ्य नन्दीश्वर तथा रुचकवरादि में तीर्थंकर देवों की जो शाश्वती प्रतिमायें हैं वे शाश्वत चैत्य कहे जाते है। (४) और जो तीर्थंकर प्रतिमायें सेवा पूजा के लिए भक्ति भाव से वनवाकर प्रतिष्ठित की जाती है उनका नाम भक्ति चैत्य है, जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि के द्वारा प्रतिष्ठित जिन प्रतिमायें भक्तिचैत्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री रत्नचन्द जी महाराज, आत्माराम जी को सम्वोधित करते हुए वोले—कहो! इस पाठ से प्रतिमा के सम्बन्ध में तुम्हें क्या अनुभव हुआ? क्या अव भी कोई शंका वाकी रह जाती है?

श्री आत्माराम जी—गुरुदेव! अनुभव की क्या पूछते हो, इस पाठ से तो मन के किसी अज्ञात प्रदेश में भी मूर्तिपूजा सम्वन्धी वचा खुचा प्रतिकूल संस्कार भी सदा के लिये किसी अज्ञात दिशा को प्रस्थान करगया, और अव मन विलकुल स्वच्छ स्फटिक की भांति निर्मल होगया, अव तो स्वच्छ दर्पण में मुख की तरह उसमें मूर्तिपूजा का विशुद्ध स्वरूप ही अपनी गौरवास्पद आगमिकता के साथ प्रतिविम्बित हो रहा है।

कभी २ अज्ञान मूलक चैत्य के ज्ञान अथच साधु अर्थ करने के दृढ़ हुए संस्कारों से जो मन कुछ शंकाशील हो उठता था अब तो उसका भी सफाया होगया। प्रस्तुत प्रकरण में यदि कोई साधर्मिक-चैत्य, मंगल चैत्य, शाश्वत-चैत्य और भक्ति-चैत्य का ज्ञान या साधु अर्थ करने की धृष्टता करे तो विचारशील पुरुषों की सभामें न जाने उसे किस लोकोत्तर पदवी से अलंकृत करने का यत्न किया जावे। और मेरे विचारानुसार तो ऐसे महानुभाव की बुद्धि का दिवाला ही निकला हुआ समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसदिन उपासकदशा और औपपातिक सूत्र के आनन्द श्रावक और अम्बड़ परिव्राजक के अधिकार में प्रयुक्त हुए "अरिहंत चेइयाइं"-अर्हच्चैत्यानि के अर्थ विवेचन में आपने भी तो यही फर्माया था कि अपने सम्प्रदाय के लोग यहां पर जो चैत्य के ज्ञान या साधु अर्थ करते हैं वह सर्वथा आगमविरुद्ध और मिथ्याप्रलाप है, चैत्य शब्द का आगमों में साधु या ज्ञान अर्थ में कहीं पर भी प्रयोग नहीं हुआ। परन्तु यहां तो उक्त अर्थके लिये अणुमात्र भी स्थान नहीं। अस्तु आप श्री की इस महतीकृपा का मैं अधिक से अधिक आभारी हूं। अब कृपाकरके आवश्यक सूत्र का वह पाठ भी दिखलावें जिसके लिये समवायांग सूत्र की टीका में पूज्य अभयदेवसूरि ने संकेत किया है।

श्री रत्नचन्द जी—भाई! आज काफी समय हो गया है इस लिये आवश्यक सूत्र की बात कल पर रखिये।

"बहुत अच्छा महाराज" इतना कहने के बाद दोनों महानुभाव वहां से उठकर अपने २ स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

अगले दिन जब आत्मारामजी महाराज, श्री रत्नचन्दजी के उपाश्रय में पहुंचे तो वे बाहर से आये हुए कतिपय श्रद्धालु गृहस्थों को धर्मोपदेश दे रहे थे। श्री आत्मारामजी वन्दना करके वहां बैठ गये। तब श्री रत्नचन्दजी ने आपको सम्बोधित करते हुए कहा—कि भाई! कल अपने आवश्यक सूत्र के पाठ को देखने का जो निश्चय किया था उसे आज स्थगित करना पड़ेगा। क्योंकि आज ये परदेशी लोग यहां पर आये हैं इनको भी कुछ बतलाना और समझाना है।

श्री आत्मारामजी हाथ जोड़कर—महाराज! इस समय आप जो कार्य कर रहे हैं वह उससे भी अधिक उपयोगी और लाभकारी है, आप कृपया अपने सदुपदेश को चालु रक्खें ताकि मैं भी यहांपर बैठा हुआ उससे अपने कर्ण कुहरों को पवित्र कर सकूं। यह सुन श्री रत्नचन्दजी खिड़खड़ा कर हंस पड़े और आगन्तुक महानुभावों की ओर दृष्टि फेरते हुए बोले—भाई श्रावको! देखा? यह साधु कितना ज्ञान-पिपासु और विनयशील है। कई दिनों से यह मेरे पास ज्ञानाभ्यास के लिये आया हुआ है परन्तु मेरे विचार से तो यह मेरे पास शास्त्राभ्यास करने के लिये नहीं अपितु मेरे को शास्त्राभ्यास कराने के लिये आया है। सब श्रावक हाथ जोड़कर कुछ मुस्कराते हुए बोले—महाराज! आप श्री जो कुछ फरमा रहे हैं सम्भव है वही यथार्थ हो परन्तु हमारी समझ में यह नहीं आया कि आपके इस कथन का परमार्थ क्या है। ये आपसे पढ़ते हैं यह तो समझ में

आता है परन्तु यह आपको पढ़ाते हैं इसका रहस्य हमारी समझ मे नहीं आया। श्री रत्नचन्दजी उत्तर देते हुए बोले—भाई! देखो, मेरी आयु का बहुत सा भाग व्यतीत हो चुका है आजतक मेरे पढ़े पढ़ाये को पूछने और उसकी पूरी पूरी जांच पड़ताल करने वाला कोई भी योग्य व्यक्ति मेरे पास नहीं आया। परन्तु मेरे सद्-भाग्य से बहुत समय के बाद एक यह साधु मेरे पास पढ़ने के व्याज से सत्यासत्य के निर्णयार्थ आया है जिससे मेरे हृदय मे बहुत प्रसन्नता हुई है सो यह शास्त्र सम्बन्धी जो जो बाते मुझसे पूछता है मै उन्हें स्मृति-पथ पर लाते हुए शास्त्र निकाल कर इसे बतलाता हूँ। उसमे जो जो शंका इसकी तरफ से उपस्थित की जाती है उसका यथार्थ समाधान करने का सफल प्रयास करता हूँ। इससे मेरा पढ़ा पढ़ाया पदार्थ फिर से ताजा होता जाता है। इसके आने से पहले आज मैंने तुमसे कहा भी था एक परदेशी साधु मेरे पास पढ़ने के बहाने जैनागमों का परमार्थ समझने के लिये आया हुआ है। समवायांगसूत्र-गत "कप्पस्स समोसरणं नेयव्वं" के रहस्य को समझाने के लिये समवायांग सूत्र की टीका मे "कल्प" शब्द से अभिप्रेत "बृहत्कल्प भाष्य" के पाठ मे वर्णित समवसरण के स्वरूप को समझाने के लिये बृहत्कल्प भाष्य का पुस्तक निकाल कर दिखाया कि समवसरण में पूर्वाभिमुख तीर्थंकर महाराज विराजते हैं और बाकी की तीन दिशाओं मे तीर्थंकर के समान रूप एवं आकार वाली तीन प्रतिमाये देवता स्थापन करते हैं जो कि तीर्थंकर भगवान् के अतिशय से उनके समान ही भासती हैं। और आज इसी आशय का आवश्यक निर्युक्ति का पाठ दिखलाने का वचन दिया हुआ है, परन्तु तुम लोगों ने आजही वापिस चले जाना है इसलिये आज का पठन पाठन बन्द रक्खा गया है। अब तुमही बतलाओ कि इस साधु के निमित्त से मेरे पढ़े हुए का जो पुनरावर्तन हो रहा है उस दृष्टि से यह मेरे को पढ़ाने वाले सिद्ध हुए कि नहीं?

सभी सद्गृहस्थ हाथ जोड़कर—महाराज! आप श्री की व्यंगोक्ति का रहस्य अब समझ में आया। आप बडे दयालु हैं और इसके अतिरिक्त आपने जो समोसरण की बात कही सो यह तो आम प्रसिद्ध है कि देवता लोग समवसरण की रचना करते हैं जिसमें एक तरफ पूर्व दिशा मे तो स्वयं भगवान विराजते हैं और बाकी तीन दिशाओं में उनकी प्रतिमाये विराजमान की जाती हैं जो कि प्रभु के अतिशय से वहां उपस्थित जनता को प्रभु के समान ही भासती हैं, तात्पर्य यह कि देखने वाले यही समझते है कि भगवान् हमारे ही सामने विराजमान है, आज कल जैनपरम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही समोसरण की रचना बडे आडम्बर के साथ करते है। उसमें जो सिंहासन होता है उसपर चारों तरफ चार प्रतिमाये विराजमानकी जाती हैं, दर्शन करने वालों को चारों ही तरफ प्रभु के दर्शन होते है।

उन आगन्तुक श्रावक वर्ग के इस वार्तालाप से श्री आत्मारामजी को बडी प्रसन्नता हुई, वे श्री रत्न-चन्दजी को विधि पूर्वक वन्दना करके अपने स्थान को चले गये। चलते समय श्री रत्नचन्दजी ने उन्हें कहा—कि कल जरा जल्दी पधारना ताकि अपना कार्य समय पर सम्पन्न हो जावे। "बहुत अच्छा बडी कृपा" कहकर श्री आत्मारामजी अपने स्थान पर आगये।

दूसरे दिन श्री रत्नचन्दजी के आदेशानुसार आत्मारामजी उनके स्थान पर पहुंचे और वन्दना नमस्कार के अनन्तर जब उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति के पाठ की बावत प्रार्थना की तो महाराज रत्नचन्दजी बोले—कि भाई ! जरा बैठो अपने वही काम करना है। जरा कल की बात तो सुनलो ? कल जो श्रावक आये थे उनमें कितने एक तो श्वेताम्बर थे कितने एक दिगम्बर और थोड़े से अपने मत वाले थे। तुम्हारे जाने के बाद उन्होंने मुझसे पूछा—कि महाराज! यह साधु इतनी छान बीन क्यों कर रहा है? मैंने कहा—कि छान बीन तो कोई नहीं, यह तो शास्त्रों के पाठों का मिलान कर रहा है और एक दूसरे के मिलान से वस्तु तत्त्व के परमार्थ का ठीक ठीक पता लग जाता है। समवसरण का स्वरूप कल्पसूत्र के कथनानुसार जानना "ऐसा समवायांग सूत्र में उल्लेख किया है" परन्तु अपने पास जो कल्प सूत्र है वह तो बहुत छोटा और केवल मूल मात्र ही है उसमें तो समवसरण का कोई जिकर नहीं, वह तो कल्पसूत्र के भाष्य में है, जिस का वर्णन तुमको कह सुनाया है, जब भाष्य का वह स्थल निकाला और समवसरण का स्वरूप बतलाया तब उन्होंने कहा—महाराज ! अपने भाष्य, चूर्णी, निर्युक्ति और टीका आदि को तो मानते नहीं, केवल मूल पाठ को ही मान्य रखते हैं परन्तु मूल पाठ में, समवायांग सूत्र में दिये गये समवसरण के संकेत का सर्वथा अभाव है ऐसी दशा में तो भाष्य को माने बगैर कोई भी गति नहीं। या तो भाष्य को मानो या समवायांग सूत्र के उक्त पाठ पर हरताल फेर दो इसके सिवा और तो कोई उपाय सूझता नहीं। इस पर उन श्रावकों में से एक ने कहा—महाराज ! जब अपने यह मानते हैं कि "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गुंथंति गणहरा न्यूना" अर्थात् प्रथम भगवान् अर्थ रूप से पदार्थ का वर्णन करते हैं और बाद में गणधर महाराज उसका सूत्र रूप में गुंथन करते हैं। जब कि भगवान् के कहे हुए अर्थ के बाद सूत्रों का गुन्थन हुआ तो इन निर्युक्ति भाष्य और चूर्णी आदि में उन अर्थों का ही तो गुन्थन किया गया है। इसलिये सूत्र को मानना और उसके अर्थ से इनकार करना यह तो कभी भी न्यायसंगत नहीं माना जा सकता, इत्यादि।

श्री आत्मारामजी—महाराज ! यह सब आपके ही सेवक तो हैं। आपकी कृपा का ही परिणाम है जो इनमें इतनी उदारता आगई है अन्यथा इतना स्पष्ट वचन कहना कोई साधारण बात नहीं है।

श्री रत्नचन्दजी—अच्छा ! अब अपने आवश्यकसूत्र का निरीक्षण करें। लो ! यह रहा आवश्यकसूत्र का पुस्तक, इसे देखो और निश्चय करो। श्री आत्मारामजी पुस्तक देख कर—अरे महाराज ! यह इतना बड़ा आवश्यक सूत्र तो आज ही देखने को आया है यह तो हमारे माने हुये ३२ सूत्रों के समुच्चय मूलपाठ से भी बडा होगा, अपने लोग जिस आवश्यकसूत्र को लिये फिरते हैं, उसमें तथा इसमें तो आकाश-पाताल जमीन-आसमान जितना अन्तर दिखाई देता है।

श्री रतनचन्दजी—भाई ! अपना तो केवल मूल ही मूल है जो कि पत्र पुष्प और शाखा प्रशाखादि रहित रुंड मुंड वृक्ष की तरह मार्गभ्रान्त—पथिक को किसी प्रकार की भी सुखद छाया देने से वंचित है। इसमें तो आवश्यक भी पूरे नहीं हैं। गणधर देव की वाणी में भाषा का पाठ मिला कर फोकट के धनी बन बैठे

हैं, तभी तो कहा जाता है—कि ३१ सूत्र सब के और बत्तीसवां आवश्यक सूत्र घर घर का है। परन्तु यह जो तुम्हारे हाथ में आवश्यकसूत्र है, इसमें मूल तो गणधर रचित है, इसके ऊपर जो निर्युक्ति है उसके रचयिता पंचम श्रुतकेवली चतुर्दशपूर्वधारी श्री भद्रबाहु स्वामी हैं, एवं भाष्य और चूर्णी पूर्वधरों की टीका श्री हरिभद्रसूरि की है, यदि इन सब को एकत्रित किया जाय तो यह और भी बहुत बढ जाता है। अकेले सामायिक अध्ययन पर भाष्य और उस पर मलधारी श्री हेमचन्द्र सूरि की जो टीका कही जाती है, दोनों का सारा पाठ २८००० श्लोक प्रमाण है। इसमें सामायिक अध्ययन गत 'करेमिभंत्ते' की जो व्याख्या है उसी का १२००० श्लोक प्रमाण पाठ है।

भाई आत्माराम! तुम यह तो सोचो! भगवान का ज्ञान अनन्ता कहा है तो क्या उसका समास केवल इन ३२ सूत्रों में ही हो गया? कदापि नहीं। मैंने तुमको प्रथम भी कई बार कहा है और अब भी मैं यही कहता हूँ कि केवल मूल ३२ सूत्रों की मान्यता और शेष निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी आदि की अवहेलना, इसमें मूर्तिपूजा का विरोध ही एकमात्र कारण है। अन्यथा कोई वजह नहीं कि आगमों के व्याख्यान रूप इन निर्युक्ति और भाष्यादि को आगमों की भांति प्रामाणिक न माना जाय। प्रभुप्रतिमा-विरोधी दुर्भावना ने हमारी मनोवृत्ति को इतनी संकुचित और हठीली बना दिया है कि यथार्थता की ओर तनिक सा भी दृष्टिपात नहीं कर पाते, यही हमारा असद्भाग्य है। अच्छा, अब आवश्यकसूत्र की बात करे—कितनी एक ऐसी बाते हैं जिनको हम मानते और आचरण में लाते हैं, परन्तु उनका उल्लेख अपने माने हुए ३२ सूत्रों में कहीं पर भी नहीं मिलता, यदि मिलता है तो इसी आवश्यक सूत्र और उसके निर्युक्ति, भाष्यादि मे मिलता है, मैंने इसका अनेक बार स्वाध्याय किया है, यह बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है तुमको इसका अवश्य स्वाध्याय करना चाहिये।

अनुयोगद्वारसूत्र मे उपोद्घात निर्युक्ति के जो २६ द्वार कहे हैं उसका वर्णन इसमे बडे ही विस्तार से किया है। इन २६ में से निगमद्वार में भगवान् श्री ऋषभदेव सन्तानीय मरीचीनामा भरत के पुत्र का [जो चौवीसमे तीर्थकर भगवान महावीर के नाम से संसार में विख्यात हुए] चरित्र वर्णन किया है। भगवान् महावीर स्वामी को केवलज्ञान होने के बाद उनके लिये देवताओं ने समवसरण की जो रचना की उसका भी वर्णन है यथा—

"आयाहिणं पुव्वमहो तिदिसिं पडिरूवगाउ देवकया।
जेट्ठगणी अण्णोवा दाहिण पुव्वे अदूरंमि ॥५५६॥
जेते देवेहिंकया तिदिसिं पड़िरूवगा जिणवरस्स।
तेसिंपि तप्पभावा तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥५५७॥"

व्या०—स एवं भगवान् पूर्व द्वारेण प्रविश्य "आयाहिणं" त्ति- चैत्यद्रुम प्रदक्षिणां कृत्वा "पुव्वमहोत्ति" पूर्वाभिमुख उपविशतीति "तिदिसि पड़िरूवगाउ देवकयात्ति" शेषासु तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तु

तीर्थकराकृतीनि सिंहासनादियुक्तानि देवकृतानि भवन्ति, शेषदेवादीनामप्यस्माकं पुरतः कथयतीति प्रतिपत्यर्थ-मिति, भगवतश्च पादमूलमेकेन गणधरेणाविरहितमेव भवति स च ज्येष्ठोवाऽन्योवेति, प्रायोज्येष्ठ इति, स ज्येष्ठ गणीरन्यो वा दक्षिण-पूर्व-दिग्भागे अदूरे प्रत्यासन्ने एव भगवतो भगवन्तं प्रणिपत्य निषीदतीति क्रियाध्याहारः। शेष गणधरा अप्येवमेव भगवन्तमभिवन्द्य तीर्थकरस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निषीदन्तीति गाथार्थः। भुवनगुरु रूपस्य त्रैलोक्यगत—रूपसुन्दरत्वात् त्रिदशाकृत् प्रतिरूपकाणां किं तत् साम्यमसाम्यं वेत्याशंका निरासार्थमाह—जेते देवेहिंकया—

यानि तानि देवैः कृतानि तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि जिनवरस्य तेषामपि "तत्प्रभावात्" तीर्थकर-प्रभावात् "तदनुरूपं" तीर्थकर रूपानुरूपं भवति रूपमिति गाथार्थ ॥

इसका भावार्थ वही है जिसका वर्णन वृहत्कल्प भाष्य के प्रसंग मे किया गया है।

श्री आत्माराम जी—महाराज! यह तो अब सुनिश्चित हो गया कि निर्युक्ति और भाष्यादि के बिना आगमों के परमार्थ को जानना नितान्त कठिन है। इस लिये आगमों के समान ही इन्हें मानना उचित और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इतना कहने के वाद आप फिर बोले—महाराज! वृहत्कल्पभाष्य की तरह इसमें से भी किसी मूर्ति सम्बन्धी पाठ को दिखलाने की कृपा करो?

श्री रत्नचन्द जी—इसमें तो मूर्तिपूजा के समर्थक पाठों का ही प्राचुर्य है तुम जब इसका सांगोपांग स्वाध्याय करोगे तो अपने आप ही तुम्हें सब कुछ विदित हो जावेगा। और मैं भी आज तुमको एक पाठ बतलाये देता हूँ जिससे मूर्तिपूजा का आदर्श तुम्हारी आखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से झलकने लगेगा।

इतना कहने के वाद पुस्तक हाथ में लेकर उसमें से पूजासम्बन्धी पाठ निकालकर—लो! यह मूलपाठ है इसको पढ़ो और विचारो?

श्री आत्माराम जी—जैसी आज्ञा महाराज! कहते हुए आवश्यक सूत्र के पाठ को देखकर पढ़ने लगे यथा—

× "सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं, वंदण वत्तियाए, पूयण वत्तियाए सक्कार वत्तियाए सम्माण वत्तियाए" इत्यादि।

"अच्छा अब इस सूत्रकी व्याख्या में चूर्णीकार ने जो कुछ लिखा है उसे भी पढ़ो"—श्री रत्नचन्द जी ने महाराज आत्माराम जी को सम्बोधित करते हुए कहा। आपके इस आदेश को सुनकर आत्माराम जी चूर्णीकार की व्याख्या को पढ़ने लगे, चूर्णी पाठ—

× छाया—सर्वलोके अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं, वन्दन प्रत्यय पूजन प्रत्ययं सत्कार प्रत्ययं सम्मान प्रत्ययम्।

"अरिहंता तित्थगरा तेसिं चेइयाणि अरिहंत चेइयाणि अर्हतप्रतिमा इत्यर्थः, तेसिं वंदना प्रत्ययं ठामि काउस्सग्गमिति योगः तत्र वंदित्वात्तेषां वन्दनार्थं कायोत्सर्गं करोमि, श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानः सद्‌गुण-समुत्कीर्तनपूर्वकं कायोत्सर्गं स्थाने वन्दनं करोमिति यावत्। एवं पूज्यत्वात्तेषां पूजनार्थं कायोत्सर्गं करोमि। श्रद्धादिभिः सद्‌गुणसमुत्कीर्तन पूर्वकं कायोत्सर्गस्थानेनैव पूजनं करोमीत्यर्थः। यथा— कोईगंधचुएणवासमल्लादीहिं समभ्यर्चनं करोतीति"

भावार्थ—सर्व लोक मे स्थित अर्हच्चैत्यों—तीर्थंकर प्रतिमाओं के वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। तात्पर्य कि तीर्थंकर प्रतिमाओं को साक्षात्—श्रद्धा पूर्ण हृदय से वन्दन करने, पूजन करने, सत्कार और सम्मान करने का जो पारलौकिक फल साधक को प्राप्त होता है वह मुझे इस कायोत्सर्ग द्वारा प्राप्त हो, इस भावना से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ, अथवा यूं कहिये कि वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के स्थानापन्न मेरा यह कायोत्सर्ग हो। सारांश कि अर्हत् प्रतिमाओं के वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान निमित्त ही मैं यह कायोत्सर्ग कर रहा हूँ।

श्री रत्नचन्द जी—आवश्यक सूत्र के इस मूलपाठ और उनकी चूर्णी के पाठ से गृहस्थ के द्वारा किये जाने वाले द्रव्य और भावपूजन की अनुमोदना करने का विधान है। तात्पर्य कि साधु को द्रव्य पूजा करने का अधिकार नहीं वह तो केवल भावपूजा कर सकता है परन्तु द्रव्यपूजा का अनुमोदन उसे भी करना चाहिये यह इस सूत्र का परमार्थ है। शास्त्रकारों ने द्रव्यपूजा को द्रव्यस्तव और भावपूजा को भावस्तव के नाम से कथन किया है और द्रव्यस्तव तथा भावस्तव का अर्थ करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

§ "दव्वत्थओ पुप्फाई, संतगुण कित्तणा भावे" (१९१)

अर्थात् पुष्पादि के द्वारा जिन प्रतिमा का पूजन करना द्रव्यस्तव है और भक्तिभाव से प्रभु का गुण-कीर्तन—गुणगान करना भावस्तव कहलाता है। इसलिये देश विरति गृहस्थ की बात तो अलग रही सर्वविरति साधु के लिये भी अनुमोदना रूप से पूजा का अधिकार शास्त्रविहित सिद्ध होता है। $ कहो! अब इससे अधिक क्या चाहते हो?

(§) द्रव्यस्तवः पुष्पादिभि. समभ्यर्चनम् (हरिभद्रसूरि आ० वृत्तौ)

($) इस सम्बन्ध में पूज्य हरिभद्रसूरि का उल्लेख द्रष्टव्य है—

जइणोविहु दव्वत्थय भेदो अणुमोयणेण अत्थित्ति।

एय च एत्थणेयं इय सुद्धं तंत जुत्तीए" [पञ्चा. ६।२८]

अर्थात् भावस्तव—भावपूजा मे आरूढ होने वाले यति—साधु के लिये भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा का अधिकार शास्त्र सम्मत है अतः वह अनवद्य है—निर्दोष है। [यतेरपि—भावस्तवारूढ साधोरपि न केवल गृहिण एव, द्रव्यस्तव भेदो द्रव्यस्तव विशेष अनुमोदनेन जिनपूजादि—दर्शनजनित प्रमोद—प्रशंसादि लक्षणयाऽनुमत्या अस्ति विद्यते × × × तत्र युक्त्या शास्त्रगर्भोपपत्त्या" इति तत्र श्री अभयदेव सूरिपादाः। (लेखक)

श्री आत्माराम जी—बस महाराज ! अब तो हद होगई ! हमलोग तो हिंसा २ चिल्ला कर गृहस्थों को इस शुभ कृत्य से दूर करते थे परन्तु शास्त्रकार तो साधु के लिये भी उसकी अनुमोदना का आदेश देरहे हैं । मालूम होता है कि अपने लोगों ने इसी कारण से आवश्यक सूत्र के उक्त पाठ की उपेक्षा करदी है अर्थात् इस पाठ का ही परित्याग कर दिया । कितना अन्धेर ! इससे अधिक, दुराग्रह या मूर्खता का जीता जागता उदाहरण और क्या हो सकता है ?

श्री रत्नचन्द जी—भाई ! मैंने तो पहले ही तुमसे कह दिया है कि यह सब कुछ मूर्तिपूजा को बहिष्कृत करने के लिये ही किया गया है, अच्छा अब लगते हाथ प्रस्तुत पुस्तक में से एक और उदाहरण भी देख लीजिये फिर जब २ समय मिले स्वयं देखते रहना, यह तो इसमें से नमूना मात्र तुमको दिखा दिया गया है । इसी आवश्यक सूत्र के भाष्य की २४ वीं गाथा में लिखा है—श्री भरतचक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर मंदिर बनवाकर उसमें २४ तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित कीं । यथा—

$ "थूभ सयंभाउगाणं चउवीसं जिणहरे कासी ।
सव्व जिणाणं पडिमा वण्ण पमाणेहिं नियएहिं ॥"

तत्थणं देवच्छंदए चउवीसाए त्तित्थगराण नियगप्पमाण वन्नेहिं पत्तेयं पत्तेयं पडिमाओ कारेति" [चूर्णीकारः]

इस प्रकार के अनेक लेख तुम को इस शास्त्र में उपलब्ध होंगे ।

श्री आत्मारामजी—महाराज ! मुझे तो इस विषय में अब कोई सन्देह रहा नहीं, और मैंने यह भी समझ लिया है कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और पूर्वाचार्यों के टीकादिक के आश्रय के विना निर्ग्रन्थ प्रवचन का रहस्य समझ में आना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव प्राय है । परन्तु एक बात, जो कि विलकुल साधारणसी है और जिस पर अपनी सम्प्रदाय वाले अधिक जोर देते हैं स्वयं जानते हुए भी उसका निर्णय आप श्री के मुखारविन्द से कराने की इच्छा रखता हूँ, यदि आपकी आज्ञा हो तो कहूँ ।

श्री रत्नचन्दजी—कहो क्या बात है ? अपने को यहां सिवाय शास्त्रचर्चा या धर्मचर्चा के और काम ही क्या है ? अपने तो तटस्थमनोवृत्ति से शास्त्र के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निर्णय करना है उसमें किसी प्रकार के हठ या दुराग्रह को स्थान नहीं देना है । इस लिये तुम्हारे मन में जो कोई भी विचार हो उसे विना संकोच कहो ।

$ स्तूप शतं भ्रातृणां भरत कारितवानिति तथा चतुर्विंशतिश्चैव जिनग्रहे-जिनायतने (जिनायतनानि) कृतवान् सर्व जिनानां प्रतिमा वर्ण प्रमाणैः निजैः आत्मीयैरित्यर्थः ।

श्री आत्मारामजी—महाराज ! यह आपकी बड़ी उदारता है जो मुझ जैसे साधारण व्यक्ति पर इतना असाधारण प्रेम दर्शा रहे हैं, मैंने तो आप श्री के पुण्य सहवास से धर्म के विषय में बहुत कुछ अलभ्य लाभ प्राप्त किया है । अस्तु, कृपानाथ ! प्रभुपूजा में जल पुष्पादि सामग्री का जो उपयोग किया जाता है, उसको देख कर अपने पंथ के साधु हिंसा २ कह कर उसका प्रबल विरोध करते हैं और कहते हैं कि जिस काम में हिंसा हो वह धर्म नहीं अपितु अधर्म है । जिन प्रतिमा की प्रचलित पूजा विधि में सचित्त जल और पुष्पादि का प्रत्यक्ष उपयोग होता है और एकेन्द्रिय जीवों की प्रत्यक्ष विराधना होती है इस लिये ऐसे कृत्य को धर्म नहीं कहा जा सकता इत्यादि । तो अपने लोगों का यह कथन कहां तक ठीक है ? इसका स्पष्टीकरण करने की भी आप कृपा करें तो बहुत अच्छा हो । मैं इसका शास्त्रीय रहस्य जानना चाहता हूँ ।

श्री रत्नचन्द्जी—भाई आत्माराम ! तुम सचमुच ही आत्माराम हो, इस लिये नहीं कि तुम्हारा गुणनिष्पन्न नाम आत्माराम है बल्कि इस लिये कि तुम मेरे आत्मा में रमण कर रहे हो। मेरे मन में अभी २ यह विचार उद्भव हुआ था कि मूर्तिपूजा के विरोध में अपने सम्प्रदाय वाले हिंसा का भय दिखला कर भोली जनता को इस पुण्यानुबन्धी पुनीत कर्त्तव्य से दूर करने का यत्न कर रहे हैं, और इसमें उन्हें किसी हद तक सफलता भी मिली है अर्थात् बहुत सी भोली जनता उनके इस शास्त्र विरुद्ध कथन या बहकावे में आकर मूर्तिपूजा—देवपूजा को छोड बैठे हैं । अतः इस विषय पर भी कुछ विचार विनिमय करना आवश्यक है । सो मैं अभी इस प्रसंग को छेडने का विचार ही कर रहा था कि इतने में तुमने स्वयं ही यह प्रश्न उपस्थित कर दिया । अच्छा ! अब इस प्रश्न का उत्तर [नहीं २ सदुत्तर] भी सुनो और ध्यानपूर्वक सुनो—

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में यह बात दो और दो चार की तरह सत्य है कि श्रमण भगवान महावीर स्वामी से लेकर विक्रम की सोलवीं शताब्दी के पूर्व तक के समस्त जैन वाङ्मय में उसके प्रतिवाद में एक अक्षर भी उपलब्ध नहीं होता, तथा यह भी निर्भ्रान्त सत्य है कि मूलागमों, अंगों और उपांगों में मूर्तिपूजा के समर्थक पर्याप्त पाठ हैं और निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाकार आचार्यों ने तो उसके सम्बन्ध में इतना स्पष्ट उल्लेख किया है कि उनको देखते हुए किसी भी विचारशील व्यक्ति को मूर्तिपूजा की प्रामाणिकता और विधेयता में लेशमात्र भी सन्देह बाकी नहीं रह जाता । तब यह अनायास ही सिद्ध हो गया कि मूर्तिपूजा-मूर्ति-उपासना यह एक शास्त्रसिद्ध सुविहित आचार है जो कि गृहस्थ और साधु दोनों के लिये अनुष्ठेय है, द्रव्य और भावरूप से गृहस्थ के लिये और केवल भावरूप से साधु के लिये । इसके अतिरिक्त द्रव्यस्तव द्रव्य-पूजा की अनुमोदना का अधिकार सर्वविरति साधु को भी शास्त्रकारों ने स्पष्टशब्दों में दिया है ।

ऐसे शास्त्र विहित आचार की—जो कि भगवद् आज्ञा के सर्वथा अनुकूल हो, अवहेलना करना, साक्षात् भगवद् आज्ञा का उल्लंघन ही नहीं किन्तु महान् अनादर करना है । ऐसा व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय जैन सिद्धान्तानुसार आराधक नहीं किन्तु विराधक माना गया है। शास्त्र मूलक किसी भी धार्मिक प्रवृत्ति को इतने मात्र से अपवादित नहीं किया जा सकता कि उसमें एकेन्द्रियजीवों की विराधना होती है, ऐसी अनेक

प्रवृत्तियों की शास्त्र में आज्ञा है जिनमें एकेन्द्रिय जीवों की विराधना अनिवार्य है, जैसे कि विहार मे नदी को पार करना, जल में गिरी हुई साध्वी को हाथ से पकड़ कर बाहर निकालना इत्यादि कार्यों मे एकेन्द्रिय जीवों की प्रत्यक्ष विराधना होती है और स्त्री के अंगों का प्रत्यक्ष स्पर्श करना पड़ता है, परन्तु ऐसा करने वाला व्यक्ति जीव-विराधनाजन्य पाप का भागी नहीं होता क्योंकि यह आचार शास्त्र-विहित अथच भगवद्-आज्ञा के अनुकूल है इसी लिये आचारांग प्रभृति आगमग्रन्थों में भगवद् आज्ञा को धर्म बतलाया है 'आणाए मामगं धम्मं' और आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने का निषेध किया है यथा—

"अणाणाए एगे सोवट्ठाणा आणाए एगे निरुवट्ठाणा एवं ते माहोउ"

[आचा. लोक. ५ उद्देश्य ६ सू. १६६]

व्याख्या—इहतीर्थंकर गणधरादिनोपदेश गोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते, यदिवा सर्वभाव संभावित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्। अनाज्ञा—अनुपदेशः स्वमनीषकाचरितोऽनाचारस्तयाऽनाज्ञया तस्यां वा "एके" इन्द्रियवशगा दुर्गतिं जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहग्रस्ताः सह उपस्थानेन—धर्मचरणाभासोद्यमेन वर्तन्त इतिसोपस्थाना, किल वयमपि प्रव्रजिताः सदसद्धर्म विशेष विवेक विकलाः सावद्यारम्भतया प्रवर्तन्ते, एके तु न कुमार्ग वासितान्तः करणाः किन्तु आलस्या वर्णस्तम्भाद्युपबृंहित बुद्धयः "आज्ञायां" तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानं—उद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः सर्वज्ञप्रणीत सदाचारानुष्ठान विकलाः, एतत् कुमार्गानुष्ठानं सन्मार्गावसीदनं च द्वयमपि "ते" तव गुरुविनेयोपगतस्य दुर्गतिहेतुत्वान्माभूदिति" ॥

गुरु शिष्य से कहते हैं—कि हे शिष्य! भगवान् की आज्ञा के विपरीत आचरण करना और आज्ञा मे प्रमाद करना अर्थात् जिसकी भगवान् ने आज्ञा दी हो उसका आचरण न करना, ये दोनों ही बातें दुर्गति की हेतु हैं इस लिये तुम्हें ये मत प्राप्त हों तात्पर्य कि आज्ञा से बाहर चलने का उद्योग नहीं करना और आज्ञा के अनुसार चलने में सदा सावधान रहना चाहिये।

इस पर से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वीतराग प्रभु की आज्ञा ही एक मात्र धर्म है अतः जो व्यक्ति उसके अनुसार आचरण करता है वह आराधक है और आज्ञा के विपरीत चलने अथवा आज्ञा में न चलने वाला विराधक है, ऐसी परिस्थिति में भगवदाज्ञा-सिद्ध द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा में प्रभु प्रतिमा पर सद्भावना से चढ़ाये जाने वाले सुगन्धियुक्त विकसित पुष्पों की विराधना का स्वप्न देखने वाले हम या हमारे मत के साधुओं की अदूरदर्शिता पर जितना भी शोक किया जावे उतना कम है।

आत्मारामजी—महाराज! आप जो कुछ फर्मा रहे हैं वह अक्षरशः ठीक है। जहां तक मैंने अनुभव किया है-अपने पंथवालों को तो फूल का नाम भी शूल की माफक चुभता है! और पूजा सम्बन्धी पुण्यजनक सभी व्यापार मे इन्हें एकमात्र हिंसा ही दिखाई देती है जोकि उनके दृष्टि-मान्द्य को ही आभारी है। और यदि केवल केन्द्रिय जीवों की विराधना को सन्मुख रखकर भगवद्-आज्ञासिद्ध द्रव्यपूजा का परित्याग करें तब तो हमे

सभी धार्मिक क्रियाकलाप को तिलांजलि देनी पड़ेगी, कारण कि जीवन का कोई भी ऐसा वाह्य व्यापार नहीं फिर वह धार्मिक हो या लौकिक कि जिसमें अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और वनस्पति सम्बन्धी एकेन्द्रिय जीवों की विराधना न होती हो। जैसे कि—

जल में गिरि हुई साध्वी को निकालने, विहार करते समय नदी को पार करने में जलकाय के जीवों की विराधना होती है, इसी प्रकार गुरुजनों के दर्शनार्थ जाने आने मे, दीक्षामहोत्सव और मृतक साधु के दाहार्थ विमान आदि की रचना में, तथा अनेक प्रकार के वाजे गाजे के साथ जाने आने में एवं चन्दनादि की चिता रचाने में क्या वायुकाय आदि सभी प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का वध नहीं होता ? इसके अतिरिक्त आवश्यक-सूत्र के भाष्य में इस विषय का कूप के दृष्टान्त से वड़ा ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया है यथा—

"अकिसिण पवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसार पयणु करणे दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ १६४ ॥

व्याख्या—अकृत्सनं प्रवर्तयतीति संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते अकृत्सन प्रवर्तकास्तेषां 'विरताविरतानाम्' इति श्रावकाणाम् "एष खलु युक्तः" एष द्रव्यस्तवः खलु शब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव, किम्भूतोऽयमित्याह— 'ससार प्रतनुकरणः' संसार क्षयकारक इत्यर्थः। द्रव्यस्तवः आहच—यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपियुक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति,—जहा णव णयरादि सन्निवेसे केइ पभूय जलाभावओ तण्हाइ परिगया तदपनोदार्थं कूवं खणंति तेसिंच जहावि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्माई हि य मलिणिज्जंति तहावि तदुब्भवेणं चेवपाणिएणं, तेसिं ते तण्हाइया सोयमलो पुव्वओ य किट्टइ सेस कालं च ते तदण्णेय लोगा सुहभागिणो हवंति। एवं दव्वत्थए जइवि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धि हवइ जाए असंजमो वज्जियं अण्णंच णिरवसेसं खवेइति। तम्हा विरया विरएहिं एसदव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुवंधी प्रभूयतर निज्जराफलो पत्तिकाऊणमिति गाथार्थः।

इसका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि विरताविरत अर्थात् देशविरति—श्रावक को द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा अवश्य करनी चाहिये कारण कि द्रव्यपूजा के अनुष्ठान से वह संसार को—जन्ममरण परम्परा को जल्दी समाप्त करता है, दूसरे शब्दों मे वह निकट संसारी हो जाता है। इस पर शास्त्रकार कूप का दृष्टान्त देते हैं—जैसे कोई नया ही नगर वसाया जावे तो उसमें पानी के लिये कुंआ खोदा जाता है, और खोदने वालों की तृषा वढती जाती है और मट्टी कीच आदि से शरीर काला हो जाता है, परन्तु जव पानी निकल आता है तव उससे खोदने वालों का शरीर भी स्वच्छ हो जाता है और तृषा भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार द्रव्यपूजा मे एकेन्द्रिय जीवों की विराधना जन्य जो तुच्छसा अनिष्ट होता है वह देवपूजा से निष्पन्न होने वाली भावसरिता के पुनीत प्रवाह में वह जाता है—धुल जाता है। तात्पर्य कि देवपूजा यह शुभानुबन्धी और निर्जरा का हेतु होने से श्रावक के लिये अवश्य आचरण करने के योग्य है।

श्रीरत्नचन्दजी—भाई ! अब मुझे पता चला कि तुम पूरे अभ्यासी और तथ्य की खोज करने में पूरे निपुण हो । अच्छा ! अब एक बात और सुनो—मूर्तिपूजा सम्बन्धी जितने भी आगम पाठ हैं उन सबका परमार्थ मैंने तुमको अच्छी तरह से समझा दिया है । जिनका तुमने भी पूरा २ विचार कर लिया है । अब सिर्फ एक रहस्य की बात अवशिष्ट रह गई है जिसकी ओर मैं तुम्हारा ध्यान खैंचना चाहता हूँ—तुम देखते आये हो कि सूत्रों में जहां कहीं पूर्णभद्र आदि यक्षों का वर्णन आता है वहां पर ही चैत्यशब्द का निर्देश किया है अन्यत्र "उज्जाणे, वणसंडे" इसीपाठ का उल्लेख है । इससे यह सिद्ध होता है कि जिस उद्यान में किसी यक्ष विशेष का मंदिर होता है उसी उद्यान विभाग को चैत्य के नाम से निर्देश किया जाता है—

यथा—"पुण्णभद्दे चेइए, गुणसिलाए चेइए" इत्यादि ।

अब विचारो जब कि श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी अपने मुखारविन्द से उन २ यक्षों की पूजा प्रभावना का परिचय दे रहे हैं और विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न गणधर देवों ने उसे सूत्रों में गुन्थन कर दिया है तो इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि उन मन्दिरों या चैत्यालयों में अमुक २ नाम से प्रसिद्ध यक्षदेवों की प्रतिमायें विराजमान थीं और समय २ पर उनके अधिष्ठातादेव अपना परिचय भी देते थे, जैसे कि "अंतगड़दशा" में सुलसा के द्वारा मूर्ति की उपासना से प्रसन्न हुए हरिणेगमेषी देव ने उसके निन्दुपन को दूर कर दिया था। ऐसी अवस्था में मूर्ति को तुच्छ समझ कर उसकी निन्दा के लिये कटिवद्ध होना अपने आत्मा को दुर्गति का भाजन बनाना है—इस लिये आज से मेरी इन सारगर्भित तीन शिक्षाओं को सदा ध्यान में रखना—[१] अपवित्र हाथों से कभी किसी शास्त्र का स्पर्श नहीं करना [२] अगर किसी कारणवशात् मूर्तिपूजा का समर्थन न करसको तो उसकी निन्दा कभी नहीं करनी [३] और सदा अपने पास दण्डा रखना ।

आत्मारामजी—अच्छा महाराज ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है जहां तक बनेगा मैं उसे पालन करने का भरसक प्रयत्न करूंगा । इतना कहने के बाद वन्दना करके आप अपने स्थान को चले गये । इस प्रकार प्रतिदिन के सत्संग में श्री रत्नचन्दजी महाराज ने श्री आत्मारामजी को जितने भी विवादास्पद विषय थे उनका शास्त्रीय आधार से पूरा पूरा स्पष्टीकरण करते हुए उनका यथासमय और यथाशक्ति सदुपयोग करने का भी आदेश दिया । इस प्रकार हर तरह से प्रत्येक विषय में निःशंक हो जाने के अनन्तर एक दिन श्री आत्मारामजी ने आपसे हाथ जोड़कर एक प्रार्थना करने की आज्ञा मांगी ।

आत्मारामजी—महाराज ! आपश्री ने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसके लिये मैं आजन्म आपका ऋणी रहूँगा। जिस वस्तु तत्त्व की खोज मे मैं बहुत समय से भटक रहा था वह वस्तुतत्त्व अपने वास्तविक स्वरूप में मुझे आपसे प्राप्त हो गया । अब मुझे जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का भी भ्रम नहीं रहा । और मैं जो कुछ प्राप्त करना चाहता था सो प्राप्त कर लिया । परन्तु एक बात मेरे हृदय में बहुत दिनों से खटक रही है जिसे कहने के लिये मैंने कईवार संकल्प किया मगर यहां आते ही रुकजाता हूँ जो शब्द मन में कहने को आते हैं वे जिह्वा से नहीं निकलने पाते ।

श्री रत्नचन्द्रजी—कहो भाई क्या बात है ? कहने में संकोच क्यों ? जब दोनों ओर से मनमे किसी प्रकार का अन्तर नहीं तो फिर उसे व्यक्त करने में हिचकचाहट कैसी ? कहो खुशी से कहो।

आत्मारामजी—महाराज ! आपके समान जैनागमों का जानकार-जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप का मर्मज्ञ और उसपर सच्ची आस्था रखने वाला उदार मनोवृत्ति का साधु पुरुष कोई विरला ही होगा। परन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का है कि आप इतने जानकार और विचारशील होते हुए भी इस पंथ मे-[जिसका सारा ही आचार व्यवहार शास्त्रबाह्य अथच कल्पना प्रसूत है] आज तक कैसे और क्यों फंसे बैठे रहे ? अपनी अन्तरग श्रद्धा को अन्दर ही अन्दर कैसे सुरक्षित रक्खे रहे ? आपकी गंभीरता तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है मगर सत्य बात की प्ररूपणा भी तो साधुपुरुषों के शास्त्रविहित कर्तव्यों में से एक है ?

श्री रत्नचन्द्रजी—भाई ! तुम्हारा कहना तो यथार्थ है, मैं अन्दर से तो सब कुछ जानता और मानता हूँ, और यह भी सत्य है कि मुझे जो कुछ शास्त्र द्वारा सत्य प्रतीत हुआ उसे प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करना चाहिये था, परन्तु क्या करूं ? अब वृद्ध हो गया हूँ आयु का बहुत सा भाग व्यतीत हो चुका है-थोडा सा बाकी रह गया है, अब बाकी रही थोड़ी सी आयु में जनता को-[जिसका अधिक भाग अबोध पूर्ण है] चर्चा का समय देना भी मुझे कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, और फिर आत्मा का उद्धार तो अपनी अन्तरग शुद्ध भावना पर ही निर्भर करता है जिसे कि मैं बनते सुधी अपना रहा हूँ। हां यदि तुम्हारे जैसा सत्यप्रिय शक्तिशाली और निर्भय व्यक्ति आज से दश बीस वर्ष पहले कोई सहायक रूप में मिल जाता तो सम्भव था कि रत्नचन्द इस रूप में तुमको दिखाई न भी देता जिस रूप में तुम उसे आज देख रहे हो। अब तो मैं इतने में ही सन्तोष मान रहा हूँ कि मेरी अन्तरंग श्रद्धा सुरक्षित है। और तुम्हारे जैसे अधिकारी पुरुष के सन्मुख उसे व्यक्त करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता।

आत्मारामजी—अच्छा महाराज ! "गई सो गई अब राख रही को" इस कहावत के अनुसार यदि अब भी आप तैयार हों तो मैं हर प्रकार से आपकी सेवा करने को कटिबद्ध हूँ।

श्री रत्नचन्द्रजी—भाई ! तुमपर मुझे पूरा विश्वास है और तुम जो कुछ कहते हो उसे अवश्य पूरा करोगे परन्तु पहले तुम अपने आपको तो टटोलकर देखो तुम इस वक्त कितने तैयार हो ?

आत्मारामजी—महाराज ! यह तो भविष्य बतलायेगा, पता नहीं ज्ञानी ने क्या देखा है ? मगर अब तो मैं भी अपने को पूर्ण रूप से तैयार नहीं देखता, हां यदि आपश्री का आशीर्वाद मेरे साथ रहा तो मैं एक न एकदिन उस मार्ग का मूर्तरूप में अवश्य अनुसरण करने का सफल प्रयास करूंगा।

श्रीरत्नचन्द्रजी—बस यही मैं चाहता हूँ-मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है और तुम निर्भय होकर जैन धर्म की वास्तविक स्वरूप से प्ररूपणा करनेका श्रेय प्राप्त करो यही मेरी सदिच्छा है। और वास्तव में मैने इसी

सद्भावना से तुमको अभ्यास कराने का प्रयत्न किया है। मेरी अन्तर्गत सद्भावना को तुम्हारे हाथ से मूर्त स्वरूप प्राप्त होने की मुझे पूर्ण आशा है।

आत्मारामजी—आपने मुझे जिस हित-बुद्धि से जैन धर्म का मर्म समझाने की कृपा की है और आज मुझे आपसे जो आशीर्वाद मिला है उससे मेरी आत्मा में रही सही कमजोरी भी जाती रही। अब मुझे अपने आगामी जीवन का कार्यक्रम बनाने में कोई अडचन नहीं रहेगी।

इसके अतिरिक्त मेरी इच्छा तो अभी कुछ समय और आपकी सेवा में बिताने की थी परन्तु गुरुजी की आज्ञा जल्दी से जल्दी पंजाब पहुँचने के लिये आई है अतः आपसे पृथक् होने के लिये विवश हो रहा हूँ। कृपा भाव बनाये रक्खे। इतना कहकर आप वहां से बिदा हो गये पंजाब के लिये।

अध्याय ६

मानसिक परिवर्तन

आगरे का चातुर्मास श्री आत्मारामजी के लिये जीनव में एक नये अध्याय का आरम्भिक प्रमाणित हुआ। मुनि श्री रत्नचन्द्रजी के सम्पर्क में आने के बाद निरन्तर किये गये शास्त्रीय पर्यालोचन से उनके विवेक चक्षु उघड़े और वस्तु-तत्त्व के यथार्थ-स्वरूप का उन्हें स्पष्ट भान होने लगा। यद्यपि श्री आत्मारामजी को इससे पूर्व ही आगमों के विशिष्ट अभ्यास और उनपर लिखीगई भद्रबाहुस्वामी जैसे चतुर्दश पूर्वधारी की निर्युक्ति एवं पूर्वाचार्यों की चूर्णि, भाष्य और टीकाओं के सम्यक् पर्यालोचन से यह निश्चय हो चुका था कि मैं जिस मत में दीक्षित हुआ हूँ उसका प्राचीन श्वेताम्बर जैन परम्परा अथवा वीर परम्परा से शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से कोई भी मेल नहीं खाता। इसलिये प्राचीन जैन परम्परा का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाली कोई दूसरी साधु संस्था है या होनी चाहिये। जिसकी वेष भूषा और आचार विचार प्राचीन श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार हो। फिर भी आपने अपने इन विचारों को तबतक अन्तिम स्वरूप नहीं दिया जब तक कि अपनी सम्प्रदाय के एक विशिष्ट विद्वान् से इस सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति से पूरा पूरा निर्णय नहीं कर लिया। मुनि श्री रत्नचन्द्रजी के पुण्य सहवास में प्राप्त हुए सद्बोध से श्री आत्मारामजी का मानस हंस ढूंढक पंथ या स्थानकवासी सम्प्रदाय के कीचपूर्ण जलाशय की उपासना से पराङ्मुख होकर प्राचीन शुद्ध सनातन जैन परम्परा के निर्मल मानसरोवर में रमण करने लगा और उसी की सतत उपासना मे आत्महित का सुखद स्वप्न देखने लगा।

यद्यपि साम्प्रदायिक वातावरण मे उझरे और पुष्ट हुए मानस को एकदम बदलना चिरकाल से बहते हुए नदी के प्रवाह को बदलने के समान अत्यन्त कठिन तो होता है, परन्तु अशक्य नहीं होता, सत्यगवेषक धीर पुरुष के लिये यह इतना कठिन नहीं जितना कि साम्प्रदायिक मोह से व्याप्त मानस वाले किसी दुर्बलात्मा के लिये है।

श्री आत्मारामजी ने चिरकाल से मनमें बसे हुए साम्प्रदायिक संस्कारों को आत्मप्रगति के प्रतिकूल समझते हुए उन्हें अपनाने की अपेक्षा त्याग देना ही उचित समझा और शास्त्रीय दृष्टि से जो सत्य उन्हें भान हुआ उसको ही जीवन का संगी बनाने का उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। और श्री रत्नचन्दजी के चलते समय कहे हुए सुनहरी वचनों—["तुमने आज से लेकर जिनप्रतिमा की कभी निन्दा नहीं करनी, अपवित्र हाथों से कभी शास्त्र को स्पर्श नहीं करना, और अपने पास सदा दंडा रखना"] को हृदय प्रदेश पर अंकित करते हुए गुरुजी के प्रबल अनुरोध से इच्छा न रहते हुए भी आगरे से पंजाब की ओर प्रस्थान किया।

अध्याय ७

सत्य-प्ररूपणा की ओर

—— ❀ ——

आगरे से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते और धर्मोपदेश देते हुए श्री आत्मारामजी देहली पहुँचे। इस समय आपका वेष तो ढूंढक पंथ का ही था परन्तु मानस आपका सर्वेसर्वा विशुद्ध जैन धर्म का अनुगामी वन चुका था।

शास्त्रीय दृष्टि और तटस्थ मनोवृत्ति से अवगत किये हुए सत्य की प्ररूपणा का संकल्प करके ही आपने आगरे से प्रस्थान किया था।

देहली में पधारने के वाद पूज्य अमरसिंहजी के शिष्य श्री विश्नचन्द और चम्पालालजी आदि कई एक साधुओं ने सप्रेम आपसे भेट की और सविनय प्रार्थना की-कि महाराज! आपने आगरे में श्री रत्नचन्दजी महाराज के पास रहकर जो अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया है उसमे से कुछ हम लोगों को भी प्रदान करने की कृपा करें।

आत्मारामजी—भाइयो! तुम्हारी सप्रेम प्रार्थना का तो मै स्वागत करता हूॅ परन्तु तुम्हारे आचार विचार का मेरे आचार विचार से अव मेल नहीं खायगा। यह सुनकर आश्चर्य चकित होते हुए श्री विश्नचन्दजी ने कहा-कि महाराज! आज से पहले तो आपने हम लोगों से ऐसी जुदायगी की कभी कोई वात नहीं कही, आज आप ऐसे क्यों फरमा रहे हो?

आत्मारामजी— सुनो! पहले मेरे जो विचार थे उनको मैंने अपने मनमे ही रक्खा, किसी के आगे प्रकट नहीं किया, परन्तु अव मुनि श्री रत्नचन्दजी के सहवास में रहकर तटस्थ मनोवृत्ति से किये गये शास्त्राभ्यास से प्राप्त हुए यथार्थ वोध के कारण सत्य की प्ररूपणा करने में अव मै स्वतंत्र एवं निर्भय होगया हूॅ। इसलिये अव मुझे शास्त्रीय दृष्टि से प्राप्त हुए सत्य को व्यक्त करने में किसी प्रकार का भी संकोच नहीं है। और यदि तुमने मेरे से पढ़ना है तो आज से प्रथम इस वात का प्रण करो कि "हम अपवित्र हाथों से शास्त्र का स्पर्श नहीं करेंगे" तात्पर्य कि अपनी चिरकाल की पडी हुई आदत के अनुसार मात्रा से अशुद्ध हुए हाथ से

पुस्तक का स्पर्श न करना स्वीकार करोगे तब मैं तुम लोगों को पढ़ाना स्वीकार करूंगा अन्यथा नहीं। आपकी इस बात को सुनकर विश्नचन्दजी आदि सब साधु चुप करगये किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया तब आपने फिर कहा–कि तुम लोग अपने स्थान पर जाकर मेरी इस सूचना पर शान्ति से विचार करो, तुम्हारे को यदि उचित लगे और उसके आचरण करने में तुम्हारे मन में किसी प्रकार का संकोच न हो तो खुशी से पढ़ने के लिये आजाओ, मैं बड़ी प्रसन्नता से तुम्हारे को पढ़ाऊंगा।

श्री आत्मारामजी के उक्त कथन को सुनकर वन्दना करके सब साधु अपने स्थान–उपाश्रय में चले गये, वहां जाकर श्री आत्मारामजी के कथन को ध्यान में लेते हुए विश्नचन्दजी मन में सोचने लगे–कि आत्मारामजी की श्रद्धा तो अब निस्सन्देह बदली हुई प्रतीत होती है। अब आत्मारामजी वोह नहीं जो कुछ समय पहले थे, ऊपर से तो भले पहले जैसे ही दिखाई देते हैं परन्तु अन्दर से तो न मालूम कितने बदल गये हैं। मगर हमको तो पढ़ना है, ऐसे उदार मन के पढ़ाने वाले मिलने बहुत कठिन हैं। अपने मन के उक्त विचार जब विश्नचन्दजी ने चम्पालालजी आदि साधुओं से कह सुनाये तब चम्पालालजी बोले–इसमें अधिक ऊहापोह करने की क्या आवश्यकता है ये हम से अधिक ज्ञानवान हैं और हमने इनसे ज्ञान प्राप्त करना है तो फिर ये जैसी आज्ञा करे उसे शिरोधार्य करना चाहिये। अब रही श्रद्धा की बात सो उसका भी धीरे धीरे सब भेद खुल जायगा। और जब हम उनको अपनी अपेक्षा हर एक बात में अधिक समझते हैं एवं उनके पास से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तो उनके विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिये वे जो कुछ फरमावें उसपर ठंडे दिल से विचार करना चाहिये और यदि वह मन में उतरे तो उसे अपनाने में भी संकोच नहीं करना चाहिये।

चम्पालाल जी के इस संभाषण से विश्नचन्द जी के मनको प्रोत्साहन मिला और दोनों एक दूसरे से सहमत हो गये। दूसरे दिन दोनों श्री आत्माराम जी के पास आये और सविधि वन्दना करके बोले—महाराज ! आप श्री की आज्ञा शिरोधार्य है हम आज से लेकर अपने अपवित्र हाथ शास्त्र को नहीं लगायें गे। आप कृपा, करके हमारा पठन पाठन आरम्भ करावें आप श्री के चरणों में रहकर ज्ञानाभ्यास करने की हमारी तीव्र इच्छा है।

श्री विश्नचन्द और चम्पालाल जी की बात को सुनकर आत्माराम जी मन में–"ये दोनों व्यक्ति सरल स्वभावी अतएव तरणहार प्रतीत होते हैं और विनीत भी हैं, यदि पठन पाठन करते कराते इनके भी विवेक चक्षु उघड़ आवें, और मेरी तरह इनकी श्रद्धा में भी निर्मलता आजावे तो अधिकांश लाभ की ही संभावना है। ऐसा विचार करने के अनन्तर बोले—अच्छा भाई तुम पढ़ो और पढ़ते समय किसी प्रकार की शंका या सन्देह हो तो उसके पूछने में किसीप्रकार का संकोच नहीं करना। हम लोगों ने आत्म–कल्याण के लिये गृहस्थपने को त्यागकर साधु–धर्म को अंगीकार किया है। वीतरागदेव के धर्म में बतलाये गये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतों का सम्यग् अनुष्ठान ही साधु जीवन का मौलिक आदर्श है।

इन्हीं के सम्यग् अनुष्ठान से यह संसारी आत्मा विकासोन्मुख होता हुआ किसी एक दिन अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करलेता है। तत्त्वगवेषणा और आत्म चिन्तन के लिये संकीर्ण मनोवृत्ति का परित्याग और उदार अथच अनाग्रही मनोवृत्ति में अनुराग करना पड़ता है। शास्त्रों के रहस्य पूर्ण गंभीर आशय को समझने के लिये विवेकपूर्ण मनोयोग की आवश्यकता है, शास्त्र के केवल शुद्धाशुद्ध मुखपाठ और उस के विना सिरपैर के बतालाये हुए उलटे सीधे अर्थ को तोते की तरह रट लेने मात्र से न तो वस्तु तत्त्व का यथार्थ भान होता है और नाही उससे अत्मगुणों के विकास में किसी तरह की सहायता मिलती है, और विपरीत इसके जिज्ञासु की मनोवृत्ति मे विकास प्रतिद्वन्द्वी संकीर्णता उत्पन्न होजाती है। फलस्वरूप साधक के मनमे ऐसे संस्कार घर कर जाते है कि फिर उनका वहां से निकलना या निकालना कठिन ही नहीं अत्यन्त कठिन हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जैसे मलीन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता उसी तरह अमुक प्रकार के संस्कारों से वासित हुए साधक के मलयुक्त अन्त-करण पर सत्य की छाप नहीं लगती, यदि लगती है तो बहुत कम जो कि उसकी मलिनता में ही तिरोहित हो जाती है।

हम लोग धर्म मार्ग के जिस वायु मंडल में विचरते हैं, वह इतना शुद्ध नहीं जितना कि हमने उसे समझ रक्खा है, उसमे मलिनता की अपेक्षा स्वच्छता कम और प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार अधिक है। इसी प्रकार हमारी श्रद्धा का निर्माण जिस मनोवृत्ति के आश्रित है वह भी अत्यन्त संकुचित, दुराग्रही अथच भ्रान्त है। इसलिये उसके आधार पर सुनिश्चित किये गये धार्मिक सिद्धान्त भी अधूरे अथच भ्रान्त हैं। दुराग्रही मनोवृत्ति ने श्रद्धा की परिधि को इतना सीमित और कुंठित कर दिया है कि वह निर्जीवसी बनकर रह गयी है। उसमे गति होते हुए भी प्रगति दिखाई नहीं देती, फलस्वरूप सतत क्रियाशील होने पर भी हम कोल्हू के बैल की तहर जब भी देखते हैं अपने को उसी स्थानपर खड़ा पाते हैं। हमारी मनोवृत्ति के पीछे ज्ञान का जो प्रकाश है वह बहुत मन्द है। इसलिये आग्रह की दलदल में फंसी हुई मनोवृत्ति को येन केन उपायेन वहां से निकालकर उदारता की विशाल भूमि पर प्रतिष्ठित करने का यत्न करना चाहिये। तथ्यगवेषक और सत्य के पक्षपाती व्यक्ति का मानस सदा उदार और अनाग्रही होता है और होना चाहिये, तभी वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। सारांश कि यदि तुम लोगों ने मेरे से आगमों का अभ्यास करना है तो सब से प्रथम अपनी मनोवृत्ति को शुद्ध करने का यत्न करो, तुम लोगों ने शास्त्रों के विकृत स्वाध्याय से देव गुरु और धर्म के स्वरूप में जो धारणा बना रक्खी है उसे या तो अपने हृदय प्रदेश से निकाल दो और या उसे सर्वथा भूल जाओ! उसके अनन्तर आगमों के समुचित अभ्यास से तुम्हें जो सत्य प्रतीत हो उसी को सर्वेसर्वा अपनाने का भरसक प्रयत्न करो। बस, शास्त्राभ्यास का आरम्भ करने से पूर्व यही सारगर्भित सूचना मैंने तुमसे करनी थी सो करदी।

मुनि श्री आत्माराम जी के उक्त वचनों से दोनों व्यक्ति (श्री विशनचन्द और चम्पालाल जी) बड़े प्रभावित हुए और नतमस्तक होकर कहने लगे—महाराज! हम तो इस समय "कि कर्तव्य विमूढ़" से बनगये

हैं, आपके समक्ष कुछ भी बोलने का हममें साहस नहीं, बड़े संकोच से केवल इतना ही अर्ज करते हैं कि आप जो कुछ भी फरमावेंगे उसे हम बड़ी श्रद्धा पूर्वक सुनेंगे और उसे अपने हृदय में पूरा २ स्थान देने का प्रयत्न करेंगे। हमारे किसी पूर्वभव के पुण्यकर्म का ही यह शुभोदय है कि आप जैसे चारित्रशील विशिष्ट-ज्ञानवान का हमें सहयोग प्राप्त हुआ है।

इतना वार्तालाप होने के बाद प्रतिदिन निरन्तर पठन पाठन चलने लगा। एक दिन स्थानांग सूत्र का स्वाध्याय कराते समय उसके निम्नलिखित पाठ पर बड़ी मनोरंजक चर्चा हुई जिसका विवरण इस प्रकार है—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स णवगणा होत्था तं जहा—१ गोदासेगणे २ उत्तरबलिस्स गणे ३ उद्देहगणे ४ चारणगणे ५ उद्दवाडियगणे ६ विस्सवाडियगणे ७ कामड्ढियगणे ८ माणवगणे ९ कोडियगणे" [स्था० ३३. ९ ठा० सू० ६८०]

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के नव गण हुए यथा १ गोदासगण २ उत्तर वलिस्सगण ३ उद्देहगण ४ चारणगण ५ उद्दवाडियगण ६ विस्सवाड़ियगण ७ कामड्ढियगण ८ माणवगण और ९ कोटिक-गण।

स्थानांग सूत्र के उपर्युक्तपाठ के अर्थ का ध्यान पूर्वक पर्यालोचन करते हुए श्री चम्पालाल जी अपने गुरु श्री विश्नचन्द जी से बोले कि महाराज! इस सूत्र पाठ में श्रमण भगवान् महावीर के नौ गच्छों का उल्लेख किया है, परन्तु अपने जिस गच्छ के कहे व माने जाते हैं उसकी तो इसमें गन्ध तक भी नहीं है? तब अपने सम्प्रदाय की गच्छ सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रीय समझना या कि शास्त्रविरुद्ध मनःकल्पित?

श्री विश्नचन्दजी—भाई! परसों मैंने भी इस पाठ को देखा था इसके अर्थ की ओर ध्यान देते हुए मुझे भी यही सन्देह हुआ था, जिसका तुमने अभी जिकर किया है। इस पाठ से तो अपनी परम्परा भगवान महावीर की परम्परा से अलग ही प्रतीत होती है। परन्तु इस बात का यथार्थ निर्णय तो महाराज श्री आत्मारामजी के पास चलकर ही हो सकेगा। कारण कि उनके समान छान बीन करने वाला इस समय हमारे पंथ में दूसरा कोई मुनिराज नहीं है। चलो उन्हीं के पास चलकर इस बात का निश्चय करें।

आहा! सत्संग का कितना मीठा परिणाम? जिस पाठ को चम्पालाल और विश्नचन्दजी ने इससे पहले कईबार देखा पढ़ा और सुना परन्तु उसके रहस्य पूर्ण परमार्थ की ओर कभी ध्यान नहीं गया। जब से इन्हें श्री आत्मारामजी के पुण्य सहवास का सद्भाग्य प्राप्त हुआ तब से इनकी मलिन मनोवृत्ति में भी प्रकाश की रेखा का उद्गम होने लगा। सत्संग की कितनी महिमा? तभी तो कहा है "सतां संगोहि भेषजम्।" दोनों गुरु शिष्य उक्त विषय के निर्णयार्थ श्री आत्मारामजी के पास पहुंचे। सविधि वन्दना के अनन्तर—

महाराज! ठाणांगसूत्र में श्रमण भगवान महावीर स्वामी के जो नौ गच्छ कहे हैं उनमें से अपना गच्छ कौनसा है? चम्पालाल जी ने सहज नम्रता से पूछा।

श्री आत्मारामजी—कोई भी नहीं। गम्भीरता भरे शब्दों में यह उत्तर दिया।

चम्पालालजी—(जरा उत्तेजित होकर) तो क्या हमारा यह पंथ संमूर्छिम है ?

श्री आत्मारामजी—(सहज हास्योक्ति में) ऐसा ही समझलो ?

श्री विश्नचन्दजी—महाराज ! हम जिज्ञासु हैं जिज्ञासाबुद्धि से पूछ रहे हैं इसमें जो तथ्य हो उसे आप स्पष्ट शब्दों में कहने की कृपा करें।

श्री आत्मारामजी—गुरु शिष्य दोनों को सम्बोधिक करते हुए बोले—भाई ! वस्तुस्थिति तो यह है कि अपने इस ढूंढक मत का श्रमण भगवान् महावीर की उक्त गच्छ परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं। हम लोग अपनी गच्छ परम्परा को जिस पट्टावली के आधार पर भगवान् महावीर स्वामी के साथ जोड़ रहे हैं वह बिलकुल बनावटी, मनः कल्पित और झूठी है। उसमें प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता का लेशमात्र भी अंश दिखाई नहीं देता।

चम्पालालजी—तो हमारे इस पंथ का प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ ?

श्री आत्मारामजी—हमारे इस मत के मूल पुरुष तो लौंकाशाह नाम के एक श्रीमाली गृहस्थ की शिष्य परम्परा में होने वाले 'लवजी' नामा एक यति हैं। आप सब उसी की परम्परा में आते हैं। अपने सब प्रतिक्रमण के अनन्तर यही तो बोलते है कि–"प्रथम साध लवजी भया" फिर अपने इस पंथ का मूल पुरुष लवजी है, इसमें शंका की कौनसी बात रहजाती है। लवजी सूरत के रहने वाला दशा श्रीमाली वणिक था, उसने लौंका गच्छ की परम्परा के बजरंग यति के पास दीक्षा ग्रहण की। कुछ दिनों बाद किसी बात पर झगड़ा हो जाने के कारण वह अपने गुरुजी से अलग होकर विचरने लगा और मुखपर मुंहपत्ति बान्धली। कुछ दिनों के अनन्तर उसके साथ दो चार व्यक्ति और आ मिले। जैन परम्परा के साधु वेष से भिन्न प्रकार का वेष देखकर जब किसी गृहस्थ ने उन्हें रहने के लिये स्थान न दिया तो लवजी एक टूटे हुए मकान मे रहने लगा। गुजरात काठियावाड़ मे टूटे फूटे मकान को ढुढ कहते हैं। ऐसे मकान मे रहने के कारण लोग उसे ढुंढिया कहने लगे। उसी लवजी की परंपरा में होने से हमें भी लोग ढुंढिया कहते और हमारे पंथ को ढुंढक पंथ के नाम से पुकारते हैं। लौंका गच्छ का मूल पुरुष लौंका शाह नाम का एक वणिक गृहस्थ था उसी ने जैन परपरा मे सब से प्रथम मूर्ति उपासना का विरोध किया। इससे प्रथम जैन परम्परा मे किसी ने भी मूर्तिपूजा के विरोध में कुछ नहीं कहा। इस विषय के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश किसी और दिन मे डाला जावेगा। तात्पर्य कि हमारे ढूंढक मत के आद्य–आचार्य लवजी हैं न कि श्रमण भगवान् महावीर। उनका तो हम लोग केवल नाम मात्र रटते हैं। और वास्तव मे देखा जाय तो निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से विख्यात उनकी द्वादशांगी वाणी में साधु का जो वेष वर्णन किया है उससे हमारा यह साधु वेष बिलकुल विपरीत है। इस पर भी हम लोग

अपने को वीर भगवान की साधु परम्परा के अनुगामी कहें व मानें तो यह एक प्रकार की धृष्टता नहीं तो और क्या है।

महाराज श्री आत्मारामजी के उक्त कथन का श्री चम्पालाल जी के ऊपर बहुत प्रभाव पडा। वे अपने गुरु श्री विशनचन्दजी से बोले—गुरुदेव! हम तो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन की अविच्छिन्न परम्परा समझकर इस मत में दीक्षित हुए हैं लौंका या लवजी की परम्परा समझकर नहीं। इसलिये आप अब इसका अच्छी तरह से निर्णय कर लेवें। जो बात सत्य प्रमाणित हो उसे स्वीकार करना चाहिये और उसीके अनुसार ही वर्तन करना चाहिये। हम तो सर्वज्ञ भाषित धर्म के अनुयायी हैं और रहेंगे, यदि वास्तव में हमारा यह पंथ सर्वज्ञ भाषित धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करता तो हमारा इसको दूर से नमस्कार। जो पंथ लगभग दो अढ़ाई सौ वर्ष से किसी अमुक छद्मस्थ पुरुष का चलाया हुआ प्रमाणित हो एवं जिसके प्रवर्तक या जन्मदाता अमुक गृहस्थ या यति हों उसे सर्वज्ञ भाषित धर्म समझ कर उसमें किसी अमुक ममत्व के कारण टिके रहना क्या मूर्खता की पराकाष्ठा नहीं? कुछ क्षण चुप रहकर चम्पालालजी फिर बोले—क्या महाराज! सचमुच ही हमारे इस ढूंढक पंथ का श्रमण भगवान् महावीर की परंपरा से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं?

आत्मारामजी—नहीं बिलकुल नहीं, यदि होता तो वीर भगवान् की गच्छ परम्परा में इसका किसी न किसी प्रकार से निर्देश अवश्य होता।

चम्पालालजी—तो क्या अपने पंथ के बड़ों ने जो पट्टावली लिखी है वह झूठी है?

आत्मारामजी—बिलकुल झूठी और मन घडंत है। उसकी सत्यता के लिये एक भी शास्त्रीय या ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। फिर इसे किस प्रमाण के आधार पर सत्य माना जाय।

चम्पालालजी—तो क्या आज तक हम लोग अंधेरे में ही भटकते फिरते रहे?

आत्मारामजी—बेशक! अन्धेरे में भटकते ही नहीं रहे बल्कि इस अन्धकार को प्रकाश का ही रूप समझते और मानते रहे। आज से कुछ समय पहले मैं भी इस अन्धकार बहुल पन्थ को उज्वल प्रकाश दाता समझने की निबड़ भूल करता रहा परन्तु जब मैंने कुछ पढ़ लिख कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का पंचांगी सहित अभ्यास किया और मुनि श्री रत्नचन्दजी जैसे उदार-वृत्ति के विद्वान साधुओं के पुण्य सहवास में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मेरी आंखें खुली तब मुझे इस पन्थ के वास्तविक स्वरूप का भान हुआ। इस समय मेरा वेष तो बेशक ढूंढक पन्थ का है परन्तु हृदय मेरा सर्वज्ञ भाषित सत्य सनातन धर्म का ही एकमात्र पुजारी बना हुआ है। और इसी सत्य धर्म की प्ररूपणा में अपने शेष जीवन को लगाने की प्रतिज्ञा करके मैंने आगरे से प्रस्थान किया है। यह सुनकर चम्पालालजी अभी कुछ बोलने को ही थे कि आपने फिर कहा—भाई चम्पालाल! तेरा गुरु-विशनचन्द ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय और तू वैश्य है। हम तीनों का ही पवित्र और प्रतिष्ठित कुल मे जन्म हुआ है। लौकिक व्यवहार में ये तीनों एक दूसरे के सहयोगी अथच सहायक हैं, और वैदिक परिभाषा में इन तीनों

की द्विज संज्ञा का तात्पर्य भी इसी में निहित जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को क्रमशः मुख, वाहु और जानु या उदर के नाम से अभिहित किया है। तो जैसे मुख वाहु और जंघा ये तीनों ही संमिलित रूप से शरीर की रक्षा करते उसे पुष्टि और प्रगति देते हैं, वैसे ही कर्तव्य निष्ठा को ध्यान में रखती हुई हमारी यह त्रिपुटी अपने आसन्नोपकारी वीर प्रभु के शासन की सच्ची प्रभावना करने, उसे पुष्टि देने और प्रगति में लाने का श्रेय प्राप्त न कर सकेगी ? मुझे तो विश्वास ही नहीं किन्तु दृढ़ निश्चय है कि हम इसमें अवश्य सफल मनोरथ होंगे। मुझे तो वह दिन अधिक दूर दिखाई नहीं देता जब कि सैकड़ों नहीं-वल्कि हजारों भूले भटके प्राणी श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध परम्परा में दीक्षित होकर सत्य सनातन जैन धर्म की विजय वैजयंती को इसी पंजाब भूमि में फिर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उपार्जित करेंगे। और पंजाब प्रान्त से गई हुई जैन श्री को फिर से लाकर उसके अनुरूप उच्च सिंहासन पर आरूढ़ करके धर्म-निष्ठ मानवोचित गौरव प्राप्त करेंगे। यह सब कुछ सत्य को आभारी होगा, उसी के वल पर कर्तव्य परायण होकर मैं इस कार्य क्षेत्र में उतरा हूँ परन्तु अभी गुप्त रूप में। प्रत्यक्ष के लिये तो कुछ समय लगेगा।

विश्नचन्दजी—गुरुदेव ! आज आपने हम लोगों को जो सन्मार्ग दिखाया है, उसके लिये हम आपके आजन्म कृतज्ञ रहेंगे। आपने हमारे पर जो कृपा की है उसका कथन हमारी वचन शक्ति से वाहर है, आप स्वयं सबकुछ हैं, आपकी विशिष्ट ज्ञान शक्ति, वीरोचित साहस और अनुपम चारित्र निष्ठा आदि सद्गुणों के विशिष्ट प्रभाव से ही सर्व अभीष्ट सिद्ध होगा, हमारा साहाय्य तो विलकुल नगण्यसा है, यह आप श्री की हम पर असीम कृपा है जो हमें सहायक समझ रहे हैं।

चम्पालालजी—(कुछ उग्र शब्दों में) यदि ऐसा ही है तो इस झूटे प्रपंच में फंसे रहने का क्या मतलब ? गुरुदेव !

आत्मारामजी—समय की प्रतीक्षा करो ! अनुकूल समय आने पर सब कुछ ठीक हो जावेगा समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर ही सफलता और विफलता निर्भर करती है। अभी तो तुम्हें और वहुत कुछ सोचना समझना है। पहले अपने ज्ञानाभ्यास को परिपक्व करो, और वस्तु स्थिति का सम्यक् पर्यालोचन करो। इतनी शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं, हर एक विषय पर ठंडे मन से विचार करने की आवश्यकता है। इसलिये आज तो तुम दया पालो कल के स्वाध्याय मे फिर विचार किया जावेगा।

महाराज श्री आत्मारामजी के इन वचनों को सुनकर प्रसन्न चित दोनों गुरु शिष्य वन्दना करके वहां से विदा हुए और मन ही मन में आपकी साधु गुण सन्तति की प्रशंसा करते हुए अपने उपाश्रय में पहुंच गये।

अध्याय ८

मूर्तिपूजा की आनुषंगिक चर्चा

एक दिन दिल्ली शहर में दिगम्बर जैनों की रथयात्रा की सवारी निकल रही थी, सब से आगे महेन्द्रध्वजा थी और उसके पीछे बैंडवाजा और उसके बाद एक विशाल सुनहरी रथ में तीर्थंकर देव की दिव्य प्रतिमा विराजमान थी, साथ में प्रभु के गुणानुवाद गाते हुए सहस्रों नर नारी जारहे थे। यात्रा की सवारी का दृश्य इतना आकर्षक था कि आंखें देखते थकती नहीं थीं। जिस मकान में श्री आत्माराम जी के पास विश्नचन्द्र उनके शिष्य चम्पालाल और हाकमराय आदि साधु पढ़रहे थे उसी मकान के नीचे से रथयात्रा की वह सवारी जारही थी। उस समय श्री आत्माराम जी को सम्बोधित करते हुए चम्पालाल बोले—महाराज! क्या यह पाषंड भी आपको सच्चा लगता है?

आत्माराम जी—भाई चम्पालाल! जरा सभ्यता से बोलो? तुम अपने आपको जैन साधु मानते हो, परन्तु भाषासमिति का तुम्हें बिलकुल भान नहीं, साधु को सदा संयत भाषा का व्यवहार करना चाहिये। ये भी जैन हैं और इनकी परम्परा तुम्हारे इस ढूंढ़क पंथ से बहुत प्राचीन है।

चम्पालालजी—महाराज! यह आप क्या फर्मा रहे हैं, ये तो जड़ को मानने एवं पत्थरों को पूजने वाले, और हम चैतन्योपासक-गुण के पुजारी ठहरे।

विश्नचन्द जी—तू फिर उसी प्रकार असंयत और कठोर भाषा बोलने लगा? क्या महाराज साहिब के कहे का तुमको ध्यान नहीं रहा?

चम्पालाल जी—"मिच्छामि दुक्कडं" महाराज! क्षमाकरें मुझे ध्यान नहीं रहा। दर असल मूर्तिपूजा को हेय समझने और उस की निन्दा करने का मेरा कुछ स्वभावसा बन गया है। इसलिये मेरे मुख से ऐसे शब्द निकल गये जो कि निकालने योग्य नहीं थे।

आत्माराम जी—देख भाई चम्पालाल! मैं, तुम्हारा गुरु और तुम, हम तीनों शुरू से ही मूर्ति के मानने और पूजने वालों के वहां जन्मे हैं। तुम खंडेरवाल हो, सभी खंडेर वाल मूर्ति को मानते और पूजते

हैं। आजकल के कुछ खंडेरवाल भावड़े जो हमारे इस ढूंढक मत के अनुयायी बन गये हैं वे इस पंथ के तुम्हारे जैसे मूर्ति निन्दक साधुओं के विशेष संसर्ग में आने के कारण मूर्तिपूजा के विरोधी होते हुए भी लग्नादि प्रसंग में सम्वत्सरी के एक दिन पहले रोट बनाते और प्रतिमा का पूजन करते हैं। अगर यह बात ठीक है तो तुम्हीं बतलाओ कि तुम्हारे विचारानुसार वे खंडेरवाल भाई जड़पूजक हैं या चैतन्योपासक? वास्तव में मूर्ति पूजा क्या वस्तु है और उसकी उपासना का क्या उद्देश्य है इस परमार्थ को अपने लोगों ने अभीतक समझा ही नहीं और नाही समझने की कोशिश ही की है, केवल बिना परमार्थ के समझे लकीर के फकीर बन रहे हैं और प्रभु पूजकों को पत्थर पूजक कहकर अपनी दुराग्रह-ग्रसित संकुचित्त-मनोवृत्ति का परिचय देरहे हैं। संसार में जितने भी सम्प्रदाय मूर्ति की उपासना करते हैं वास्तव में वे जड़मूर्ति के उपासक नहीं किन्तु मूर्ति वाले इष्टदेव के उपासक हैं। संक्षेप में कहें तो कोई भी व्यक्ति मूर्ति की पूजा नहीं करता अपितु मूर्ति के द्वारा मूर्ति वाले आदर्श की पूजा करता है। इसलिये बिना सोच-विचार किये यूंही मुख से कुछ बोल देना कितना मूल्य रखता है इसका तुम स्वय ही अनुमान करो?

चम्पालाल—महाराज! है तो धृष्टता पर कहे बिना नहीं रहा जाता! पहले तो आपने कभी ऐसी बात कही नहीं, अब आगरे से वापिस आनेपर ही आप यह सब कुछ फर्मा रहे हैं, क्षमा कीजिये, मुझे तो यह सब महाराज रत्नचन्द जी की संगति का फल प्रतीत होता है जो कि "ढीले पास्थे" सुने जाते हैं।

आत्माराम जी—निस्सन्देह यही बात है, मैंने आगरे मे मुनि श्री रत्नचन्द जी महाराज के शास्त्रीय ज्ञानालोक से अपने को आलोकित करने का सद्भाग्य प्राप्त किया है। उनके चरणों में बैठकर प्राचीन भाष्य और टीका आदि के साथ निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् जैनागमों का सतत चिन्तन और मनन करने का जो अवसर प्राप्त हुआ वही मेरे साधु जीवन के इतिहास में उल्लेखनीय बहूमूल्य वस्तु है। इस पुण्य अवसर में मुझे जैन धर्म सम्बन्धी जो सत्य उपलब्ध हुआ है उसी के अनुसार जीवन का निर्माण करना तथा उस अबाधित सत्य की प्ररूपणा करना, मैंने अपने शेष जीवन का कर्तव्य निश्चित किया है। और महाराज श्रीरत्नचन्द जी जैसी विशिष्ट जैन विभूति को-"ढीले पास्थे" कहने का साहस तो तुम्हारे जैसे "ज्ञान लव दुर्विदग्ध" ही कर सकते हैं न कि कोई विशेषज्ञ भी। तथा विशुद्ध प्राचीन जैन परम्परा मे मूर्ति उपासना का क्या स्थान है एवं जैनागमों में उसका कैसा समर्थन है इस विषय की पर्यालोचना कभी फिर-अनुकूल समय आने पर की जावेगी।

चम्पालाल—महाराज! वास्तव मे ही मुझसे गुरुजनों की महती अवज्ञा हुई है। इस गुरुतर अपराध के लिये आप श्री मुझे जो प्रायश्चित दे उसे मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ? परन्तु क्या करूं? जब से मै इस पंथ में दीक्षित हुआ हूँ, अपने साथियों से मूर्ति पूजा और उसके पुजारियों की निन्दा ही सुनता आया हूँ, वही संस्कार मेरे हृदय मे घर कर गये हैं। इन्हीं संस्कारों का यह प्रभाव है कि आप जैसे विशिष्टज्ञान सम्पन्न गुरु-जनों के सामने इस प्रकार की असाधुजनोचित भाषा का व्यवहार किया है।

गुरुदेव ! आप श्री के सदुपदेश का मेरे हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ है और मैंने जो बात इस समय आपसे की है वह तो कुतूहल वश की है एवं अपने मन को दृढ़ करने की इच्छा से की है, अब भी एक बात मनमे और रही हुई है जिसके पूछने की फिर धृष्टता करता हूँ। आपको, मूर्तिपूजा करने वाले को जड़पूजक कहना कुछ उचित प्रतीत नहीं हुआ, परन्तु इसके उत्तर मे आपने अपने आपको, मेरे को और साथ में सब ढूंढक मतानुयायियों को जड़पूजक होने का उपालम्भ दिया जो कि अभीतक मेरी समझ में नहीं आया, कृपा करके इस पर कुछ प्रकाश डाले ?

आत्माराम जी—जरा ठंडे दिल से सुनो और शांति से उस पर विचार करो ? आप साधु कहलाते हो, अगर आपका मुख मुंहपत्ती से बन्धा हुआ न होवे, और पास मे [रजोहरण को हाथ में लेकर दिखाते हुए] यह रजोहरण न हो तो क्या आप या आपको साधु मानने वाले आपके भक्तजन आपको साधु मान कर वन्दना नमस्कार कर सकते हैं ?

चम्पालाल—नहीं महाराज ! कभी नहीं जिसके पास साधु का वेष न हो तो उसे साधु कैसे माना जासकता है और वन्दना नमस्कार भी कैसे की जावे ?

आत्माराम जी—तब भाई तुम ही कहो कि मुंहपत्ती और रजोहरण क्या चीज है ?जड़ है या चेतन ?

चम्पालाल—(कुछ शरमिन्दा सा हुआ हुआ) बस कृपानाथ ! मैंने आपके अभिप्राय को समझलिया, इस हिसाब से तो हम ही क्या सारी दुनिया ही जड़पूजक हो सकती है।

आत्मारामजी—तभी तो मैंने तुमसे कहा था कि वस्तु तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझे बिना साधु को एक दम मुंह से ऐसा शब्द न निकालना चाहिये जिससे दूसरे के मन को आघात पहुंचे। संसार में ऐसा कोई भी मत या पंथ नहीं जो मूर्तिपूजा का प्रतिषेध करसके। वैसे अपने कदाग्रह से कोई चाहे कुछ भी कहे यह उसको अखत्यार है। मुसलमानों को देखो—जो कि मूर्ति विरोधियों में सब से मुख्य माने जाते हैं—कुरान शरीफ का कितना अदब करते हैं, उसे खुदा का कलाम समझते और सिर पर उठाते हैं। जमीन पर नहीं धरते एव नापाक—अपवित्र हाथों से छूते नहीं। अब तुमही बतलाओ कि कुरान में सिवाय कागज और स्याही के और क्या है ? इसके अतिरिक्त मक्के में जाकर वहाँ पर रक्खे हुए संगे अस्वद को बोसा देते हैं। संगे अस्वद एक पाषाण विशेष के सिवाय और कुछ नहीं। ताजिये क्या हैं बांस और सुन्दर कागजों से तैय्यार की गई अमुक प्रकार की मूर्ति विशेष ही तो हैं, यदि कोई उसका अणु मात्र भी अपमान करदे तो शिया पक्ष के मुसलमान मरने मारने को तैय्यार हो जाते हैं। क्यों ? इसलिये कि उन ताजियों को वे अपने पूज्यपुरुष हसन हुसैन आदिकी प्रतीक समझते हैं। यही दशा ईसाइयों की है उनका एक पक्ष तो ईसा और मरियम की मूर्ति का उपासक है, दूसरा जो मूर्ति विरोधी है वह भी कुरान की भांति अंजील को खुदा का कलाम कहता हुआ उसका अधिक से अधिक सम्मान करता है। इधर अपने सिक्ख भाइयों की ओर निहारिये—कहने को तो वे भी अपने को

मूर्ति विरोधी कहते हैं परन्तु यदि कुछ गम्भीरता से उनके वर्ताव पर नज़र डाले तो वे सब से बड़े मूर्ति पूजक प्रमाणित होते हैं।

गुरुओं की वाणी रूप ग्रन्थ साहब को वे अपना परम गुरु मानते हैं अच्छे २ रेशमी रुमालों में लपेट कर उसे ऊंचे स्थान पर धरते हैं, उसके आगे मत्था टेकते और चमर ढुलाते हैं। केवल कागज और स्याही की बनीहुई इस विशाल पुस्तक रूप मूर्ति का इतना सम्मान करते हुए भी सिक्ख यदि अपने आपको मूर्ति का निषेधक कहें तो इस से अधिक उपहास्य जनक और क्या बात हो सकती है। वास्तव में देखाजाय तो कोई भी व्यक्ति मूर्ति की पूजा नहीं करता किन्तु आदर्श की उपासना करता है, मूर्ति उस आदर्श की प्रतीक मात्र है। इसलिए हर एक सिद्धान्त पर विवेकपूर्ण दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

चम्पालाल—अपने गुरु श्री विश्नचन्द जी को सम्बोधित करते हुए–कहिये गुरुदेव! आपने भी तो महाराज श्री के विचारों को सुना है, आपकी क्या सम्मति है? मुझे तो इस विषय में अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा। एवं "अपवित्र हाथों से किसी शास्त्र को नहीं छूना" आपके इस उपदेश का रहस्य भी अब समझ में आया।

विश्नचन्द जी—भाई मैं तो उसीदिन आपके आशय को समझ गया था जब आपने अपवित्र हाथों से पुस्तक के स्पर्श करने का निषेध किया था और रथयात्रा के सम्बन्ध में तुम्हारे अपशब्दों की भर्त्सना की थी। इसके अतिरिक्त तुम्हारे साथ होने वाले विचार विनिमय से तो मुझे यह निश्चय ही नहीं किन्तु दृढ विश्वास होगया है कि मूर्ति पूजा यह पत्थर की पूजा नहीं अपितु देव पूजा है जिसका और किसी समयपर शास्त्रीय स्पष्टीकरण करने का वचन भी गुरुदेव ने दे रक्खा है।

चम्पालाल जी—गुरुदेव! क्षमा कीजिये आपसे भी बात पूछे विना नहीं रहा जाता। आप, मैं और अपने दूसरे साधु जब कभी मूर्ति पूजा के विरुद्ध बोलते हुए अपने भक्तों से कहते हैं—तब यही कहते हैं—

पत्थर पूजे हर मिले तो मैं पूजूं पहाड़।
इससे तो चक्की भली, जो पीस खाय संसार॥

इसका क्या मतलब?

विश्नचन्द जी—भाई! यह कोई शास्त्र वाक्य तो नहीं, यह तो मूर्ति पूजा से विरोध रखने वाले लोगों की मनघडंत कविता है! ऐसी २ कवितायें तो जब चाहो बनालो। इसके उत्तर में मूर्ति उपासक भी एक ऐसी ही कविता बनाकर बोल देंगे जैसे—

चमड़ा पूजे हर मिले तो मैं पूजूँ चमार।
इससे तो जूती भली, जो पहन फिरे संसार॥

तात्पर्य कि जैसे तुमलोग मूर्ति के उपासकों को पत्थर पूजक कहते हो वैसे ही वे लोग तुमको चमड़ा पूजक कहने का अधिकार रखते हैं। कारण कि तुम लोग गुरुओं को मानते हो उनके शरीर की सेवा करते हो, वह शरीर चमड़े के बने हुए एक ढांचे के सिवा और क्या है? इस चमड़े के जड़ शरीर की सेवा पूजा से ही गुरुजनों की प्रसन्नता मानने वाले, प्रभु प्रतिमा के द्वारा वीतराग देव की उपासना करने वाले भक्तजनों को किस मुंह से पत्थर पूजक कहने का साहस कर सकते हैं? इसलिये जैसा कि पहले महाराज श्री ने फर्माया है कि मूर्ति पूजक मूर्ति की उपासना नहीं करते अपितु मूर्तिवाले इष्ट देव की उपासना करते हैं, मूर्ति तो उसमें केवल निमित्त है, उसके द्वारा ही उपासना सम्पन्न हो सकती है। तुम कहीं भी किसी मन्दिर में जाकर देखो वहां मूर्ति के सामने खड़े भक्त जन को–"हे देव! हे प्रभो! हे परमेश्वर!" कहते हुए ही सुनोगे न कि हे पत्थर, हे मूर्ति! ऐसे कोई कहता हुआ सुनाई देगा। तात्पर्य कि जैसे शरीर के भीतर रहे हुए आत्मा को समझने के लिये शरीर एक साधन है उसी तरह मूर्ति उपासना भी उपास्य देव को समझने और जानने के लिये एक साधन विशेष है। इसी उद्देश्य से प्राचीन जैन परम्परा में मूर्ति पूजा को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ एवं जैसे यह ऐतिहासिक है वैसे ही शास्त्रीय भी है। मेरी अन्तरात्मा ने तो इस सत्य को, अब पूर्ण रूप से अपना लिया है और मेरे हृदय में कोई सन्देह भी बाकी नहीं रहा।

श्री आत्माराम जी—विशनचन्द जी को थापी देते हुए बोले–वाह रे वाह! तुमतो वास्तव में ही सच्चे ब्राह्मण, और सच्चे पंडित निकले। तुम दोनों गुरु शिष्य के वार्तालाप से मुझे बहुत आनन्द आया। वस्तु-तत्त्व को समझने में कुछ धैर्य और शान्ति से काम लेना चाहिये। तुमलोग जैसे २ शास्त्राभ्यास से आगे बढ़ते जाओगे वैसे २ ही तुम्हारी विवेक पूर्ण मनोवृत्ति सत्य की ओर झुकती जावेगी तुम्हारे जैसे ग्रहणशील विनीत व्यक्तियों को शास्त्राभ्यास कराने का अवसर प्राप्त होना भी मेरे लिये कम गौरव की बात नहीं है।

इस वार्तालाप के समय पास में बैठे हुए श्री विशनचन्द जी के लघु शिष्य हाकमराय का हृदय आनन्दोल्लास से भरा जारहा था, उसकी मुख मुद्रा की ओर दृष्टि देते हुए श्री आत्माराम जी ने कहा–कि भाई! तुमने भी अगर कुछ पूछना है तो पूछलो, असंदिग्ध सत्य सब के लिये ग्राह्य होता है।

हाकमराय जी हाथ जोड़ कर सिर नमाते हुए बोले—कृपानाथ! आज आप श्री के सदुपदेश से मुझे तो असीम लाभ हुआ है। आज के सभाषण मे साधु जीवन की मौलिकता छिपी हुई प्रतीत होती है। आप श्री के पुण्यसहवास में न जाने और किन २ अमूल्य बातों का लाभ होगा इसी विचारणा से आज मुझे असीम हर्ष होरहा है। यद्यपि किसी बात के पूछने का कोई अवकाश तो नहीं रहा फिर भी आप श्री की आज्ञा के पालन रूप एक मौलिक विचार का स्पष्टीकरण कराने की इच्छा जाग रही है?

आप श्री ने अभी २ फर्माया था कि अपना यह ढूंढक पन्थ श्रमण भगवान् महावीर की गच्छ परम्परा में नहीं आता, तो कैसे? इसका स्पष्टीकरण करने की कृपाकरें।

श्री आत्मारामजी—इस विषय का कुछ खुलासा तो पहले किया भी गया है, शायद तुमने नहीं सुना। अपनी जो पट्टावलियां हैं वे विश्वास के योग्य नहीं हैं, उनमें जिन २ नामों का उल्लेख है उनका अस्तित्व किसी तरह से भी प्रमाणित नहीं होता वे सब कल्पना प्रसूत हैं। लोग जब हरिद्वार जाते हैं तो वहां के अनेक पंडे उनको अपना २ यजमान कहते हैं परन्तु जब तक कोई पंडा अपनी बही निकाल कर उसमें से हरिद्वार आने वाले यात्री के पिता, पितामह आदि के नाम उनके हस्ताक्षरों सहित नहीं बतला देता तब तक उसे विश्वास नहीं आता। एव किसी मृतक की सम्पत्ति पर अदालत में झगड़ने वाले व्यक्तियों में से अदालत उसीके हकमें फैसला देगी जिसका कुर्सी नामा उस मृतक से मेल खाता हो, इसलिये यदि हम अपने को भगवान महावीर की परम्परा में परिगणित करने का दावा करते हैं तो हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि हम अपनी परम्परा को अविच्छिन्न रूपसे भगवान् महावीर स्वामी तक ले जाने का कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित करें। परन्तु अपने पास तो यति लवजी से आगे अपनी परम्परा को ले जाने का कोई साधन ही नहीं, वह तो लवजी तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है। कारण कि जैन परम्परा में सबसे प्रथम डोरा डालकर मुख पर दिन रात पट्टी बांध रखने की प्रथा लवजी ने ही चलाई है इससे पूर्व जैन परम्परा में इस प्रथा का नामों-निशान भी नहीं था। लवजी लौंकागच्छ की परम्परा मे होने वाले साधु बजरंगजी के शिष्य थे। बजरंगजी को सारा दिन मुंह बान्धे रखना स्वीकार नहीं था और नाही उसके गच्छ वाले बान्धते थे। गुरु से किसी बात पर झगड़ा हो जाने से लवजी उनसे अलग हो गये और दिन भर मुख बान्ध रखने की प्रथा आरम्भ करदी। इसलिये हमारी परम्परा का साक्षात् सम्बन्ध तो लवजी से है न कि भगवान महावीर स्वामी से। यह एक सोचा समझा हुआ ऐतिहासिक तथ्य है जिसे किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं किया जा सकता। और लवजी के गुरु बजरंगजी जिस लौंका गच्छ के यति थे वह गच्छ भी लौंकाशाह नाम के एक गृहस्थ से विक्रम की सोलवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ और मूर्ति पूजा का विरोध भी जैन परम्परा मे उसी से आरम्भ हुआ इससे पहले जैन परम्परा में मूर्ति पूजा के विरुद्ध किसी जैन आचार्य ने एक शब्द भी कहा या एक अक्षर भी लिखा हो ऐसा किसी भी शास्त्रीय या ऐतिहासिक प्रमाण से साबित नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में हमारा यह ढूंढक पंथ अधिक से अधिक लौंकाशाह तक ही पहुंच सकता है इसके आगे उसकी गति नहीं। लौंका ने मूर्ति का विरोध किया, हम भी मूर्ति के विरोधी हैं, और लवजी ने मुंह बान्धना शुरु किया, हम भी—[जैसे कि तुम देख रहे हो] सर्वे सर्वा उसी का अनुकरण ही कर रहे हैं। इसलिये वस्तु स्थिति का यदि तटस्थ मनोवृत्ति से विचार किया जाय तो हमारे इस पंथ के मूल पुरुष लौंका और लवजी हैं न कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी।

हाकमराय—हाथ जोड़ कर—कृपा नाथ! आपके वक्तव्य मे यह तो सुनिश्चित हो गया कि अपने पंथ का सम्बन्ध श्रमण भगवान् महावीर से नहीं किन्तु लौका या लवजी से है, तो क्या भगवान् महावीर का शासन विच्छिन्न हो गया? ऐसा तो माना नहीं जा सकता कारण कि श्री भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के

प्रश्न के उत्तर में भगवान स्वयं फर्माते हैं—गौतम ! मेरा यह शासन २१००० वर्ष अर्थात् पांचवें आरे के अन्त तक चलेगा ?*

आत्मारामजी—तुम्हारे इस कथन का आशय तो यह प्रतीत होता है कि तुम एक मात्र अपने को ही जैन समझते हो ? अथवा यूं कहिये कि तुम्हें अपनी इस परम्परा के अतिरिक्त और कोई दूसरी जैन परम्परा ही दिखाई नहीं देती ?

हाकमराय— हां महाराज ! बात तो ऐसी ही है, आज तक तो यही समझता रहा कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के धर्म का यथावत अनुसरण करने वाले एक मात्र हम ही हैं।

आत्माराम जी—नहीं भाई ! ऐसा नहीं—एक और भी जैन परम्परा है जो हमसे बहुत प्राचीन है। वीर निर्वाण ६०६ [वि० सं० १३६] से पूर्व यह परम्परा एक अथच अविभक्त थी। उसके बाद इसमें दो विभाग हो गये जो कि एक दिगम्बर दूसरे श्वेताम्बर के नाम से आज विख्यात हैं। दिगम्बर मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण से ६०६ वि० सं० १३६ में श्वेताम्बर मत या परम्परा का जन्म हुआ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वीर निर्वाण से ६०९ वि० सं०.१३९ वर्ष में दिगम्बर मत की उत्पत्ति हुई कही जाती है। इन दोनों की मान्यता में केवल तीन वर्ष का अन्तर है। अर्थात् वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष पूर्व तो ये दोनों परम्परा एक अथच अभिन्न केवल जैन परम्परा या वीर परम्परा के नाम से प्रसिद्ध थी। वीर परम्परा की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों शाखाओं में मूर्ति पूजा को असाधारण स्थान प्राप्त है अर्थात् दोनों ही मूर्ति पूजक हैं। इसके अतिरिक्त जब से ये दोनों विभिन्न नामों से अस्तित्व में आई तब से इनकी पट्टावलियां भी जुदी २ निर्मित हुई जो कि श्वेताम्बर पट्टावली और दिगम्बर पट्टावली के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन पट्टावलियों में अमुक २ सम्वत् में अमुक २ आचार्य हुए उन्होंने अमुक २ सम्वत् में अमुक २ क्षेत्र में देव मंदिर की प्रतिष्ठा कराई, अमुक २ जिन प्रतिमा की स्थापना कराई, एवं अमुक सम्वत् में अमुक ग्रन्थ की रचना की तथा अमुक सम्वत् में अमुक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य के साथ शास्त्रार्थ किया इत्यादि जो जो उल्लेख हैं वे सब ऐतिहासिक दृष्टि में पूरे उतरते हैं इसलिये वे पट्टावलियें विश्वास के योग्य ठहरती हैं। इसके विपरीत हमारी किसी भी पट्टावली में किसी सुप्रसिद्ध आचार्य या ऋषि मुनि का नाम और उसके बनाये हुऐ सद्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं। हो भी कहां से जबकि लवजी और लौंका से पहले हमारे इस मत का अस्तित्व ही नहीं था—जन्म ही नहीं हुआ था। तथा ये दोनों ही सम्प्रदाय मूर्ति पूजक हैं और हम मूर्ति के उत्थापक, इसलिये इनमें भी हमारा समावेश नहीं हो सकता। इसके सिवा श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में तो जैन धर्म का प्रतिनिधित्व सिद्ध होता है कारण कि ये दोनों मन्दिर और मूर्ति के मानने वाले हैं। और इनके श्री शत्रुञ्जय, गिरनार, समेतशिखर आदि तीर्थ संसार प्रसिद्ध हैं, ये तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि

* "गोयमा ! जंबुदीवे भारहेवासे इमीसे अवसप्पिणीए ममं एकवीसं वास सहस्साइं तित्थे अणुसजिस्सइ" [शत० २० उद्दे० ८]

अध्याय १०

साधु वेष का शास्त्रीय विवरण

दिल्ली से विहार करने के वाद पृथक् पृथक् विचरते हुए श्री आत्मारामजी और श्री विश्नचन्दजी आदि का कुछ दिनों वाद एक स्थान में फिर मेल हो गया। संभवतः श्री आत्मारामजी का एक दो दिन पहले पधारना हुआ और श्री विश्नचन्दजी आदि का पीछे आगमन हुआ। श्री आत्मारामजी महाराज के दर्शनों से विश्नचन्दजी आदि साधु वर्ग को जो आनन्द प्राप्त हुआ, कल्पना जगत में तो उसे शारदी पूर्णिमा के चन्द्र दर्शन से प्राप्त होने वाले चकोर के आल्हाद से उपमित किया जा सकता है। इसी प्रकार श्री आत्मारामजी को भी उनके मिलने पर वहुत आनन्द हुआ। श्री विश्नचन्दजी आदि सभी ने महाराज श्री आत्मारामजी को विधि-पूर्वक वन्दना नमस्कार करने के वाद सुखसाता पूछी, एवं अन्य साधुओं में भी यथाधिकार वन्दना व्यवहार हुआ और एक दूसरे ने एक दूसरे से सप्रेम भेंट की। दूसरे दिन नियत समय पर श्रीविश्नचन्द, चम्पालाल और हाकमराय आदि साधु महाराज श्री आत्मारामजी की सेवा में उपस्थित हुए और प्रस्तावित वार्तालाप आरम्भ हुआ—

श्री विश्नचन्दजी (हाथ जोडकर)—महाराज! हमारे इस मत का श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की गच्छ परम्परा से वहिष्कृत होने का अधिकांश कारण मूर्तिपूजा और मुंहपत्ति ही प्रतीत होती है। श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों परम्परा मूर्ति के उपासक हैं जव कि हमारा पंथ उसका वहिष्कार करता है। इसी प्रकार मुंहपत्ति का मुखपर वान्धना, अथवा हाथ में रखकर उसका शास्त्र मर्यादा से, शास्त्र पढते या वोलते समय सदुपयोग करना इन दोनों में से कौनसी विचार धारा आगम सम्मत है और कौनसी आगम वाह्य ये दोनों विषय वड़े जटिल और विशेप रूप से जानने योग्य हैं अतः इन दोनों के स्पष्टीकरण का तो कोई और समय निर्धारित कीजिये इस समय तो शास्त्र दृष्टि से जैन साधु का वेष कैसा होना चाहिये इसके स्पष्टीकरण की कृपा करें। इन दूसरे साधुओं के विचारानुसार मेरे इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस तरह हमारी परपरा में साधु हैं, उनका वेष और उपकरण भी हैं, इसी तरह मन्दिर और मूर्ति को मानने वाली जैन परम्परा

चम्पालाल और हाकमरायजी—श्री विश्नचन्दजी से हाथ जोड़ कर—गुरुदेव ! तव हम लोगों को किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ?

विश्नचन्दजी—जिसका अनुसरण महाराज आत्मारामजी कर रहे हैं और करेंगे। उससे भिन्न अव हमारा और कोई मार्ग नहीं। अब तो साधु जीवन का शेष भाग उसी सन्मार्ग का यात्री बनेगा जिस पर कि श्री आत्मारामजी महाराज चल रहे या चलेंगे। उनके जैसा सत्यनिष्ठ विचारशील आगमाभ्यासी गीतार्थ महात्मा हमारे इस पंथ में और तो कोई दृष्टिगोचर होता नहीं। पहले भी था इसकी तो कल्पना भी व्यर्थ है। उनका एक एक वचन हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श करता जाता है। भाई ! सच तो यह है कि उनकी तलस्पर्शी निर्मल प्रवचन वारिधारा से मेरे हृदय का समस्त सन्देह मल धुल गया अव उसमें किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश नही रहा इसलिये मै तो अव सर्व सर्वा उन्हीं के सद्‌विचारों का अनुगामी हूँ क्यों कि वे सर्वथा असंदिग्ध सत्यपूत और शास्त्रीय हैं। हम लोगों को महाराज श्री आत्मारामजी का अधिक से अधिक कृतज्ञ होना चाहिये क्योंकि उन्होंने ज्ञान की दीर्घकालीन सतत आराधना से और अनेक मननशील उदारचेता विद्वानों के प्रगाढ परिचय से धर्म सम्वन्धी जिस निर्मल ज्ञान राशि को उपार्जित किया उससे हमारे हृदयों के चिरसंचित अज्ञानान्धकारको दूर करके उनमें नई ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित करने की साधुजनोचित महती उदारता दिखाई है। अगर मै अपने हार्द को तुम लोगों के सन्मुख स्पष्ट शब्दों में रक्खूं तो सच जानिये कि दिल्ली का यह चतुर्मास हम सव के लिये और खासकर मेरे लिये तो सर्वथा नवजीवन के संचार का सन्देश वाहक प्रमाणित हुआ है। आगे तुम्हारी तुम जानों ?

सभी हाथ जोड़कर—पूज्य गुरुदेव ! आप श्री ने जो कुछ फरमाया वह अक्षरशः सत्य है। हमारे हृदय भी इसी प्रकार की पुनीत भावना से भावित हो चुके हैं। हम तो केवल आपकी अनुमति चाहते थे सो हमें मिल गई, और वस। अव तो पहले की तरह आप श्री के चरण चिन्ह ही हमारा गन्तव्य मार्ग है और जीवन पर्यन्त रहेगा।

श्री विश्नचन्दजी—सुनो भाई ! हमने किसी लोभ के खातिर सिर नही मुडाया। हमने तो आत्म-कल्याण के लिये श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदिष्ट मार्ग का अनुगामी समझ कर इस पंथ को अपनाया था यदि यह उस मार्ग का अनुसरण नहीं करता एवं महावीर स्वामी की परंपरा में इसका कोई स्थान नहीं तो फिर इससे चिपटे रहना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। इस पर भी मै तो तुम्हें इस समय यही आदेश देता हूँ कि जब कभी तुम लोगों को श्री आत्मारामजी महाराज का सत्संग प्राप्त हो, उनसे सन्देहास्पद हर एक वस्तु का स्पष्टीकरण करते रहना चाहिये। तदनन्तर वे अपने तथा हम सवके लिये जो मार्ग निर्दिष्ट करें उसीपर चलने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। विश्नचन्दजी के उक्त कथन को सुनकर चम्पालाल आदि सभी शिष्यों ने हाथ जोड़ नतमस्तक होकर तहत वचन कहा और सभी उठकर अपने अपने आवश्यक कार्यों में लग गये।

अध्याय ६

गुरु शिष्यों में मार्मिक वार्तालाप

श्री आत्मारामजी महाराज से अलग होने के बाद श्री विश्नचन्द और उनके शिष्यों का आपस में वार्तालाप होता रहा। एक दिन चम्पालालजी अपने गुरु श्री विश्नचन्दजी से बोले—गुरुदेव! देखा श्री रत्नचदजी के सम्पर्क मे आने के बाद महाराज आत्मारामजी के श्रद्धान में कितना अन्तर पड़गया है?

विश्नचन्दजी—हां भाई! तुम्हारा कथन यथार्थ है। संगति का फल अवश्य होता है. अच्छी का अच्छा और बुरी का बुरा। आगे हम सुनते थे कि श्री रत्नचन्दजी की श्रद्धा में बहुत परिवर्तन होगया है, उनके श्रद्धालु श्रावक मंदिर में जाते है, मस्तक पर तिलक लगाते है और जब उनके पास व्याख्यान सुनने को जाते हैं तब सामायिक करते समय मुंहपत्ती बान्ध लेते हैं। यह बात श्री आत्मारामजी के कथन से भी प्रमाणित होती है। एक दिन प्रसंग आने पर मैंने उनसे पूछा—कि महाराज! श्री रत्नचन्दजी के सम्बन्ध में ऐसी बातें सुनने में आती हैं, आपतो उनके सम्पर्क में अधिक रहे हैं और उनसे अभ्यास भी किया है इस लिये आपको तो सारी परिस्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव होगा, आप कृपा करके बतलाये कि वास्तव में बात क्या है?

मेरे इस कथन को सुनकर महाराज आत्मारामजी ने फर्माया—कि तुम जो कुछ कह रहे हो वह अधिकांश ठीक ही है, उनके श्रावक मंदिर में जाते और मस्तक पर तिलक लगाते एवं सामायिक मुंह बान्ध-कर करते हैं। पहले पहल जब मैंने देखा तो मुझे भी तुम्हारी तरह कुछ विस्मय सा हुआ और मैंने उनसे पूछा-कि महाराज! यह क्या माजरा है? तब उन्होंने कुछ मुस्कराते हुए कहा—कि भाई! ये गृहस्थ हैं, व्यवहार में अपनी इच्छा का अधिक प्रयोग करते हैं, फिर किसी की मनोवृत्ति पर अनुचित अंकुश रखना भी साधु मर्यादा से बाहर है। और यदि शास्त्र दृष्टि से विचार किया जाय तो ये लोग कोई अनुचित काम नहीं करते। भगवान के मन्दिर में जाते हैं वहा प्रभु मूर्ति के सन्मुख बैठकर वीतराग देव के गुणों का गान करते हुए अपने सम्यक्त्व को निर्मल करते हैं, इसमें क्या बुराई है? फिर यहां आकर व्याख्यान सुनते और सामायिक लेकर धर्म ध्यान करते हैं। मेरी दृष्टि में तो सामायिक मुंह बान्ध कर करे या खुले मुह करे इसमें कुछ भी विशेषता नहीं, विशेषता तो समभाव में है। अभी तो तुम यहां आये ही हो जब आगमों का अच्छी तरह से गम्भीरता पूर्वक अभ्यास करोगे तब तुम को स्वय ही सब बातों का अनुभव हो जावेगा इत्यादि इत्यादि।

कहे जाते हैं। समेत शिखर पर बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ, श्री नेमिनाथ भगवान का निर्वाण गिरनार पर्वत पर हुआ, श्री आदिनाथ भगवान अष्टापद पर मोक्ष गये और पांडवों का निर्वाण श्री शत्रुंजय तीर्थ पर हुआ, श्री वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण चम्पानगरी में हुआ और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी पावापुरी में मोक्ष पधारे ऐसा जैन शास्त्रों से प्रमाणित होता है और यह जैन तीर्थों के नाम से विख्यात हैं श्वेताम्बर और दिगम्बर मत के अनुयायी प्रति वर्ष हजारों की संख्या में इन तीर्थों की यात्रा करते और पूजा प्रभावना से अपने मानव भव को सफल करने का ध्येय प्राप्त करते, जब कि हम तीर्थ और तीर्थंकर की प्रतिमा इन दोनों से ही बहिष्कृत हैं। हमारा तो यही परम धर्म है कि येन केन उपायेन मूर्ति की उत्थापना करना, और बस।

श्री आत्मारामजी महाराज के इस सारगर्भित विवेचन से श्री विश्नचन्द और उनके शिष्य वर्ग को बडी प्रसन्नता हुई और आपको सविधि वन्दना नमस्कार करके आपकी सत्यनिष्ठा की भूरि २ प्रशंसा करते हुए आपसे अलग हुए। इधर श्री आत्मारामजी भी दिल्ली से अन्यत्र विहार कर गये।

के साधु भी तो होंगे, तव उनका वेष और उपकरणादि भी होंगे। इन दोनों मे किस परम्परा का साधु वेष आगम सम्मत है। हमारा या उनका ?

श्री आत्मारामजी जरा हंसी में—वाह भाई ! वाह ! तुम लोगों ने तो कूप मंडूक जैसी वात कही है, जैसे कूप का मंडूक–[सदा कूप में रहने वाला मेंडक-डड्डू] समुद्र के विस्तार से अनभिज्ञ होने के कारण उसके अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता इसी प्रकार का तुम्हारा यह कथन है।

मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के साधु और साध्वी गुजरात, काठियावाड़, मालवा, मेवाड़ और मारवाड़ आदि देशों में टोले के टोले फिरते हुए दिखाई देते हैं। वे आज कल दो भागों में विभक्त हुए कहे जाते हैं। एक सफेद कपड़ा रखने वाले यति या गोरजी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे लोग धन सम्पत्ति पासमें रखने वाले मठ-धारियों की तरह परिग्रहधारी हैं। मकान, उपाश्रय आदि में ममत्व रखते हैं, परन्तु इनमें कई एक अच्छे विद्वान् और शास्त्रों के जानकार भी होते हैं। दूसरे पीत वस्त्रधारी होते हैं जो कि संवेगी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये साधु हमारी तरह पैदल विहार करते हैं किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते, लोच करते, दूषण टालकर निर्दोष आहार लेते और प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाकाण्ड का नियमित रूप से आचरण करते हैं। इनमें भी अच्छे पंडित और आगमों के विशेषज्ञ होते हैं। हमसे इनमें इतनी विशेषता है कि ये लोग मुंहपत्ति मुख पर नहीं वान्धते अपितु हाथ में रखते और वोलते समय उसे काम मे लाते हैं, एव अपने पास दंडा रखते हैं जो कि कहीं आते जाते समय उनके हाथ में रहता है। तथा कंधे पर कांवली और रजोहरण वगल में रखते हैं। इसलिये वेष में तो प्रत्यक्ष भेद दिखाई देता है। अव रही वात यह कि इन दोनों में आगम सम्मत वेष किसका है ? सो इसका खुलासा आगम पाठों से भलीभांति हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक वात और भी ध्यान देने योग्य है, आगमों में साधु के कई एक उपकरणों का उल्लेख किया हैं परन्तु अपने मत के साधु उन आगम विहित उपकरणों को नहीं रखते और जो रखते हैं वे सव विना परिमाण के, अपनी इच्छानुसार रखते हैं।

चम्पालालजी—महाराज ! यह तो आपने विलकुल नई वात सुनाई है। मैं तो आज तक यही समझता रहा कि मन्दिराम्नाय वालों का और हमारा—ढूंढ़क पंथियों का केवल मूर्ति को मानने और न मानने जितना ही फर्क है परन्तु आपके कथनानुसार तो उनके और हमारे में वेष सम्वन्धी भी वहुत अन्तर है। इसके सिवाय आपने जो यतियों—जो कि गोरजी के नाम से प्रसिद्ध हैं—का वर्णन किया है हम तो आज तक उन्हीं को मन्दिराम्नाय वालों के गुरु समझते रहे और उन्हीं को सन्मुख रख कर मन्दिराम्नाय वाले श्रावकों को कहते और उपालम्भ देते रहे कि तुम्हारे जो गुरु हैं वे तो परिग्रही हैं अर्थात कौडी पैसा पास में रखते हैं और मकान उपाश्रय आदि मे ममत्व रखने वाले हैं जवकि शास्त्रों में गुरुओं-साधुओंको निर्ग्रन्थ के नाम से उल्लेख किया है जिसका अर्थ है सर्व प्रकार के परिग्रह का त्यागी, संयमशील और कषायरहित आत्मार्थीसाधका। परन्तु आपने तो उस परंपरासे के ऐसे गुरुओं का भी निर्देश किया है जो कि हमारी तरह निष्परिग्रही और

त्यागी हैं और आपने जो यतियों का कथन किया है उनका वेष तो प्रायः हमारे जैसा ही होता है। श्वेत चादर ओढ़ते हैं, आहार पानी के लिये हमारी तरह ही झोली लटका कर जाते हैं और पास में दंडा भी नहीं होता। एक मात्र उनका मुख खुला हुआ होता है अर्थात् मुख पर मुंहपत्ति बांधी हुई नहीं होती। इसके सिवाय और तो कोई फर्क देखने में आता नहीं ?

श्री आत्मारामजी—जो बात प्रत्यक्ष है उसमें तो किसी प्रकार के सन्देह या अविश्वास को अवकाश ही नहीं रहता। तुम लोग जब गुजरात काठियावाड़ आदि देशों में भ्रमण करोगे तो तुम्हें स्वयं ही सब कुछ विदित हो जावेगा और मेरे कथन को सत्य प्रमाणित करने लगोगे। इसके अतिरिक्त जो यति इधर तुम्हारे देखने में आते हैं और जो यहां-पंजाब-में पूज के नाम से प्रसिद्ध हैं वे तो प्रायः लौंका गच्छ के हैं इसलिये हमारा और इनका वेष प्रायः मिलता जुलता है कारण कि हम तुम भी तो उसी की परम्परा मे से हैं अर्थात हमारे इस पंथ का मूल पुरुष लौंका ही तो है। विशेषता केवल इतनी है कि ये यति लोग तो केवल लौंका की परम्परा में ही आबद्ध रहे और हमने उसके साथ लवजी को भी [जो कि लौंका से लगभग दो शताब्दी बाद उसकी गच्छ परम्परा में हुए हैं] अपनी परम्परा का आद्याचार्य माना, और उसके अनुसार मुंह बान्धना शुरु किया। तात्पर्य कि लौंका ने तो केवल मूर्ति का निषेध किया है मुंहपत्ति बान्धने का आदेश नहीं दिया यह तो उनकी शिष्य परम्परा में अनुमान दो शताब्दी जितने अन्तर मे होने वाले लवजी महाराज की ही अपूर्व देन है जिसे हम एक क्षण भर के लिये भी मुंह से इधर उधर नहीं कर पाते ! बस इन यतियों की अपेक्षा हम में यही विशेषता है कि इनपर एक मात्र लौंका की कृपा है और हम लौंका लवजी दोनों के कृपा भाजन हैं ! सारांश कि लौंका गच्छ वाले मुंहपत्ति नहीं बान्धते, परन्तु लवजी ने लौंकागच्छ में दीक्षित होने के बाद उससे पृथक् होकर मुंहपत्ति मुख पर बान्धनी आरम्भ करदी जिसका अनुसरण हम लोग कर रहे हैं, इतनी विभिन्नता के सिवाय अपनी और लौंकागच्छीय यतियों की सामायिक प्रतिक्रमण आदि अन्य सब क्रियायें प्रायः मिलती जुलती ही चली आ रही हैं।

चम्पालालजी—महाराज ! यह आप क्या फरमा रहे हो ? ये यति लोग तो मन्दिर मूर्ति के उपासक हैं और हम उसका निषेध करते हैं फिर इनका हमारा मेल कैसा ? इसी प्रकार इनको लौंका गच्छ के भी कैसे माना जाय जब कि ये मूर्ति को मानते हैं। आप श्री ने ही कहा था कि जैन परम्परा में सबसे प्रथम मूर्तिपूजा का उत्थापक लौंका शाह नाम का एक गृहस्थ हुआ है अर्थात् सर्वप्रथम उसीने मूर्तिपूजा का विरोध किया है। पूज्य अमरसिंहजी महाराज ने भी यही फरमाया था कि मूर्तिपूजा के निषेधकों में श्री लौंकाशाह मुख्य हैं। सो कृपा करके इसका स्पष्टीकरण कीजिये ?

श्री आत्मारामजी—भाई चम्पालाल ! तुमने बड़े रहस्य की बात पूछी है, लो अब इसका खुलासा सुनो ! गुजरात देश के सुप्रसिद्ध नगर अहमदाबाद में लुंका नाम का एक लिखारी रहता था जो कि जाति का दशा श्रीमाली वणिक था और ज्ञानजी यति के उपाश्रय मे बैठ पुस्तकें लिखकर उसकी आमदनी से अपना

निर्वाह किया करता था। एक दिन एक पुस्तक लिखते हुए पुस्तक के सात पृष्ठ बिना लिखे छोड़ दिये। जब पुस्तक लिखाने वाले ने पुस्तक लेकर उसका मिलान किया तो उसमें सात पृष्ठ छोड़े हुए मिले। तब उसने लुंका से आकर कहा कि इसमें सात पृष्ठ छूट गये हैं इन्हें पूरा कीजिये अन्यथा मैं लिखाई का एक पैसा भी नहीं दूंगा। यह सुन लिखारी लौंका क्षमा मांगने के बदले उससे झगड़ने लगा, दोनों को लड़ते झगडते देख वहां और लोग भी इकट्ठे होगये और लौंके के इस जघन्य कृत्य की सब निन्दा करने लगे। अन्त में जब वह लड़ने झगड़ने से नहीं हटा तब उपाश्रय के यतियों के आदेशानुसार लोगों ने उसे पीटा और उपाश्रय से बाहर निकाल दिया। एवं नगर के लोगों से कह दिया कि कोई भी व्यक्ति अब इससे पुस्तक न लिखावे। यतियों द्वारा इस प्रकार अपमानित हुए लौंके ने प्रतिकार की भावना से जैन साधु और जिन प्रतिमा आदि की निन्दा करनी आरम्भ करदी* परन्तु वहां पर उसकी किसी ने एक भी नहीं सुनी। तब वह हताश होकर अहमदाबाद से लींबड़ी ग्राम मे आया यह ग्राम अहमदाबाद से अनुमान ४६ कोस की दूरी पर है। यहां उसकी विरादरी का "लखमसी" नाम का एक राजकीय व्यक्ति था। उसके पास जाकर वह बहुत रोया पीटा। और अहमदाबाद की सारी घटना को अपनी इच्छानुसार नया रूप देकर कह सुनाया जैसे कि—*मैं श्रमण भगवान् महावीर के बतलाये हुए सच्चे मार्ग का उपदेश कर रहा था* परन्तु मेरा यह सच्चा मार्ग इन यति लोगों के प्रतिकूल था इसलिये उन्होंने मेरे ऊपर झूठी तोहमत लगा कर मेरा अपमान किया, और मुझे यतियों और श्रावकों ने पीटा, जिसके फलस्वरूप, मैं अहमदाबाद से निकल कर यहां तुम्हारे पास आश्रय लेने आया हूँ। यदि तुम मेरी सहायता करो तो मैं भगवान के सच्चे मतका प्रचार कर पाऊं।

श्री लखमसी—लींबड़ी के राज्य में तो तुमको अपने नये मत का प्रचार करने मे कोई कष्ट नहीं हो सकता। तुम्हारे ऊपर कोई व्यक्ति बलात्कार नहीं करेगा। तुम्हारे लिए खान पान आदि का प्रबन्ध मेरे घर से रहेगा और कभी कभी मैं तुम्हारा प्रवचन भी सुना करूंगा। तुम मेरे जाति बन्धु हो, फिर मेरे पास चलकर आये हो इसलिये नैतिक रूप से मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं तुम्हारी अधिक के अधिक सहायता करूं। यह सुन लुका को बड़ी प्रसन्नता हुई और स्वच्छन्दता से अपने मत का [जो कि अनार्य संस्कृति के प्रभाव का किंपाक फल था] लगा प्रचार करने। अनार्य संस्कृति के जघन्य प्रभाव से प्रभावित हुए लौंका ने प्रतिकार की भावना को सन्मुख रखकर सर्व प्रथम जैन यतियों और जिनप्रतिमा का उत्थापन करना आरम्भ किया। कहने लगा—ये साधु नहीं अपितु भ्रष्टाचारी हैं! निर्दयी और दम्भी हैं! भगवान के नाम से विपरीत उपदेश देकर अपना नीच स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं इसलिये इनको साधु मानना पाप है। और जड़मूर्ति की पूजा करना और उसको भगवान मानना तो इससे भी अधिक पाप है। मैंने बहुत वर्षों तक मूर्ति की

---

* लौंका पर अनार्य संस्कृति–जिसका मुख्य उद्देश्य मन्दिर और मूर्ति की उत्थापना करना है–का और यतियों द्वारा किये गये अपमान का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा इसके लिये देखो–"लौंकाशाह" निर्माता मु० श्रीज्ञानसुन्दरजी।

उपासना की है, $ और पत्थर को ही परमात्मा समझता रहा। अन्त में जब मुझे यथार्थ वस्तु का ज्ञान हुआ तब मैंने पत्थर की उपासना करनी छोड़ दी। इसी वस्तु तत्त्व का सदुपदेश देने आया हूँ आप लोगों को मेरे इस यथार्थ कथन पर अवश्य ध्यान देना और उसे अपनाना चाहिये। यह था लौंके के उपदेश का सारांश जिसे उसने निरन्तर २५ वर्ष तक लोगों को दिया। बहुत से शास्त्रों को मानने से इनकार कर दिया और जिन्हें स्वीकार किया उनमें आये हुए मूर्तिपूजा सम्बन्धी पाठों के येनकेन प्रकारेण अर्थ बदलने का अनुचित प्रयत्न किया परन्तु उपदेश का जनता पर कुछ असर न हुआ, अर्थात् उसके उपदेश से एक भी व्यक्ति उसके मत में दीक्षित नहीं हुआ। अन्त में [वि० सं० १५३३ में] बहुत प्रयत्न करने पर भाणा नाम के एक वणिक पुत्र ने लौंके के उपदेश से साधु वेष अंगीकार किया जो कि भाणा ऋषि के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। फिर [सं० १५६८ में] भाणा का शिष्य रूपजी हुआ, रूपजी का शिष्य [स० १५७६ में] ऋषि जीवाजी हुआ, उसका शिष्य [सं० १५८७ में] वृद्धवरसिंह और उसका शिष्य [सं० १६०६ में] वरसिंहजी हुआ और वरसिंहजी का शिष्य [सं० १६४६ में] जसवन्तजी हुआ। यहां आकर लौंके की परम्परा के तीन नाम निर्दिष्ट हुए (१) गुजराती (२) नागोरी और (३) उत्तराधी।

तब इस परम्परा में जो लोग कुछ लिख पढ़ कर परमार्थ को समझने लग गये और सूत्रार्थ निर्णय से उन्हें मूर्तिपूजा आगम सम्मत प्रतीत होने लगी वे लोग लौंका के इस मूर्तिपूजा सम्बन्धी सिद्धान्त को अशास्त्रीय समझ कर फिर से अपनाने लगे। फल स्वरूप लौंकागच्छ के उदार मनोवृत्ति के विद्वान् यतियों ने अनेक मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई अनेक सद् ग्रन्थ लिखे और अपने उपाश्रयों में प्रतिष्ठित जिन प्रतिमाओं को आदरणीय स्थान दिया। इसलिये ये यतिलोग लौंका की परम्परा में होते हुए भी मूर्ति को मानते हैं। इन यतियों का हमारे पंजाब देश में काफी प्रभाव रहा।§ अतः मूर्ति उपासक होते हुए भी इनके वेष और सामायिक प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाओं में विशेष अन्तर नहीं आया। और मुंहपत्ति का बान्धना तो केवल लवजी से ही शुरु हुआ है अतः इनके सम्बन्ध में उसकी चर्चा का तो कोई स्थान ही नहीं है।

विश्नचन्दजी—कृपानिधे! आप श्री ने चम्पालाल के प्रश्न का खुलासा करते हुए प्रसंगोपात्त जो कुछ

($) लुंका पहले कट्टर मूर्तिपूजक था, प्रतिदिन मन्दिर मे जाकर प्रभु मूर्ति की पूजा किया करता और मस्तक पर केसर का तिलक लगाता। [मूर्ति पूजा का इतिहास पृ० ६-११ मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी]

§ पंजाब के पूर्व भाग में लुम्पक मत के उत्तराध गच्छ के यतियों की प्रधानता थी। इनका मुख्य उपाश्रय अम्बाला शहर मे था, जिसके अधीन कई छोटे २ उपाश्रय थे। जैसे—साढौरा, सुनाम, समाणा, रोपड़ आदि। उत्तराध-गच्छ के मूल पुरुष जटमल या जट्टु ऋषि थे, जो सं० १६५० के लगभग हुए। इनकी शिष्य परम्परा ग्यारह पीढ़ी तक चली। अन्तिम शिष्य उत्तम ऋषि थे जो सं० १९३४ में स्व० श्रीमद् विजयानन्द सूरि के हाथ से दीक्षित होकर मुनि उद्योत विजय के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका पुस्तक भंडार श्री आत्मानन्द जैन सभा अम्बाला के पास है।

[क्रान्तिकारी जैनाचार्य की भूमिका पृ० २५ ले०—डा. बनारसीदासजी एम. ए पी. एच डी.]

फर्माया है उसमें हमें बहुत कुछ जानने को मिला है परन्तु आरम्भ में जो प्रसंग चला था—साधु के उपकरणों का—कृपा करके अब उसी का स्पष्टीकरण कीजिये।

श्री आत्मारामजी—प्रश्नव्याकरणसूत्र में से उपकरण सम्बन्धी पाठका पत्रा निकाल कर—देखो भाई! साधु के उपकरणों से सम्बन्ध रखने वाला वह आगम पाठ यह है। लो! देखो और पढ़ो यथा—"पडिग्गहहो (१) पायबंधण (२) पाय केसरिया (३) पायट्ठवणंच (४) पडलाइं तिन्निव (५) रयत्ताणं (६) गोच्छाओ (७) तिन्निय पच्छागा (१०) रओहरणं (११) चोलपट्टक (१२) मुहणंतक (१३) मादीयं (१४) एयंपीय संजमस्स उववूहणट्ठयाए।"

अच्छा अब इसका परमार्थ सुनो! जिसकी तुम सबको आवश्यकता है—(१) पडिग्गहो—पात्र (२)पायबंधण—पात्रबन्धन—झोली (३) पायकेसरिया—पात्र केसरिका अर्थात् पूंजने—साफ करने का सोलह अंगुल का वस्त्र (अपने लोग इसके स्थान में पूंजणी रखते हैं) (४) पाय ठवणं—पात्र स्थापन—पात्रे के नीचे रखने का सोलह अंगुल का लम्बा चौड़ा ऊनका टुकड़ा, जो कि विहार में पात्रे बान्धने का काम देता है, अपने इसके स्थान में आहार करते समय कपड़ा बिछाते हैं जिसको मांडला कहते हैं (५) पड़लाइं तिन्नेव—तीन पड़ले, जो कि गोचरी को जाते समय झोली के ऊपर दिये जाते हैं, ताकि उड़ते हुए मक्खी मच्छर आदि जीव उडकर झोली में न पडें।

चम्पालाल—कृपानाथ! आपने जो तीन पड़ले कहे हैं उनकी समझ नहीं आई, वे झोली पर कैसे दिये जाते हैं, या उनसे झोली कैसे ढकी जाती है?

श्री आत्मारामजी—भाई! अपने लोग गोचरी जाते समय जिस तरह झोली लेते हैं, वह शास्त्र-सम्मत नहीं है। और जब हम झोली को हाथ में लटका कर रखते हैं तो उस पर पड़ले कहां रक्खे जावें? इसीलिए हम लोग पड़ले नहीं रखते, परन्तु झोली रखने की शास्त्रीय विधि और है। मैंने मन्दिराम्नाय के एक यतिजी को गोचरी जाते हुए देखा तो उनकी झोली कहीं नजर नहीं आई। तब मैंने उनसे कहा कि यतिजी महाराज! आप गोचरी के लिए जा रहे हैं, परन्तु आप के पास झोली तो दीखती नहीं। तब जब उसने कपड़ा [ऊपर ली हुई चादर] उठाकर दिखाया तो देखा कि दाहिना हाथ लम्बा किया हुआ है और बांयें हाथ मे झोली लटकाई हुई है और उसके ऊपर कपड़ा दिया हुआ है। पूछने पर उसने कहा कि इस कपड़े को पड़ला कहते हैं, गर्मी के मौसम में तीन रखते हैं शीतकाल में पांच और चौमासे के दिनों में सात रखते हैं। इसका प्रयोजन उड़ते हुए जीवों की और आहार की रक्षा है, वर्षाकाल में कभी अचानक बारिश आजावे तो पानी के छींटे आहार पर न पडें एतदर्थ यह झोली पर दिया जाता है। इतना संभाषण करने के अनन्तर आपने उसी माफिक झोली को हाथ में लटका ऊपर कपड़ा डालकर सबको दिखाया जिसे देख कर सब आश्चर्य चकित हुए और कहने लगे कि इतने वर्ष हुए इस पंथ चले को फिर भी पड़ला सम्बन्धी ज्ञान किसी को नहीं। हो भी कैसे? जब कि इस वस्तु का हमारे यहां व्यवहार ही नहीं है।

(६) रयत्ताणं–रजस्त्राण–पात्रे ढकने का वस्त्र, जो कि एक पात्रे में डालकर दूसरा उसमें फंसाया जाता है फिर उस कपड़े की दूसरी तह को दूसरे पात्रे में डालकर उसमें तीसरा पात्रा रक्खा जाता है इसी प्रकार तीनों पात्रे कपड़े से लपेटे जाते हैं। इससे पात्रे, रज–धूली आदि के स्पर्श से सुरक्षित रहते हैं इसलिये इसे रजस्त्राण कहते हैं। इतना कहने के बाद आपने उसी प्रकार पात्रे रख कर बता दिया। यह देख एक साधु ने कहा—कि अपने मे भी कोई कोई साधु पात्रे में कपड़ा रखते हैं परन्तु वह इस तरह नहीं रखते।

(७) गोच्छाओ—पात्र स्थापना में पात्रे रखकर झोली की गांठ में भराने के लिये बीच में छेद किया हुआ ऊन का टुकड़ा–जिसमें झोली भराई जावे उसे गोच्छक कहते हैं। देखो! पात्रे झोली में बान्धकर नीचे पात्रस्थापन में झोली रखकर उसके चारों कोनों में डोरी लगी हुई होती है फिर गोच्छा लेकर उसमें झोली भराकर नीचे का और ऊपर का ऊन का टुकडा डोरी से बांधा जाता है। इस तरह से संवेगी साधु विहार में पात्रे बान्धकर चलते हैं। जब श्री आत्मारामजी ने इस प्रकार पात्रे बान्धकर साधुओं को दिखाये तो मुस्कराते हुए कई एकने कहा—कि महाराज! यह तो बड़ा सुन्दर डब्बा बन गया।

श्री विश्नचन्दजी—हंसने वाले साधुओं को सम्बोधित करते हुए बोले—यह हंसी का स्थान नहीं है, भगवान के कहे हुए उपकरणों का उपयोग कैसे करना और उससे जीव जन्तु की रक्षा कैसे हो सकती है, इसे समझने का यत्न करना चाहिये।

श्री आत्मारामजी—श्री विश्नचन्दजी को सम्बोधित करते हुए बोले—भाई! इन्होंने कभी यह वस्तु देखी नहीं, इसलिये कुतूहलवश ये हंस रहे हैं। आखिर मे ये हैं तो छद्मस्थ ही न? आपके इन सारगर्भित कोमल वचनों को सुन कर सबने विनयपूर्वक मिथ्या दुष्कृत दिया और हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हुए बाकी के उपकरणों के परमार्थ को समझाने की सविनय प्रार्थना की। तब आपने बाकी रहे उपकरणों के परमार्थ को समझाना शुरु किया—

(८) तिन्नेवय पच्छागा—और तीन प्रच्छादक अर्थात् ओढ़ने की तीन चादर एक ऊन की और दो सूत की।

(९) रयोहरण—रजोहरण—जिसे ओघा कहते हैं। यह जैन साधु का मुख्य चिन्ह है। और सब वस्तु होवे किन्तु रजोहरण पास मे न होवे तो जैन साधु की पहचान नहीं होती। इसलिये जैन साधु की पहचान का खास चिन्ह ओघा–रजोहरण है। भले ही मुंह बन्धा हो या खुला परन्तु ओघा पास मे न हो तो कोई भी साधु उसे जैन का साधु नहीं कहेगा। इसलिये शास्त्रों में इसका ऋषिध्वज के नाम से उल्लेख किया है।

चम्पालालजी—महाराज! इसका कोई परिमाण भी है कि कितना लम्बा होना चाहिये? अथवा जितना जी चाहे रक्खें, कारण कि बहुतों का छोटा बड़ा देखने में आता है।

श्री आत्मारामजी—भाई ! साधु के जितने उपकरण, शास्त्रों में बतलाये हैं उन सब की संख्या स्वरूप और परिमाण का भी निर्देश किया है, और रजोहरण के लिये तो शास्त्र में विशेष रूप से उल्लेख किया है, श्री निशीथ सूत्र में बिना परिमाण के ओघा रखने वाले साधु को प्रायश्चित बतलाया है। यथा—

"जेभिक्खू अइरेयं पमाणं रयहरणं धरेइ धरंतं वा सातिज्जति" [उ० ५]

चम्पालालजी—तो महाराज ! इसके माप का निर्देश कहां और किस सूत्र में है ?

श्री आत्मारामजी—इसके माप का निर्देश उस सूत्र में है, जिसको हमारे ढूंढक पंथ वाले मानने से इनकार करते हैं, वह है ओघनिर्युक्ति और निशीथचूर्णी। उसको मानने से इनके गले में मूर्तिपजा आ पड़ती है , कारण कि उसमे अन्य शास्त्रों की अपेक्षा मूर्तिपूजा का अधिक स्पष्टीकरण है।

श्री चम्पलालजी—गुरुदेव ! मूर्तिपूजा की बात को तो अलग रखिये। वह तो आप श्री के सदुपदेश से हमारे रोम रोम मे रच गई है। अब तो हम लोगों ने पहले की हुई निन्दा का आपके आदेशानुसार प्रायश्चित करना है, इसलिये अब तो रजोहरण के माप का पाठ बतलाने की कृपा करें।

श्री आत्मारामजी—वाह भाई चम्पालाल ! तुम तो ठीक चम्पा ही निकले। चम्पा के फूल में रूप भी होता है और सुगन्ध भी, उसी तरह तुम बाहर से रूपवान गौर वर्ण के हो और तुम्हारे अन्दर से सच्ची श्रद्धा की सुवास आ रही है, इसलिये "यथा नाम तथा गुणः" यह सदुक्ति तुम पर पूर्ण रूप से घटित हो रही है। परन्तु भाई ! इतनी जल्दी न करो, अभी तो तुम लोगों को बहुत कुछ नवीन सुनने और जानने का अवसर मिलेगा, अनेक आगमों में मूर्तिपूजा सम्बन्धी पाठ देखने में आयेंगे, इसी प्रकार मात्र ३२ मूल सूत्रों को मानने का मोह दूर होगा, आगमों पर किये गये निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और पूर्वाचार्यों की प्राचीन टीकाओं को स्वीकार करना होगा तथा मुंहपत्ति के शास्त्रीय स्वरूप और प्रयोजन से परिचित होने का जब समय आवेगा तब तुम लोगों को और भी आनन्द होगा। अस्तु अब रजोहरण के माप की बात सुनिये। निशीथ सूत्र में जो यह लिखा है कि-बिना माप का रजोहरण रखने वाले साधु साध्वी को प्रायश्चित लगता है तो आगम शास्त्रों में इसका कहीं न कहीं अवश्य उल्लेख होना चाहिये। परन्तु अपने जिन बत्तीस सूत्रों को प्रमाण मानते हैं- [जिनमें निशीथ सूत्र भी है] उन में तो कहीं इस बात का जिकर तक भी नहीं है फिर रजोहरण का माप कहां ढूंढें ?

इन ३२ सूत्रों में तो उसका गन्ध तक नहीं। इसके लिये निशीथचूर्णी और ओघनिर्युक्ति की शरण लेनी पडेगी। परन्तु इनमें मूर्ति सम्बन्धी पाठों की भरमार है। अब करे तो क्या करें ? यहां तो "इतोव्याघ्रः इतस्तटी" वाली दशा उत्पन्न हो जाती है। अगर निशीथचूर्णी और ओघनिर्युक्ति आदि को माने तब तो मूर्तिपूजा गले पड़ती है और न माने तो बिना माप के रजोहरण रखने से जो प्रायश्चित लगता है, उससे बच नहीं पाते। परन्तु हम लोगों ने मूर्तिपूजा के शास्त्रीय परमार्थ को न समझते हुए इस आगम सम्मत सर्व मान्य-

सिद्धान्त की यहां तक अवहेलना की कि जिस शास्त्र में हमारी दृष्टि अनुसार मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख हो, उस शास्त्र को प्रमाण नहीं मानना। फिर भले ही शास्त्र विरुद्ध विना माप के रजोहरण का उपयोग करते हुए हम प्रायश्चित के भागी भी क्यों न वनें ? क्या ऐसी कदाग्रह पूर्ण मनोवृत्ति की कोई चिकित्सा हो सकती है ?

इतना प्रासंगिक भाषण करने के वाद आपने कहा–कि आप्त प्रणीत आगमों के रहस्य को समझने के लिये पूर्वाचार्यों के निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाओं की ही शरण लेनी पड़ती है, विना इनके आगमगत पाठों का वास्तविक रहस्य कदापि अवगत नहीं हो सकता, इसलिये निशीथसूत्र के उक्त पाठ का परमार्थ तुम लोगों को निशीथचूर्णी और ओघनिर्युक्ति आदि में ही उपलब्ध हो सकता है। निशीथचूर्णी और ओघ-निर्युक्ति में कहा है कि—रजोहरण का कुल माप ३२ अंगुल का है, जिसमें २४ अंगुल की डंडी और आठ अंगुल परिमाण फलियां होनी चाहियें। यथा—

"बत्तीसंगुलदीहं, चौवीसं अंगुलाइ दंडोसे, अट्ठंगुला दसाओ एगयरं हीणमहियं वा" ॥७०६॥ (चूर्णी ओघनिर्युक्ति)

इसप्रकार का रजोहरण श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के साधु साध्वी और यति लोग ही रखते हैं, मैंने स्वयं उसे माप कर देखा है।

चम्पालालजी—महाराज ! तव तो हमारा यह रजोणा—रजोहरण विना नाप का श्रमण भगवान महावीर स्वामी की आज्ञा से वाहर का ही हुआ न ?

श्री आत्मारामजी—इसमें क्या संदेह है ? अरे भाई ! एक रजोहरण की क्या वात, अपना तो यह सारा पंथ ही भगवान् की आज्ञा से वाहर का है। अच्छा अव वाकी के उपकरणों के विषय में सुनो—

(१०) चोलपट्टक—चोलपट्टा। इससे तो तुम लोग परिचित ही हो। परन्तु अपने लोगों का चोलपट्टा वहुत लम्वा, प्राय: घघरे के समान होता है। अत: इसका भी कोई माप नहीं होता। परन्तु ओघ-निर्युक्ति वगैरह में इसके माप का भी उल्लेख किया है। सो जव तुम लोग ओघनिर्युक्ति पढ़ने के योग्य हो जाओगे और पढ़ोगे तो तुमको स्वयं ही विदित हो जावेगा कि साधु की कोई भी क्रिया या उपकरण विना प्रयोजन और विना परिमाण का नहीं है।

(११) मुहणंतक—इसका अर्थ है मुखवस्त्रिका अर्थात वोलते समय मुख के आगे रखने का वस्त्र विशेष। परन्तु अपने सम्प्रदाय के लोगों ने इसका मुंह की पट्टी ऐसा अप्रमाणिक मनःकल्पित अर्थ करके मुंह का वान्धना सिद्ध करने का यत्न किया है। वास्तव में ऐसा करना उनके वड़े भारी अज्ञान का सूचक है। शास्त्र में मुख वान्धने का कहीं पर भी आदेश नहीं है, यह तो केवल लवजी के अवोधपूर्ण मस्तिष्क की उपज है जिसपर हम लोग मर्यादा से भी अधिक आग्रह किये हुए हैं। शास्त्र में मुखवस्त्रिका के लिये, मुहणंतग—

मुंहपोतिग, मुंहपोतिय, आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है। देखो इसी प्रश्नव्याकरण में अन्यत्र मुखवस्त्रिका के अर्थ मे "मुहपोतिग" और "मुंहपोत्तिय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

(१) "पीठफलग सिज्जा संथारग वत्थ पत्त कंबल दंडगरयहरण चोलपट्टका मुंहपोतिग पाय पुंछणादि" [१ संवरद्वार १ भावना सू. २३]

(२) "पीठ फलग सेज्जा संथारग वत्थ कंबल मुहपोत्तिय पायपुंछणादि"
[३ संवरद्वार सू. ३६]

इस प्रकार मुखवस्त्रिका के लिए भिन्न भिन्न शब्दों का शास्त्र में प्रयोग किया गया है परन्तु अर्थ सब का एक ही है। वही-बोलते समय मुख के आगे रखने का अमुक परिमाण का वस्त्रखंड जो कि जैन परम्परा में मुखवस्त्रिका मुंहपत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

एक छोटा साधु बीच में ही बात काटकर—महाराज जी साहब! इस पाठ में तो दंडे का भी उल्लेख है, तो क्या साधु को दंडा भी रखना चाहिये ?

श्री आत्मारामजी—वाह भाई! तू तो बीच में ही बोल उठा, मैंने तो स्वयं ही दंडे का प्रकरण चलाना था। जिस बात का शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख किया गया हो, उसमे सन्देह को कौनसा स्थान है। दंडा, यह साधु का शास्त्र विहित उपकरण है, अतः साधु को उसे रखना ही चाहिये। श्वेताम्बर आम्नाय के संवेगी साधु और यति अपने पास हमेशा ही दंडा रखते हैं। प्रश्न व्याकरण के अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में भी दंडे का विधान है।

वही छोटा साधु—हां महाराज! मुझे भी याद है वहां "दंडगंसि" ऐसा पाठ आता है। परन्तु कृपानाथ! एक बात और है जिसके जानने की मुझे बहुत उत्कंठा हो रही है। साधु के उपकरणों में जो "पायपुंछण" शब्द आया है उसका क्या परमार्थ है? रजोहरण तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसका पृथक् उल्लेख है, तब उसका क्या स्वरूप है, इसे समझाने की कृपा करें।

श्री आत्मारामजी—पायपुंछण, यह पैर पूंजने का उपकरण है, मन्दिराम्नाय वाले इसे दंडासन के नाम से पुकारते हैं। उनके पास रजोहरण और दंडासन दोनों ही होते हैं। रजोहरण शरीर पूजने के काम आता है और दंडासन से पैर पोंछते हैं, इसके सिवा यह उपाश्रय आदि की पडिलेहना करने के काम में भी आता है। परन्तु अपने सम्प्रदाय वाले ग्राम में प्रवेश करते समय रजोहरण से ही पैर पूंजने का काम लेते हैं, सो ठीक नहीं है।

इस प्रकार साधु के उपकरणों की शास्त्रीय विवेचना करने के अनन्तर महाराज श्री आत्मारामजी ने फरमाया कि आज के वार्तालाप में शास्त्रीय दृष्टि से जिन जिन विषयों की व्याख्या की गई है उन्हे एकान्त में

वैठकर मनन करना, यदि कोई शंका रहगई हो तो उसे फिर पूछ लेना, जब तक कोई बात हृदय में पूरी तरह घर न कर जावे अर्थात् वह युक्तियुक्त प्रतीत न होवे तब तक उसे स्वीकार करने की भूल न करना एवं जो वस्तु शास्त्र और युक्ति द्वारा सत्य प्रमाणित हो उसे अपनाने में किसी प्रकार का संकोच न करना ही विचार और विवेक प्रवण मनोवृत्ति की कसौटी है। इसीसे साधक का आत्मा प्रगति की ओर प्रस्थान करने की योग्यता वाला वनता है। अच्छा अब आज का सत्संग समाप्त हुआ वाकी की विषय-विवेचना कल के लिये स्थगित रक्खो। तब सब वन्दना करके अपने स्थान-उपाश्रय की ओर चल दिये।

ॐ
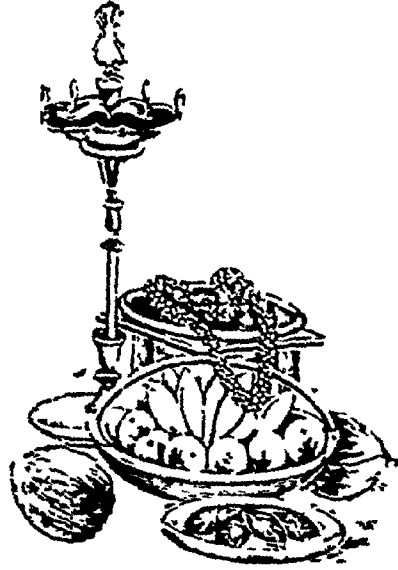
अध्याय ११

मुखवस्त्रिका का शास्त्रीय स्वरूप और प्रयोजन

दूसरे दिन नियत समय पर सब साधु श्री आत्मारामजी के पास पहुंच गये और विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके जिज्ञासु के रूप में उनके सन्मुख आ बैठे। महाराज आत्मारामजी ने भी सप्रेम सुख-साता पूछ कर अपनी साधुजनोचित सहज उदारता का परिचय दिया।

श्री विश्नचन्दजी—महाराज! हम लोगोंका यह पूर्ण सद्भाग्य है जो आप जैसे सर्व गुण सम्पन्न ज्ञानवान् महापुरुष का समय समय पर पुण्य सहयोग प्राप्त हो रहा है। कल आप श्री ने जैन साधु के उपकरणों का वर्णन करते हुए उनकी जो शास्त्रीय व्याख्या की उसको हम सबने बड़े ध्यान से सुना और स्थान पर जाकर अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार उसे मनन भी किया। परन्तु उनमें अन्तिम उपकरण मुहणंतग-मुंहपत्ति के विषय में ये साधु कुछ विशेष स्पष्टीकरण की जिज्ञासा कर रहे हैं। सो यदि आप इसके सम्बन्ध में कुछ कहने की कृपा करें तो हम सब पर महान् उपकार हो।

श्री आत्मारामजी—अच्छा, यदि तुम लोगों की यही इच्छा है तो आज इसीका विचार करेंगे। मुंहपत्ति-मुखवस्त्रिका का आगम ग्रन्थों में भिन्न २ नामों से उल्लेख किया है। जैसे कि कल बतलाया था-मुहणंतग-मुखानन्तक, मुंहपोतिग-मुखपोतिका, मुहपोत्तिय और हत्थग-हस्तक, ये मुखवस्त्रिका के ही नामान्तर हैं। अपने माने हुए ३२ आगमों में इन नामों से उसका उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उसके स्वरूप का विधान कहीं किया नहीं मिलता। जो लोग केवल ३२ मूल आगमों को मान्य रख कर बाकी के आगमों और आगम-मूलक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी आदि प्रामाणिक जैनवाङ्मय को स्वीकार नहीं करते उनके पास साधु के इस विशिष्ट उपकरण रूप मुखवस्त्रिका के स्वरूप और परिमाण का निश्चय करने या बतलाने के लिये कोई साधन नहीं जब तक कि वे आगमों पर लिखे गये निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी आदि सद्ग्रन्थों का आश्रय नहीं लेते।

एक छोटा साधु-तो, महाराज! हम यूं ही रात दिन इसे बान्धे फिरते हैं?

श्री आत्मारामजी—†बीबा! बान्धने का उल्लेख तो कहीं है ही नहीं। न बत्तीस में न बत्तीस से बाहर और किसी में। यह बान्धने की प्रथा [वास्तवमें—कुप्रथा] तो लवजी ने चलाई है, जिसको हुए अनुमान दो अढ़ाई सौ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ। एक दिन श्री रत्नचन्दजी महाराज ने इसी विषय के चर्चा प्रसंग में मुझसे फर्माया था कि भाई आत्माराम! सत्य तो यह है कि—"अपना यह सम्प्रदाय थोड़े ही वर्षो से बिना गुरु के लवजी ने चलाया है और मुंहपत्ति मुखपर बान्धनी मेरे बड़ों ने कोई डेढ सौ वर्ष के लगभग आरम्भ की है और तेरे बड़ों ने कोई दो सवा दो सौ वर्ष हुए तब बांधनी शुरु की है। इससे पूर्व जैन परम्परा में मुंहपत्ति बान्धने की प्रथा की गन्ध तक भी नहीं थी।"

मैंने श्रीरत्नचन्दजी महाराज के पुण्य सहवास मे रहकर हर एक विचारणीय विवादास्पद विषय की पूरी पूरी गवेषणा की है। मुझे जबसे शब्द—शास्त्र का बोध प्राप्त हुआ, और जब से मैंने आगमों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना शुरु किया तब से लेकर जैन धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त की पूरी २ छान बीन करने में व्यस्त रहा, एक सत्य गवेषक तटस्थ व्यक्ति की भांति। आगरे पहुंचने पर अध्ययन किये हुए आगम ग्रन्थों का निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी आदि प्रामाणिक आचार्यों की प्राचीन व्याख्याओं के साथ फिर से अभ्यास करना आरम्भ किया, एवं श्री रत्नचन्दजी महाराज के साथ एक २ विषय पर घंटों नहीं कई २ दिनों तक एक वादी के रूप में उपस्थित रह कर चर्चा की और जब तक हृदय स्पर्शी किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंचा तब तक उसे छोड़ा नहीं। और परस्पर के विचार विनिमय से, एवं तुलनात्मक दृष्टि से की गई गहरी खोज से जो सत्य उपलब्ध हुआ, उसे अपने हृदय मे सुरक्षित रक्खा। यह बात, दो और दो चार की भान्ति नितान्त सत्य है कि निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी तथा सुविहताचार्यों की रची हुई टीकाओं की सहायता के बिना आगमों का रहस्य समझ में नहीं आता। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं, अपना आजका चर्चास्पद मुंहपत्ति का विषय ही लीजिये—किसी भी मूल आगम में इसके स्वरूप और प्रयोजन का पता नहीं मिलता, यदि मिलता है तो ओघनिर्युक्ति आदि में मिलता है। और वास्तव में विचार किया जाय तो निर्युक्ति भी आगम के समान ही प्रामाणिक है, कारण कि उसके निर्माता कोई साधारण व्यक्ति नहीं किन्तु पांचवें श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधारी स्वामी श्री भद्रबाहु हैं। शास्त्रानुसार तो अभिन्न दश पूर्वी तक का भी कथन सम्यग्—यथार्थ ही माना गया है क्योंकि अभिन्न दश पूर्वी तक नियमेन सम्यग्दृष्टि ❋ होते हैं "और

---

† "बीबा" यह पजाबी भाषा का शब्द है, जो कि किसी बालक या नवयुवक को प्यार से सम्बोधन करने के स्थान में प्रयुक्त होता है।

❋ इसके लिये देखिये श्री नन्दीसूत्र का निम्न लिखित पाठ:—"इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दस पुव्विस्स सम्मसुअं अभिण्ण दस पुव्विस्स सम्मसुअं तेणपरं भिण्णेसु भयणा से तं सम्मसुअं"

टीका—अभिन्नदशपूर्विणः—सम्पूर्ण दशपूर्वधरस्य, संपूर्ण दश पूर्वधरत्वादिकं हि नियमतः सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टेः तथा स्वाभाव्यात"। [श्री मलयगिरिजी]

ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी तो चतुर्दश पूर्व के धारक हैं फिर इनकी प्रामाणिकता में तो सन्देह ही क्या है? अच्छा अब इस विषय के निर्युक्ति पाठ की ओर भी ध्यान दें। ओघनिर्युक्ति में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली दो गाथायें हैं। एक में मुंहपत्ति-मुखवस्त्रिका के परिमाण-माप या स्वरूप-आकार का वर्णन है और दूसरी में उसका प्रयोजन बतलाया गया है। यथा—

"चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उपमाणं।
वितियं मुहप्पमाणं गणण पमाणेण एक्केक्कं" ॥७११॥

व्याख्या—चत्वार्यंगुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम, अथवा इद द्वितीयं प्रमाणं यदुत मुखप्रमाणं कर्तव्यं मुहणंतयं, एतदुक्तं भवति—वसति प्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिका पृष्ठतश्च यथा ग्रंथिर्दातु शक्यते तथा कर्तव्यम। वस्त्र कोणद्वये गृहीत्वा यथा कृकटाया ग्रंथिर्दातु शक्यते तथा कर्तव्यमिति एतद् द्वितीयं प्रमाणं—गणना प्रमाणेन पुनस्तदेकैकमेवमुखानन्तकं भवतीति।

इस गाथा में मुख वस्त्रिका का परिमाण-माप बतलाया है, जो चारों ओर से एक बेंत और ४ अंगुल हो अर्थात् १६ अंगुल लम्बी और १६ अंगुल चौडी हो ऐसी चार तहवाली मुखवस्त्रिका होती है यह मुखवस्त्रिका का एक माप है। दूसरा-उपाश्रय आदि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करते समय जिस मुखवस्त्रिका को त्रिकोण करके उसके दोनों कोणों को पकड़कर नासा और मुख ढका जावे और गर्दन के पीछे गांठ दी जावे इस प्रकार की मुखवस्त्रिका होनी चाहिये, यह उसका दूसरा माप या स्वरूप है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि यहां पर मुख-वस्त्रिका के जो दो स्वरूप या माप बतलाये हैं-यह एक ही मुखवस्त्रिका के दो विभिन्न स्वरूप हैं वैसे गणना में तो मुखवस्त्रिका एक ही समझनी, दो नहीं। अब उसका प्रयोजन बतलाने वाली गाथा भी सुनिये:—

"सम्पातिम रयरेणुपमज्जणट्ठा वयंति मुहपत्तिं।
नासंमुहं च बंधइ तीए वसहीं पमज्जंतो" ॥ ७१२ ॥

व्याख्या—संपातिम, सत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः सचित्त पृथिवीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणु प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका ग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिका मुख च वध्नाति तथा मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।

इस गाथा का भावार्थ यह है कि बोलते समय उड़ते हुए जीवों का मुख में प्रवेश न हो—इसलिये मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखकर बोलना। तथा पृथ्वीकाय के प्रमार्जन के लिये मुखवस्त्रिका का उपयोग करना अर्थात जो सूक्ष्म धूलि उड़कर शरीर पर पडी हुई हो उसके प्रमार्जन प्रतिलेखन के लिये मुखवस्त्रिका का ग्रहण करना प्राचीन ऋषि मुनियों ने कहा है। एवं वसती-उपाश्रय आदि की पडिलेहणा करते समय नाक और मुख को आच्छादित करने-ढकने के लिये [जिससे कि सचित्त रज का मुखादि में प्रवेश न हो सके] मुखवस्त्रिका ग्रहण करनी।

ओघनिर्युक्ति की इस गाथा में मुखवस्त्रिका के तीन प्रयोजन बतलाये हैं [१] खुले मुख बोलते समय कोई उड़ने वाला सूक्ष्म जीव मुख में न गिरे अर्थात् उसकी रक्षा के लिये बोलते वक्त मुखवस्त्रिका मुख के आगे रखनी [२] शरीर पर उड़कर पड़ी हुई सूक्ष्मधूली को मुखवस्त्रिका द्वारा शरीर पर से दूर करना [३] उपाश्रय आदि के प्रमार्जन के वक्त मुख नासिका को मुखवस्त्रिका से ढक लेना,संक्षेप से कहें तो संपतिम जीवों की रक्षा के लिये पृथ्वी की प्रमार्जना के लिये और मुखादि में धूली का प्रवेश न हो तदर्थ साधु को मुखवस्त्रिका रखनी चाहिये। तब जो लोग एकमात्र वायुकाय के जीवों की रक्षा ही मुखवस्त्रिका का प्रयोजन बतलाते हैं—अर्थात खुले मुख बोलने से वायुकाय के जीवों का अवहनन होता है तदर्थ—उनकी रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका से मुख बान्धना चाहिये, उनका यह कथन शास्त्रसम्मत न होने से उपादेय नहीं है।

एक साधु—(विनयपूर्वक) क्यों महाराज ! कैसे शास्त्र सम्मत और उपादेय नहीं ?

श्री आत्मरामजी—इसलिये कि शास्त्र में वैसा उल्लेख नहीं. अर्थात वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका को मुख के आगे धरना ऐसा कथन किसी शास्त्र मे दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे वायुकाय के जीव आठ स्पर्शी हैं और मुख की भाफ चतुःस्पर्शी है, फिर चतुस्पर्शी आठस्पर्शी का कैसे घात कर सकता है, इसका तुम स्वयं विचार करो ? इसलिये ओघनिर्युक्ति में मुखवस्त्रिका के जो जो प्रयोजन बतलाये हैं वे ही शास्त्रसम्मत अथच उपादेय हैं। इसी प्रकार मुंहपत्ति बान्धने के विषय में भी जान लेना अर्थात् उसके बांधने का उल्लेख भी किसी शास्त्र में नहीं है।

श्री विश्वचन्दजी—गुरुदेव ! आपने आज मुंहपत्ति के स्वरूप और प्रयोजन के विषय में जो शास्त्रीय खुलासा किया है इसके लिये हम सब आप श्री के बहुत २ कृतज्ञ हैं ! परन्तु अभी २ एक शका मन में उठी है उसका समाधान भी बहुत आवश्यक जान पड़ता है ?

आपके कथनानुसार मुहपत्ति से दिन रात मुंह बान्ध रखना यह शास्त्र सम्मत आचार नहीं किन्तु शास्त्रबाह्य मनःकल्पित है। तो क्या हाथ मे रखने का कोई संकेत शास्त्रकार ने किया है। कृपया इसको स्पष्ट कीजिये ?

श्री आत्मारामजी—पूर्वोक्त ओघनिर्युक्ति गाथा में मुखवस्त्रिका का जो प्रयोजन बतलाया है अथवा यूं कहिये कि उसका जिस तरह से उपयोग करने का आदेश है उससे मुखवस्त्रिका को हाथ में रखना, यही फलितार्थ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भी दशवैकालिक सूत्र में मुखवस्त्रिका के लिये "हत्थग-हस्तक" शब्द का प्रयोग किया है उससे भी यही प्रमाणित होता है। यथा—

अणुन्नवित्तु मेहावी, परिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जिता, तत्थभुंजिज्ज संजये" (५।८३)

व्याख्या—"अणुन्नत्ति" अनुज्ञाप्य सागरिकं परिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं "मेधावी" साधुः "प्रतिच्छन्ने" तत्रकोष्ठकौ-"संवृतः" उपयुक्तः सन साधु ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु "हस्तग" मुखवस्त्रिका रूपं आदायेति वाक्यशेष., सम्प्रमृज्य विधिना तेन कायं तत्र भुंजीत "संथतो" रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थ." ।

इसका भावार्थ यह है कि ग्रामादि से गोचरी लाकर आहार करने के निमित्त स्थान वाले गृहस्थी से आज्ञा लेकर एकान्त स्थान मे जाकर ईर्यावही पडिकमे तदनन्तर हस्तग अर्थात् मुखवस्त्रिका की पडिहलेना करके उससे विधि पूर्वक शरीर की प्रतिलेखना करे उसके बाद समभाव पूर्वक एकान्त मे आहार करे । इस गाथा में मुखवस्त्रिका के लिये प्रयुक्त हुआ "हस्तग" शब्द उसके हस्तगत होने की ओर ही संकेत करता है। तथा इससे भी अधिक स्पष्ट और प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखनेवाला पाठ आवश्यक निर्युक्ति का है जो कि इस प्रकार है—

"चउरंगुल पायाणं मुहपत्ति उज्जूए, उव्वहत्थ रयहरणं ।
वोसट्ठ चत्त देहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ १५४५ ॥

व्याख्या—चउरंगुल त्ति चत्तारि अंगुलाणि पायाणं अंतरं करेयव्वं मुहपोत्तिं "उज्जूए" त्ति दाहिण हत्थेण मुहपोत्तिया घेतव्वा, उव्वहत्थे रयहरणं कायव्वं एतेण विहिणा "वोसट्ठचत्तदेहोत्ति पूर्ववत काउस्सग्ग करिज्जाहिति गाथार्थः"

इस गाथा मे कायोत्सर्ग की विधि का वर्णन किया गया है—कायोत्सर्ग के लिये इस प्रकार खड़े होना चाहिये जिससे दोनों पैरों के बीच चार अगुल का अन्तर हो, तथा दक्षिण-सज्जे हाथ में मुहपत्ति और वाम-खब्बे हाथ मे रजोहरण रखना, दोनों भुजाओं को लम्बी लटकाकर सीधे खडे होकर शरीर का-व्युत्सर्ग करते-शरीर को वोसराते हुए ध्यानारूढ होना चाहिये यह काउस्सग्ग-कायोत्सर्ग की विधि है।

इस गाथा में कायोत्सर्ग करते समय मुखवस्त्रिका को दक्षिण हाथ मे रखने का स्पष्ट निर्देश है इसलिये प्रस्तुत शंका के समाधान मे इस प्रमाण से किसी प्रकार की कमी बाकी नही रह जाती।

चम्पालालजी—महाराज! आपने हम लोगों पर बडी कृपा की जो कि मुंहपत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातों का शास्त्र दृष्टि से स्पष्टीकरण कर दिया, परन्तु इस प्रकरण मे जो काउस्सग्ग-कायोत्सर्ग का प्रसंग आ पड़ा है उसे भी थोड़ा सा स्पष्ट करने की कृपा करे? खडे होकर काउस्सग्ग करने की रीति को हमने सुना और समझ लिया मगर बैठे हुए काउसग्ग करना हो तो कैसे करना?

श्री आत्मारामजी—मैंने भी श्री रत्नचन्दजी महाराज से एक दिन यही प्रश्न किया था, तब उन्होंने उत्तर मे कहा कि—चौकड़ी लगाकर बैठना, दोनों भुजाये लम्बी कर देनी जो गोड़ों पर आजावें और ओघा मुंहपत्ति उसी प्रकार रखनी यह बैठकर काउस्सग करने की रीति है।

चम्पालालजी—महाराज ! अपने तो ऐसे नहीं करते।

श्री आत्मारामजी—यह बात भी मैने इन्हीं शब्दों में उनसे कही थी, तब उन्होंने कहा–कि भाई ! अपने कोई शास्त्र के आधार पर थोड़े ही चलते हैं। तब मैंने कहा–कि अपने सम्प्रदाय में पलोथी मार के चौकड़ी से बैठकर दोनों हाथ मिला के काउस्सग्ग करने की जो रीति चल रही है उसका कोई न कोई आधार तो होगा ? इस पर महाराज श्री रत्नचन्दजी ने फर्माया–कि इसपर मैंने स्वयं भी कई बार विचार किया है, अन्त में मैं तो इसी निर्णय पर पहुंचा हूँ कि अपने ढूंढक सम्प्रदाय में बैठेहुए काउस्सग्ग करने की जो रीति प्रचलित हो रही है उसका आधार जिन प्रतिमा ही हो सकती है, अर्थात् पद्मासन मे बैठी हुई ध्यानारूढ़ जिन-प्रतिमा की मुद्रा को ही अनुकरण रूप से काउस्सग्ग में अपनाया गया है। जिन प्रतिमा दो प्रकार की होती है–एक खड्गासन दूसरी पद्मासन, खड़ी का खड्गासन और बैठी का पद्मासन होता है। इसलिये अपनी सम्प्रदाय में प्रचलित कायोत्सर्ग की रीति का आधार पद्मासन की जिन प्रतिमा ही प्रतीत होती है। मेरे इस विचार की पुष्टि एक दूसरे प्रमाण से भी होती है,–अपनी सम्प्रदाय के मूल पुरुष हैं लौंकाजी, वे पहले मूर्ति को मानते और निरन्तर दो वक्त मन्दिर में जाकर सेवा पूजा करते और तिलक लगाते थे, मूर्ति का विरोध तो उन्होंने बहुत पीछे से आरम्भ किया जब कि वे यतियों द्वारा अपमानित होकर अहमदाबाद से निकले। सो बहुत वर्षों की आराधना से हृदय में समाई हुई जिन मुद्रा की प्रतीक रूप मूर्ति को ध्यान के लिये आदर्श रूप मान लेना स्वाभाविक ही था इसलिये हमारी सम्प्रदाय में प्रचलित होने वाली काउस्सग्ग की इस रीति को प्रथम लौंकाजी ने ही चलाया होगा, ऐसा मानना मुझे अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है, और वास्तव में देखा जाय तो बहुत सी बातें तो अपने मे मन्दिराम्नाय वालों की देखा देखी ही प्रवृत्ति में आई हुई हैं–उदाहरणार्थ एक बहुत साधारण बात को लीजिये—

अपने सम्प्रदायवाले, पक्खी प्रतिक्रमण मे १२ लोगस्स का, चौमासी प्रतिक्रमण मे २० लोगस्स का और सम्वत्सरी में ४० लोगस्स का जो–काउस्सग्ग–कायोत्सर्ग करते हैं इसका विधान अपने माने हुए ३२ सूत्रों मे से किसी सूत्र के मूल पाठ में है ? यदि नहीं तो फिर यह किस आधार से किया जाता है ?

इस पर मैंने कहा–कि महाराज ! अपनी भी तो कोई परम्परा होगी उसी के अनुसार हम करते चले आरहे हैं। तब आप बोले कि परम्परा में भी तो कोई मूल पुरुष होना चाहिये। और जब हम मूल पुरुष की खोज करते हैं तो लौंकाजी के सिवा और कोई सिद्ध नहीं होता।

इस पर मैंने कहा–कि महाराज ! इससे तो जिन प्रतिमा के उपासक अपने सम्प्रदाय से बहुत पहले के सिद्ध होगये। इतना सुनकर आप कुछ मुस्कराये और कहने लगे—क्या तुमको अब इसमें भी कोई सन्देह रह गया है। मूर्तिपूजा तो जैन परम्परा के धार्मिक कर्तव्यों में से अन्यतम असाधारण कर्तव्य है। अतः जैन परम्परा के आरम्भ के साथ ही इसका आरम्भ है और होना चाहिये। मैंने तुमको मूल जैनागमों, और

उनपर रचे गये निर्युक्ति, भाष्य,चूर्णी और टीकाओं के एकएक पाठ से मूर्तिपूजा सम्बन्धी तुम्हारी सभी शंकाओं का सन्तोष जनक समाधान कर दिया है। इसके अतिरिक्त विवादास्पद अन्य विषयों पर तुम्हारी तरफ से उठाई गई शंकाओं के समाहित होने में भी कोई कमी नहीं रही। उससे तुम्हारी आत्मा को भी पूरा २ सन्तोष मिला है इसका भी मुझे अनुभव है। तब मैंने कहा-हा महाराज! बात तो ऐसी ही है आप श्री का कथन सोलह आने यथार्थ है मुझे तो जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में अब किसी तरह की भ्रान्ति नहीं रही। यह सब कुछ आपकी उदार कृपा का ही फल है।

इतना वार्तालाप होने के बाद महाराज श्री रत्नचन्दजी वहा से उठकर दूसरी जगह पर जा बैठे और मैं अपने स्थान पर आगया। सो आज का वार्तालाप इन्हीं शब्दों के साथ समाप्त होता है तुम लोग अपने स्थान में पधारे और मैं अपने दूसरे काममें लगता हूँ।

सभी मिलकर—तहत वचन-जो आज्ञा कह कर सबने वन्दना की और अपने स्थान-उपाश्रय की ओर चलपड़े और आप अपने किसी दूसरे धार्मिक व्यापार मे लग गये।

अध्याय १२

मूर्तिवाद का शास्त्रीय निर्णय

यह तो पाठक जान ही चुके हैं कि महाराज श्री आत्मारामजी के प्रतिबोध और ज्ञानाभ्यास कराने से साधु श्री विश्नचन्द और उनके शिष्य श्री हाकमराय और चम्पालालजी और श्री निहालचन्दजी के हृदय में जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप की गहरी छाप पड़ चुकी थी, उसके कारण वे बाहर से पूज्य श्री अमरसिंहजी के शिष्य कहलाते हुए भी भीतर से श्री आत्मारामजी के हो चुके थे। वे उस समय की बड़ी शीघ्रता से प्रतीक्षा कर रहे थे जिस समय श्वेताम्बर जैन परम्परागत शास्त्रसमत साधु वेष को धारण करके जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रचार करने के लिये प्रत्यक्ष रूप से बाहर निकलें और हम सब उनके अनुगामी बनने का सर्व प्रथम श्रेय प्राप्त करें तथा जैन धर्म की प्रभावना में अपने साधु जीवन का भी सदुपयोग करें। परन्तु इससे पहले मूर्तिवाद अर्थात् जिन प्रतिमा सम्बन्धी आगम पाठों का आप श्री के मुखारविन्द से पूरा पूरा परमार्थ समझलें ताकि आप की अनुपस्थिति में किसी समय उपस्थित हुई प्रतिमा सम्बन्धी चर्चा का हम भी शास्त्रीय निर्णय करने के योग्य बन सकें। इसी भावना से प्रेरित हुए श्री विश्नचन्द चम्पालाल और हाकमरायजी आदि साधु समुदाय श्री आत्मारामजी के पास पहुंचे और विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर उनकी सेवा में, निर्धारित प्रस्ताव को श्री विश्नचन्दजी ने इस रूप में उपस्थित किया—

महाराज! आप श्री के पुनीत सम्पर्क मे आने के बाद हमारी अन्ध श्रद्धा को जो दिव्य चक्षु प्राप्त हुए हैं और उनके प्रकाश में हमारे विपथगामी साधु जीवन को जिस सुपथ पर चलने का साधु संकेत प्राप्त हुआ है उसके लिये हम आपके अधिक से अधिक कृतज्ञ हैं। आप श्री ने हमारे अन्धकार पूर्ण जीवन में जिस दिव्य प्रकाश का संचार किया है उससे हमें अपने भावी जीवन के निर्माण में काफी से भी अधिक सहायता मिली है, यह तो निस्सन्देह ही है कि हम सब आपके हैं और जीवन पर्यन्त आपके रहेंगे। परन्तु आज हम जो विचार मन में लेकर आपकी पुनीत सेवा मे उपस्थित हुए हैं वह है मूर्तिवाद—जिनप्रतिमा संबंधी शास्त्रीय निर्णय अथवा मूर्तिपूजा विषयक शास्त्रीय विधान। तात्पर्य कि हमारी सम्प्रदाय की आगम मान्यता के

अनुसार जिन प्रतिमा या मूर्तिपूजा सम्बन्धी आगम पाठों का उल्लेख कहां और किस प्रकार है ? एवं उनके अर्थ निर्णय में हमारी सम्प्रदाय के साधुओं की ओर से उठाई जाने वाली शंकाओं का समुचित तथा सन्तोषजनक समाधान क्या है ? इत्यादि वातों का पूरा पूरा स्पष्टीकरण हम आपके मुखारविन्द से कराना चाहते हैं। ताकि फिर कभी इस विषय की चर्चा के लिये समय लेने की आवश्यकता न रहे। इस विषय में आप श्री को इतना स्मरण रहे कि यह हम इसलिये नहीं पूछ रहे कि हमको जिनप्रतिमा या मूर्तिपूजा के विहितत्व में किसी प्रकार का सन्देह है [वह तो आपकी कृपा से अव सर्वथा मिट गया।] वल्कि इसलिये पूछ रहे हैं कि हम भी इस विषय में निष्णात हो जावे ताकि आपकी अनुपस्थिति में इस विषय में किसी के द्वारा उठाये गये प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देकर आपके कार्य में सहायक वन सकें।

श्री आत्मारामजी—तव तो और भी अच्छी वात है। लो, अव इस विषय का शास्त्रीय स्पष्टीकरण सुनो, और सुनकर उसे मनन करने का यत्न करो।

जिन प्रतिमा की उपासना या मूर्तिपूजा के आगम विहितत्व के अर्थात् उसे आगम विहित या आगम सम्मत प्रमाणित करने के लिये सर्व प्रथम तीन वातों का ध्यान रखना चाहिये यथा—

(१) चैत्य शब्द के अर्थ की विचारणा (२) आगमगत पाठों की प्रकरण और विषयानुसारी अर्थ-संगति और उनपर लिखे गये प्राचीन आचार्यो के निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाओं के पाठों की गवेषणा। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाली सबसे अधिक महत्वपूर्ण वात है आगमों की वर्णन शैली का ज्ञान। इसके विना प्रस्तुत विषय में जो निर्णय होगा वह अधिक सन्तोषजनक प्रमाणित नहीं हो सकेगा।

अपने पंथ वाले—"अन्धेनैव नीयमानो यथान्धः" की उक्ति को चरितार्थ करते हुए जिन प्रतिमा या मूर्तिपूजा का विरोध करते समय यह सर्वथा भूल जाते हैं कि जैन धर्म या जैन परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने के लिये सिवाय मन्दिर और मूर्ति के उनके पास दूसरा साधन ही क्या है ? अगर जैन परम्परा में से जिन मन्दिर और जिन प्रतिमा को निकाल दिया जाय तो उसकी ऐतिहासिक प्राचीनता की डौंडी पीटना सभ्य-समाज में वैसा ही उपहास्यजनक होगा जैसा कि जंगल में कई दिनों से पड़े हुए प्राणी के चेतनाशून्य-निर्जीव कलेवर को उठाकर उससे वातचीत करने का उद्योग करना। तात्पर्य कि जैसे निर्जीव कलेवर वात करने में सर्वथा असमर्थ होता है उसी प्रकार जैन परम्परा के प्राणभूत मन्दिर और मूर्ति को उसमें से निकाल देने के वाद उसकी चेतनारूप प्राचीनता भी साथ में ही लुप्त हो जाती है। आज यदि भूगर्भ से निकली हुई लगभग दो अढ़ाई हजार वर्ष की प्राचीन विशाल जिनप्रतिमाये हमारे सामने न होतीं और यदि प्राचीन जिन मन्दिरों के भग्नावशेष हमारे दृष्टिगोचर न होते एवं पुस्तकों मे लिखा हुआ देवनिर्मित स्तूप यदि मथुरा के कंकाली टीले को फोड़कर उसके गर्भ से न निकल पाता तो कौन ऐसा अवोध व्यक्ति होता जो केवल हमारे कथनमात्र से ही जैन धर्म की प्राचीनता को स्वीकार कर लेता ? इसलिये मन्दिर और मूर्ति को जैन

परम्परा से निकाल कर उसकी ऐतिहासिक प्राचीनता का दावा करना मेरे ख्याल में बालचेष्टा के सिवा और कुछ भी महत्व नहीं रखता। अस्तु अब प्रस्तुत विषय की ओर आइये—

चैत्य शब्द का अर्थ है मन्दिर और मूर्ति, इसी अर्थ में उसका जैनागमों में व्यवहार हुआ है। स्थानांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति-ज्ञाताधर्म कथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, प्रश्न व्याकरण और औपपातिक तथा राजप्रश्नीय आदि आगम ग्रन्थों में जहां "देवयं चेइयं" पाठ आया है, वहां पर तो उसका आगम-सम्मत अर्थ है देवप्रतिमा या इष्टदेव प्रतिमा, और जहां पर "पुण्णभद्दे चेइए" "गुणसिलिए चेइए" "मणिभद्दे चेइए" इत्यादि पाठ हैं वहां पर उसका-चैत्य का-उस २ नाम से विख्यात व्यन्तर जाति के देव विशेष का मन्दिर अर्थ है। एवं जहां पर केवल "चैत्य, जिन चैत्य, या अरिहंत चैत्य" पाठ है वहां पर तो उसका जिन प्रतिमा या जिन मन्दिर अर्थ ही शास्त्रसम्मत है। इस अर्थ में किसी को भी विसंवाद नहीं है।

औपपातिक सूत्रगत "पुण्णभद्देचेइए" इस वाक्य में उल्लिखित 'पूर्णभद्र चैत्य' क्या है ? इसका स्पष्टीकरण उसका वर्णन देखने से निश्चित हो जाता है। औपपातिक सूत्र में पूर्णभद्र चैत्य का जो वर्णन किया गया है उस पर से अन्य आगमों मे उल्लेख किये गये "गुणसिलिए चेइए" "मणिभद्दे चेइए" आदि पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। वह पाठ इस प्रकार है—

"तीसेणं चंपाएणयरीए वहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए पुण्णभद्देणामं चेइए होत्था, चिराइए पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे सद्दिए, कित्तिए णाए सच्छत्ते सज्झए, सघंटे सपडागे पडाइ-पडागमंडिए सलोमहत्थे कयवेयड्डिए लाइय उल्लोइय महिए गोसीस सरस रत्तचंदण दद्दर दिण्ण पंचंगुलितले उवचिय चंदण कलसे चंदण घड़ सुकय तोरण पडिदुआर देसभाए आसित्तो-वसित्त विउलवट्ट वग्घारिय मल्लदाम दाम कलावे, पंचवण्ण सरस सुरभि मुक्क पुप्फ पुंजोवयार कलिए, कालागरु पवर कुंदरुक्क-तुरुक्क धूव मघ मघंत गंधुद्धयाभिरामे सुगंध वरगंध गंधिए गंध वट्टिभूए णड़ णट्टग जल्ल मल्ल मुट्ठिय वेलंबग पवग कहग लासग आइक्खग लंख मंख लूणइल्ल तुंब वीणिय भुयग मागह परिगए बहुजण जाण वयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे, दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सण्णिहिय पड़िहारे जागसहस्स भाग पड़िच्छए बहुजणो अच्चेइआगम्मपुण्णभद्दं चेइयं" (१)

(१) छाया—तस्यां णं चम्पायां नगर्यां वहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे पूर्णभद्रं नाम चैत्यं अभवत्। चिरातीतं पूर्व-पुरुषप्रज्ञप्तं पुराणं शब्दितं कीर्तितं ज्ञातं सच्छत्रं सध्वजं सघंटं सपताकं पताकातिपताकामंडितं

भावार्थ—उस चम्पानगरी के उत्तर पूर्व दिशा के मध्य भाग अर्थात् ईशान कोण में पूर्व पुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त-प्रशंसित उपादेय रूप से प्रकाशित बहुत काल का बना हुआ अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध पूर्ण-नाम का एक चैत्य था। जो कि ध्वजा घंटा पताका लोमहस्त-मोरपिच्छी और वेदिका आदि से सुशोभित था। चैत्य के अन्दर की भूमि गोमयादि से लिपी हुई थी। और दीवारों पर श्वेतरंग की चमकीली मिट्टी पोती हुई थी और उन पर चन्दन के थापे लगे हुए थे, वह चैत्य, चन्दन के कलशों से मंडित था और उसके हर एक दरवाजे पर चन्दन के घड़ों के तोरण बन्धे हुए थे, उससे ऊपर नीचे सुगन्धित पुष्पों की बड़ी २ मालायें लटकाई हुई थीं, पांच वर्ण के सुगन्धी वाले फूल और उत्तम प्रकार के सुगंधि युक्त धूपों से वह खूब महक रहा था वह चैत्य अर्थात् उसका प्रान्तभाग नट नर्तक जल्ल मल्ल मौष्टिक विदूपक तथा कूदने वाले, तैरने वाले, ज्योतिपी, रास पाने वाले, कथा करने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, वीणा बजाने वाले और गाने वाले भोजक आदि लोगों से व्याप्त रहता था, यह चैत्य अनेक लोगों में और अनेक देशों में विख्यात था, बहुत से भक्त लोग वहां आहुति देने, पूजा करने वन्दना करने और प्रणाम करने के लिये आते थे। वह चैत्य बहुत से लोगों के सत्कार सम्मान एवं उपासना का स्थान था। तथा कल्याण और मंगलरूप देवता के चैत्य की भांति विनयपूर्वक पर्युपासनीय था, उसमें दैवी शक्ति थी और वह सत्य एवं सत्य उपाय वाला अर्थात् उपासकों की लौकिक कामनाओं को पूर्ण करने वाला था वहां पर हजारों यज्ञों का भाग नैवेद्य के रूप में अर्पण किया जाता था। इस प्रकार से अनेक लोग दूर दूर से आकर इस पूर्णभद्र चैत्य की अर्चा-पूजा करते थे।

औपपातिक सूत्र के इस पाठ के अर्थ पर ध्यान देने से "पूर्णभद्र चैत्य, और मणि भद्र चैत्य" आदि से शास्त्रकारों को क्या अभिप्रेत है यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। यहां पर प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का देवमंदिर और देवप्रतिमा के सिवा और कोई भी अर्थ संभव नहीं हो सकता। पूर्णभद्र यह व्यन्तर जाति के देव विशेप—यक्षराज का नाम है उसका चैत्य-मंदिर ही पूर्णभद्र चैत्य कहलाता है।

सलोमहस्तं, कृतवितर्दिकं लाइय उल्लोइय महियं गोशीर्प—सरस—रक्तचन्दन—दर्दर—दत्त—पंचांगुलि-तलन्, उपचित—चन्दनकलशं चन्दनघट—सुकृत—तोरण—प्रतिद्वार—देशभागम्, आसिक्तावसिक्त—विपुलवृत्त—लम्बमान—माल्यदामकलापम्, पंचवर्णसरससुरभि—मुक्तपुष्पपुंजोपहारकलितम्, कालागरु-प्रवर-कुन्दरुक्कतुरुष्क-धूप-मघमघायमान-गन्धोद्धताभिरामम्, सुगन्धवरगन्धगन्धितम्, गन्धवर्तिभूतम्, नटनर्तक—जल्लमल्लमौष्टिक—विडम्बक—प्लवक—कथक—रासक—आख्यायक-लंख—मंख तूणिक तुम्बवीणक भुजग मागध परिगतम्, बहुजन-जानपदस्य-विश्रुत कीर्तितम् बहुजनस्य आहोतुः आहवनीयम् प्राहवनीयम् अर्चनीयम् वन्दनीयम्, नमस्यनीयम् पूजनीयम् सत्कारणीयम् सम्मान-नीयम् कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं-(इव) विनयेन पर्युपासनीयम् दिव्य सत्य सत्योपायं सन्निहित-प्रातिहार्यं यागसहस्र—भागप्रतीच्छकम् बहुजनः अर्चति आगम्य पूर्णभद्रं चैत्यम्॥

भगवती सूत्र में पूर्णभद्र को यक्षेन्द्र के नाम से निर्दिष्ट किया है * इसके अतिरिक्त इस पाठ से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय—अंगसूत्रों के रचना काल में यक्षों की—व्यन्तर देवों की पूजा का जनता में विशेष प्रचार था, उनके अत्यन्त प्राचीन मंदिर थे और उनमें यक्षादि देवों की मूर्तियें प्रतिष्ठित थीं, लोग उनकी सेवा पूजा बड़ी श्रद्धा से करते थे, तथा उनको इन देव मूर्तियों में प्रत्यक्ष फल देने का विश्वास था, एवं धन पुत्रादि ऐहिक सुख प्राप्ति के निमित्त वे उनकी भक्ति करते और उनको वह प्राप्त भी हो जाता।

अर्जुनमाली की स्त्री के साथ बलात्कार करने वालों का मुद्गरपाणी यक्ष देव के द्वारा किस तरह से प्रतिकार हुआ, तथा सुलसा की भक्ति से—[जो कि हरिणेगमेषी देव की प्रतिमा बनाकर उसकी निरन्तर पूजा करती थी] प्रसन्न होकर हरिणेगमेषी देव ने उसके तिन्दूपन—मृत वत्सायन को कैसे दूर किया इसका वर्णन अन्तकृद्दशा नाम के अंगसूत्र में बहुत अच्छीतरह विस्तार पूर्वक किया है। वह सूत्र निकाल कर तुमने स्वयं देख लेना या मेरे पास लाना, मैं तुमको उसमें से निकाल कर स्वयं बतला दूंगा।

प्राचीन टीकाकारों ने भी इसी अर्थ की प्ररूपणा की है। वे इसे व्यन्तरायतन के नाम से उल्लेख करते हैं उनका अभिप्राय इन देव मन्दिरों या यक्ष मन्दिरों को जिन मन्दिरों से विभिन्न बोधित करने का है। इसलिये नवांगी टीकाकार पूज्य अभयदेवसूरि यहां पर प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—

"चितेर्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्मवेति चैत्यं संज्ञा शब्दत्वात् देवबिम्बं तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं तच्चेहव्यन्तरायतनं नतु भगवतामर्हतामायतनम्" [भग० श० १ उ० १] अर्थात्—

लेप्यादि पदार्थ का जो चयन है उसे चिति कहते हैं इस चिति का जो चितिपन है अथवा चिति का जो कर्म है उसको चैत्य कहते हैं, यह संज्ञा शब्द है अतः इस का अर्थ देव का बिम्ब—प्रतिमा—करना प्रतिमा का आश्रय रूप होने से उसका घर—मन्दिर भी चैत्य कहलाता है, परन्तु यहां पर चैत्य का अर्थ व्यन्त-रायतन—व्यन्तरजाति के देव विशेष—यक्षादि का आयतन—घर करना अर्हतों का आयतन नहीं करना।

पूज्य अभयदेव सूरि ने यहां के चैत्य का व्यन्तरायतन—यक्ष मन्दिर अर्थ समझने की ओर लक्ष्य क्यों दिलाया ? इसको भी तुम्हें समझ लेना चाहिये। चैत्य शब्द का प्रधान अर्थ देवप्रतिमा या देवमन्दिर है और देव शब्द का सामान्य रूप से देवयोनि में उत्पन्न होने वाले देवों के अतिरिक्त तीर्थंकर में भी तीर्थंकर-देव इस नाम से व्यवहृत होता है। तब इस नाम सम्बन्धी समानता को लेकर देव बिम्ब—देव प्रतिमा या देवस्थान देवमन्दिर से यहां पर जिन प्रतिमा या जिन मन्दिर का ग्रहण भी हो सकता है जो कि इष्ट नहीं है। तात्पर्य कि पूर्णभद्र आदि यक्षों के चैत्य—मन्दिर भले ही देवमन्दिर कहलायें परन्तु वे तीर्थंकर देव के मन्दिर कहे व माने नहीं जासकते। इन उक्त यक्षायतनों—यक्षालयों को जिनायतनों—जिनालयों से पृथक् रूप से प्रदर्शित करने के लिये ही आगमवित् टीकाकार महानुभावों को—तच्चेह व्यन्तरायतनं नतु भगवतामर्हतामाय-

* पुण्णभद्दस्स जक्खिंदस्स' [शत० १० उ० ५]

तनम्" यह लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई अर्थात् ये देवायतन, जिनायतन नहीं किन्तु व्यन्तरायतन–यक्षायतन हैं। इसी हेतु से पूज्य अभयदेव सूरि ने यहां के चैत्य को व्यन्तरायतन समझने का संकेत किया है।

इसके अतिरिक्त आगमों में जहां केवल "चेइयाइं या अरिहंत चेइयाइं" इत्यादि पाठ उपलब्ध होते हैं उनका तो आगम सम्मत अर्थ जिन प्रतिमा या जिन मन्दिर ही प्रमाणित होता है। यथा—

श्री भगवती सूत्र में—"तहिं चेइयाइं वन्दइ-तत्र चैत्यानि वन्दते" [वहां के चैत्यों को वन्दना करता है। "इहं चेइयाइं वंदइ-इह चैत्यानि वन्दते" [यहां के चैत्यों को वन्दना करता है] उपासकदशा में-"अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंत चेइयाइ–अन्ययूथिकपरिगृहीतानि अर्हच्चैत्यानि" [अन्यमत परिगृहीत अरिहंत के चैत्यों को] औपपातिक सूत्र में—"णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा–नान्यत्र अर्हतः अर्हच्चैत्यानि वा" [अरिहंत और अरिहंत के चैत्यों के सिवा और किसी को वन्दना करनी नहीं कल्पती।

इत्यादि आगम पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का सिवाय जिन प्रतिमा के न तो और कोई अर्थ सम्भव है और ना ही प्रकरणसंगत और आगमसंमत है तथा किसी भी प्राचीन आचार्य ने इसके सिवाय और कोई अर्थ किया भी नहीं। इसलिये आगम गत इन पाठों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द के प्रमाण सिद्ध जिन प्रतिमा अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की कल्पना करना या तो निरी मूर्खता है और या कोरा दुराग्रह इसके सिवा और कुछ नहीं। इस प्रकार प्रामाणिक शास्त्रीय दृष्टि से आगमगत चैत्य और जिन चैत्य के यथार्थ अर्थ का निर्णय हो जाने के बाद अब प्रस्तुत विषय से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली आगमों की वर्णन शैली का भी तुम लोगों को ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

श्री विशनचन्दजी— हां महाराज! फरमाइये। यह तो हमारे लिये बिलकुल नई बात है, हम लोगों को तो इस बात की कभी कल्पना भी नहीं हुई कि आगमों की वर्णन शैली में भी कोई खास विशेषता है।

चम्पालालजी—महाराज! हो भी कहां से जब कि हम बैठे ही ऐसे स्थान में हैं कि जहां प्रकाश की किरण को अन्दर प्रविष्ट होने के लिये कोई मार्ग ही नहीं। केवल तोते की तरह आगमों के शुद्धाशुद्ध पाठ को रट कर उसका मनमाना अर्थ कर लेना ही तो हमारे ज्ञान की इति श्री है। यह सुन कर सब हंस पड़े और महाराज श्री भी कुछ मुस्कराये और बोले—

भाई! प्रभु का ज्ञान अनन्त है, छद्मस्थ अवस्था में रहा हुआ आत्मा अपने क्षयोपशम के अनुसार उसका ग्रहण करता है, तुम लोग अन्धकार पूर्ण वातावरण से निकल कर अब प्रकाश की ओर कदम बढ़ाने लगे हो, तुम को वह स्थान भी अवश्य उपलब्ध होगा जिसमे चारों ओर प्रकाश की किरणें फैल रही हैं। एक दिन मैं भी तुम्हारी तरह उसी स्थान में बैठा हुआ था जिसका निर्देश भाई चम्पालाल ने किया है। अच्छा अब अपने प्रस्तुत विषय का विचार करें। अपने मत या पथ का नेतृत्व करने वाले साधु मुनिराज

जिन प्रतिमा की उपासना या मूर्तिपूजा को आगम बाह्य घोषित करते हुए मूर्तिपूजा के अनुयायियों को लक्ष्य रखकर बड़ी गर्वोक्ति से यह कहते हैं कि "आगमों में यदि मूर्तिपूजा का विधान है तो उसके लिये कोई आगम का विधि वाक्य बतलाओ ? बिचारे बतलायें भी कहां से जब कि आगमों में उसकी गन्ध तक भी नजर नहीं आती । भला इस प्रकार की हिंसा प्रधान क्रियाओं की शास्त्रकार कभी आज्ञा दे सकते हैं ? कभी नहीं ।" इन धर्म नेताओं की इस प्रकार ऊंचे स्वर में की गई गर्वपूर्ण घोषणा के आगे उनके सामने बैठी हुई अबोध जनता एक दम प्रभावित हो उठती है और उसका परिणाम यह होता है कि देव पूजा जैसे परम आवश्यक शास्त्र-विहित आचार के अनुष्ठान से वे वंचित रह जाते हैं । अतः मूर्ति उपासना को आगमविहित प्रमाणित करने के लिये सर्व प्रथम आगमों की वर्णन शैली का ज्ञान प्राप्त कर लेना तुम लोगों के लिये नितान्त आवश्यक है ।

तुम लोगों ने न्यूनाधिक रूप में आगमों का अवलोकन तो किया ही है, तुमने देखा होगा कि उनमें गृहस्थ धर्म का जो उल्लेख है वह प्रायः अनुवाद रूप में ही किया गया है । जिस प्रकार साधु साध्वी के लिये "कप्पई णो कप्पई" आदि वाक्यों के द्वारा विधि-निषेधरूप से उनके आचारों का आगमों में निर्देश किया गया है, वैसा श्रमणोपासक-श्रावक धर्म के लिये विधि-निषेधरूपेण उल्लेख उनमें देखा नहीं जाता । गृहस्थ धर्म के नियमों का उल्लेख तो उनमें सर्वत्र अनुवाद रूप से ही किया गया देखा जाता है । इसका कारण यह है कि निर्ग्रन्थप्रवचन में मुख्यता मुनिधर्म को ही प्राप्त है गृहस्थधर्म या गृहस्थ के धार्मिक आचारों का तो उसमें आनुषंगिक वर्णन है वह भी प्रायः चरितानुवाद रूप में ही ।

अच्छा अब मैं तुम्हें यह बतलाने का यत्न करूंगा कि आगम ग्रन्थों में जिन प्रतिमा या मूर्तिपूजा का समर्थन कहां और किस रूप में है । यह तो निर्विवाद ही है कि आगमों में मूर्ति उपासना के विरुद्ध कोई उल्लेख नहीं है और विधायक उल्लेखों के विषय में जो विवाद है उसका निराकरण तो चैत्य शब्द के जिन प्रतिमा अर्थ प्रमाणित हो जाने से ही हो जाता है । जैसा कि मैंने तुम को प्रथम बतलाया जब कि आगम प्रयुक्त चैत्य शब्द का जिनप्रतिमा या जिनमन्दिर अर्थ आगमसम्मत और प्रमाण-पुरस्सर है तो तदाश्रित जिनप्रतिमा या मूर्तिपूजा की विहितता के लिये कोई अलग विधि वाक्य ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । आगमों अर्थात् अंग और उपांगादि में प्रतिमा सम्बन्धी जितने भी पाठ विद्यमान हैं वे विधिरूप या अनुवादरूप कुछ भी हों परन्तु उन पर से मूर्ति उपासना का समर्थन भलीभांति होता है । प्रथम बतलाई गई आगमों की जो वर्णन शैली है उसका विचार करते हुए जिन प्रतिमा से सम्बन्ध रखने वाले आगम पाठों का यदि निष्पक्ष भाव से पर्यालोचन करें तो ज्ञात होगा कि वे मूर्तिपूजा की विधेयता-विधिनिष्पन्नता के पूरे २ समर्थक हैं । परन्तु आज समय अधिक हो गया है इसलिये बाकी रहे विषय का विचार अपने कल पर रक्खेंगे । कल आप लोग जरा जल्दी पधारें ताकि यह प्रकरण समाप्त हो जावे । इसके उत्तर में बिशनचन्दजी आदि सबने हाथ जोड़ कर तहत वचन कहकर वन्दना की और प्रसन्नचित्त से सब अपने स्थान को चल दिये । स्थान

पर पहुंचने के बाद पहले कभी न सुनी हुई बातों का परावर्तन करने लगे और महाराज आत्मारामजी की प्रतिभा की भूरि २ प्रशंसा करने के साथ २ अपने सद्भाग्य की भी सराहना करने लगे।

दूसरे दिन नियत समय से आधा घंटा पहले ही तैयार होकर आपके पास पहुंच गये और विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार करके यथाधिकार अपने स्थान पर बैठ गये, इधर आपने भी सबको सुखसाता पूछकर अपना आसन ग्रहण किया।

श्री आत्मारामजी—बिशनचन्दजी आदि उपस्थित सब साधुओं को सम्बोधित करते हुए बोले—भाई! कल मैंने मूर्ति पूजा सम्बन्धी जिन आगमपाठों का जिकर किया था आज वे आगम पाठ तथा उनके अर्थों पर अपने विचार करना है तुम लोगों को यह तो पता ही है कि उपासकदशा नाम के सातवें अंग सूत्र में आनन्द श्रावक का अधिकार आता है। आनन्द श्रावक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के सन्मुख उपस्थित होकर कहता है—

§ "नो खलु मे भंते कप्पइ अज्जप्पभिइं अण्ण उत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अन्न उत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंत चेइयाणि वा वंदित्तए वा णमंसित्तए वा" इत्यादि

[समिति वाला पृ. १२]

हे भगवन्! आज से मुझे अन्यमत के–जैनमत से भिन्नमत के साधुओं को, अन्य मत के देवों हरिहरादि को तथा अन्यमतवालों ने जिन्हें ग्रहण कर लिया हो ऐसे अरिहंत के चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता इत्यादि। यह तो है उपासक दशा के इस पाठ का सामान्य अक्षरार्थ, अब इसका परमार्थ सुनिये—

आनन्द श्रावक के अभिग्रह सम्बन्धी इस पाठ में व्रतधारी सम्यग्दृष्टि श्रावक के लिये गुरुबुद्धि और देवबुद्धि से जो २ अवंदनीय है उसका उल्लेख किया गया है। इसमें अन्यमत के धर्माचार्य, अन्यमत के उपास्य देवता और अन्यमत वालों ने जिनको अपने उपास्य देव के नाम से स्वीकार कर लिया हो ऐसे अरिहंत के चैत्य इन तीन का निर्देश किया है अर्थात इन तीनों को वन्दना नमस्कार आदि करने का निषेध है। यहां पर अन्यमत के देवताओं से अन्यमत के उपास्य हरिहरादि देवों की प्रतिमायें अभिप्रेत है वैदिक सम्प्रदायमें देवता शब्द का व्यवहार प्राय: पाषाणमयी प्रतिमा में ही किया गया देखा जाता है (१) तब—"अन्न उत्थिय देवयाणि–अन्य यूथिक दैवतानि" "अन्यमत के देवता" इसका अर्थ हुआ जैन मत से भिन्न वैदिक मत के उपास्य हरिहरादि देवों की प्रतिमायें जिन्हें वे ब्रह्मा, विष्णु, शिव और स्कन्दादि देवों के नाम

§ छाया—न खलु मे भगवन्! कल्पते अद्यप्रभृति अन्य यूथिकान् अन्य यूथिक देवतानि वा अन्य यूथिक परिगृहीतानि अर्हच्चैत्यानि वा वन्दितुं वा नमस्यितु वा "इत्यादि"।

से प्रतिष्ठित करके पूजते हैं। इस विचार के अनुसार जैन सम्प्रदाय से भिन्न वैदिक आदि सम्प्रदायों के परिव्राजक आदि साधु और जैनमत से भिन्न अन्य मत के देवों की प्रतिमाओं को वन्दना नमस्कार करना मुझे नहीं कल्पता, यह आनन्द श्रावक के अभिग्रहगत "अन्न उत्थिए वा अन्नउत्थिय देवयाणि वा" इस पाठ का परमार्थ निष्पन्न होता है।

तब अर्थापत्ति प्रमाण से जैन मत के साधुओं और जैन मत की देव प्रतिमाओं को वन्दन नमस्कार करना मुझे कल्पता है यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है, तात्पर्य कि जिसे अन्यमत के साधु और अन्यमत की देवप्रतिमायें अवन्दनीय हैं उसके लिये स्वमत के साधुओं और स्वमत की देव(§) प्रतिमाओं को वन्दना नमस्कार का विधान न करने पर भी वह स्वयं अपने आप ही निष्पन्न हो जाता है। यदि कुछ और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो आनन्द श्रावक के इस अभिग्रह का आशय यह है कि "मैं आज से स्वमत के साधुओं और स्वमत के देवों–देवप्रतिमाओं के सिवा और किसी को (देव और गुरु बुद्धि से) वन्दना नमस्कार नहीं करूंगा। अब इसके आगे के पाठ पर भी ध्यान दें?

आगे के पाठ में—"अन्न उत्थिय परिग्गहियाणि—अन्य यूथिक परिगृहीतानि" यह "अरिहंत चेइयाणि–अर्हच्चैत्यानि" का विशेषण है। इन विशेष्य और विशेषण रूप दोनों का अर्थ होता है—

अरिहंत के वे चैत्य जिन्हें अन्य सम्प्रदाय वालों ने ग्रहण अर्थात् अपने देव के नाम से अपना लिया हो, तात्पर्य कि तीर्थंकर देव के वे चैत्य (प्रतिमायें) जिन्हें कि अन्य मतानुयायी अपने उपास्य देव के

(§) इसके लिये मनुस्मृति के निम्न लिखित श्लोक ओ उनकी कुल्लूक भट्ट की व्याख्या को देखे, यथा—

(क) नित्य स्नात्वा शुचिः कुर्यात् देवर्षि पितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव, समिदाधानमेवच ॥२॥१७६॥

कल्लूकभट्ट—प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षि पितृभ्यः उदकदानं, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेव पूजनम्, सायं प्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात् ॥

अर्थात्—प्रतिदिन स्नान करके देवो ऋषियों और पितरो का तर्पण करना एवं हरिहरादि–विष्णु और शंकर आदि देवों का, पाषाणादि की प्रतिमा में पूजन करना और प्रातः सायं हवन करना चाहिये।

(ख) देवतानां गुरो राज्ञः .... (४।१३०)
कल्लू—देवतानां पाषाणादिमयीनाम्।

(ग) देव ब्राह्मण सानिध्ये. .. .. (८।८७)
कु०—प्रतिमादि देवता ब्राह्मण सन्निधाने।

इन ऊपर के उद्धरणों में पाषाणमयी देवप्रतिमा में ही देव या देवता शब्द का व्यवहार किया है तात्पर्य कि ऊपर के उद्धरणों में देव या देवता शब्द से सर्वत्र पाषाणादिरूप देव प्रतिमा का ही ग्रहण किया है।

नाम से अपनी पूजा विधि के अनुसार पूज रहे हों उनको भी वन्दना नमस्कार करना मुझे नहीं कल्पता। इससे अन्य यूथिक परिगृहीत चैत्य ही अवन्दनीय ठहरता है न कि अपरिगृहीत भी, वह तो वन्दनीय ही है। कल्पना करो कि अरिहन्त–तीर्थंकर–देव के दो चैत्य (प्रतिमायें) हैं। इनके स्वरूप और आकृति में किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं, दोनों एक जैसे हैं, उनमें से एक तो चौबीस तीर्थंकरों में से किसी एक के नाम से प्रतिष्ठित और जैन विधि के अनुसार पूजित हो रहा है, और दूसरे पर किसी अन्य मतावलम्बी ने अधिकार जमा लिया, वह उसे भैरव या वीरभद्र अथवा और किसी नाम से सम्बोधित करके अपनी परम्परागत विधि के अनुसार उसकी सेवा पूजा करता है। यद्यपि इस विभिन्न प्रकार की पूजा विधि और विभिन्न नाम निर्देश से इन दोनों की वास्तविक मुद्रा मे कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु सम्यक्त्वगामिनी जैन–दृष्टि के अनुसार व्रतधारी श्रावक के लिये तो पहला वन्दनीय और दूसरा अवन्दनीय है। पहले को वन्दना करने से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है जबकि दूसरे को वन्दना नमस्कार मिथ्यात्व का पोषण करता है। इसी आन्तरिक विभिन्न फल श्रुति को लेकर शास्त्रकार ने अरिहत चैत्य के साथ "अन्ययूथिक परिगृहीत" यह विशेषण लगाया है। इस विशेषण से जहां चैत्य का मूर्ति अर्थ स्पष्ट हो जाता है वहां उसका विशुद्ध वन्दनीय स्वरूप भी निश्चित हो जाता है। अथवा यूं समझिये कि अन्यमत परिगृहीत अरिहंत प्रतिमा को वन्दना–नमस्कार करने का निषेध, अरिहत प्रतिमा की सत्ता और उसकी वन्दनीयता ये दोनों बातें प्रमाणित करता है। कारण कि "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" (प्राप्त होने पर ही निषेध किया जाता है) इस सर्वानुभव सिद्ध लौकिक न्याय से सर्वत्र प्राप्त वस्तु का ही निषेध माना जाता है, अप्राप्त का नहीं। तब यहां पर अन्यमत परिगृहीत जिन प्रतिमा को वन्दना का निषेध करने से तद्‌भिन्न प्रतिमा अर्थात् स्वमत परिगृहीत जिन प्रतिमा को वन्दना का अधिकार स्वत. एव प्राप्त हो जाता है। यदि उस समय तीर्थंकर प्रतिमायें विद्यमान न होतीं तो आगम के मूल पाठ में "अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंत चेइयाणि" इस उल्लेख की आवश्यकता ही न होती। अतः इस उल्लेख से सूचित ही नहीं किन्तु सिद्ध होता है कि आनन्द श्रावक के समय मे तीर्थंकर प्रतिमायें अधिक संख्या में विद्यमान थीं और श्रमणोपासकों द्वारा वे विधि पूर्वक पूजी जाती थीं। एवं कहीं २ पर अन्य मतावलम्बियों ने तीर्थंकर प्रतिमा को ले जाकर अपने देव के नाम से अपनी पूजा-विधि के अनुसार उसकी–तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा भी आरम्भ करदी थी। यदि ऐसी प्रतिमा को तीर्थंकर प्रतिमा समझ कर कोई श्रमणोपासक वन्दना नमस्कार करे तो उससे मिथ्यात्व को उत्तेजन मिलने की संभावना है, तदर्थ उसको वन्दना नमस्कार करने का उक्त पाठ द्वारा निषेध किया गया है। परन्तु यह निषेध तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि तीर्थंकर प्रतिमा और उसकी पूजा की प्रवृत्ति विशेष रूप मे प्रचार मे न आ चुकी हो।

तथा अन्य यूथिक परिगृहीत प्रतिमा को वन्दना का निषेध होने से अर्थापत्ति प्रमाण से स्वमत परिगृहीत प्रतिमा को वन्दना करना स्वतः एव सिद्ध हो जाता है। तब यह निषेध से उत्पन्न होने वाला विधि-वाक्य है, जिससे मूर्ति पूजा की विधेयता प्रमाणित होती है। इस प्रकार निषेध में से निष्पन्न होने वाला परम्परागत

विधिवाद तब तक अप्रमाणिक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसका प्रतिषेधक कोई साक्षात् वाक्य उपस्थित न हो। अगर इससे और भी अधिक स्पष्टीकरण इस विषय का देखना हो तो औपपातिक सूत्र को देखो। वहां अम्बड़ परिव्राजक के अधिकार में गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी फर्माते हैं—

गौतम ! अम्बड़ परिव्राजक को अरिहंत और अरिहंत की प्रतिमा के सिवा अन्य किसी भी मत के साधु और देवताओं (प्रतिमाओं) को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता, यहां तक कि यदि किसी ने तीर्थंकर प्रतिमा को अपने देव के नाम से अपने मंदिर में प्रतिष्ठित कर लिया हो तो अम्बड़ उसको भी वन्दना नमस्कार नहीं करेगा। तात्पर्य कि अम्बड़ को तीर्थंकर और तीर्थंकर प्रतिमा के सिवा और कोई भी वन्दनीय नहीं है। उसे तो एकमात्र तीर्थंकर और तीर्थंकर प्रतिमा ही वन्दनीय है। यह बात औपपातिक सूत्र गत—"नन्नत्थ अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा" इस उल्लेख से प्रमाणित होती है। औपपातिक का वह मूल पाठ इस प्रकार है—

"अवड़स्स णं परिव्वायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्ण उत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंत चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा जाव पज्जुवासित्तए वा णण्णत्थ अरिहंतेवा अरिहंतेवा अरिहंत चेइयाणि वा" (समिति पृष्ट ९७)

इस आगम पाठ की अर्थगवेषणा पर से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि उस समय अन्य मतों की तरह जैन मत में भी मूर्ति की उपासना—तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा का काफी प्रचार था। अगर जैन परम्परा में उस समय जिन मन्दिरों का निर्माण और जिन प्रतिमाओं की स्थापना न हुई होती, तथा उनकी उपासना का प्रचार न होता तो अम्वड़ परिव्राजक के विषय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने ["हे गौतम ! अम्बड़ परिव्राजक को अरिहंत और अरिहंत की प्रतिमा के सिवा और किसी को भी वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता"] इस विधेय रूप कथन का कुछ भी मूल्य नहीं रहता और यह बिल्कुल मिथ्या प्रलाप सा बनकर रह जाता ! जिसकी कि कोई विचारशील सम्भावना भी नहीं कर सकता।

तब इस पर से तुम लोग यह तो अच्छी तरह से समझ गये होंगे कि उपासक दशा और औपपातिक इन दोनों आगमों के उक्त पाठ जैन परम्परा में प्रचलित मूर्ति उपासना को आगम विहित अथच आगम सम्मत प्रमाणित करने के लिये अपने अन्दर कितना असाधारण बल रखते हैं। अगर जैन परम्परा में जिन प्रतिमा को कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त न होता, और उसकी प्रवृत्ति विधि निष्पन्न या शास्त्रीय न होती तो इन आगम पाठों की उपपत्ति भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। एवं आगमों के समय यदि जिन प्रतिमा का अस्तित्व नहीं था तो उसे वन्दना नमस्कार का विधान और अमुक प्रकार की (अन्यमत परिगृहीत) जिन प्रतिमा को वन्दना नमस्कार करने का निषेध, ये दोनों विधि निषेध उस से कैसे सम्बन्धित किये जा सकते हैं?

"सति कुड्ये चित्रम्" (दीवार हो तो उस पर चित्र लिखा जा सकता है) इस न्याय से जिन-प्रतिमा और उसकी पूजा के अस्तित्व को स्वीकार किये विना न तो वन्दना नमस्कार का विधान हो सकता है और ना ही उसका निषेध किया जा सकता है। परन्तु आगम में उसका उल्लेख विद्यमान है ऐसी दशा में इन आगम पाठों की उपपत्ति के लिये यह बलात् स्वीकार करना होगा कि श्रमणोपासक आनन्द और परिव्राजकाचार्य अम्बड़ के समय में जैसे अन्यमत वालों में मूर्तिपूजा प्रचलित थी उसी भाँति जैनसम्प्रदाय में भी उसका सुविहित प्रचार था।

इसके अलावा इन लेखों से यह भी सुनिश्चित होता है कि उस समय जैन प्रतिमायें इतनी सर्व-प्रिय हो चुकी थीं कि अन्यमतानुयायी लोग उनको अपने मन्दिरों में अपने देव के नाम से प्रतिष्ठित करके पूजने लग पड़े थे। इसलिये उपासकदशा और औपपातिक सूत्र गत उक्त पाठों से जिन प्रतिमा अथच मूर्ति-पूजा की विधेयता प्रमाणित होने में किसी प्रकार के भी सन्देह को अवकाश नहीं रहता। ये दोनों ही लेख मूर्तिवाद के विधायक अथच समर्थक हैं, पहला निषेध प्रतिफलित विधि रूप से, उसका समर्थक है जबकि दूसरे में निषेध प्रतिफलित विधिवाद और स्वतन्त्र विधिवाद दोनों ही समन्वित हैं उक्त दोनों ही आगम पाठ मूर्ति उपासना के विधायक हैं अनुवाद मात्र नहीं हैं। इस पर भी यदि हमारे सम्प्रदाय वालों को आगमों में जिन-प्रतिमा का समर्थक कोई विधि वाक्य नहीं मिलता या दिखाई नहीं देता तो इसमें आगमों का क्या दोष? "नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधोहि सः॥"

(२) इसके अलावा राजप्रश्नीय और जीवाभिगम आदि आगम ग्रन्थों में सिद्धायतनों, शाश्वत जिन-भवनों और शाश्वती जिन प्रतिमाओं के जो उल्लेख हैं उनसे तो आप लोग भी अच्छी तरह से परिचित हैं। नन्दीश्वर द्वीप में अंजनक और दधिमुख आदि पर्वतों पर बीस जिनायतन शाश्वत जिन भवन हैं, वहां पर देवता लोग चतुर्मास की प्रतिपदाओं, साम्वत्सरिक पर्वों, तीर्थंकर के जन्म कल्याणकों तथा अन्य देव कार्यों पर एकत्रित होकर अष्टान्हिका महोत्सव (अठाई महोत्सव) करते हुए आनन्द पूर्वक विचरते हैं।*

इस प्रकार देवलोक के शाश्वत जिन भवनों एवं तिर्यक् लोक के शाश्वत और अशाश्वत अर्थात् अकृत्रिम तथा कृत्रिम जिन विम्बों-जिन प्रतिमाओं के आगम गत उल्लेखों पर से जैन परम्परा में जिन प्रतिमा को कितना महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त है इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र में लब्धि सम्पन्न मुनियों की ऊर्ध्व और तिर्यग् गति के विषय में श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने जो कुछ फर्माया है उसको देखते हुए कोई भी विचारशील बुद्धिमान् पुरुष यह कहे विना नहीं रह सकता कि जैन परम्परा के अत्यन्त प्राचीन मूल आगमों में जिन-प्रतिमा अर्थात् मूर्ति उपासना को अधिक से अधिक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

* जीवाभिगम-विजय देवाधिकार, और नन्दीश्वर द्वीपाधिकार में। तथा-राजप्रश्नीय-सूर्याभदेव के वर्णन प्रसग मे देखो।

श्री चम्पालालजी-भगवन् ! श्री भगवती जी के उस पाठ की भी कृपा करो ! ताकि उसको सुनकर हमारे हृदय का रहा सहा सन्देह-मल भी धुल जावे और उसकी स्वच्छता में हम प्रभु मूर्ति के दर्शन का श्रेय प्राप्त कर सकें।

श्री आत्मारामजी—भाई चम्पालाल ! तुम धैर्य रक्खो जब मैं इस विषय का प्रतिपादन करने को तैयार हुआ हूँ तो कुछ बाकी नहीं रक्खूंगा। लो सुनो ! लब्धि सम्पन्न मुनियों की यात्रा विषयक यह प्रश्नोत्तर जहां मूर्तिवाद का समर्थक है वहां मनोरंजक भी है। वह पाठ इस प्रकार है—

† प्रश्न-विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवतियं गति विसए पन्नत्ते ?

उत्तर-गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेति माणु. २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं २ वंदित्ता बितिएणं उप्पाएणं नंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेति नंदी सु. २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति तहिं वंदित्ता तओपडिनियत्तति इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इहं चेइयाइं वंदति। विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गति विसए पन्नत्ते"

भावार्थ—लब्धिसम्पन्न विद्याचारण की तिर्यक् और ऊर्ध्वगति विषयक प्रश्न पूछते हुए गौतम स्वामी कहते हैं—हे भगवन ! विद्याचारण की तिर्यक्-तिरच्छी गति का विषय कितना है ? इसके उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी फर्माते हैं—गौतम ! वह विद्याचारण एक उत्पात से (कदम से) मानुषोत्तर पर्वत पर समवसरण-स्थिति करता है अर्थात्-वहां पहुँचता है वहां पहुँचकर वहां पर विद्यमान चैत्यों अरिहंत-प्रतिमाओं) को वन्दना करता है, वन्दना करके दूसरे उत्पात से नन्दीश्वर द्वीप में पहुँचता है, पहुँचकर वहां पर रहे हुए चैत्यों को वन्दना करता है वन्दना करके फिर वह यहां आता है और यहां के चैत्यों को वन्दना करता है। हे गौतम ! विद्याचारण की तिरछी गति का एतावन् मात्र विषय कहा है।

§ प्रश्न-विज्जाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवतिए गति विसए पन्नत्ते ?

---

† छाया—प्रश्न-विद्याचारणस्य णं भगवन् ! तिर्यक् कियान् गति विषयः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—गौतम ! स इतः एकेन उत्पातेन मानुषोत्तरे पर्वते समवसरणं करोति मानुषोत्तर पर्वते समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते तत्र चैत्यानि वंदित्वा द्वितीयेन उत्पातेन नन्दीश्वरवरे समवसरणं करोति, नन्दीश्वरवरे समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वंदते तत्र चैत्यानि वंदित्वा ततः प्रति निवर्तते ततः प्रतिनिवृत्त्य अत्र आगच्छति अत्र आगत्य अत्र चैत्यानि वन्दते। विद्याचारणस्य णं गौतम ! तिर्यग् एतावान् गति विषयः प्रज्ञप्तः।

§ छाया—प्रश्न-विद्याचारणस्य णं भगवन् ! ऊर्ध्वं कियान् गति विषयः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदणवणे समोसरणं करेइ, नंद० २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति तहिं० २ वंदित्ता वितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेइ पंडग० २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, तहिं० २ वंदित्ता तओपडिनियत्तति तओपडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ इहमागच्छित्ता इहं चेइयाइं वंदति । विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए गतिविसए पन्नते [शत. २० उद्दे० ६]

प्रश्न—हे भगवन् ! विद्याचारण की ऊर्ध्व गति का विषय कितना है ?

उत्तर—गौतम ! विद्याचारण एक उत्पात से नन्दन वन में समवसरण स्थिति करता है और वहां पर विद्यमान चैत्यों को वन्दना करता है। फिर दूसरे उत्पात से वह पांडुक वन में पहुंचता है और वहां के चैत्यों को वन्दना करता है वहां के चैत्यों को वन्दना करके पीछे लौटकर यहां आता है और यहां पर विद्यमान चैत्यों को वन्दना करता है। हे गौतम ! विद्याचारण मुनि की ऊर्ध्वगति का इतना विषय कहा है।

इसी प्रकार उक्त सूत्र में जंघाचारण मुनि की तिर्यक् और ऊर्ध्वगति का अभिलेख है। जिसमें अधिक अन्तर न होने से उसकी चर्चा नहीं करते। इन आगम पाठों से मानुषोत्तर पर्वत नन्दीश्वर द्वीप नन्दन वन और पांडुक वन आदि में तथा यहां भरत क्षेत्र में चैत्यों अर्थात् जिन प्रतिमाओं के अस्तित्व में तो कोई सन्देह नहीं रहता। तात्पर्य कि इन स्थानों में जिन प्रतिमायें विद्यमान थीं यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित हो जाता है कि ये जिन-भवन या जिन-प्रतिमायें वहां पर केवल नुमायश के लिये केवल प्रदर्शनार्थ ही नहीं थे किन्तु वन्दना और पूजा के लिये प्रतिष्ठित थे। उनमें मानुषोत्तर आदि के शाश्वत जिन बिम्बों के दर्शन और सेवा पूजा का लाभ देवों विद्याधरों और लब्धि-सम्पन्न मुनियों को ही प्राप्त होता, [कारण कि साधारण मनुष्यों की वहां गति नहीं] जबकि यहां पर रहे हुए अशाश्वत चैत्यों की सेवा पूजा का लाभ यहां के श्रद्धालु मनुष्य भी प्राप्त करते थे।

तब, श्रमणोपासक आनन्द और परिव्राजकाचार्य अम्बड़ आदि के लिये जो तीर्थंकर प्रतिमायें वन्दनीय हैं, एवं विद्याचारणादि लब्धिसम्पन्न मुनि जिन शाश्वती जिन प्रतिमाओं को वन्दना करने के लिए मानुषोत्तरादि स्थानों पर जाते हैं और लौटते समय यहां के जिन अशाश्वत चैत्यों को वन्दना करते हैं, वे

उत्तर—गौतम ! स इतः एकेन उत्पातेन नन्दन वने समवसरणं करोति, नन्दनवने समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते तत्र चैत्यानि वदित्वा द्वितीयेन उत्पातेन पाडुक वने समवसरण करोति पाडुक वने समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते तत्र चैत्यानि वदित्त्वा ततः प्रतिनिवर्तते ततः प्रतिनिवृत्य अत्रागच्छति, अत्रागत्य अत्र चैत्यानि वन्दते। विद्याचारण गौतम ! ऊर्ध्वं एतावान् गति विषयः प्रज्ञप्तः।

चैत्य-तीर्थंकर प्रतिमायें हमारे पंथ के मुनिराजों की दृष्टि में भले ही वन्दनीय या पूजनीय न हों, परन्तु इससे उनकी सत्ता और पूज्यता में अणुमात्र भी क्षति नहीं पहुँचती। उनके आगम सिद्ध लोकव्यापी प्रचार का केवल कथन मात्र से कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। इतना प्रवचन करने के बाद सन्मुख बैठे हुए विश्नचन्दजी आदि साधुओं को सम्बोधित करते हुए आपने कहा-कहो भाई! जिन प्रतिमा के आगम विहित सिद्ध होने में अब तो कोई कसर नहीं रही? यदि कोई कसर है तो बोलो?

श्री विश्नचन्दजी आदि सब साधु हाथ जोडकर-नहीं गुरुदेव! कोई कसर बाकी नहीं रही! आपने तो हमारे कई जन्मों के पाप धो डाले! जिन-प्रतिमा की निन्दा से कलुषित हुए हृदयों को जो अपूर्व शान्ति और सन्तोष मिला है उसे व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं।

श्री आत्मारामजी—तुम्हारे इस विनय प्रदर्शन को बहुत २ साधुवाद! अच्छा अब पधारो! समय बहुत हो चुका, कल की ज्ञान गोष्ठी में मैं तुम्हें मूर्ति पूजा और पूजा की विधि के परिचायक कुछ अन्य आगम पाठों का परिचय कराने का यत्न करूंगा।

विश्नचन्दजी आदि—हाथ जोड़कर-बहुत अच्छा गुरुदेव! इतना कहकर वन्दना करने के बाद वहां से अपने स्थान की ओर चल दिये पूजा विधि के श्रवण की उत्सुकता को साथ लेकर।

स्थान पर पहुंचने के बाद सब ने आहार किया और कुछ समय विश्राम करके सुने हुए विषय को मनन करने के लिये सब मिलकर परावर्तन करने लगे। श्री विश्नचन्दजी अपने शिष्य वर्ग से-कहो भाई! तुमने कल और आज जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में महाराज श्री आत्मारामजी से जो कुछ सुना उससे तुम्हारे मनमें क्या धारणा निश्चित हुई?

चम्पालाल और हाकमराय—यही कि वह आगम सिद्ध है और अतएव अभिनन्दनीय है, अब उसकी पूज्यता में सन्देह करना सरासर आत्मवंचना है! हां मूर्तिपूजा का मूल आगमों में इतना स्पष्ट उल्लेख होगा इसका तो हमें स्वप्न में भी भान नहीं था। गुरुदेव! अधिक क्या कहें हम तो आज अपने अन्दर किसी नये ही प्रकाश का अनुभव कर रहे हैं।

श्री विश्नचन्दजी—बस मैं तो तुम लोगों का ही मानसिक सन्तोष चाहता था! और मैं तो पहले से ही सर्व प्रकार से उनका हो चुका हूँ। अच्छा अब कल की प्रतीक्षा करो जो बात उन्होंने कही है उसके जानने के लिये तो मन अभी से अधीर हो रहा है। वही आगम में पूजा विधि की बात। कहो सच है न?

दोनों—हां महाराज! बिलकुल सच! मूल आगमों में पूजा की विधि का उल्लेख यह तो सर्वथा नया ही शब्द हमारे सुनने में आया जिसकी हम लोग कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

श्री विश्नचन्दजी—भाई! वहां तो जो कुछ सुनोगे वह सब नया ही होगा, आज तक जो कुछ सुना वह सब हमारे लिये नया ही तो है। हमारा यह पूर्ण सद्भाग्य है जो कि ऐसे गुरुजनों का पुण्य सहयोग प्राप्त हुआ।

अगले दिन समय से कुछ पहले ही सब आपके स्थान पर पहुँच गये और विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार करके आपके सन्मुख खड़े हो गये। आपने सबको सुखसाता भी पूछी और बैठने की आज्ञा देते हुए स्वयं भी अपने आसन पर विराजमान होगये। कुछ इधर उधर की विनोदपूर्ण बातें करने के बाद आपने फर्माया कि आजकी ज्ञान गोष्ठी में हमने आगमों के आधार पर जिन-प्रतिमा की पूजा विधि पर विचार करना है और देखना है कि जिस प्रकार मूल आगमों से जिन प्रतिमा की सत्ता और पूज्यता प्रमाणित होती है उसी प्रकार उसकी पूजा विधि का भी आगमों में कोई उल्लेख है याकि नहीं।

यूं तो-"धूवं दाऊण जिनवराणं" † [धूपं दत्वा जिनवरेभ्यः] इस आगम पाठ के आधार पर जैन परम्परा के लब्ध प्रतिष्ठ १४४४ ग्रन्थों के निर्माता तटस्थ मनोवृत्ति के महान् विद्वान् परमागमवेत्ता आचार्य प्रवर श्री हरिभद्रसूरि ने तीर्थंकर प्रतिमा को तीर्थंकर के तुल्य बतलाते हुए उसकी पूजा, पूजाविधि और पूजा के फल आदि पर अपने ग्रन्थों में जो उल्लेख किया है उसको देखते हुए कोई भी विचारशील विद्वान् उसकी पूजा-विधि को भी आगम सम्मत होने मे सन्देह नहीं कर सकता।

सम्बोध प्रकरण के देव पूजाधिकार में पूज्य हरिभद्रसूरि लिखते हैं—

तम्हा जिण सारिच्छा, जिणपडिमा सुद्ध जोय कारणया।
तब्भत्तिए लब्भए जिणंद पूया फलं भव्वो ॥ १ ॥
जम्हा जिणाण पड़िमा, अप्प परिणाम दंसण निमित्तं ।
आयंस मंडलाभा सुहासुहं झाण दिट्ठीए ॥ २ ॥
सम्मत्त सुद्ध करणी जणणी सुहजोग सच्च पहवाणं।
निद्दलिनी दुरियाणं भव दव दड्ढ भवियाणं ॥ ३ ॥
आरंभ पसत्ताणं गिहीण छज्जीव वह विरयाणं ।

† [राज प्रश्नीय सूत्र पृ० २५५] इस उल्लेख में जिन प्रतिमा को जिनवर के नाम से अभिहित किया गया है। इसका अर्थ है-"जिनेन्द्रदेव को धूप देकर" आगम के उल्लेख में-"जिनपडिमाण" न कहकर जो "जिनवराण" कहा है उससे ज्ञात होता है कि आगम निर्माता महर्षियो को तीर्थंकर और तीर्थंकर प्रतिमा में अभेद भाव ही इष्ट है, अथच दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार तीर्थंकर मूर्ति की पूजा यह तीर्थंकर देव की ही पूजा है।

भव अडवी निवड़ियाणं दव्वत्थओ चेव आलंबो ॥ ४ ॥
जिणपूयणं तिसंझं कुणमाणो सोहएइ सम्मत्तं ।
तित्थयर नामगुत्तं पावइ सेणिय नरिंदव्व ॥ ५ ॥
जो पूएइ तिसंझं जिणंदरायं सया विगय दोसं ।
सो तइय भवे सिज्झइ, अहवा सत्तट्ठमे जम्मे ॥ ६ ॥

भावार्थ—शुभ योग में कारण भूत होने से जिन प्रतिमा भी जिनके समान ही है, अतः उसकी भक्ति से भव्यात्मा को साक्षात् जिनेन्द्र देवकी पूजा का ही फल प्राप्त होता है। (१) परिणाम विशुद्धि के लिये शुभाशुभ ध्यान की दृष्टि से जिन प्रतिमा एक स्वच्छ दर्पण के समान है (२) वह सम्यक्त्व को निर्मल करने वाली और सत्य प्रभव शुभ योग की जननी एवं संसार रूप दावानल दग्ध भव्य जीवों के पापों का नाश करने वाली है (३) भव रूप संसार अटवी में भटकने वाले और षट् काय की हिंसा से आरम्भ में आसक्त ऐसे गृहस्थों के लिये यह द्रव्य स्तव अर्थात् जिनेन्द्र देव की पूजा ही आलम्बन भूत है (४) इसलिये निरन्तर तीन काल में जिनेश्वर देव की पूजा करने वाले श्रेणिक राजा की तरह जो श्रद्धालु गृहस्थ जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह सम्यक्त्व को निर्मल करता है और तीर्थंकर गोत्र को प्राप्त करता है (५) तथा जो गृहस्थ प्रतिदिन सर्व दोष रहित श्री जिनेश्वर देव की भाव सहित पूजा करता है वह तीसरे अथवा सातवें या आठवें भव में सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है। (६)

पूज्य हरिभद्र सूरि जैसे महान् आगम वेत्ता तटस्थ विद्वान् जिस वस्तु को इन शब्दों में व्यक्त करे वह आगम सम्मत न हो यह तो कभी कल्पना में भी नहीं आ सकता परन्तु हमारी सम्प्रदाय के मुनि महाराज तो इन आचार्यों के नाम से भी कोसों दूर भागते हैं, और मैंने जो यहां इनके नाम और ग्रन्थों के उल्लेख आदि का जिकर किया है वह केवल तुम लोगों को जानकारी प्राप्त करने के लिये किया है। तब खासकर इसी विषय में एकमात्र आगमों की दुहाई देने वाले अपने इन भाइयों के अशान्त मन को शान्त करने के लिये अब जरा आगमों की ओर भी ध्यान दे लेना चाहिये।

(१) श्री ज्ञाता सूत्र में सती द्रौपदी की पूजा विधि का अधिकार है जो कि तुम्हारे वाचने में आया ही होगा, वहां पर जो यह लिखा है कि-"राजकन्या द्रौपदी ने सूर्याभदेव की भांति जिन प्रतिमा का पूजन किया अर्थात् जिस प्रकार जिस विधि से सिद्धायतन गत जिन प्रतिमाओं का पूजन सूर्याभ ने किया उसी भांति उस विधि से यहां पर द्रौपदी ने जिन प्रतिमा की पूजा की § इस उल्लेख से प्रतिमा का पूजन केवल चरितानुवाद

---

§ ज्ञातासूत्र गत मूल पाठ और उसका भावार्थ इस प्रकार है—।

"तएणं सा दोवइ रायवरकन्ना जेणेवमज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता मज्जणघरं

रूप न रहकर विधेय रूप बन जाता है। चरित्र गत जिस कर्तव्य का दूसरों के लिये उदाहरण रूप से निर्देश किया जाय वह चरित मात्र न रहकर विधेय-कर्तव्य रूप हो जाता है। सूर्याभदेव का अधिकार राजप्रश्नीय सूत्र में है। ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी की पूजा विधि के लिये राजप्रश्नीयसूत्र गत सूर्याभदेव की पूजाविधि को दृष्टान्त रूप से उपस्थित करने का अर्थ ही मूर्ति पूजा अर्थात् जिनप्रतिमा की पूजा को विधेय विधि-निष्पन्न प्रमाणित करना है।

अच्छा अब राजप्रश्नीय की ओर ध्यान दीजिये। जिनमूर्ति की उपासना तथा पूजा के लिये राजप्रश्नीय सूत्र सबसे अधिक महत्व रखता है। इसके कतिपय पाठों से मूर्तिपूजा पर जितना उज्ज्वल और विशद प्रकाश पड़ता है उसको देखते हुए शायद ही कोई विचारशील व्यक्ति मूर्तिपूजा की विधेयता-विधि-निष्पन्नता या आगम विहितत्व से इन्कार कर सके। उनसे प्रस्तुत विषय में तीन बातों का अच्छी तरह से निश्चय हो जाता है—(१) जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाओं का अस्तित्व (२) पूजा का निर्देश और (३) पूजा की विधि प्रक्रिया। इन तीनों बातों के निश्चायक उक्त सूत्र गत मूलपाठ इस प्रकार हैं—

(१) क.—"सभाए णं सुहम्माए उत्तर पुरत्थिमेणं एत्थणं महेगे सिद्धायतणे पण्णत्ते ××× तस्सणं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसमाए एत्थणं महेगा मणिपेढ़िया पण्णत्ता ×× तीसेणं मणि-

---

अणुपविसइ अणुपविसइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोउ मंगल पायच्छित्ता सुद्धा पावेसाइ मंगलाइं वत्थाइं परिहियाइं, मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुपविसइ अणुपविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोयइ पणाम करेइ करेइत्ता लोमहत्थयं परामुसइ परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ अच्चेइत्ता तहेव भाणियव्वं जाव धूवं डहइ डहइत्ता वामं जाणुं अंचेइ अंचेइत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवेसइ णिवेसइत्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि णिवेसेइ निवेसइत्ता इसि पच्चुन्नमइ करयल जवा कट्टू एववयासी णमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताण जावसंपत्ताणं वंदइ नमंसइ जिणघराओ पडिनिक्खमइ" [समिति वाला पृ० २१०]

भावार्थ—यह राजकन्या द्रौपदी स्नान घर में प्रविष्ट होकर स्नान करने के बाद शुद्ध वस्त्र पहनकर जिन मन्दिर में आती है वहा जिन प्रतिमा को देखकर प्रणाम करती है, प्रणाम करने के बाद मयूरपिच्छ से जिन प्रतिमा का प्रमार्जन करती है, तदनन्तर जैसे सूर्याभ ने जिन-प्रतिमा का अर्चन-पूजन किया उसी प्रकार विधि पूर्वक पूजन करती है स्नान से लेकर धूप देने पर्यन्त। फिर वाम जानु-घुटने को ऊंचा रख और दक्षिण जानुको पृथिवी पर स्थापन करके तीन बार अपने मस्तक को भूमि के साथ लगाती हुई हाथ जोड़कर-मस्तक-न्यस्त अंजलि से "नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं" आदि शक्रस्तव के द्वारा प्रभु प्रतिमा को वन्दना नमस्कार करती है इत्यादि।"

पेढ़ियाए उवरिं एत्थणं महेगे देवछंदएणं पएणत्ते ××× एत्थणं अट्ठसयं जिणपड़िमाणं जिणुस्सेह-प्पमाणमित्ताणंसंनिखित्ते संचिट्ठति" [पृ. २२६-३०]

ख.—"तासिणं जिणपड़िमाणं पिट्ठतो पत्तेयं पत्तेयं छत्त धारग पड़िमाओ पएणत्ताओ ××× तासिणं जिण पडिमाणं उभओ पासे पत्तेयं २ चामर धारग पड़िमाओ पएणत्ताओ ××× तासिणं जिण पडिमाणं पुरतो अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं चंदणकलसाणं अट्ठसयं भिंगाराणं एवं ××× अट्ठसयं धूवकुडुच्छुआणं संनिखित्तं चिट्ठति" [पृ. २३२-२३४]

(२) क.—"पज्जत्तिभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्झित्था—किं मे पुव्विं करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं किं मे पुव्विं सेयं किं मे पच्छासेयं किं मे पुव्विं पि पच्छावि हियाए सुहाए खिस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ ? (पृ.२२६)

ख.—तएणं तस्स सूर्याभस्स देवस्स सामाणिय परिसोववन्नगा देवा सूर्याभस्स देवस्स इमेयारूव मज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं समभिजाणित्ता जेणेव सूर्याभेदेवे तेणेव उवागच्छंति, सूर्याभेदेवं ××× एवं वयासि-एवंखलु देवाणुप्पियाणं सूर्याभे विमाणे सिद्धायतणंसि जिणपडिमाणं जिणुस्सेह-

(१) छाया-क.—सभायाः सुधर्मायां उत्तर-पूर्वस्यांदिशि महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तम् तस्य सिद्धायतनस्यान्त-र्बहुदेशभागेऽत्र महत्येका मणिपीठिका प्रज्ञप्ता, ××× तस्याश्चमणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेकोदेवछंदकः प्रज्ञप्तः, ×× तत्र देवछन्दके अष्टशतं—अष्टाधिकंशतं जिन—प्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ॥

ख.—तासां च जिनप्रतिमानां पृष्ठतः प्रत्येकं प्रत्येकं छत्रधारक प्रतिमा प्रज्ञप्ता, ××× तासां च जिनप्रतिमानां उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येक २ चामरधर-प्रतिमे प्रज्ञप्ते ××× तासां च जिनप्रतिमानां पुरतः अष्टशतं घंटानां अष्टशतं चन्दनकलशानां अष्टशतं भृङ्गाराणां एवं ××× अष्टशतंधूपकुडुच्छुकानां सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ॥

(२) छाया-क.—पर्याप्तिभावमुपगतस्य सतः (तस्य सूर्याभस्य) अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपद्यत किं मम पूर्वं करणीयम् ? किं मे पश्चात् करणीयम् ? किं मे पूर्वं कर्तुं श्रेयः ? किं मे पश्चात् कर्तुं श्रेयः ? किं मे पूर्वमपि पश्चादपि च हिताय सुखाय निश्रेयसाय आनुगामिकतायै भविष्यति ॥

ख.—तदनन्तरं च तस्य सूर्याभस्य देवस्य सामानिकपरिषदोपपन्ना देवाः सूर्याभस्य देवस्य इममेतद्रूपं आध्यात्मिकं यावत्—समुत्पन्नं समभिज्ञाय यत्रैवसूर्याभदेवस्तत्रैव उपागच्छन्ति

पमाणमित्ताणं अट्ठसयं संनिखित्तं चिट्ठति"—सभाएणं सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु-गोलवट्टसमुग्गएसु बहुओ जिणसकहाओ संनिखित्ताओ चिट्ठन्ति. ताओ णं देवाणुप्पियाणं अण्णेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ, तं एयं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं तं एयं देवाणुप्पियाणं पुव्विं सेयं तं एयं देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि पच्छापि हियाए सुहाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति (पृ० २४०)

(३) तए णं से सूर्याभे देवे ×·× × जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सिद्धायतणं पुरत्थिमेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवछदए जेणेव जिणपडिमाओ तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता जिणपड़िमाणं आलोए पणामं करेति करित्ता लोमहत्थगं गिण्हति गिण्हित्ता जिनपड़िमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता जिणपड़िमाओ सुरभिणागंधओदएणं एहाणेइ एहाणित्ता सुरभिगंधकासाइएणं गायाइं लूहेति लूहित्ता सरसेणं गोसीस चंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ अणुलिंपइत्ता जिणपड़िमाणं अहयाइं देवदूस जुयलाइं नियंसेइ नियंसित्ता पुप्फारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वन्नारुहणं वत्थारुहणं आभरणारुहणंकरेइ करित्ता जिणपडिमाणं

(उपागत्य) सूर्याभं देव ××× एवमवादिपु—एवं खलु देवानुप्रियाणां सूर्याभे विमाने सिद्धायतने जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणा अष्टशत सनिक्षिप्त तिष्ठति, सभायाच सुधर्मायां माणवके चैत्यस्तम्भे वज्रमयेपु गोलवृत्तसमुद्गकेपु वहूनि जिन सक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, तानि च देवानुप्रियाणां अन्येपा च वहूना वैमानिकानां देवानां च देवीना च अर्चनीयानि यावत् पर्युपासनीयानि, तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वकरणीयम् तदेतत देवानुप्रियाणा पश्चात् करणीयम् तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वं श्रेयः तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वमपि पश्चादपि च हिताय सुखाय निश्रेयसाय आनुगामिकतायै भविष्यति ।

(३) छाया—तदनन्तरं च सूर्याभोदेव. ×× यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य सिद्धायतन पूर्व-द्वारेणानुप्रविशति अनुप्रविश्य यत्रैव देवछदकः यत्रैव जिनप्रतिमास्तत्रैवोपागच्छति । उपागत्य जिन प्रतिमामालोकयन् प्रणामं करोति कृत्वा लोमहस्तक गृण्हाति गृहीत्वा जिनप्रतिमा लोमहस्तकेन प्रमार्जयति प्रमार्ज्य जिनप्रतिमाः सुरभिणागन्धोदकेन स्नपयति स्नपयित्वा सुरभिगन्ध कापायेण (वस्त्रेण) गात्राणि रूक्षयति रूक्षयित्वा सरसेन गोशीर्ष-चन्दनेन गात्राणि अनुलिपति अनुलिम्प्य अहतानिदेवदूष्ययुगलानि परिधापयति परिधाप्य पुष्पारोपणं मालारोपणं गन्धारोपण चूर्णारोपणं वर्णकारोपणं वस्त्रारोपणं

पुरत्रो ××× अच्छेहिं सण्हेहिं रयणामएहि अच्छ रस तंडुलेहिं अट्ठट्ठ मंगले आलिहइ तंजहा-सोत्थिय जाव दप्पणं तयाणंतरं चणं कुडुच्छुअं पग्गहिय पयत्तेणं धूवंदाउण जिनवराणं अट्ठसय विसुद्ध गंथजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महाबित्तेहिं संथुणइ" [पृ. २५४-५६]

भावार्थ (१) क.—[सुधर्म कल्पस्थित सूर्याभ विमान के विषय में गौतमस्वामी के पूछने पर सूर्याभदेव विमान का वर्णन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं-हे गौतम! सूर्याभदेव विमान मे] सुधर्मा सभा के उत्तर पूर्व अर्थात् ईशान कोण में एक विशाल सिद्धायतन है, उस सिद्धायतन के बीचों बीच एक विशाल मणिपीठिका है, उस मणिपीठिका के ऊपर एक विशाल देव छंदक है उसके ऊपर जिनके शरीर की ऊंचाई जितनी ऊंची जिनदेवों की १०८ प्रतिमायें विराजमान हैं [इन प्रतिमाओं का वर्णन वहां विस्तार से दिया हुआ है]

ख—उन प्रत्येक जिन प्रतिमाओं के पीछे मालायुक्त श्वेतछत्र लिये हुए छत्रधारी प्रतिमायें हैं और दोनों तरफ मणि-कनकमय चामरों को ढुलाती हुई चामरधारी प्रतिमायें हैं तथा उन शाश्वती जिन प्रतिमाओं के आगे एक सौ आठ २ घंटे, चन्दन भृङ्गार आदि अनेक पदार्थ-पूजा के सामान वहां प्रत्येक प्रतिमा के आगे रक्खे हुए हैं, इस पूजा सामग्री के अतिरिक्त उस सिद्धायतन में सुगन्धियुक्त धूप से मघमघाते १०८ धूपदान भी रक्खे हुए हैं।

(२) क.—तब तत्काल जन्मा हुआ सूर्याभदेव, आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भा । और मन पर्याप्ति के द्वारा शरीर की सर्वाङ्ग पूर्णता प्राप्त कर लेने के अनन्तर वह देव इस प्रकार विचार करने लगा—यहां आने पर मेरा प्रथम कर्तव्य क्या है? इसके पीछे निरन्तर करने योग्य मुझे क्या है? एवं तत्काल और भविष्य में जो सदा के लिये हितकारी, सुखकारी और श्रेय रूप हो ऐसा मुझे क्या करना चाहिये?

ख.—सूर्याभदेव के ऐसा विचार करने पर वहां तुरत ही उसके सामानिक सभा के देव वहां हाजिर हो जाते हैं और हाथ जोड़कर कहते हैं—हे देवानुप्रिय! अपने इस विमान में एक विशाल सिद्धायतन है उसमें जिन [जिनेन्द्रदेव] के शरीर की ऊंचाई जितनी ऊंची ऐसी १०८ जिन प्रतिमाये विराजमान हैं तथा अपनी सुधर्मा सभा में एक विशाल माणवक स्तम्भ है उसमे सुरक्षित वज्रमय गोल डब्बों में जिन-देवों की दाढ़ें प्रतिष्ठित हैं जोकि आपको तथा हम सबको अर्चनीय वन्दनीय पूजनीय और उपासनीय हैं।

आभरणारोपणं करोति कृत्वा ××× जिन प्रतिमानां पुरतः रजितमयैः अच्छरसतंडलैः अष्टावष्टौ मंगलान्यालिखति तद्यथा-स्वस्तिकः यावत् दर्पणः, तदनन्तरं च ××× वैडूर्यमयं धूप कडुच्छकं प्रगृह्य प्रयत्नतः धूपं दत्वा जिनवरेभ्यः अष्टशत विशुद्ध ग्रन्थ युक्तैः अपुनरुक्तैः महावृत्तैः संस्तौति।

अतः हे देवानुप्रिय ! इन प्रतिमाओं और इन दाढ़ाओं की अर्चा पूजा वन्दना और उपासना करना यह आपका प्रथम कर्तव्य है यही पीछे कर्तव्य है और वर्तमान तथा भविष्य में सदा के वास्ते निश्रेयस–मोक्ष साधक कार्य भी आपके लिये यही है।

(३) तदुपरान्त सिद्धायतन मे जहां पर देव छन्दक है और जिस तर्फ जिनप्रतिमाये विराजमान है उस तर्फ जाकर सूर्याभदेव और उसके समस्त परिवार ने उनको प्रणाम किया तदनन्तर मोरपिच्छी से उन प्रतिमाओं का प्रमार्जन किया और सुगंधित जल से स्नान कराकर सुवासित वस्त्र से सुखाकर उन पर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। उसके बाद उन प्रतिमाओं को अक्षत–अखंड देवदूष्य पहराया और उन पर फूलमाला गन्धचूर्ण वर्णवस्त्र आभरणादि चढ़ाकर बड़ी लम्बी लम्बी मालाये पहराई तथा उनके आगे पांचों वर्णों के सुगन्धि युक्त पुष्पों का पुञ्ज किया, इसके अनन्तर उन प्रतिमाओं के सन्मुख रुपहरी अखंड चावलों का स्वस्तिक तथा दर्पणादि आठ २ मगलों का आलेखन किया। तथा वैडूर्यमय धूपदानी में सुगन्धि युक्त धूप धुखाकर प्रत्येक प्रतिमा को धूप दिया, इस प्रकार जिनेन्द्र देवों को धूप देकर नितान्त गम्भीर अर्थ वाले १०८ छन्दों के द्वारा उनकी स्तुति की "इत्यादि" ॥

राजप्रश्नीय सूत्र के इन उल्लेखों से जिन प्रतिमाओं की सत्ता, उनकी पूजा और पूजा की विधि इन तीन बातों के प्रमाणित हो जाने से मूर्तिवाद की विधेयता-विधिनिष्पन्नता और प्राचीनता के सिद्ध होने में कोई त्रुटि बाकी नहीं रह जाती। सिद्धायतन में विराजमान शाश्वती जिन प्रतिमाये देवों के वन्दन पूजन के लिये है न कि केवल प्रदर्शनार्थ ही वहा प्रतिष्ठित है, यदि ऐसा ही होता तो सूत्र में इस स्थान पर जो पूजा-सामग्री के संभार का उल्लेख किया है वह सब व्यर्थ सिद्ध होता है ! एवं आत्मकर्तव्य सम्बन्धी विचार परम्परा में निमग्न हुए सूर्याभ का जो कर्तव्य निर्दिष्ट किया गया है वह, तथा उसके अनुसार उसका आचरण करना ये दोनों बाते मूर्तिवाद को शास्त्रीय अथच विधिनिष्पन्न साबित करने के लिये पर्याप्त हैं। और प्रस्तुत सूत्र मे जो पूजाविधि का उल्लेख किया है उस पर से तो यही निश्चित होता है कि सूत्रकार महर्षियों को उसे गृहस्थ धर्म के आचार मार्ग में प्रतिष्ठित करना ही अभीष्ट है, अन्यथा पूजा का इतना विस्तृत विधान न करके केवल इतना ही लिख देना चाहिये था कि देवों के कथनानुसार सूर्याभ ने सिद्धायतन मे जाकर पूजा की। परन्तु ऐसा नहीं लिखा, इससे ज्ञात होता है कि आगम निर्माता महर्षियों की सर्वतोभाविनी व्यापकदृष्टि मूर्तिवाद-मूर्तिउपासना यह गृहस्थ की प्रतिदिन की धार्मिक प्रवृत्तियों मे से एक अथच असाधारण है। अतएव उन्होने अपनी वर्णन शैली के अनुसार सूर्याभदेव के पूजाप्रस्ताव-पूजाधिकार मे ही पूजा विधि को विशिष्ट स्थान देकर उसे देव, मनुज, व सर्वसाधारण के लिये विहित कर दिया। ज्ञाताधर्मकथा मे उल्लेख की गई मानवी व्यक्ति द्रौपदी की पूजा विधि को राजप्रश्नीयगत सूर्याभदेव की पूजा विधि से उपमित करने या उदाहृत करने का अर्थ ही यह है कि देवों के लिये विधान किये गये जिन प्रतिमाओं के वन्दन पूजन आदि का अधिकार मनुष्यों को भी प्राप्त है। एतदर्थ ही बृहत्कल्प-

भाष्य में चार प्रकार के चैत्यों [साधर्मिक चैत्य, मंगल चैत्य शाश्वत चैत्य और भक्ति चैत्य] का उल्लेख किया है ❀ तथा इन उल्लेखों को सर्वथा अनुवाद रूप कहना या मानना भी उचित नहीं है। आगमगत वर्णन-शैली के अनुसार ये भी विधायक कोटि में पर्यवसित होते हैं। राजप्रश्नीय सूत्र का पहला उल्लेख [जिसमें सिद्धायतन का वर्णन है] वस्तु स्थिति का बोधक है। दूसरे और तीसरे में कर्तव्य कर्त्तव्यानुष्ठान और उसकी विधि का निर्देश है। इसलिए व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, और राजप्रश्नीय तथा जीवाभिगम सूत्रों के उपर्युक्त उल्लेख जहां अनुवाद रूप हैं वहां विधायक भी हैं कारण कि आगमों में गृहस्थधर्म के आचारनियमों को प्राय: अनुवाद रूप में ही दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त उपासक दशा और औपपातिक सूत्र के उल्लेख तो स्वरूप से ही मूर्तिवाद के विधायक हैं। इस पर भी यदि हमारे मत या पंथ के महारथी साधु-मुनिराज यह कहें कि मूल आगमों में मूर्तिपूजा सम्बन्धी एक भी वाक्य देखने में नहीं आता, तो उन महापुरुषों के इस दृष्टि रोग की क्या चिकित्सा करनी चाहिये इसका विचार तुमने अपने स्थान पर जाकर करना।

इस सारी ज्ञान गोष्टी का श्रेय मालेरकोटला को प्राप्त हुआ जब कि १९२१ के चतुर्मास मे महाराज श्री आत्मारामजी वहां पर विराजमान थे और श्री विश्नचंद और चंपालालजी आदि साधुओं का चतुर्मास भी वहीं पर था।

❀ इनके स्वरूप का वर्णन पहले किया जा चुका है देखो पृष्ठ ३७
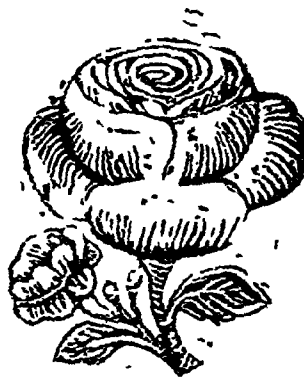
अध्याय १३

धर्म प्रचार की गुप्त मन्त्रणा

—❀०❀—

विक्रम संवत १६२१ के ज्येष्ठ मास में जब आप रायकोटला से जगरावां में आये तो वहां आपको अपने विद्यागुरु श्री रत्नचन्दजी के स्वर्गवास का समाचार मिला। इस समाचार से आपके हृदय को बहुत ठेस लगी। जिस समय आपको यह समाचार सुनाया तो सुनते ही आप अवाक् से रह गये। और कुछ क्षणों के बाद बोले कि क्या सचमुच ही गुरुदेव स्वर्ग सिधार गये ? क्या आप इतने दिन मेरे ही लिये जीवित रहे ? इतना कहते ही आप का गला भारी होगया और नेत्र सजल हो उठे। अपने आसन्नोपकारी गुरुदेव के सतत वियोग से उत्पन्न होने वाली आन्तरिक व्यथा एकदम असह्य हो उठी, उसे हृदय में छिपाये रखने का आपने बहुत यत्न किया परन्तु वह छिपी न रह सकी, आंखों ने उसे मार्ग दिया और बाहर निकल गई। इतने मे आपको संसार की असारता और क्षण भंगुरता का ध्यान आया जिससे शोक निमग्न आपका हृदय शोक रहित होकर फिरसे कर्तव्य निष्ठा की ओर प्रस्थान करने की सोचने लगा।

आप जैसे संसारत्यागी संयमशील महापुरुषों के हृदय मे, शोक या विषाद का उद्भव होना, संभव है पाठकों को कुछ शंकाशील बनावे, परन्तु यह कोई अस्वाभाविक नहीं, गुरु शिष्य के सम्बन्ध का जो आदर्श है उसमें प्रतिबिम्बित होने वाले विशुद्ध अनुराग की भूमिका पर खडे होकर देखने और विचार करने से यह सब कुछ नगण्य सा प्रतीत होगा। क्या श्रमणभगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष पधारने पर गौतम स्वामी ने रुदन नहीं किया। एवं विषादपूर्ण शब्दों मे अपने प्रशस्त अनुराग को व्यक्त नहीं किया। तो क्या गौतम स्वामी के रुदन या विषाद को अनुचित कहे व मानेंगे, जैसे उनके शोक या विषाद का परिणाम मोक्ष का हेतु बना, उसी प्रकार आपका शोक और विषाद भी मुनि श्री रत्नचन्दजी की अन्तिम भावना को मूर्त स्वरूप देने की प्रेरणा को सक्रिय बनाने का सफल साधन बना।

जगरावां से विहार करके आप लुधियाने पधारे और वहां के श्री सेढमल और गोपीमल नाम के दो गृहस्थों को अजीव पन्थ के श्रद्धाजाल से छुड़ाकर वहां से विहार करके मालेरकोटला पधारे और १६२१ का

चतुर्मास वहीं पर किया। इस चतुर्मास मे श्री.विश्नचन्दजी और उनके शिष्य श्री चम्पालाल–हाकमराय और निहालचन्दजी आदि साधु भी ज्ञानाभ्यास के लिये आपके पास उपस्थित रहे।

इस ज्ञानाभ्यास में प्रसंगोपात जिन विषयों की शास्त्रीयचर्चा होती और उससे जो निष्कर्ष प्राप्त होता उसका संक्षेप से दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया है। चतुर्मास की समाप्ति से कुछ समय पहले एक दिन आपने विश्नचन्दजी आदि सभी साधुओं को बुलाकर एकान्त में कहा—

भाई! आगरे से आने के बाद मैंने तुम लोगों को शास्त्राभ्यास कराते हुए जैन धर्म का शास्त्रानुसार जो स्वरूप और मन्तव्य है उसको अच्छी तरह से समझाने का यत्न किया है और तुम लोगों के हृदय में जो जो शकायें थी उनका शास्त्रदृष्टि से सप्रमाण और सन्तोषजनक समाधान करने का भी प्रयास किया है। अब तुम बतलाओ कि तुम लोगों की जैनधर्म के शुद्ध स्वरूप के विषय में क्या धारणा निश्चित हुई है?

श्री विश्नचन्दजी आदि—महाराज! यही कि जैन धर्म का जैनागमों द्वारा जो स्वरूप निश्चित होता है उसका हमारे इस ढूंढक मत से कोई मेल नहीं खाता। इसके सभी आचार विचार जैन शास्त्रों से विपरीत हैं और प्राचीन जैन परम्परा में इसका कोई स्थान नहीं। आप श्री ने हमें जो कुछ समझाया है हम तो उसी को आचरणीय समझते हैं।

चम्पालालजी–महाराज! आप हम लोगों से ऐसा क्यों पूछ रहे हैं यह मेरी समझ मे नहीं आया? क्या हम लोगों पर आप को भी कुछ अविश्वास है?

श्री आत्मारामजी–नहीं भाई! अविश्वास की तो कोई बात नहीं, परन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं कि जिन पर कुछ परामर्श करना आवश्यक होगया है।

श्री विश्नचन्दजी–गुरुदेव! आप हम लोगों को सर्वथा अपना समझें। हम अपना तन और मन सब आपके चरणों में न्योछावर कर चुके हैं आप जो कुछ भी सेवा फर्मावे हम उसे पूरी ईमानदारी से बजा लाने को तैयार हैं इसमें आपको अणुमात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

श्री निहालचंदजी-(छोटे साधु) कृपानाथ! आप यह बतलाने की कृपा करें कि किस दिन इस शास्त्र-बाह्य पंथ की वेषभूषा को त्यागकर शुद्ध सनातन जैन परम्परा के शास्त्रीय साधु वेष से सुसज्जित होने का हमे सौभाग्य प्राप्त होगा?

हाकमरायजी–भाई! तुमने तो एक नया ही प्रकरण बीच में छेड़ दिया, पहले तुम महाराज श्री क्या फर्माते हैं, इसे तो सुन लो?

श्री आत्मारामजी—अच्छा आज मैं अपने अन्तरंग विचारों को [जिन्हें प्रकट करने का आज तक अवसर नहीं मिला] तुम्हारे सन्मुख उपस्थित करता हूँ आशा है तुम उनके विषय में उचित परामर्श देते हुए उन्हें सफल बनाने के लिये मुझे पूरा सहयोग दोगे।

श्री विश्नचंदजी—हाथ जोड़कर-महाराज ! सहयोग देने का तो आप विचार ही छोड़िये। यह तो समय बतलायेगा कि हम लोग आपश्री के आदेश का कहां तक पालन करते हैं ! अब रही परामर्श की बात, सो इस विषय में भी हम अपनी अल्पमति के अनुसार अपने विचार प्रकट करने में कोई संकोच नहीं करेंगे। आपश्री जो कुछ कहना चाहें दिल खोल कर कहें। और हम लोगों को अपने पूरे विश्वास पात्र समझकर कहें।

श्री आत्मारामजी—आप लोगों को यह तो विदित ही है कि मैंने आगरे मे जिस ज्ञान विभूति के सम्पर्क से धर्म सम्बन्धी सत्य का प्रकाश प्राप्त किया और उस प्रकाश से आप लोगों के हृदयों को भी प्रकाशित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, वह ज्ञान विभूति स्वर्ग सिधार गई। अब वह हमारे दरम्यान नहीं है। अथवा यूं समझिये कि सद्‌भाग्यवश हमारे इस ढूंढक पंथ मे मात्र एक ही प्रज्वलित होनेवाला ज्ञान प्रदीप था [जिससे हम सब को प्रकाश मिला] जो कि प्रकाश देकर समाप्त होगया–बुझगया।

श्री विश्नचन्दजी—हां महाराज ! इसका तो हमें भी बहुत शोक है। मुनि श्री रत्नचन्दजी महाराज तो एक अमूल्य रत्न थे। ऐसे रत्न पुरुष का खोया जाना बहुत ही दुर्भाग्य की बात है परन्तु महाराज ! अब इसके लिये अधिक शोक करना भी व्यर्थ है, आप तो ज्ञानी पुरुष हैं सब कुछ जानते हैं जो आया है उसने एक दिन जाना भी अवश्य है।

श्री आत्मारामजी—भाई ! यह तो मैं भी समझता हूँ कि जन्म में मृत्यु का संकेत छिपा हुआ है और संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है, तब जो अनिवार्य है उसके लिये अधिक शोकातुर होना कोई बुद्धिमत्ता नहीं, परन्तु मेरे कथन का यह आशय नहीं जो कि तुम समझपाये हो।

श्री विश्नचन्दजी—तो महाराज ! आप फर्मावें कि आपका क्या आशय है ?

श्री आत्मारामजी—उनके पास से विदा होते समय हाथ जोड़कर प्रार्थना के रूप में मैंने कहा—कुछ सेवा फर्माओ गुरुदेव ! आपने मुझपर बहुत उपकार किया है। जब आपकी तरफ से कोई उत्तर न मिला तो मैंने यही शब्द फिर दोहराये और सानुरोध सेवा की प्रार्थना की, तब आपने फर्माया कि यदि तुम्हारी यही उत्कट भावना है तो लो सुनो सेवा,—

इतना कहने के बाद सेवा के रूप में आपने जो फर्माया उसे कहते हुए मुझे सकोच तो बहुत होता है क्योंकि उसमें मेरी प्रशंसा का अंश अधिक है, परन्तु कहे बिना काम नही चलता इसलिये कहना पड़ता है। इसके बिना वस्तुस्थिति का भान नहीं होगा। आपने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा—

"तुम शक्तिशाली हो आत्माराम ! तुम्हें श्रमण भगवान महावीर के धर्म सन्देश को घर घर में पहुंचाना होगा। और पंजाब से निर्वासित प्राय: जैन धर्म को वहां फिर से बसाना होगा एवं उसे विपत्तियों के प्रबल प्रहारों से सुरक्षित रखने का यत्न भी करना होगा। जाओ ! अबोधपूर्ण जनता के हृदयाकाश में ज्ञान-ज्योति को प्रज्वलित करो ! मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम्हारे जैसे गम्भीर और प्रभावशाली विनीत शिष्य में अपनी ज्ञान विभूति को प्रतिष्ठित करके भारमुक्त होने का जो पुण्य अवसर मिला उससे मुझे बहुत सन्तोष प्राप्त हुआ, बस यही मेरी इच्छा थी जो कि पूर्ण हुई ! "इत्यादि"

इसके उत्तर में मैंने भी करबद्ध और नतमस्तक होकर आपश्री के इस आदेश को पालन करने का वचन देकर वहां से प्रस्थान किया और देहली में आकर उनके आदेशानुसार कार्य का आरंभ भी कर दिया जो कि आजतक मन्दगति से चल रहा है। इसके बाद आपने फर्माया कि —भाइयो ! मैंने तुम लोगों को इसी कार्य के लिए तैयार किया है, बोलो ! अब तुम्हारी क्या इच्छा है ?

श्रीचम्पालालजी—महाराज ! इच्छा तो हमारी वही है जो आपकी होगी। हम सर्वेसर्वा आपके अनुगामी हैं और सदा रहेंगे परन्तु इस विषय में कुछ गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। फिर, अपने गुरु श्री विश्नचन्दजी की ओर देखते हुए बोले-कहिये गुरु देव ! आपका इस विषय में क्या विचार है ?

श्री विश्नचन्दजी—भाई ! यह बड़ी जटिल समस्या है पंजाब मे इस वक्त अपने इस पंथ का ही बोलबाला है, चारों ओर इसी की तूती बोल रही है और अज्ञ जनता के हृदय पर हम लोगों की ओर से दिये गये अशास्त्रीय विचारों की इतनी गहरी छाप पड़ चुकी हैं कि उसको मिटाना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

श्री चम्पालालजी—तबतो हाथ से दीगई गांठ अब दांतों से खोलनी पड़ेगी !

श्री निहालचन्दजी (छोटे साधु)—महाराज ! यदि दान्तों से खुल जावे तो भी कल्याणकारी ! इसके अनन्तर आपने महाराज श्री आत्मारामजी से हाथ जोड़ कर कहा—गुरुदेव ! इस विषय में मुझे एक योजना सूझी है, परन्तु कहते हुए मुझे संकोच होता है यदि आज्ञा हो तो अर्ज करूं।

श्री आत्मारामजी— कहो बीबा कहो ! इसमें संकोच की क्या आवश्यकता है। बौद्धिक विकास में छोटे बड़े की कोई गणना नही ! "युक्तियुक्त वचोग्राह्य बालादपिसुभाषितम्" सारगर्भित युक्तियुक्त वचन तो सभी का उपादेय होता है।

श्री निहालचन्दजी—यदि हम इस देष का परित्याग करके अपने सद्विचारों का प्रचार करना आरंभ करेगे तो हमको कभी सफलता प्राप्त न हो सकेगी। गुरुदेव ! अपने इस पंथ मे ९९ प्रतिशत तो मूर्ख हैं, वेष छोड़ देने से इन पर हमारे शास्त्रीय विचारों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। प्रत्युत ये लोग हमारे

भाइयों के वहकावे में आकर हमको मक्खन में से वाल की भांति अलग निकाल कर फैंक देंगे। तव हम को सदा के लिए निष्फलता का मुख देखना पडेगा! इस लिए नीति से काम करना अच्छा रहेगा। सवसे प्रथम इसी वेष में रहते हुए जनता में गुप्तरूप से अपने सद्विचारों का प्रचार आरम्भ करदेना चाहिये। अपने पास आने वाले गृहस्थों को शाति से समझाने का प्रयत्न करना चाहिये। उनको समझाते समय वड़ा धैर्य रखना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति अपनी अन्धश्रद्धा के वशीभूत होकर अज्ञानवश कुछ अनुचित भी कहदे तो उसे शांति पूर्वक सहन कर लेना चाहिये। इसी प्रकार साधुवर्ग मे भी इसी पद्धति का अनुसरण करना होगा। उनके साथ एकान्त मे वातचीत करते हुए उनके फिरका वासित मनको वदलने का यत्न करना चाहिये। अपने साथी साधुओं से वादविवाद मे उतरते हुए पूरा संयम रखने की आवश्यकता होगी। गृहस्थों के मनको पहले शकाशील वनाने का यत्न करना होगा, उसके वाद जव उनके मनमे प्रस्तावित विपय को समझने की जिज्ञासा देखें तव उनको शांतिपूर्वक वास्तविक तत्त्व को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये इस प्रकार शनैः शनैः इस कार्य को चालू रखना चाहिये। आज एक व्यक्ति हमारे विचारों को अपनावेगा तो कलको दूसरा भी तैयार हो जावेगा। एक गृहस्थ के विचार वदले तो दूसरा भी उसका अनुसरण करेगा। जैसे खर्वूजे को देखकर खर्वुजा रग वदलता है इमी प्रकार उसे भी समझना चाहिये। एक श्रावक का श्रद्धान वदलने से उसके सहचारी वर्ग के विचारों को वदलाने मे वह पहला श्रावक हमारा पूरा मददगार वनेगा। मानव स्वभाव के अनुसार ऐमा होना सभव ही नहीं किन्तु सुनिश्चित सा है। समाज और सम्प्रदाये इसी प्रकार वनीं या वना करती हैं। अपने इस पंथ में वेष का जो मान है, उससे उचित लाभ उठाने की हमें कोशिश करनी चाहिये। एक मात्र साधु के वेष पर श्रद्धा रखने वाली जनता को अपने सद्विचारों का अनुगामी वनाने के लिए हमारा यह वेप हमारे इस कार्य में रामवाण का काम देगा, ऐसी मेरी मान्यता है, आगे जैसा आप श्री को उचित लगे वैसा करे।

श्री आत्मारामजी—वाहरे निहाल! तूंने तो आज सवको निहाल करदिया। तूं तो छोटा होता हुआ भो वुद्धि में सवसे मोटा निकला। गुदड़ी के लाल! मै तुम्हारे आज के इस उचित परामर्श पर तुम्हें साधुवाद देता हूँ। मैंने अपने मनमें इसी योजना के अनुसार कार्यारम्भ करने का निश्चय किया हुआ था जिसे तुमने अपने शब्दों मे व्यक्त किया है। जव तुम अपनी योजना को सुना रहे थे तो मैं यह अनुभव कर रहा था कि क्या यह मेरे मन के भीतर वैठा हुआ मेरी मनोगत योजना को सुन तो नही रहा होगा? अच्छा अव इस योजना के अनुसार कार्य करने के लिये सवको कटिवद्ध हो जाना चाहिये, मैं तो यहां से सरसे की ओर विहार करूंगा और तुम सव इसी ध्येय को लेकर उचित क्षेत्रों की तर्फ प्रस्थान करो। जैसे कि साधु निहालचन्द ने कहा है उसके अनुसार कार्यारम्भ करते हुए धीरे २ लोकमत को अपने पक्ष मे करने का यत्न करो। जिस किसी भी नगर में जाओ वहां की परिस्थिति और अनुकूल समय को देखते हुए कार्य का आरम्भ करो। सत्यनिष्ठा और आत्मविश्वास सफलता का मूल पाया है। फिर इसके साथ गुरुजनों

का शुभाशीर्वाद तो इसमें सोने पर सुहागे का काम देगा, ऐसी अनुकूल परिस्थिति में सफलता ही सफलता है।

चौमासे की समाप्ति के बाद आपने तो सरसा की ओर विहार कर दिया और विश्नचन्दजी आदि ने लुधियाने की तर्फ प्रस्थान किया।

अध्याय १३

कल संग्रह की ओर

—※०※—

मालेरकोटला से लुधियाने होते हुए विचरते २ श्री आत्मारामजी देशु नाम के ग्राम में पधारे और वहां एक यति के पास से आपको सटीक-शीलांकाचार्य की टीकावाली आचारांग सूत्र की एक हस्त-लिखित प्रति उपलब्ध हुई। जिसकी प्राप्ति से आपको असीम आनन्द हुआ। वहां से रणिया और रोडी होते हुए सरसा पधारे और १६२२ का चतुर्मास सरसा में किया। यहां आपने वड़गच्छ के यति श्री रामसुखजी से दो तीन ज्योतिष के ग्रन्थों का अध्ययन किया! सरसे का चतुर्मास पूरा करके आप सुनाम मे आये यहां पर कनीराम नाम के एक ढूंढक साधु से आपकी भेट हुई। प्रसगोपात उसके साथ साधु के वेष और प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ। इस वार्तालाप में आपने उससे जो कुछ पूछा उसका उत्तर तो उससे बिल्कुल बन न पड़ा किन्तु क्रोध मे आकर यह कहा कि तुम्हारी श्रद्धा भ्रष्ट होगई है। तुम अपने गुरु और दादागुरु के कथन में शंका कर रहे हो! इस पर आपने जरा उत्तेजित होकर फर्माया कि मैं अपने गुरु या दादागुरु का मान करता हूँ परन्तु धर्म के सम्बन्ध में वे जो कुछ उलटा सीधा कहें जिसके लिए शास्त्र का कोई भी आधार न हो उसे आंखमीच कर स्वीकार करना तो एक प्रकार की मूर्खता है। इसे कोई भी बुद्धिमान उचित नहीं समझता। मैंने तो आपसे यही पूछा है कि मैं और आपने जो साधु वेष पहन रक्खा है वह किस शास्त्र के आधार से? तथा आप जो प्रतिक्रमण करते हैं और जिस विधि से करते हैं उसका उल्लेख किस सूत्र में है? परन्तु इसके उत्तर में मुझे आप कहते हो कि तुम्हारी श्रद्धा भ्रष्ट होगई। तो क्या आपके माने हुए आगम ग्रन्थों में इस प्रश्न का ऐसा ही उत्तर देना लिखा है। इस वार्तालाप को वहां कुछ और आदमी भी सुन रहे थे। जब उन्होंने कहा कि महाराज ठीक कह रहे हैं, आपको इसका उत्तर देना चाहिये, तब क्रोध के आवेश में कुछ बड़बडाते हुए कनीरामजी ने तो रास्ता पकडा और आप वहां से मालेरकोटला में आये।

मालेरकोटला मे आकर आपने अपने कार्य का श्रीगणेश किया! वहा के रईस लाला कवरसेन मालेरी और मगतरामजी लोटिया को प्रतिबोध देकर शुद्ध सनातन जैन धर्म के अनुयायी बनाया। सर्वप्रथम

यही दो आपके—नहीं नहीं प्राचीन जैन परम्परा के अनुगामी वने। अर्थात् इन दो गृहस्थों ने आपके वताये हुए सन्मार्ग पर चलने का व्रत लिया।

आप श्री की पुण्य श्लोक जीवन गाथा मे मालेरकोटला का नाम विशेष उल्लेखनीय है! सर्व प्रथम आपकी दीक्षा मालेरकोटला मे हुई। तदनन्तर वर्षों की तपस्या और साधना के फलस्वरूप प्राप्त हुई ज्ञान विभूति का सदुपयोग भी आपने मालेरकोटला में किया और १६२१ के चतुर्मास में मुनि श्री विशनचन्द तथा उनके शिष्य श्री चम्पालाल हाकमराय और निहालचन्दजी आदि साधुओं को सत्य सनातन जैन धर्म की आस्था वाले वनाया, तथा सर्वप्रथम जैन शास्त्रानुसार श्रावक धर्म में दीक्षित होने का सद्भाग्य भी यहीं के दो श्रावकों को प्राप्त हुआ।

इधर श्री विशनचन्द और चंपालालजी ने जंडियाला गुरु मे जाकर वहां के श्री मोहरसिंह और विसाखीमल को प्रतिवोध देकर जैनधर्म के अनुयायी वनाया और अमृतसर के लाला वूटेराय जी जौहरी को अपने विचारों के अनुगामी वनाया तथा साधु हुक्मीचन्द्जी को शुद्ध सनातन जैन धर्म की आस्था वाला वनाया। श्री विशनचन्द, चम्पालाल, हाकमराय और निहालचन्दजी आदि की सहायता से श्री आत्मरामजी के शास्त्रीय सद्विचारों को अपनाने वाले गृहस्थों की दिन प्रतिदिन संख्या वढ़ने लगी। धीरे धीरे लोगों का झुकाव ढूंढक मत की तरफ से हटकर प्राचीन जैन धर्म की ओर वढने लगा। इस प्रकार श्री आत्मारामजी और उनके सहायक श्री विशनचन्दजी आदि के पुरुषार्थ से उनके सद्विचारों का अनुगमन करने वालों की संख्या में वृद्धि होती ही गई। ऐसा कोई दिन नहीं था जिसमें आपके दो चार श्रावक न वने हों। इस तरह से धीरे धीरे इनके अनुयायिओं की संख्या सैंकड़ों से सहस्रों तक जा पहुंची।

यह सव कुछ सत्यनिष्ठा आत्मविश्वास और गुरुजनों के आशीर्वाद को ही आभारी है। इन्हीं के सहारे आपको इतनी सफलता प्राप्त हुई।

अध्याय १४

"पट्टी का मनोरंजक प्रकरण"

उन दिनों पंजाब की ढूढक सम्प्रदाय का नेतृत्व पूज्य श्री अमरसिंहजी के हाथ में था। श्री विश्नचंदजी आदि सब इन्हीं के शिष्य परिवार में से थे। पट्टी के रईस लाला घसीटामलजी पूज्य अमरसिंहजी के मुख्य श्रावकों में से एक थे। पूज्य श्री के चरणों में उनकी अनन्य श्रद्धा थी और इधर श्री विशनचन्दजी मे भी उनका काफी अनुराग था यहां तक कि इनको वे अपना गुरु मानते थे। जब श्री विश्नचन्दजी अपने शिष्य श्री चम्पा-लाल के साथ पट्टी में आये तो घसीटामल और वहां के दूसरे श्रावकों ने आपका सहर्ष स्वागत किया।

पाठकों को इतना स्मरण रहे कि लाला घसीटामल का पट्टी की ओसवाल बिरादरी में भी बहुमान था, बिरादरी का हर काम आपके सलाह मशवरे से होता। एक दो दिन के बाद श्री विशनचन्दजी ने घसीटामल को एकान्त में बिठाकर प्रतिबोध देना आरम्भ किया और जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझाने के साथ साथ उसपर आस्था लाने का भी अनुरोध किया। परन्तु घसीटामल के लिये यह सब कुछ नया था। मूर्तिपूजा आगम विहित है, और बहुत प्राचीन काल से उसका पूजन चला आता है एवं प्रभुप्रतिमा प्रभु के ही समान वन्दनीय अथच पूजनीय है, इस प्रकार के वचन सुनने का तो उसे इस जन्म में यह पहला ही अवसर था, और वह भी उस साधु के मुख से जिसने इससे पूर्व उसके हृदय को मूर्तिपूजा विरोधी उपदेश से भरपूर कर रक्खा था।

श्री विश्नचन्दजी के मुख से–इससे पहले कभी न सुने गये–इन वचनो को सुनकर वह अवाक् सा रहगया और मनमें सोचने लगा कि यह क्या माजरा है? कुछ समझ मे नही आता। पहले इन्हीं महाराज के उपदेश से मैंने "पूजों की संगत छोड़कर समकित ली" और इस पंथ को वीतराग देव का सच्चा पंथ समझा, और आज येही महाराज मुझे इसके सर्वथा विपरीत उपदेश दे रहे है। तब इन दो में से मै इनके किस उपदेश को सच्चा समझूं? पहले को या जिसका अब उपदेश दिया है उसको? बड़ी विकट समस्या है! मेरे जैसे बोध-

शून्य व्यक्ति के लिये—जो कि स्वयं अपनी बुद्धि से किसी प्रकार का अन्तिम निर्णय करने में असमर्थ है। हां! इतना अनुभव तो जरूर हुआ कि इस समय के आपके उपदेश ने जितना हृदय को स्पर्श किया है उतना इससे पहले कभी नहीं किया, न जाने इसमें क्या रहस्य है। फिर एक बात और भी विचारणीय है—ये पांच महाव्रतों के पालन करने वाले हैं कांचन और कामिनी के त्यागी हैं इनमें किसी प्रकार का निजी स्वार्थ भी देखने में नहीं आता, तब इनका मेरे को एकान्त में विठाकर इस प्रकार धर्म का उपदेश करना अवश्य रहस्य पूर्ण होना चाहिये, जिसे कि मैं अभीतक समझ नहीं पाया। अस्तु इस उलझन को आपके ही सामने रखता हूँ, यह उलझन आपने ही डाली है और आपही सुलझायेंगे। इस प्रकार मानसिक विचार परम्परा में उलझे हुए लाला घसीटामल ने कुछ क्षणों के बाद सजग होकर श्री विश्नचन्दजी की ओर देखा और हाथ जोड़कर कहने लगे—गुरुदेव! यदि अपराध क्षमा हो तो कुछ अर्ज करूं?

श्री विश्नचन्दजी—बड़ी खुशी से? जो कुछ कहना चाहो बड़े खुले दिल से कहो। तुम मेरे श्रावक हो और मैं तुम्हारा गुरु, सच्चे गुरु शिष्य भाव में किसी प्रकार के भेद भाव को अवकाश ही नहीं होता इसलिये जो कुछ कहना चाहो विना संकोच कहो।

श्री घसीटामलजी—आज से पहले तो कभी आपने ऐसा उपदेश नहीं दिया जैसा कि आज दे रहे हैं इसका क्या कारण? क्या इसे मैं अपना सद्भाग्य समझूं या कुछ और?

श्री विश्नचन्दजी—यही कारण कि पहले मैं बिना आंख का था अब मुझे आंखें मिलगई। इसलिये पहले मैं जो कुछ कहता था वह सुना सुनाया कहता था, और अब आंखों देखा कहता हूँ। अब रही सद्भाग्य या दुर्भाग्य की बात, सो इसका पता तुमको कुछ समय के बाद स्वयं ही लग जायगा।

श्री घसीटामलजी—गुरु महाराज! मैं आपके इस कथन का कुछ भी आशय समझ नहीं पाया, आप इसे कुछ स्पष्ट शब्दों में बतलाने की कृपा करो!

श्री विश्नचन्दजी—पहले—आज से लगभग डेढ वर्ष पूर्व तक—मैं और मेरा यह शिष्यवर्ग भी तुम्हारी तरह बिना आंख का अर्थात् वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप से सर्वथा अज्ञात था। यथार्थज्ञान से शून्य होने के कारण उन्मार्ग को ही मैंने सन्मार्ग समझा परिणामस्वरूप इस पंथ को ही जैन धर्म का सच्चा प्रतीक समझकर मैं इसमें दीक्षित हो गया। मुझे दीक्षा देने वालों ने एक मात्र इसी पंथ को जैन धर्म का नाम देकर प्रचार करने का आदेश दिया और मेरे इस वेष को ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के साधु का सच्चा वेष बतलाया तथा अपने इस आचार विचार को ही शास्त्र संगत बतलाया। इसके अतिरिक्त ३२ मूल आगम ही सच्चे और मानने योग्य हैं उनसे भिन्न बाकी के सभी कपोल कल्पित हैं या मनघडंत हैं ऐसा समझने का आग्रह किया। एवं आगम ग्रन्थों पर रचे गये पूर्वाचार्यों के निर्युक्ति भाष्य और टीका आदि का तो नाम लेना भी पाप बतलाया गया तथा मूर्तिपूजा को आगम बाह्य बतलाने और उसे सावद्य करणी कहकर कोसने पर अधिक से अधिक

भार दिया गया। इस प्रकार के वातावरण में रात दिन रहने के कारण मैंने भी निरन्तर इन्हीं बातों का जीवन भर प्रचार किया जिसका कि तुमको भी पूरा अनुभव है। अब जब कि मैं और मेरा शिष्यवर्ग स्वनाम धन्य मुनि श्री आत्मारामजी के संसर्ग में आया और उन्होंने जब हमें लगातार आगम ग्रन्थों का अभ्यास कराना शुरु किया तथा उनके वास्तविक रहस्य को समझाया तब हमारी आंखे खुली और वस्तु तत्त्व का यथार्थ भान हुआ। उन्हीं की अनन्य कृपा से हमारे अन्धकार पूर्ण हृदयाकाश मे ज्ञान ज्योति का उदय हुआ उसके निर्मल प्रकाश में जब हमने जैनधर्म के स्वरूप का अवलोकन किया तो वहां इस पथ का कोई चिन्ह मात्र भी हमे दिखाई न दिया। इसका कोई भी सिद्धान्त या आचार विचार जैन शास्त्रों के अनुसार देखने में नहीं आया। और वास्तव में इस पंथ के मूल पुरुष लौंका और लवजी है। सर्व प्रथम लौंका ने मूर्ति का निषेध किया और लवजी ने मुंहपत्ती बान्धना आरम्भ किया इससे पूर्व जैन परम्परा में ये दोनों बाते नहीं थी। अतः इस पंथ का सम्बन्ध लौंका और लवजी से है न कि वीर भगवान से। उसके नाम का तो यहां झूठा ही ढंढोरा पीटा जाता है।

इसके अनन्तर लाला घसीटामल को सम्बोधित करते हुए श्री विश्नचन्दजी बोले-लाला जी! इस पंथ में दीक्षित होने के बाद मैंने तुम्हें और तुम्हारे जैसे दूसरे गृहस्थों को जो उपदेश दिया वह जैन शास्त्रों से सर्वथा विपरीत दिया जिसका कि मुझे अधिक से अधिक पश्चाताप हो रहा है। उसीका प्रायश्चित करने के लिए अब मैं भ्रमण कर रहा हूँ। इसी हेतु से मैंने तुम्हे यहां एकान्त मे बुलाकर वस्तुस्थिति का यथार्थ भान कराने का यत्न किया है। इस प्रकार जब २ समय मिलता तब तब लाला घसीटामल और श्री विश्नचन्दजी में वार्तालाप होता रहता, इस वार्तालाप से लाला घसीटामल के हृदय मे काफी परिवर्तन आगया और पहले के श्रद्धान की नौका डगमगाने लगी। एक दिन वह श्री विश्नचन्दजी के पास आकर बोला-महाराज! आपका दिया हुआ सदुपदेश हृदय को स्पर्श करता है। और उसपर आस्था लाने की सद्भावना भी जागती है। परन्तु आपके दिये हुए इन सद्विचारों को इस मलिन हृदय में अधिक समय तक टिकने का अवकाश नहीं मिलता। बहुत समय के सञ्चित हुए पहले संस्कारों ने मेरे हृदय पर ऐसा अधिकार जमा लिया है कि वे नये विचारों को अन्दर घुसने ही नहीं देते, कृपया इसका कुछ उपाय बतलाइये।

श्री विश्नचन्दजी—तुम अभी कुछ दिन धैर्य करो। हमारी ओर से दिये गये उपदेश को स्मृति में रखते हुए एक काम करो। तुम्हारा पुत्र अमीचन्द जो इस समय पढ रहा है और अच्छा बुद्धिमान है उसको व्याकरण शास्त्र के अध्ययन मे लगाओ और जब वह व्याकरण शास्त्र का बोध प्राप्त कर लेगा, तब उससे पूछना कि यथार्थ वस्तु क्या है? वह जो कुछ कहे उसे स्वीकार करना। लाला घसीटामल को यह बात बहुत पसंद आई और अपने लडके को व्याकरण का पढाना आरम्भ किया। कुछ समय बाद जब वह व्युत्पन्न हो गया तो लाला घसीटामल उससे बोले—पुत्र! किसी प्रकार का पक्षपात न करते हुए जो सत्य हो वह तुम मुझे बताओ? मेरे लिए तुमसे अधिक विश्वास योग्य दूसरा कोई नहीं।

श्री अमीचन्दजी—पिता जी सत्य तो यह है कि श्री विश्नचन्दजी महाराज जो कुछ फर्मा रहे हैं वही शास्त्र सम्मत सत्य है और जो श्री पूज्य अमरसिंह और उनका शिष्यवर्ग कहता है वह तो शास्त्रों के बिलकुल विपरीत है। ये लोग शब्द शास्त्र के बोध से शून्य हैं। इस लिए पद पदार्थ का स्वयं तो इनको ज्ञान होता नहीं। जिस किसी ने भी जैसा बतला दिया उसी को यह सत्य मान बैठे हैं और श्री विश्नचन्दजी महाराज जो कुछ फर्मा रहे हैं वह यथार्थ और आगम सम्मत है, इस लिए आपको उसी पर विश्वास करना चाहिये।

पुत्र के इन वचनों ने लाला घसीटामल के हृदय मे बैठे हुए विपरीत श्रद्धान को दूर करने में बड़ा चमत्कार दिखाया। वे उसी वक्त श्री विश्नचन्दजी के चरणों में गिर कर बोले—गुरुदेव ! मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपने मुझपर जो कृपा की है–और धर्म के विषय में मुझे जो नया जीवन दिया है उससे मैं आपका आजन्म ऋणी रहूँगा। आज से मैं आप श्री के सदुपदेश का सच्चे मनसे पालन करने का यत्न करूंगा। लाला घसीटामल की देखादेखी वहां के कई एक और गृहस्थों ने भी जैन धर्म का शुद्ध श्रद्धान अंगीकार किया। और आपके सुपुत्र श्री अमीचन्दजी व्याकरण के अच्छे ज्ञाता होकर गुजरात मारवाड़ और पंजाब में पंडित अमीचन्दजी के नाम से विख्यात हुए संवेगी परम्परा मे दीक्षित होने के बाद श्री आत्मारामजी के जितने भी नवीन शिष्य हुए उनमें से शायद ही ऐसा कोई होगा जिसने पंडित अमीचन्दजी के पास थोड़ा बहुत अध्य-यन न किया हो।

इस प्रकार पट्टी नगर में जैन धर्म की श्रद्धा का बीज वपन करने के बाद श्री विश्नचन्द, चम्पालाल हाकमराय और निहालचन्दजी आदि ने महाराज श्री आत्मारामजी को मिलने के लिये लुधियाने की ओर विहार किया।

अध्याय १५

अजीव पंथियों से चर्चा

—:✻:—

इधर श्री विश्नचन्दजी चम्पालाल और हाकमरायजी आदि साधुओं ने श्री आत्मारामजी को मिलने के लिये पट्टी से लुधियाने की ओर विहार किया, उधर श्री आत्मारामजी ने अजीव पन्थी साधु श्री रामरत्न और वसन्तरामजी के साथ धर्मचर्चा करने के लिए लुधियाने से जालन्धर को विहार किया और सबका मिलाप जालन्धर में होगया। जैसाकि पहले बतलाया गया है पंजाब में ढूँढक मत के साधुओं में जीव पन्थी और अजीव पन्थी नाम से दो मत प्रचलित हैं। अजीव पन्थी साधु सूखे हुए गेहूँ और चनों आदि के बीजों में जीव का अस्तित्व नहीं मानते इस लिए वे अजीव पंथी के नाम विख्यात है जबकि दूसरे इनमें जीव की सत्ता को मानते हैं इसलिए वे जीवपंथी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उस समय ढूँढक सम्प्रदाय में इस विषय की बहुत चर्चा प्रचलित थी। इसी कारण श्री आत्मारामजी के साथ अजीव पंथ के साधु श्री रामरत्नजी और वसन्तरामजी का उक्त विषय पर शास्त्रार्थ होना निश्चित होचुका था। जालन्धर में इस धर्मचर्चा या शास्त्रार्थ को सुनने के लिए पंजाब के लगभग २७ शहरों के श्रावक एकत्रित हुए थे और कई एक विद्वान् पंडितों को मध्यस्थ नियत किया गया था। समय पर सब उपस्थित होगये और दोनों ओर के चर्चा करने वाले साधु भी सभा मे पहुंच गये और वार्तालाप आरंभ हुआ।

इस वार्तालाप में श्री आत्मारामजी का पक्ष बहुत प्रबल रहा और उन्हीं के पक्ष में मध्यस्थों ने अपना निर्णय दिया जिसके कारण उनकी विजय हुई और रामरत्न तथा वसन्तराम जी आदि पराजित हुए ❀ इतने पर भी उन्होंने अपने हठ का त्याग नहीं किया! सत्य है "स्वभावोदुरितक्रमः" जिसका जो स्वभाव होता है वह दूर नहीं होता। इसी लिये कदाग्रही व्यक्ति सत्य से वंचित रहता है।

❀ इस चर्चा में दोनों ओर से जो कुछ कहा गया और प्रमाणरूप में जिन ग्रन्थों के लेख उपस्थित किये गये उनका दिग्दर्शन परिशिष्ट में कराया जायगा। (लेखक)

इस प्रकार जालन्धर में अजीव पन्थ मत के साधुओं को शास्त्र सभा में पराजित करके श्री आत्मारामजी ने श्री विश्नचन्दजी आदि साधुओं को साथ लेकर अमृतसर की ओर विहार कर दिया ग्रामानुग्राम विचरते हुए अमृतसर पधारे और लाला उत्तमचन्दजी जौहरी की बैठक में उतारा किया। वहां आपने व्याख्यान में श्री भगवती सूत्र सटीक वाचना आरम्भ किया।

उन दिनों पूज्य अमरसिंहजी भी अमृतसर में ही विराजमान थे। वे भी अपने शिष्यों सहित आपके व्याख्यान में आया करते थे। आपके व्याख्यान की शैली इतनी आकर्षक और मोहक होती कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध होजाते! श्रोताओं की संख्या दिन प्रतिदिन इतनी बढ़ने लगी कि मकान में बैठने को स्थान मिलना कठिन होगया! तब सबने मिलकर एक दूसरे खुले मकान का प्रबन्ध किया और वहां पर व्याख्यान होने लगा! श्रोताओं की भीड़ वहां पर भी इतनी होती कि कहीं तिल धरने को जगह न रहती। आपकी व्याख्यान शैली की किन शब्दों में प्रशंसा करें? जो कोई भी एक वार सुनने को आता वह इतना प्रभावित होता कि दूसरे दिन के व्याख्यान को श्रवण करने के लिये बड़ी अधीरता से समय व्यतीत करता। आपका सारगर्भित उपदेशामृत का पान करने के लिये समय से पहले ही श्रोताओं से स्थान खचाखच भर जाता। जिस समय आप व्याख्यान के लिए पधारते उस समय श्रोताओं के हर्षनाद से व्याख्यान भवन गूंज उठता। पूज्य अमरसिंहजी तो आपकी व्याख्यानकला से इतने प्रभावित हुए कि एक दिन आपसे सप्रेम कहने लगे कि भाई आत्माराम! मुझे विश्वास ही नहीं किन्तु निश्चय है कि भविष्य में तुम्हारे हाथ से जैन धर्म का बड़ा भारी उद्योत होगा और तुम हमारे सम्प्रदाय में सूर्य की तरह चमकोगे। परन्तु तुम यदि अपनी इस ज्ञान विभूति का सदुपयोग करना मेरे शिष्यों को भी बतलादो तो जैन धर्म की और भी अधिक प्रभावना हो इत्यादि।

पूज्य अमरसिहजी के उक्त कथन को सुन कर श्री आत्मारामजी ने कहा—पूज्यजी साहब! मुझे आपकी आज्ञा के पालन करने में ज़रा जितना भी संकोच नहीं। परन्तु प्राकृत और संस्कृत के सुचारु बोध के लिये सर्वप्रथम उनके व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता है। व्याकरण के बोध बिना पदपदार्थ का यथार्थ ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। इस लिए यदि आप चाहते हैं कि आपका यह शिष्यवर्ग सुयोग्य व्याख्याता और शास्त्रों का जानकार बने तो सर्व प्रथम आप इन्हें शब्दशास्त्र–व्याकरण का बोध कराने का यत्न करें।

अध्याय १६

स्पष्टवादिता

—:※:—

जो व्यक्ति ज्ञान सम्पदा से युक्त होकर परमार्थ को समझ लेता है और जिसके पुनीत हृदय मे एक-मात्र सत्य को अपनाने की भावना सजग रहती है वह विना किसी लाग लपेट के सत्य और स्पष्ट कहने में किसी प्रकार का सकोच नहीं करता, और वह इस वात को भी ध्यान में नहीं लाता कि सुनने वाले उसके कथन से प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न। एक दिन श्री आत्मारामजी ने अवसर देखकर व्याख्यान मे फर्माया कि "जो लोग पूर्वाचार्यों के किये हुए यथार्थ अर्थ को त्यागकर सूत्रों के मनमाने अर्थ कर रहे हैं एवं उन्हीं मनः-कल्पित अर्थों को सत्य समझने का आग्रह कर रहे हैं उन भद्रपुरुषों का परभव मे क्या हाल होगा यह तो ज्ञानी महाराज ही वतला सकते है परन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि उनके लिये जघन्य गति के सिवा और कोई स्थान नहीं।"

यह सुनकर पूज्य श्री अमरसिंहजी तो मन ही मन क्रोध से भर गये और अपने स्थान पर आकर मनमें वसे हुए क्रोध के दावानल को वाहर निकालने के लिये शीघ्र से शीघ्र अवसर की तलाश करने लगे। इतने में स्यालकोट निवासी सोदागरमल नाम का एक श्रावक जोकि उन दिनों किसी कारणवश अमृतसर में आया हुआ था और जो उस समय ढूंढक मतानुयायी श्रावकों मे मुख्य एवं जानकार माना जाता था—वह पूज्य अमरसिंहजी के पास आया। तव पूज्य अमरसिंहजी ने उसके पास अपने हृदय की भड़ास को इन शब्दों मे निकालना आरम्भ किया—

भाई सोदागरमल्ल! आजकल आत्माराम को अपने ज्ञान का वड़ा अभिमान होगया है आज की व्याख्यान सभा मे उसने ऐसे शब्द कहे हैं कि जिनको मैं किसी हालत मे भी वर्दाश्त नहीं कर सकता मुझे अव इसका अभिमान तोड़ना होगा, मेरे आगे यह कुछ भी नहीं है? मैं आज ही इसको चर्चा के लिये चुनौती दूंगा इत्यादि। पूज्य अमरसिंहजी के क्रोध और अभिमान से भरे हुए इन उद्गारों को सुनकर विनयपूर्वक सोदागरमल ने कहा—

पूज्य जी साहब ! आप जो कुछ फर्मा रहे हैं वह ठीक होगा परन्तु एक बात मैं आपसे नम्रतापूर्वक कहता हूँ—आप आत्मारामजी से अपने मत सम्बन्धि चर्चा करने की कभी भूल न कर बैठें। यदि करोगे तो याद रखना आपको बहुत नीचा देखना पड़ेगा। मैं आत्मारामजी को बहुत अच्छी तरह से समझता हूँ और मानता हूँ कि इनके सामने अपने साधुओं में से कोई भी उत्तर प्रत्युत्तर करने की शक्ति नहीं रखता, इनके समान ज्ञानवान और प्रभावशाली पुरुष अपने सम्प्रदाय में इस वक्त कोई नजर नहीं आता। इसलिये इनका मुकाबिला करने की अपेक्षा इन से मेल जोल रखना ही हितकर होगा। ऐसी मेरी समझ और मान्यता है, आगे आप मालिक हैं।

लाला सौदागरमल के इस कथन को सुनकर पूज्य अमरसिंहजी तो एक दम चकित से रहगये। उन्हें तो यह विश्वास था कि सौदागरमल उनका पक्का भक्त है इस लिए उनके कथन का सर्वेसर्वा समर्थन करेगा और उसे सक्रिय बनाने में पूज्यजी साहब को पूरा सहयोग देगा। परन्तु बात इससे बिलकुल विपरीत हुई जिससे कि वे कुछ हताश होगये और कुछ देर विचार करने के बाद उनको लाला सौदागरमल का कथन उचित प्रतीत हुआ। तदनुसार वह आत्मारामजी से मेलजोल बढ़ाने का यत्न करने लगे। सत्य है, "डरती हर हर करती" एक दिन श्री आत्मारामजी को एकान्त में लेजाकर उनसे सप्रेम बोले—बेटा आत्माराम ! सचमुच ही तू हमारे इस मत में एक बहुमूल्य रत्न पैदा हुआ है ! तेरी बराबरी करने वाला इस समय हमारे इस मत में दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है। इसलिए तुमको ऐसा काम करना चाहिये जिससे तुम्हारे और हमारे अन्दर कोई बिगाड़ पैदा न हो बल्कि आपस में मेल जोल बढ़े।

श्री आत्मारामजी—पूज्यजी साहब ! आप जो कुछ फर्मा रहे हैं वह ठीक है परन्तु क्या किया जाय आगम वेत्ता पूर्वाचार्यों के लेखों के विपरीत अब मुझ से प्ररूपणा होनी अशक्य है। मैं तो वही कुछ कहूँगा जो शास्त्रविहित होगा शास्त्र विरुद्ध मनःकल्पित आचार विचारों के लिए अब मेरे हृदय में कोई स्थान नहीं रहा और मेरी आपसे भी विनम्र प्रार्थना है कि आप झूठे आग्रह को छोड़कर तटस्थ मनोवृत्ति से सत्यासत्य का निर्णय करने का यत्न करें, तथा शास्त्रीय दृष्टि से जो सत्य प्रमाणित हो उसे बिना किसी संकोच के स्वीकार करलेना चाहिये। यह मनुष्य जन्म बार २ मिलना कठिन है, हम लोगों ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के धर्म मार्ग का अनुसरण करने के लिए ही घरबार का परित्याग किया है। इसलिये साधु और गृहस्थ का जो धर्म भगवान् ने निर्दिष्ट किया है और गणधर देवने जिसका आगमों में उल्लेख किया तथा परम मेधावी पूर्वाचार्यों ने जिसका परमार्थ समझाया है उसीका आचरण तथा उपदेश करना हमारा धर्म होना चाहिये। आप इस समाज के नेता हैं, आपको तो इस ओर सबसे अधिक लक्ष्य देने की आवश्यकता है, इत्यादि।

परन्तु श्री आत्मारामजी के इस कथन का पूज्य श्री अमरसिंहजी के हृदय पर कुछ असर नहीं हुआ और उन्होंने इस हित शिक्षा से लाभ उठाने के बदले इसे अहितकर समझा और वहां से चुपचाप उठकर चल दिये—विद्वेष की भावना को हृदय में लेकर।

श्री हरिभर्तरीजी ने ऐसे पुरुषों के लिए वहुत अच्छा कहा है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञान लवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयितुँ शक्तः ॥

अर्थात अज्ञ पुरुषों को समझाना सुकर है और जो विशेषज्ञ है उसको समझाना तो और भी सुकर है। परन्तु जो ज्ञानलवदुर्विदग्ध है अर्थात् इधर उधर के दो चार पुस्तक पढ़कर अपने समान दूसरे को नहीं मानता ऐसे कदाग्रही व्यक्ति को तो ब्रह्मा भी समझा नहीं सकता सामान्य पुरुष की तो वात ही अलग है। तात्पर्य कि श्री आत्माराम जी का उक्त सत्य और हितकारी कथन श्री अमरसिंह को सद् विचार की ओर लेजाता परन्तु उसके वदले उन पर इसका उलटा असर हुआ जो कि उनकी प्रकृति के अनुरूप ही था।
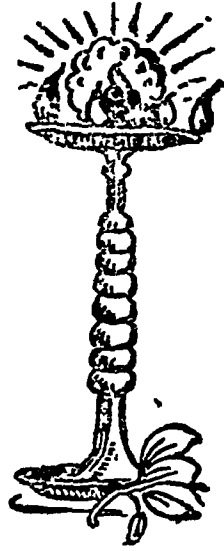
अध्याय १७

"कलह का सुन्दर परिणाम"

उक्त एकान्त वार्तालाप के कुछ दिन बाद पूज्य श्री अमरसिंहजी तो पट्टी को विहार कर गये और श्री आत्मारामजी ने श्री विश्नचन्दजी आदि को साथ लेकर अमृतसर से जालन्धर को विहार किया। इधर खैरायतीमल-(आत्मारामजी का गुरु भाई) और गणेशीलाल (श्री आत्मारामजी का शिष्य) नाम के दो साधु कितने ही दिन पहले अमृतसर से होशियारपुर चले आये थे। वहां इन दोनों का आपस में किसी बात पर कलह हुआ जिससे गणेशीलाल तो मुँहपत्ति का डोरा तोड़कर श्री आत्मारामजी को मालूम किये बिना ही होशियारपुर से चलकर गुजरांवाले में पहुंच गया और वहां पर विराजमान प्राचीन जैन परम्परागत तपगच्छ के संवेगी साधु मुनि श्री बुद्धिविजय जी (बूटेरायजी *) के पास प्राचीन जैन धर्म की दीक्षा लेली और खैरायतीमल मारवाड़ होता हुआ गुजरात में चला गया और श्री मणीविजय जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा होने के बाद उसका श्री खांतिविजय यह नाम रक्खा गया। इधर श्री बूटेरायजी ने गणेशीलाल को जैन धर्म की दीक्षा देकर उसका विवेकविजय यह नाम निर्धारित किया।

---

* इन महात्मा का जन्म पंजाब देश के लुधियाना तहसील के बलोलपुर ग्राम के नजदीक दक्षिण दिशा की ओर सात आठ कोस की दूरी पर आनेवाले डलुवा ग्राम के रईस टेकसिंह नाम के जमीदार-जाट के घर उनकी कर्मों नाम की स्त्री की दक्षिण कुक्षि से विक्रम संवत् १८६३ में हुआ था। इन्होने माता की आज्ञा से वि० सं० १८८८ में श्री मलूकचन्द जी के टोले के नागरमल नामा साधु के पास ढूंढक मत की दीक्षा अंगीकार करी। परन्तु कुछ समय बाद शास्त्रो के अभ्यास से तथा देश देशान्तरों में भ्रमण करते हुए स्थान २ पर उपलब्ध होने वाले प्राचीन जिनमन्दिरो के अवलोकन से उन्हें यह ढूंढक मत अत्यन्त अर्वाचीन प्रतीत होने लगा और उसका सारा आचार विचार शास्त्रविपरीत अथच मनःकल्पित सा जान पडा। इस लिए उक्त मत के साधु वेष का परित्याग करके गुजरात देश के प्रख्यात नगर अहमदाबाद में जाकर अनुमान वि० सं० १६११—१३ में गणी श्री मणिविजयजी महाराज के पास शुद्ध सनातन जैनधर्म की साधु दीक्षा स्वीकार की अर्थात् उक्त महात्मा को गुरु धारण किया।

इस प्रकार श्री आत्मारामजी के गुरुभाई और शिष्य दोनों ही ढूंढक मत का त्याग करके प्राचीन जैन परम्परा मे दीक्षित होगये और क्रमशः खांतिविजय और विवेकविजय के नाम से विचरते रहे।

अभी तक सर्वसाधारण इस बात से अपरिचित ही थे कि श्री आत्मारामजी की आस्था ढूँढक मत से उठ चुकी है। परन्तु श्री गणेशीलाल-विवेकविजय जी ने इस बात को आम जनता में फैलाना शुरु कर दिया। वे जहां जाते वहां पर इसी बात का प्रचार करते और कहते कि श्री आत्मारामजी को अब ढूँढक मत की श्रद्धा नहीं रही, वे तो सर्वेसर्वा शुद्ध सनातन जैन धर्म के अनुगामी हैं। प्रत्यक्ष मे तो उनका वेष और व्यवहार ढूँढक मत का ही है परन्तु अन्दर से तो आप मूर्तिपूजा के अनुरागी और मुँहपति बांधने के विरोधी हैं।

यद्यपि श्री गणेशीलाल—विवेकविजय जी का उक्त कथन यथार्थ ही था परन्तु अबोधजनता पर इसका प्रभाव उलटा हुआ और लाभ के बदले हानि अधिक हुई। इनके उक्त कथन को सुनकर उसके परमार्थ को समझे बिना बहुत से लोगों ने श्री आत्मारामजी के पास जाना छोड़ दिया और उनके सम्पर्क से प्राप्त होनेवाले सद्बोध से वे वंचित रह गये।

वैसे ढूंढक पथ से आस्था तो इनकी वि० स० १८६३ से ही हट चुकी थी, इसलिए उक्त सम्वत् का उल्लेख विधिपूर्वक प्राचीन जैन परम्परा में दीक्षित होने की अपेक्षा से जानना।

इनके अनेक शिष्य हुए जिन में पाच अधिक प्रसिद्ध हैः—(१) श्री मुक्ति विजय जी गणी (श्री मूलचन्दजी) (२) श्री वृद्धिविजयजी (श्री वृद्धिचन्दजी) (३) श्री नीतिविजयजी (४) श्री खातिविजयजी और (५) श्री विजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) जोकि इस जीवन गाथा के नायक हैं। ढूंढक मत का परित्याग करके आपने इन्ही महात्मा के पास शुद्ध-सनातन जैनधर्म के साधु वेष को अगीकार किया था। इन महात्मा के जीवन विषयक अधिक जानने की इच्छा रखने वाले इनकी बनाई हुई मुंहपती चर्चा नाम की पुस्तक का अवलोकन करें।

अध्याय १८

होशयारपुर व विनौली का चतुर्मास

—०❀०—

जालन्धर से विहार करके आप होशयारपुर पधारे और १६२३ का चतुर्मास होशयारपुर में किया। इस चतुर्मास में भक्त नत्थुमल, विल्लामल और मानमल आदि वहुत से पुरुषों ने आप से शुद्ध सनातन जैनधर्म की श्रद्धा को अंगीकार किया, तथा पहले से श्रद्धा रखने वाले लाला गुजरमल आदि कितने एक गृहस्थों के धार्मिक विचारों को दृढ़ता प्राप्त हुई। सत्य है महापुरुष जहां जाते हैं वहां उपकार ही होता है।

चतुर्मास की समाप्ति के बाद आप ने दिल्ली की ओर विहार किया। दिल्ली में कुछ दिन ठहर कर वहां से यमुना नदी के पार विनौली विचरते हुए पधारे और १६२४ का चतुर्मास विनौली ग्राम में किया। इस ग्राम में भी आप ने कई एक गृहस्थों को शुद्ध सनातन जैनधर्म में प्रविष्ट किया। और यहीं पर आपने "नवतत्त्व" ग्रन्थ का निर्माण करना आरम्भ किया जो कि बडौत के चतुर्मास में सम्पूर्ण हुआ।

अध्याय १६

श्री चन्दनलालजी आदि साधुओं को प्रतिबोध

—:※:—

विनौली के चतुर्मास की समाप्ति के बाद विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए आप "डोगर" नाम के एक ग्राम में पधारे। यहां पर आपको रणजीतमल नाम का एक ओसवाल गृहस्थ मिला, यह मारवाड़ से पंजाब की तरफ जाने के लिये साधु श्री रामबख्श के साथ आया हुआ था। इससे पूर्व भी यह श्री आत्मारामजी से जयपुर और दिल्ली आदि के चतुर्मास में कई दफा मिल चुका था। तब श्री आत्मारामजी ने अपना पुराना परिचित समझकर उसे वीतराग देव के धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाने का काफी यत्न किया परन्तु परिणाम कुछ न निकला। सत्य है चन्दन के वृक्ष के साथ के अन्य वृक्ष उसकी सुगन्धी से चन्दन बन जाते हैं परन्तु बांस कोरा बांस ही रहता है—उस पर चन्दन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यहां भी ऐसी ही बात बनी।

परन्तु श्री आत्मारामजी के कथन से रणजीतमल के हृदय में ढूंढक मत के विषय में कुछ सन्देह तो अवश्य उत्पन्न हो गया, उसे दूर करने के लिये वह योगराजिये—योगराज के टोले के साधु श्री रूड़मलजी के शिष्य श्री चन्दनलाल साधु को साथ लेकर श्री आत्मारामजी के पास लाया और कहा कि आप इन से वार्तालाप करें।

श्री चन्दनलालजी ने श्री आत्मारामजी से साधु के उपकरण और प्रतिक्रमण के विषय मे वार्तालाप शुरू किया। तब आत्मारामजी ने शास्त्रों के पाठ निकालकर चन्दनलालजी को दिखलाये, देखते ही श्री चन्दन-लालजी ने श्री आत्मारामजी से कहा कि आप जो कुछ कहते हैं वह सर्वथा सत्य और उपादेय है। यह सुनकर रणजीतमल तो अवाक् सा रहगया। वह जिस महानुभाव को आत्मारामजी के पास उन्हें पराजित करने की भावना से लाया था उस पर ओस पड़गई। श्री चन्दनलालजी ने तो श्री आत्मारामजी की सत्य प्ररूपणा के आगे स्वयं घुटने टेक दिये। परन्तु इतने पर भी रणजीतमल ने अपने दुराग्रह का परित्याग नहीं किया। ऐसे लोगों के लिये एक कवि की निम्न लिखित सूक्ति बहुत ही अच्छी जचती है—

घूमा कोकिल वृन्द बीच सुख से आजन्म तूं काक रे !
छोड़ा किन्तु कटूक्ति को न फिर भी हा हन्त ! तूने अरे !
किंवा है लवलेश दोष इसमें तेरा नहीं दुर्मते !
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते ॥

फिर भी कहने लगा कि मेरे साथ तो "लेने गई पूत और खो आई खसम" * वाली ही बात बनी। मैं तो आत्मारामजी को समझाने के लिये इन्हें (चन्दनलालजी) को लाया था, परन्तु ये तो समझाने के बदले समझने वाले ही प्रमाणित हुए। आत्मारामजी को अपना बनाने के बदले स्वयं उनके बन गये। इधर श्री आत्मारामजी ने उसे–जीतमल को अयोग्य समझकर उपेक्षा करदी।

श्री चन्दनलालजी ने अपने गुरु श्री रूड़मलजी के पास आकर श्री आत्मारामजी का सारा कथन कह सुनाया, तब उन्होंने भी श्री आत्मारामजी के शास्त्रसम्मत कथन का सहर्ष स्वागत किया और कहा कि श्री आत्मारामजी का कथन बिलकुल सत्य और उपादेय है। अतः हम भी उन्हीं का अनुसरण करेंगे। हम लोग इस विषय में शंकाशील तो बहुत समय से थे परन्तु आज उनके स्पष्टीकरण करने पर सब कुछ साफ हो गया। अब मन में कोई सन्देह बाकी नहीं रहा। फलस्वरूप रूड़मलजी आदि साधु भी श्री आत्मारामजी के अनुगामी बने और उससे उनके–आत्मारामजी के निर्धारित कार्यक्रम को और भी प्रोत्साहन मिला। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में विचरते और जनता को सत्य मार्ग पर लाते हुए १९२५ का चतुर्मास आपने बड़ौत में किया। यहाँ आपने विनौली में आरम्भ किये गये नवतत्त्व ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया। †

---

* किसी ग्राम में एक महात्मा पधारे, वे बडे सिद्ध पुरुष थे, लोग उनके दर्शन करने जाते और बडी प्रशंसा करते। एक दिन पुत्र प्राप्ति की लालसा से एक स्त्री अपने पति को साथ लेकर महात्मा के पास आई और नमस्कार करके बडी नम्रता से बोली-कि महाराज ! आप सिद्ध पुरुष हैं, मेरे कोई पुत्र नहीं, आप कृपा करके मुझे पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दें मैं इसी उद्देश से इन्हें–(पति को) साथ लेकर आपके चरणों में उपस्थित हुई हूँ ?

महात्मा बडे पहुँचे हुए साधु थे उन्होने अपने ज्ञान बल से सब कुछ जान लिया, पास में बैठे हुए उसके पति को उन्होंने उपदेश देना आरम्भ किया, उपदेश का उसके ऊपर इतना प्रभाव हुआ कि वह उसी समय सब कुछ छोडकर उनका शिष्य बन गया ! तब उसने अपनी स्त्री को कहा कि अब तुम्हारा मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, तुम अपने घर को जाओ और भगवत् चिन्तन करो ! वह बिचारी रोती हुई घर को वापिस आगई। उसे पुत्र तो क्या मिलना था पति भी उसके हाथ से गया। इस कहानी को लक्ष्य में रखकर ही यह कहावत बनी है–"लेने गई पूत और खो आई खसम"

† इस ग्रन्थ में जीवाजीवादि तत्वों के स्वरूप का बड़ी ही सुन्दरता से स्पष्टीकरण किया गया है। हिन्दी भाषा भाषी सज्जनों को जैन तत्वों के ज्ञान के लिये यह बड़ा ही उपयोगी है ! इसके अतिरिक्त ग्रन्थ निर्माता की शास्त्रीय योग्यता का भी इससे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

अध्याय २०

विरोधि-दल का सामना

"पूज्य अमरसिंहजी का मेजरनामा"
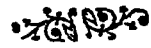
इधर पंजाब में श्री आत्मारामजी के अनुयायियों की संख्या वढ़ती हुई देख पूज्य श्री अमरसिंहजी की चिन्ता वढ़ने लगी उन्होंने अपने पक्ष के कुछ साधुओं की सम्मति से एक लेख (मेजर नामा) तैयार कराया जिसका भावार्थ और शब्द रचना इस प्रकार की थी—

"जो कोई साधु जिनप्रतिमा को मानने और पूजने का उपदेश दे, तथा सदोरक मुखवस्त्रिका–डोरे सहित मुख पर वन्धी हुई मुंहपत्ती का विरोध करे या उसे शास्त्रविरुद्ध कहे एवं वावीस प्रकार के कहे जाने वाले अभक्ष्य (नहीं खाने योग्य) पदार्थों के नहीं खाने का नियम करावे उसको अपने समुदाय से वाहर कर देना चाहिये ।। इत्यादि ।।

इस लेख पर अपने पक्ष के साधुओं के हस्ताक्षर कराये और उनके अतिरिक्त श्री आत्मारामजी के गुरु श्री जीवनमलजी के हस्ताक्षर भी किसी प्रकार से–(छल रूपसे) करा लिये गये तथा श्री जीवनमल और पन्नालाल आदि चार साधुओं को श्री आत्मारामजी के पास उक्त लेख पर उनके हस्ताक्षर कराने के लिये भेजा।

इसके अलावा दिल्ली आदि कई एक शहरों में पत्र भी लिखवाकर भेजे, उनमें लिखा था कि— "आत्माराम की श्रद्धा विगड़ गई है ! वे जिनप्रतिमा को वन्दना नमस्कार करने तथा पूजने का उपदेश देते हैं, डोरा सहित मुंहपत्ती वान्धने का भी निषेध करते है, एव वावीस अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का निषेध भी करते हैं इसलिये हमने उनको संघवाहर करके पंजाव देश से निकाल दिया है। तुम लोगों ने उनको अपने यहा न तो स्थान देना और न उनकी संगत में आना। इसी आशय के अनेक पत्र पजाव के हर एक

नगर तथा ग्राम में भिजवा दिये। जो लोग विचारशील थे और श्री आत्मारामजी की ज्ञानसम्पत्ति से परिचित थे एवं समझते थे कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह सब शास्त्रसम्मत है वे तो इन पत्रों को देखकर पत्र भेजने और लाने वालों की हंसी उड़ाते थे और कहते थे श्री आत्मारामजी के सामने आने की तो किसी में शक्ति नहीं केवल दूर से ही फांफां मार रहे हैं, यदि आत्मारामजी का कथन असत्य है तो क्यों नहीं उनको सभा में शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारते, तथा सत्यासत्य का निर्णय करते ? वास्तव में बात तो यह है कि जिन बातों का श्री आत्मारामजी प्रचार करते हैं वे सत्य और शास्त्रीय हैं उनका विरोध सामने तो कर नहीं सकते किन्तु अबोध जनता को उनके विरुद्ध भड़काकर अपनी झूठी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहते हैं। और जो, बेसमझ लोग थे वे पत्र लाने वालों की हां मे हां मिलाने को तैयार होगये।

इधर पूज्य श्री अमरसिंहजी के भेजे हुए श्री जीवनमल और पन्नालाल आदि साधु लेख-(मेजरनामा) को लेकर श्री आत्मारामजी के पास कान्धला में पहुंचे। उस समय श्री आत्मारामजी बड़ौत से विहार करके "कान्धला" ग्राम में पधारे हुए थे। श्री जीवनमल तो चुप रहे और पन्नालाल ने वह लेखवाला पत्र श्री आत्मारामजी के पास जाकर उन्हें दे दिया और कहा कि इस लेखपत्र पर आप भी हस्ताक्षर कर देवें जैसे कि अन्य साधुओं ने किये हैं। यदि नहीं करोगे तो समुदाय से बाहर होना पड़ेगा! ऐसा पूज्य जी साहिब का फर्मान है।

श्री आत्मारामजी—सहज उत्तेजना से-मेरे गुरुजी तो मुझसे कुछ बोले नहीं तो फिर तू मुझसे हस्ताक्षर कराने और नहीं करने पर समुदाय से अलग होने की धमकी देने वाला कौन ? जाओ अपना काम करो! तुमारे इस हठी दुराग्रही और शास्त्र-ज्ञानशून्य मूर्ख टोले में सत्य-गवेषक विचारशील व्यक्ति को स्थान ही कहां है ? और वह रहकर करेगा भी क्या ? तुम लोगों ने मेरे लिये जो षड्यंत्र रचा है उससे मैं अपरिचित नहीं हूँ, मुझे आप लोगों की इन धमकियों की अणुमात्र भी पर्वाह नहीं। सत्य का पुजारी झूठी धमकियों से कभी भयभीत नहीं हो सकता! मुझे शास्त्र सम्मत सच्ची बात कहने और आचरण करने में किसी का भी डर नहीं। डर उन लोगों को होगा जो भगवान् महावीर के नाम से झूठी दुकानदारी चला रहे हैं! इसलिये जाओ अपने पूज्यजी साहब से कहदो कि मै आपकी ऐसी झूठी धमकियों के सामने कभी झुकने को तैयार नहीं हूँ अगर सत्यासत्य का निर्णय करना है तो मैदान में आकर करो! अन्यथा आपका यह मेजर नामा मेरी दृष्टि में रद्दी की टोकरी में फैंके जाने वाले कागज के पुर्जे से अधिक महत्व नहीं रखता। आपके कथन पर [जो सरासर शास्त्र विरुद्ध है] विश्वास करने वाले आपके अन्धविश्वासी भक्तजन या उनकी देखा देखी चलने वाले दूसरे अबोधजन यदि मुझे स्थान नहीं देंगे तो मेरे लिये और बहुत से स्थान हैं! आहार पानी के लिये इनके घरों के सिवा बाकी सारे संसार के घर मौजूद हैं, आपकी शास्त्रविरुद्ध आज्ञा को शिरोधार्य करके यदि लोग मेरे पास नहीं आवेंगे, मुझे वन्दना नमस्कार नहीं करेंगे तो मेरा क्या बिगड़ेगा ? मेरी आत्मा पर तो इन बातों का अणुमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। मैंने झूठी प्रतिष्ठा और

वाह् वाह् के लिये घरवार का परित्याग नहीं किया। मैं तो सत्य का जिज्ञासु हूँ, सत्यका अनुसरण और सत्य की प्ररूपणा करना मेरे साधु जीवन का कर्तव्य है इसलिये मैं तो उसी आचार विचार को स्वीकार करूंगा जो कि श्रमण भगवान् महावीर भाषित अथच शास्त्र विहित है! पहले मै यही समझता रहा कि मै जिस पथ में दीक्षित हुआ हूँ वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वतलाये हुए धर्म मार्ग का अनुगामी है और उसी का साक्षात् वीरपरम्परा से सम्बन्ध है परन्तु जब मैंने व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन के वाद आगमों का उनके भाष्य और टीकादि के अनुसार एक विशिष्ट विद्वान साधु से अभ्यास किया तव मुझे मालूम हुआ कि इस पंथ का सारा ही आचार विचार वीर प्ररूपित धर्म के विरुद्ध है। एव इस पथ के मूल पुरुष लौंका और लवजी हैं न कि भगवान् महावीर। वीर परम्परा मे तो इसको कहीं भी स्थान नहीं। ऐसी परिस्थिति में मेरे जैसा सत्यका गवेषक केवल प्रतिष्ठा और आहार पानी के लिये सत्य को त्यागकर इस पंथ मे फंसा रहे यह कभी नहीं हो सकता! सत्य के सामने किसी प्रकार के भी सांसारिक प्रलोभनों का कोई मूल्य नहीं, इसलिये सत्य के पक्षपाती की दृष्टि में ये सव के सव नगण्य हैं। यदि तुम लोगों को परभव का कुछ भी भय है तो पक्षपात और दुराग्रह को त्यागकर सत्य के पक्षपाती वनने का यत्न करो! मेरा यह सारा वक्तव्य पूज्यजी साहव को सुना देना और कहना कि इस मेजरनामे को अपने पाठ के पुट्ठे मे सभाल रक्खे! सत्य के जिज्ञासु के सामने यह रद्दी के पुर्जे से अधिक कुछ भी मूल्य नही रखता।

महाराज श्री आत्मारामजी के इस तथ्यपूर्ण ओजस्वी भाषण को सुनकर पन्नालालजी तो एकदम ठंडे पड़गये और कांपते हुए स्वर से "अच्छा महाराज जैसी आपकी इच्छा" कहकर वहां से उठकर अपने आसन पर जा वैठे।

(ख) गुरु शिष्य वार्तालाप

अव श्री आत्मारामजी ने अपने गुरु श्री जीवनमलजी को सम्वोधित करते हुए कहा—गुरु महाराज! आपने इस कागज़ पर हस्ताक्षर क्यों किये? क्या आप यह नहीं जानते थे कि यह षड्यंत्र केवल मेरेको नीचा दिखाने के लिये रचा जा रहा है? मालूम होता है आप भी उसी वेडीपर सवार हो रहे हैं जिसका कर्णधार नितान्त अवोध है और वेड़ी स्वयं अत्यन्त जीर्णशीर्ण है जिससे उसका मझधार मे डूवना सुनिश्चित सा है। क्या आपने भी मेरी सत्यनिष्ठा ज्ञान सम्पति और विनय शीलता आदि को इन्हीं लोगों की दृष्टि मे वैठकर देखने का यत्न किया है? नहीं! आपके यह अनुरूप नहीं है।

श्री जीवनमलजी—नहीं वेटा! ऐसा नहीं! मुझे तो तुम्हारे जैसे प्रतिभाशाली सद्गुण सम्पन्न योग्य शिष्य का उपलब्ध होना ही अत्यन्त गौरव और सद्भाग्य की वात है! मेरे से जो हस्ताक्षर कराये गये है वे जवरदस्ती और छलपूर्वक कराये गये हैं! एवं उस समय मैं कुछ भयभीत सा भी था।

श्री आत्मारामजी—भय किस बात का गुरुदेव !

श्री जीवनमलजी—इसी बात का कि पंजाब में पूज्यजी साहब का बहुत जोर है-सब लोग उनके पीछे हैं और तुम अकेले हो।

श्री आत्मारामजी—मैं अकेला नहीं हूँ गुरुदेव ! मेरे पीछे सत्य का बल है। ये लोग लाख विरोध करें तो भी सफल नहीं हो सकेंगे ! वोह दिन बहुत समीप है जब कि इसी सत्य के बल पर पंजाब में शुद्ध सनातन जैन धर्म का फिर से डंका बजेगा, स्थान स्थान मे वीतराग देव के गगनचुम्बी शिखरबन्ध मन्दिर होंगे और सहस्रों नरनारी वीतराग देव की पूजा सेवा से अपने सम्यक्त्व को निर्मल करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे। आप इसके लिये किसी प्रकार की चिन्ता न करें मैं स्वयं इनसे निपट लूंगा, सत्य के पुजारी के सामने भय को कभी कोई स्थान नहीं मिलता।

(ग) पूज्यजी के भक्तों का मनोरथ

इतना कहने के बाद गुरुजी को वन्दना की और उत्तर में गुरुजी ने कहा–अच्छा बेटा ! तुमको अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त हो यही हमारा हार्दिक आशीर्वाद है। तदनन्तर गुरुजी के साथ ही श्री आत्मारामजी ने देहली की ओर विहार किया और थोड़े दिनों में देहली पहुँच गये। जैसा कि प्रथम बतलाया गया है पूज्य अमरसिंहजी ने पंजाब और उसके बाहर अपने भक्तों को पत्र लिखवा दिये कि आत्मारामजी की श्रद्धा बिगड़ गई है वे मूर्तिपूजा का उपदेश करते हैं और मुंहपत्ती बान्धे रखने का निषेध करते हैं इसलिये हमारी आम्नाय में रहने वाले किसी भी श्रावक को उनके परिचय में नहीं आना चाहिये तथा उनके ठहरने के लिये स्थान आदि का प्रबन्ध और आहार पानी आदि की विनती भी नहीं करनी चाहिये, इत्यादि।

इन पत्रों के पहुंचने पर पूज्य अमरसिंहजी के अन्धश्रद्धालु और शास्त्रीयबोध से शून्य लोगों ने अपने मनमें यह सोच रक्खा था कि जिस वक्त आत्मारामजी देहली में आवेंगे उस वक्त हम उनके साथ चर्चा करेंगे तथा चर्चा में उनको चुप कराकर यहां से निकाल देंगे। वास्तव में उनका यह मनोरथ वैसा ही था जैसा कि रात्रि के समय में बहुत से कौशिक–(उल्लू) मिलकर यह फैसला करें कि, सूर्य उगेगा तो हम सब उसे मार भगावेंगे !

महाराज श्री आत्मारामजी जिस समय देहली में आये तो कतिपय विवेकशील गृहस्थों ने उनका समुचित स्वागत किया और व्याख्यान बाँचने की सविनय प्रार्थना की। आपने उस समय सटीक उत्तराध्ययन का २८ वाँ अध्ययन वाचना आरम्भ किया। प्रथम तो इस अध्ययन का विषय ही इतना मनोरंजक है कि सुनने वाले का जी नही भरता और फिर आप जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् मुनिराज बाँचने वाले हों तब तो

कहना ही क्या ? प्रथम दिन के ही व्याख्यान में श्रोताओं को इतना आनन्द आया कि सब गद्गद् हो उठे और व्याख्यान की समाप्ति पर एक दूसरे को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—

एक—कहो भाई ! आज तक तुमने इस प्रकार का सरस और सारगर्भित व्याख्यान किसी और साधु से भी सुना है ?

दूसरा—नहीं भाई साहब ! हमारे जीवन में तो ऐसा उत्तम प्रवचन सुनने का यह पहला ही अवसर है !

तीसरा—बीच में ही टोकता हुआ बोला—भाई साहब ! क्या पूछते हो व्याख्यान की, यह तो अमृत की वर्षा थी ! ऐसे ज्ञानवान् महापुरुष के तो दर्शन ही बड़े भाग्य से होते हैं ।

इस प्रकार महाराज श्री आत्मारामजी के प्रवचन और उनके व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए सब लोग अपने २ घरों में चले गये ।

दूसरे दिन के व्याख्यान में जनता की संख्या पहले दिन से बहुत अधिक थी । पाट पर विराजते ही श्रोताओं ने बड़ी श्रद्धा से आपको वन्दन किया और व्याख्यान सुनने के लिये शान्तमन से यथा स्थान बैठ गये । आज की व्याख्यान सभा में जैनों के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियों की संख्या भी काफी थी ।

आज का व्याख्यान कल से भी अधिक आकर्षक सारग्राही और तलस्पर्शी था । श्रोतालोग मंत्र-मुग्ध हुए बैठे सुन रहे थे ! व्याख्यान के अन्त में आपने फर्माया कि भाइयो ! संसार में रुलते हुए इस जीवात्मा को सद्गति में लेजाने वाला एक मात्र धर्म है, धर्म के अनुसरण करने से ही इस जीव का उद्धार हो सकता है,-इसलिये धर्म का आचरण करना नितान्त आवश्यक है । आज के प्रवचन में मैंने सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग परमात्मा के बतलाये हुए धर्म का ही आपको स्वरूप बतलाया है, इस विषय में यदि किसी महानुभाव को किसी प्रकार की शंका हो तो वह अभी उसका निर्णय कर लेवे, और यदि किसी को विशेष जानने की जिज्ञासा हो तो वह स्थान पर-जहा कि मैं ठहरा हुआ हूँ-आकर भी पूछ सकता है साधु का द्वार सबके लिये सदा खुला है । किसी को किसी प्रकार का संकोच नही होना चाहिये ।

आपके इस कथन को सुनकर किसी में भी उठकर कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ । जो लोग पूज्य अमरसिंहजी के पत्र से प्रभावित होकर आपसे चर्चा करने के मनसूबे बान्ध रहे थे वे भी एकदम ठंडे पड़गये । प्रत्युत उन में से कितने एक तो आपके पक्के श्रद्धालु बन गये । किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

तावद् गर्जति खद्योत–स्तावद् गर्जति चन्द्रमाः ।
उदिते तु सहस्रांशौ न खद्यो न चन्द्रमाः ॥ १ ॥

अर्थात् खद्योत–जुगनु–टटाणा तबतक ही अपनी रोशनी पर इठलाता है और चन्द्रमा भी तबतक ही अपने प्रकाश पर गर्व करता है जबतक कि ज्वालामाली सूर्य का उदय नहीं होता जब वह उदय हो जाता है तो खद्योत और चन्द्रमा दोनों का ही पता नहीं चलता।

इस प्रकार देहली में कुछ दिन ठहर कर वहां से आप ने बडौत को विहार किया, बडौत आने पर आपको पूज्य अमरसिहजी के पत्र की चर्चा सुनाई दी–जिस में लिखा था कि "आत्मारामजी की श्रद्धा अपने ढूंढक मत पर से उठगई है इसी कारण पूज्यजी साहब अमरसिहजी ने इनको पंजाब देश से निकाल दिया है, आप लोग भी अब इनका आदर सत्कार न करें" इत्यादि।

पत्रगत समाचार को सुनकर आप हंस पड़े; और मन ही मन कहने लगे कि ये लोग साधु होकर भी कितना झूठ बोलते हैं और अपनी गद्दी को कायम रखने के लिये किस प्रकार के षड्यंत्र रचते हैं धिक्कार है ऐसी मनोवृत्ति पर! पत्रगत शब्दों का ध्यान करते हुए–"इनको पूज्यजी साहब अमरसिह ने पंजाब से निकाल दिया है" कितना झूठ! कितनी लोकवंचना! अच्छा, अब पंजाब की ओर ही प्रस्थान करना होगा वहां चलकर देखूंगा कि पूज्य साहब कितने पानी में हैं। सत्य का पुजारी अकेला ही सब पर भारी होता है।

इस प्रकार मनोगत विचार करने के अनन्तर पास में बैठे हुए कतिपय गृहस्थों को सम्बोधित करते हुए आप बोले–भाइयो! यह बात बिलकुल सत्य है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर के धर्म का पुजारी हूँ न कि लौंका और लवजी के पंथ का। कोई समय था जब कि मै इस पंथ को ही वीरप्रभु के धर्म का प्रतिनिधि समझता था और उसी का उपदेश तथा आचरण करता था, परन्तु जब मैंने व्याकरणादि शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद जैनागमों का उनके निर्युक्ति-भाष्य और टीका आदि पूर्वाचार्यों के लिखे हुए ग्रन्थों के आधार पर अवलोकन किया तो मुझे इस पंथ का एक भी आचार विचार आगमसम्मत देखने में नहीं आया। केवल बत्तीस मूलसूत्रों की रट लगाकर उनका मनमाना अर्थ करके भोले जीवों को उन्मार्ग की ओर लेजाने वाले इन निरक्षर भट्टाचार्यों पर मुझे अब दया आती है। आप लोग मात्र अन्धश्रद्धालु न बनकर विचारशील बनने का यत्न करो। कुछ लिखो पढ़ो और तटस्थ मनोवृत्ति से सत्यासत्य का विचार करो। मैं ने तो वीतराग देव के धर्म को समझने और उसे अपनाने के लिए सिर मुंडाया है किसी पंथ विशेष के लिये नहीं। पूज्यजी साहब कहते हैं कि हमने आत्माराम को पंजाब देश से निकाल दिया है, उनके इस कथन का कितना मूल्य है यह समझने और समझाने के लिये अब मैं इधर का भ्रमण छोड़कर सीधा पंजाब की ओर ही विहार कर रहा हूँ।

आपके इस कथन को सुनकर वहां आपके पास बैठे हुए गृहस्थों में से एक समझदार व्यक्ति ने हाथ जोड़कर कहा-कि महाराज ! हम लोग तो बिलकुल अबोध हैं आप ज्ञानी पुरुष हैं आप जो कुछ फरमा रहे हैं वह ठीक ही होगा, और पूज्यजी साहब जो कुछ कह रहे हैं वह भी अपने विचार से ठीक ही कहते होंगे यह तो साधुओं का आपस का झगड़ा है इस में हम लोगों को किसी तरह का दखल नहीं देना चाहिये, हमारे तो आप भी पूज्य हैं और पूज्यजी साहब भी। गृहस्थ के लिये तो चारित्रशील सभी साधु वन्दनीय हैं। मेरी तुच्छ बुद्धि को तो यही उचित लगता है।

अध्याय २१

"सत्य की प्रत्यक्ष घोषणा"

बडौत से विहार करके सर्वप्रथम आप अम्बाला शहर में पधारे। आज तक तो आप गुप्तरूप से ही जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश करते रहे, परन्तु पूज्य श्री अमरसिंहजी के द्वारा किये गये आपके विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रचार ने आपको भी प्रत्यक्ष रूप से निर्भय होकर सत्य की प्ररूपणा करने के लिये बाधित किया। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय पूज्य अमरसिंहजी का पंजाब में बड़ा भारी जोर था, उनका शिष्य-वर्ग भी काफी था और उनके मुकाबले में आप अकेले थे परन्तु आपके और आपके सहायक श्री विशनचन्द और हाकमराय आदि साधुओं के गुप्त प्रचार ने पंजाब के हर एक शहर और ग्राम में अपना स्थान बना लिया था कोई भी ऐसा शहर या कस्बा नहीं था जहां कि दो चार संभावित गृहस्थ आपके अनुयायी न हों।

अम्बाले पहुँचने पर श्री आत्मारामजी ने अपने गुप्त रूप से किये जानेवाले शास्त्रीय विचारों को प्रत्यक्ष रूप देना आरम्भ किया। आप प्रतिदिन के प्रवचन में जिन विषयों की चर्चा करते, जिन सिद्धान्तों का मार्मिक उपदेश देते, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) अपने इस ढूंढक पंथ का प्राचीन वीर परम्परा में कोई स्थान नहीं। इसके मूलपुरुष महावीर न होकर लौंका और लवजी हैं। लौंकाशाह विक्रम की १६ वीं सदी में हुआ और लवजी १८ वीं शताब्दी में। इसलिये १६ वीं शताब्दी से पूर्व इस पंथ का अस्तित्व नहीं था। इस पर भी बिना प्रमाण के इस पथ को वीरपरम्परा का प्रतिनिधि कहना व मानना अपने आपको धोखा देना है।

(२) इसी प्रकार मुंहपत्ती का बान्धना भी शास्त्र विरुद्ध है। जैन परम्परा में मुंह बान्धे रखने की प्रथा लवजी से चली है इससे पहले प्राचीन वीर परम्परा में तो क्या लौंकागच्छ में भी इस प्रथा का अस्तित्व नहीं था। यह तो केवल अठारवीं शताब्दी में जन्मे लवजी के मस्तिष्क की उपज है। जैनागमों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

(३) जिनप्रतिमा की उपासना गृहस्थ का शास्त्रविहित अत्यन्त प्राचीन आचार है। जिनप्रतिमा की द्रव्य और भाव से उपासना करने का विधान साधु और गृहस्थ दोनों के लिये शास्त्रविहित है। साधु के लिये केवल भावरूप से और गृहस्थ के लिये द्रव्य और भाव दोनों रूप से पूजा करना शास्त्र सम्मत है।

(४) अपने इस ढूंढक पंथ का साधु वेष शास्त्र सम्मत वेष नहीं किन्तु स्वकल्पित है,–और वास्तव मे विचार किया जावे तो यह पंथ लौंका और लवजी की मनःकल्पित विचारधारा का ही प्रतीक है! यदि किसी को इस सम्बन्ध में कोई शंका हो तो उसके समाधानार्थ हम हर समय उपस्थित हैं जिस तरह से भी कोई चाहे निर्णय कर सकता है। "सत्ये नास्ति भयं क्वचित्"।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है सर्व प्रथम श्री आत्मारामजी ने प्रत्यक्षरूप से अपने इन प्रामाणिक विचारों का श्रीगणेश अंबाला में किया और जहां कहीं भी आप गये वहां इन्हीं विचारों की घोषणा की, और शास्त्रीय प्रमाणों से उनका समर्थन किया।

इसके अतिरिक्त सत्य के आधार पर अपने विशिष्ट शास्त्रीय ज्ञान और प्रतिभाप्राचुर्य का परिचय देते हुए आपने विरोधी दल के साधु समुदाय–पूज्य अमरसिंह और उनके शिष्य समुदाय को अनेक बार शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और स्पष्ट शब्दों मे कहा कि इस प्रकार गुप्त रूप से अबोध जनता को मेरे विरुद्ध उकसाना साधुता के अनुरूप नहीं है, यदि आप लोगों में सच्चाई है तो मैदान में आओ और सत्यासत्य का निर्णय करो! यदि मेरा पक्ष झूठा निकले तो मै सबके सामने क्षमा मांगकर फिर से इस पंथ को अपनाने लगूंगा और यदि आपका पक्ष असत्य ठहरा तो इस पंथ का परित्याग करके प्राचीन वीर परम्परा का आपको अनुसरण करना होगा। परन्तु किसी में भी सामने आने का साहस नहीं हुआ।

अम्वाले में आपका जो प्रवचन हुआ उसने तो जनता पर जादू का सा असर किया। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर वहां के मुख्य नागरिक ला० जमनादास, ला० सरस्वतीमल, ला० नानकचन्द, ला० गोंदामल ला० गंगाराम और लालचन्द आदि बहुत से लोगों ने उसी समय ढूंढक पंथ का परित्याग करके शुद्ध सनातन जैन धर्म मे दीक्षित होने की प्रतिज्ञा की। इन लोगों के इस आचरण का प्रभाव पंजाब के अन्य शहरों पर भी पड़ा। और जहां भी जाकर आपने उपदेश दिया वहा पर ही अनेक व्यक्ति आपके अनुगामी बने अर्थात् उन लोगों ने ढूंढक पथ को त्यागकर वीरभाषित सच्चे जैनधर्म को अपनाया।

कुछ दिनों के बाद अम्बाला से विहार करके पटियाला और नाभा आदि नगरों मे होते हुए आप मालेरकोटला पधारे। यहां पर भी आपने वीरप्रभु के सच्चे मार्ग का उपदेश दिया और ढूंढक मत के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, कि उस समय आपकी विद्वत्ता,

प्रतिभा और सत्यनिष्ठा की होड़ करने वाला ढूंढक पंथ में एक भी साधु नहीं था। इसलिये सबके सब पीछे से अपने श्रावकों को उलटी सीधी समझाकर अपने वाड़े में बान्धे रखने का यत्न करते परन्तु सामने मैदान में आकर उत्तर प्रत्युत्तर करने का किसी में साहस नहीं था।

मालेरकोटले में भी आपके सदुपदेश से अनेक सद्गृहस्थों ने जैनधर्म को अंगीकार करते हुए आपके विचारों का स्वागत किया और आपसे चातुर्मास के लिये सविनय प्रार्थना करी परन्तु चौमासे में अभी कुछ देरी थी इसलिये मालेरकोटला से आपने लुधियाने को विहार किया। लुधियाने पधारने पर वहां की जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया और आपने भी अपनी सत्यगर्भित धर्मदेशना से वहां की जनता को कृतार्थ किया। बहुत से लोगों ने आपके पास शुद्ध सनातन जैनधर्म का श्रद्धान अंगीकार किया जिन में लाला घीसुमल, सेढमल, बधावामल, गोपीमल, निहालचन्द और प्रभुदयाल नाजर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लुधियाने में आप लगभग एक महीना रहे, इस अरसे में आपके प्रतिदिन के प्रवचन में सैकड़ों जैनेतर भी उपस्थित होते और आपके उपदेशामृत के पान से अपने सद्भाग्य की सराहना करते। लुधियाने से विहार कर चातुर्मास के लिये आप मालेरकोटला पधारे। इस चातुर्मास में आपकी प्रतिदिन होने वाली धर्मप्राण सिंहगर्जना ने पंजाब के सारे ढूंढक समाज में तहलका मचा दिया। पूज्य अमरसिंहजी के अभेद्य किले की दीवारें हिलने लगीं। इधर पंजाब में रहे हुए आपके साथी श्री विश्नचन्द, चम्पालाल और हुक्मचंदजी आदि ने भी अपने गुप्तप्रचार को बराबर शुरू रक्खा। वे भी जहां कहीं जाते वहां श्री आत्मारामजी के विचारों का नीतिपूर्वक बड़ी निडरता से प्रचार करते।

श्री विश्नचन्दजी आदि साधुओं को मालेरकोटला के गत चतुर्मास में आपने अच्छी तरह से पढ़ा लिखा कर इस योग्य बना दिया था कि वे हर एक विषय में उपस्थित की जाने वाली शंकाओं का बड़ी खूबी से पूरा सन्तोषजनक उत्तर देने की शक्ति रखते थे। और स्वयं जो शंका उपस्थित करते उसका समाधान किसी से भी बन नहीं पड़ता था। इस प्रकार सत्य के पुजारी श्री आत्मारामजी को उत्तरोत्तर सफलता मिलते देख उन्हें पंजाब से निकालने की डिमडिमा बजाने वाले पूज्य श्री अमरसिहजी को स्वयं अपनी गद्दी को संभाल रखना भी कठिन हो गया। चारों ओर आत्मारामजी के सद्विचारों की चर्चा होने लगी। बहुत से विचारशील गृहस्थ पूज्यजी साहब और उनके शिष्यों के पास जाते और प्रश्न पूछते तो उनसे उत्तर तो बन नहीं पड़ता था किन्तु यहि कहकर अपना पीछा छुड़ाते कि तुम लोगों की श्रद्धा भ्रष्ट हो गई है, और तुम आत्माराम के बहकावे में आकर ऐसी बातें करते हो। इस समाधान से पूछने वालों की श्रद्धा को और भी दृढ़ता मिलती और वे इतना कहकर वहां से विदा होते कि महाराज! यह कोई उत्तर नहीं, और नाही इससे हमारा संतोष हो सकता है। बल्कि आपके इस व्यवहार से तो हमारी रही सही आस्था भी जाती रही।

विक्रम सम्वत् १९२६ में होने वाला आपका मालेरकोटले का चतुर्मास आपकी पुण्य श्लोक जीवन गाथा में विशेष उल्लेखनीय स्थान रखता है यहां पर आपको आशातीत सफलता प्राप्त हुई। आपकी सिंहगर्जना

ने पंजाब के हर एक क्षेत्र में अपने लिये स्थान बनालिया। पंजाब का ऐसा शायद ही कोई क्षेत्र बचा हो जहां आपके दस बीस श्रद्धालु न बनगये हों। इसलिये पंजाब का हर एक क्षेत्र आपके स्वागत का इच्छुक था। और उस समय की बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करता था जब कि आपकी चरण धूली को अपने मस्तक का शृङ्गार बनाने का अवसर प्राप्त करे! इसे कहते हैं सत्य की विजय।

मालेर कोटला के चतुर्मास में अनेक भव्यजीवों को सन्मार्ग में लाने के बाद आप ने तो बिनौली की ओर प्रस्थान किया और श्री विशनचन्दजी आदि साधुओं को पंजाब में ही रहने का आदेश दिया। ताकि विरोधी दल को खाली मैदान देखकर अपना प्रभाव जमाने का अवसर न मिल सके।

वि० स० १९२७ का चतुर्मास आपने बिनौली में सम्पन्न किया। वहां पर भी आपने कतिपय उन्मार्ग-गामी सद्‌गृहस्थों को सन्मार्ग पर लाने का श्रेय प्राप्त किया। जिसकी साक्षी आज भी बिनौली का गगनचुम्बी शिखरबन्ध जिनमन्दिर दे रहा है।

बिनौली के चतुर्मास में आपने आत्मबावनी नाम के एक छोटे भाषा काव्य की रचना की S इस प्रकार बिनौली निवासियों को धर्म का अपूर्व लाभ देकर चौमासे बाद आपने फिर पंजाब की ओर प्रस्थान किया।

S यह ग्रन्थ आकार मे तो बहुत छोटा है परन्तु इसका आध्यात्मिक विषय इतना गम्भीर है कि यदि कोई विद्वान् इसके एक २ पद की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने लगे तो कम से कम एक हजार पृष्ठ लिखे जा सकते हैं। इस में अध्यात्मवाद का इतना सुन्दर और सरस वर्णन किया है कि अनेक बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती। पाठक [illegible] गाथा के परिशिष्ट भाग में उसका अवलोकन करें।

अध्याय २२

पूज्यजी साहब से भेट

अब से लगभग चार वर्ष बाद [वि० सं० १९२३ में जब कि श्री आत्मारामजी और पूज्य अमरसिंहजी दोनों अमृतसर में पधारे हुए थे] पूज्य श्री अमरसिंहजी और श्री आत्मारामजी की अकस्मात् रास्ते में भेट होगई ! जब कि श्री आत्मारामजी जगरावां से विहार करके जीरे को जारहे थे और पूज्य श्री अमरसिंहजी जीरे से विहार करके जगरावां को आरहे थे। सामने आते हुए आत्मारामजी को देखते ही क्रोध के मारे पूज्यजी साहब की आंखें लाल हो उठीं और होठ फड़कने लगे -[जिस व्यक्ति के प्रति असद् भाव की भावना हो उसके लिये क्रोध या ईर्षा का जागृत होना मानवप्रकृति का यह स्वाभाविक गुण है, जो व्यक्ति इससे ऊंचा उठ जाता है अर्थात् जिसे प्रकृति का यह गुण स्पर्श नहीं करता वही व्यक्ति संसार में सबसे ऊंचा होता है] वे जब रास्ता काटकर दूसरी ओर से जाने लगे तब श्री आत्मारामजी ने आगे बढ़कर उनके हाथ को जबरदस्ती पकड़कर बैठा लिया। और विधिपूर्वक वन्दना करने के बाद कुछ मुस्कराते हुए पूज्यजी साहब से इस प्रकार बोले—महाराज! आप इतने अप्रसन्न क्यों हो रहे हैं? मैंने आपका क्या विगाड़ किया है? आपके भेजे हुए मेजरनामे पर मैंने अपने हस्ताक्षर नहीं किये, यह तो सिद्धान्त का प्रश्न है, आपका और मेरा सिद्धान्त नहीं मिलता तो न सही, मानवता के नाते तो हम एक हैं आपको इतने पर से इस कदर तलमला उठने की क्या आवश्यकता थी? यदि आप मुझे पंजाब में रखना नहीं चाहते थे तो इसका सीधा और सरल उपाय यह था कि आप मुझे अपने पास बुलाकर कह देते कि तुमारे पंजाब में रहने से हमारी प्रतिष्ठा और गद्दी को खतरे की संभावना है इसलिये तुम पंजाब को छोड़कर दूसरे देशों में विचरो! संभव है मैं आपके इस आदेश को मानकर पंजाब से बाहर ही चला जाता क्योंकि इसमें मेरी सत्यनिष्ठा और साधुता की कोई क्षति नहीं थी? मुझे तो यह स्वप्न मे भी ध्यान नहीं था कि आपके साधुजनोचित धैर्य का बान्ध इतनी जल्दी और इस प्रकार टूट जायगा। आपने देशदेशान्तरों में मेरे विरुद्ध पत्र लिखवाने का महान् कष्ट किया और आत्माराम को हमने पंजाब देश से निकाल दिया है, तुम लोगों ने इसका

आदर सत्कार नहीं करना आदि लिखाकर साधुता के आदर्श को अधिक उज्ज्वल बनाने का भी स्तुत्य प्रयास किया, परन्तु मुझे दुःख है कि आप इसमें सफल नहीं हो पाये। इस विफलता से आपको और भी असह्य कष्ट होने की संभावना है जिसका मुझे अधिक खेद है।

श्री आत्मारामजी की इन बातों का कुछ भी उत्तर न देते हुए पूज्यजी साहब क्रोध के आवेश में बोले—तूं लोगों के सामने कहता फिरता है कि "अमरसिंह मेरी रोटी और वंदना वगैरह बन्द करा रहा है" या तो तूं इस बात को सत्य प्रमाणित कर अन्यथा अठाई—आठ व्रतों का दण्ड ले।

श्री आत्मारामजी—इसके लिये तो कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, देश देशान्तरों में भिजवाये हुए आपके पत्र ही आपकी बात को सत्य प्रमाणित कर रहे हैं। इन पर भी यदि आपको सन्तोष न हो तो, लीजिये पुरुष की साक्षी–आपके परम भक्त ला० मोहनलाल और छज्जूमल ने यह समाचार दिया है, यदि उनका कथन सत्य है तो आप दण्ड लें। और यदि उन्होंने झूठ बोला है तो आप उनको दण्ड दें। मेरे पर तो किसी तरह भी यह दण्ड लागू नहीं हो सकता।

यह सुनकर अमरसिंहजी निरुत्तर हो गये और क्रोध के आवेश में कुछ बड़बड़ाते हुए आगे चलदिये अपने चेलों के साथ।

इधर श्री आत्मारामजी भी यहां से चलकर जीरा में पधारे, विपक्षियों के बिछाये हुए माया जाल को छिन्न भिन्न करने के लिये। इधर जीरा में कुछ दिन रहकर पूज्य श्री अमरसिंहजी ने अपना जो बिछौना बिछाया था उसे श्री आत्मारामजी ने जाते ही लपेट दिया।

अध्याय २३

पूज्यजी साहब के आदेश का सत्कार

—:❦:—

अपने प्रतिदिन के व्याख्यान में पूज्यजी साहब श्री आत्मारामजी के विरुद्ध बहुत कुछ बोलते रहे, अपने भक्तों को मूर्तिपूजा के विरुद्ध उकसाने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। जब वे जीरा से विहार करने लगे तो उन्होंने वहां पर उपस्थित गृहस्थों से कहा—देखो भाई तुम ने एक बात का पूरा ध्यान रखना। हम आज यहां से विहार कर रहे हैं और सुना है कि आज या कल यहां पर आत्माराम आने वाला है।

एक सद्गृहस्थ—हां महाराज! सुना तो है कि वे आज या कल जीरा में पधारने वाले हैं।

पूज्यजी साहब—तो तुम लोगों ने उसके पास नहीं जाना। और आहार पानी आदि से भी उसका सत्कार नहीं करना। क्योंकि उसकी श्रद्धा भ्रष्ट हो गई है। पूज्यजी साहब के इस कथन को सुनकर सब गृहस्थ प्राय अवाक् से रह गये किसी ने हां या नां नहीं कही और कितने एक विचारशील तो बड़ी असमंजस में पड़ गये और मन ही मन मे सोचने लगे कि यह माजरा क्या है? हम पर इतना बन्धन क्यों डाला जा रहा है? आत्मारामजी महाराज जैसा प्रतिभाशाली और ज्ञान सम्पन्न चारित्रशील तो इस सारे समाज में कोई साधु नहीं। फिर उनके पुण्य सहवास में आने से हमें जो रोका जाता है यह तो सरासर अन्याय है। इतने मे एक श्रावक [जिस का नाम इस समय स्मरण में नहीं आता] जो कि कुछ पढ़ा लिखा और बुद्धिमान था एवं दो चार बार श्री आत्मारामजी के पास आ जा भी चुका था-हाथ जोड़कर बोला—महाराज! यदि आज्ञा हो तो जो कुछ आपने फरमाया है उसके विषय में कुछ पूछना चाहता हूँ।

पूज्यजी साहब—पूछो! खुशी से पूछो!

श्रावक—क्यों महाराज! आत्मारामजी कोई ऐसे भयंकर विषैले या काटखाने वाले जीव हैं कि उनके पास जाने से आपको हम लोगों के प्राणों की हानि की संभावना हो रही है और उसी से बचाने की खातिर

आप हम लोगों पर यह महान उपकार कर रहे हैं, जो कि उनके पास न जाने और उनका आदर सत्कार न करने का नियम दिला रहे हैं। यह तो हुई एक बात, दूसरी यह कि यदि आपका आदेश मानकर हम लोग श्री आत्मारामजी के पास न जावें और घर पर आने से उनका आदर सत्कार न करें तो यह गुरुजनों की अवज्ञा होगी. तब इस अवज्ञा का दोष हम को लगेगा कि नहीं ?

पूज्यजी साहब—नहीं बिलकुल नहीं।

श्रावक—अच्छा महाराज ! यदि हम आपके इस आदेश की अवहेलना करके श्री आत्मारामजी के पास चले जावें और उनका आदर सत्कार भी करें, तो क्या हमको आपके समक्ष लिये हुए नियम को तोड़ने का दोष भी लगेगा कि नहीं ?

पूज्यजी साहब—हां ! लगेगा अवश्य लगेगा।

श्रावक—महाराज ! आपने बड़ी कृपा की जो कि इस विषय का खुलासा कर दिया। अब एक सन्देह और है कृपया उसकी निवृत्ति भी कर दीजिये। इसी प्रकार अर्थात् आपकी तरह यदि आत्मारामजी महाराज भी अपने श्रद्धालु गृहस्थों से यह नियम करावें कि-देखो भाई ! तुमने पूज्य अमरसिंहजी के पास कभी नहीं जाना उनको वन्दना नमस्कार नहीं करना और आहार पानी की विनति नहीं करना क्योंकि वे श्रमण *भगवान् महावीर स्वामी के बतलाये हुए धर्ममार्ग से विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं।*

तब वे गृहस्थ आत्मारामजी महाराज के दिलाये हुए नियम पर दृढ़ रहकर आपके पास न आवें और आपका आदर सत्कार तथा वन्दना नमस्कार न करे तो उनको गुरुजनों की अवज्ञा करने का दोष लगेगा कि नहीं और यदि वे आत्मारामजी के दिलाये हुए नियम की परवाह न कर आपका स्वागत करे आपकी आहार पानी आदि से भक्ति करे तो उनको प्रतिज्ञा भंग का दोष लगेगा कि नहीं ?

इसके अतिरिक्त कल्पना करो कि हम दो सगे भाई हैं एक मैं और दूसरा मुझ से छोटा। दोनों भाई एक ही मकान में रहते और एक ही चौके मे भोजन करते हैं। मैं ने तो आपसे आत्मारामजी को वन्दना नमस्कार न करने का नियम ग्रहण किया, और मेरे भाई को आत्मारामजी ने आपको वन्दना नमस्कार आदि न करने का नियम दिलाया। दैव योग से एक दिन आप मेरे घर मे आहार पानी के लिये पधारे परन्तु उस समय मैं वहां उपस्थित नहीं था, और मेरे बदले मेरा छोटा भाई वहां मौजूद था उसने अपने ग्रहण किये हुए नियम को सुरक्षित रखने की खातिर न तो आपको वन्दना की और नाही आहार दिया। इसी तरह एक दिन मेरे घर में जब आत्मारामजी आहार के लिये आये तब मेरे भाई के बदले मैं वहां पर मौजूद था और आपके कराये हुए नियम का पालन करना मेरे लिये भी आवश्यक था, अतः मै ने भी अपने भाई का अनुसरण किया अर्थात आत्मारामजी को न तो आहार दिया और नाही वन्दना नमस्कार की, फलस्वरूप वे चुपचाप मेरे घर से चले गये।

अब आप इस बात का स्पष्टीकरण करें कि हम दोनों भाइयों ने गुरुजनों के प्रति किये गये इस व्यवहार से पाप का उपार्जन किया अथवा गुरुजनों के दिलाये हुए नियम की रक्षा करते हुए पुण्य का संचय किया। और विपरीत इसके दोनों गुरुओं की इस नियम सम्बन्धी-आज्ञा की अवलेहना करके हम दोनों भाई दोनों मुनिराजों की श्रद्धापूरित हृदय से भक्ति करें, अर्थात् मेरा भाई आपकी और श्री आत्मारामजी की सेवा भक्ति करता है और मैं श्री आत्मारामजी और आपकी सेवा शुश्रूषा करता हूँ तब ऐसी परिस्थिति में हम दोनों भाई पुण्य के भागी होंगे या पाप के ? इसका खुलासा तो आप जैसे ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं सो करें ? श्रावक के इन प्रश्नों को सुनकर पूज्य श्री अमरसिंहजी तो असमंजस में पड़ गये और उन्होंने जब कुछ भी उत्तर न दिया, तब वह श्रावक कुछ उत्तेजित सा होकर—परन्तु नम्रता को लिये हुए—बोला महाराज ! आप हमारे गुरु हैं, हम आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं—आप हमें मनुष्य ही बने रहने दीजिये, मनुष्य से पशु बनाने की जघन्य चेष्टा न करें। इसमें सन्देह नहीं कि आप हम लोगों से कहीं अधिक ज्ञानवान और चारित्र सम्पन्न हैं परन्तु महाराज ! हम लोग भी इतने अबोध नहीं हैं कि हमें पशु की भांति बान्ध कर केवल एक ही स्थान पर खड़ा कर दिया जाय ताकि हम भागकर किसी दूसरे स्थान पर न चले जावें। बन्धन तो कृपानाथ ! केवल पशुओं के लिये है न कि विचारशील मानव के लिये भी।

इस पर भी यदि आपका यही आग्रह है कि हम लोग आपके बतलाये हुए मार्ग का ही अनुसरण करें तो इसका सबसे अच्छा और सरल उपाय यह है कि आप आज का विहार मुलतवी रखें। आज या कल महाराज आत्मारामजी भी जीरे में पधार रहे हैं और आप तो पधारे हुए ही हैं। उनके आने पर आप दोनों महानुभाव हम लोगों के सामने विवाद ग्रस्त विषयों पर शास्त्रों के आधार से चर्चा कर लेवें, ताकि सत्यासत्य का शीघ्र स्पष्टीकरण हो जावे, आप दोनों महापुरुषों के विचार विनिमय से कम से कम हम लोग तो किसी निश्चित परिणाम पर पहुंच जावेंगे और आप को भी इस प्रकार के विडम्बनामय व्यवहार से छुट्टी मिल जावेगी। कहो इस साम्प्रदायिक रोग की इतनी सरल और सुन्दर चिकित्सा कोई और हो सकती है ? यदि नहीं तो इसका उपयोग कर देखिये न महाराज ! हम लोगों का इससे बहुत भला होगा। क्या महाराज इसे स्वीकार करते हैं।

पूज्यजी साहब—भाई तुम लोग इतने तर्कबाज हो इसका तो मुझे आज ही पता चला। मैं तो इस चर्चा वर्चा के बखेड़े में पड़ता नहीं, मैं ने तो तुम लोगों को जो कुछ कहना था कह दिया अब तुम जानो तुम्हारा काम, इतना कहकर पूज्यजी साहब तो वहां से आगे को चल दिये, और उनको छोड़ने के लिये आये हुए श्रावक लोग उनको वन्दना करके पीछे लौट आये मन में महाराज श्री आत्मारामजी के स्वागत की उत्कंठा को लिये हुए।

जिस दिन पूज्य श्री अमरसिंहजी ने जीरे से विहार किया उसी दिन महाराज आत्मारामजी ने जीरे प्रवेश किया। दोनों की रास्ते में अकस्मात् भेट भी हुई उस भेट मे जो वार्तालाप हुआ उस का दिग्दर्शन ऊपर

करा दिया गया है। महाराज श्री आत्मारामजी पधार रहे हैं यह समाचार मिलते ही जनता उनके स्वागत के लिये उमड पड़ी। नगर के बाहर उनका हार्दिक स्वागत किया और वे जनता के साथ नगर में पधारे।

जीरे की जनता चिरकाल से आपके उपदेशामृत का पान करने के लिये अधीर हो रही थी और श्री आत्मारामजी भी अपने क्षेत्र की श्रद्धालु जनता की चिरन्तन धर्म पिपासा को शान्त करने तथा सन्मार्ग पर लाने की भावना से जीरा पधारने के लिये आतुर थे।

इससे पहले जब श्री आत्मारामजी जीरा मे पधारे थे उस समय का वातावरण कुछ और था, आज उनका पधारना इसके विरोधी किसी दूसरे वातावरण में हो रहा है। उस समय के मुनि आत्माराम ढूंढक पंथ के नेता थे, आज के प्राचीन जैनधर्म के पुजारी और उसके प्रचण्ड प्रचारक थे। यह समय आपके लिये बडे संघर्ष का था। एक तर्फ तो पूज्य श्री अमरसिहजी, उनका साधु समुदाय और गृहस्थ वर्ग का बाहुल्य था, दूसरी तर्फ अकेले श्री आत्मारामजी, दो चार अन्य साधु-[वे भी गुप्त रूप मे] और इने गिने सद्गृहस्थ थे। तो भी आप की क्रान्तिकारी धर्म घोषणा ने ढूंढक पंथ में खलबली मचा दी थी। पूज्य श्री अमरसिंह और उनकी शिष्य मंडली को यह निश्चय हो गया था कि अगर आत्मारामजी का पांव पंजाब में जम गया तो हमारी प्रतिष्ठा की खैर नहीं, इसलिये वे इधर उधर की भाग दौड़ में रात दिन एक किये हुए थे। अर्थात् महाराज आत्मारामजी के विरुद्ध लोकमत एकत्रित करने में जी तोड़ कर मेहनत कर रहे थे। इन लोगों में आत्मारामजी के समक्ष आने की तो शक्ति नहीं थी, किन्तु उनके पीछे अपने श्रावकों को बुलाकर वे कहते थे कि देखो भाई आत्माराम की श्रद्धा बिगड़ गई है यह खुल्लम खुल्ला मूर्तिपूजा का उपदेश देता है और मुंहपत्ती का खंडन करता है, तब ऐसे श्रद्धा भ्रष्ट साधु के पास जाने और उसको वन्दना नमस्कार करने में तुम्हारा समकित जाता रहेगा इसलिये हमारी यह आज्ञा है कि तुम उसके सम्पर्क में न आने का नियम करलो।

महाराज श्री आत्मारामजी के विरुद्ध परोक्ष मे प्रयोग किया जानेवाला पूज्य अमरसिह और उनके शिष्य वर्ग के पास बस यही एक शस्त्र था जिसका कि उन्होंने ग्राम ग्राम और नगर नगर में जाकर भोली जनता पर प्रयोग करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु इसमें इन्हें उतनी सफलता नहीं मिली जितनी की वे आशा रखते थे।

जीरा में पधारने के बाद महाराज श्री आत्मारामजी ने अपने पहले दिन के प्रवचन में ही स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की कि-मेरे वक्तव्य मे यदि किसी को कोई शंका समाधान करना हो या किसी प्रकार का सन्देह हो तो वह अपनी इच्छा के अनुसार यहां सभा में पूछ सकता है, या जहां मै ठहरा हुआ हूँ, वहां आकर पूछ सकता है, अकेला पूछ सकता है, और दो चार दस आदमियों को साथ लेकर पूछ सकता है। इस विषय में किसी को किसी प्रकार का संकोच नहीं करना। तुम लोग सत्य के पक्षपाती बनो, किसी प्रकार के हठ या दुराग्रह को अपने हृदय में स्थान मत दो! दूसरे शब्दों में कहूँ तो "जो सच्चा सो मेरा"

इसे अपनाओ ! और "जो मेरा सो सच्चा" इसे त्यागो ! तभी तुम लोगों को धर्म की प्राप्ति हो सकेगी। इसलिये यथार्थ वस्तु को स्वीकार करने में लज्जा न करो और झूठी के त्याग में संकोच न करो। अपने सब भगवान् महावीर का नाम लेते हैं परन्तु जब भगवान् महावीर की परम्परा का विचार किया जाता है तब उसमें अपने इस ढूंढक पंथ का कहीं नाम तक भी दिखाई नहीं देता। बहुत वर्षों के शास्त्रीय अभ्यास के बाद केवल सत्य गवेषणा की दृष्टि से विचार करने पर मैं जिस निश्चय पर पहुँचा हूँ उसी को मैंने अपने प्रतिदिन के प्रवचन में आप लोगों को सुनाना है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत सी बातें आप लोगों के लिये बिलकुल नई होंगी, और कुछ ऐसी भी होंगी कि जिनको सुनकर आप एकदम चौक उठेंगे। अतः मनको शान्त रखकर सुनना और उसमें जो सन्देह हो उसे मेरे द्वारा या अन्य किसी अनाग्रही वृत्ति के विद्वान् साधु के द्वारा निवृत्त करने का यत्न करना। प्राचीन जैन धर्म और ढूंढक पंथ में स्थूल रूप से जिन बातों में अन्तर है वे तीन हैं, (१) साधु का वेष (२) मूर्ति पूजा और (३) मुंहपत्ती का बान्धना। इन तीनों के अन्तर्गत बाकी का सभी मतभेद गतार्थ हो जाता है। आज के प्रवचन में सूत्र रूप से—संक्षिप्त रूप से मैं इन तीनों की चर्चा करूंगा।

जैसा कि मैंने अभी कहा कि अपना यह ढूंढक पंथ प्राचीन वीर परम्परा से बहिष्कृत है, उसमें इसका कहीं पर भी स्थान नहीं है। श्री ठाणांग सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी के ६ गणों का उल्लेख किया है उनमें से किसी में भी इसका निर्देश नहीं है। दर असल बात यह है कि इस पंथ के जन्मदाता श्रीलौंका और लवजी नाम के व्यक्ति हैं, पहला विक्रम की १६ वीं शताब्दी मे हुआ और दूसरा १८ वीं शताब्दी में। पहले ने जिन प्रतिमा का उत्थापन किया, जब कि दूसरे ने मुंहपत्ति का बान्धना आरम्भ किया। ये दोनों ही बातें शास्त्र विरुद्ध अथच मनःकल्पित हैं।

वर्तमान ढूंढक समाज में जिनप्रतिमा का निषेध और मुंहपत्ति का बान्धना इन दो बातों पर कितना जोर दिया जाता है इसके कहने की आवश्यकता नहीं, इसलिये अपने इस ढूंढक मत के मूल प्रवर्तक लौंका और लवजी हैं, न कि महावीर स्वामी। इसके अतिरिक्त आगमों में साधु के वेष का जो स्वरूप बतलाया है अर्थात् उसके जो वस्त्र पात्रादि उपकरण हैं उन सबका माप और स्वरूप बतलाया है परन्तु अपने सारे उपकरण शास्त्र बाह्य बिना माप के हैं इसलिये हमारा ढूंढक-पंथ प्राचीन शास्त्रीय जैन-परम्परा का प्रतिनिधि न होकर लौंका और लवजी की परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। मेरे इस कथन पर किसी भी साधु अथवा गृहस्थ को कोई शंका हो अथवा जो कुछ भी पूछना चाहता हो तो वह खुशी से पूछ सकता है और सत्यासत्य का निर्णय कर सकता है।

महाराज आत्मारामजी के इस वक्तव्य का उपस्थित जनता के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। जैनेत्तर लोगों के हृदय तो आपकी सत्य और स्पष्ट घोषणा से बल्लियों उछलने लग पड़े। जो लोग आप में पहले से

कुछ श्रद्धा रखते थे उनके मन हर्षोद्रेक से खिल उठे। और जो पूज्य अमरसिंहजी के भक्तों में से वहां उपस्थित थे उनका मन भी ढूंढक पथ की श्रद्धा भूमि पर से पीछे खिसकने लगा। केवल बच गये या कोरे रहे वे जो पूज्यजी के आदेशानुसार नियम की रस्सी से बन्धे हुए खुर्ली के बैल की तरह वहां [आत्मारामजी के पास] पहुचने मे असमर्थ थे। जिस दिन श्री आत्मारामजी जीरामें पधारे और जब तक वहां रहे उतने दिन जीरा क्षेत्र धार्मिक चर्चा का केन्द्र बना रहा। कहीं मुंहपत्ती और मूर्तिपूजा की चर्चा आपस में हो रही है, और कभी आपस में विवाद करते हुए गृहस्थ लोग यथार्थ निर्णय के लिये महाराज आत्मारामजी के पास पहुँच जाते हैं और कभी पांच चार गृहस्थ मिलकर एक ही प्रकार की शंका को लेकर उनके पास जाते हैं तात्पर्य कि व्याख्यान हो चुकने के बाद आत्मारामजी के पास लोगों का हर समय जमघट बना रहता। जो कुछ भी कोई पूछता आप उसका बड़ी शांति से उत्तर देते। एक ही बात को बार बार पूछने पर भी आपकी शान्त मुद्रा में किसी प्रकार का फर्क न पड़ता। और जो कोई जैसा प्रश्न करता उसको वैसा ही उत्तर मिलता। जिज्ञासु को जिज्ञासु के रूप में समहित करते, वादी को शास्त्रीय प्रमाण से सन्तुष्ट करते और प्रतिवादी को प्रतिद्वन्द्विता से निरुत्तर करते।

जो लोग सरल प्रकृति के और सुलभ बोधी थे उन्होंने तो किसी प्रकार के प्रश्नोत्तर किये बिना ही आपके चरणों मे आत्म निवेदन कर दिया, अर्थात् आपके उपदेशानुसार शुद्ध सनातन जैन धर्म के श्रद्धान को अंगीकार कर लिया। और जो विचारशील तथा शंकाग्रस्त थे उन्होंने प्रश्नोत्तर द्वारा अपने सन्देह को निवृत्त करके आपसे गृहस्थोचित्त शुद्ध जैन परम्परा को अपनाने की प्रतिज्ञा ली। और जो कुछ अधिक छानबीन करने की प्रकृति के थे उन्होंने आपसे पूछने के बाद दूसरे ढूंढक साधुओं के पास जाकर उसकी चर्चा करके सत्यासत्य का निश्चय कर लिया और आपको अपना मार्ग दर्शक स्वीकार किया।

जैसा कि पहले कहा गया है जीरा के श्रावक अन्य क्षेत्रों के श्रावकों की अपेक्षा कुछ अधिक विचारशील और सत्य गवेषक प्रमाणित हुए उन्होंने जैसे पूज्य श्री अमरसिंहजी के इस आदेश को-कि तुमने आत्माराम के पास नहीं जाना. उनका व्याख्यान नहीं सुनना "ठुकरा दिया" उसी प्रकार उन्होंने श्री आत्मारामजी के कथन को भी तब तक नहीं अपनाया जब तक कि उनकी पूरी तसल्ली नहीं हो गई। एक दिन ला० पंजूमल आदि पाच मात श्रावक महाराज श्री आत्मारामजी के पास आये और कहने लगे कि महाराज! आपने जो कुछ फर्माया है वह हम लोगों के गले में तो उतरता है और उस पर विश्वास करने का भी जी चाहता है परन्तु इतने समय के हृदय पर अकित वे संस्कार एक दम हृदय से निकलने भी कठिन हैं, और हम लोग इतना विशद ज्ञान भी नहीं रखते जिससे स्वय किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय कर सके, अब तो हमारे लिये सत्यासत्य निर्णय का यही एक उपाय है कि आपने जो कुछ फर्माया है, और जिन शास्त्रों के प्रमाणों से उसे पुष्ट किया है, उसके बारे में हम दूसरे ढूंढक साधुओं से भी बातचीत करे और फिर निश्चय करे कि किसका कथन युक्तियुक्त और शास्त्र सम्मत है? इस विषय मे आपकी क्या सम्मति है?

श्री आत्मारामजी—तुम लोगों के इस निष्कपट और स्पष्ट सम्भाषण से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है, तुमने जो विचार प्रदर्शित किये हैं वे नितांत प्रशंसनीय हैं, मैं इनका सच्चे हृदय से स्वागत और समर्थन करता हूँ। धर्म की सच्ची जिज्ञासा रखनेवाले के लिये इसी मार्ग का अनुसरण करना हितकर है। मैं ने भी इसी मार्ग का सर्वेसर्वा अनुसरण किया है। मैंने ढूंढक मत की दीक्षा ग्रहण करने के बाद वर्षों तक शास्त्रों का मनन चिन्तन और गम्भीर अभ्यास किया, सैंकड़ों विद्वानों का सत्संग किया, उनके साथ काफी वाद-विवाद किया और हृदय में उत्पन्न हुए सन्देह की निवृत्ति के लिये जहां कहीं भी कोई विद्वान सुना, उसके पास पहुंचा उसके सामने अपनी शंका को रक्खा और उसका समाधान सुना, सुनने के बाद एकान्त में बैठ कर तटस्थ मनोवृत्ति से उसपर विचार किया, इस प्रकार वर्षों के गहरे मनन चिन्तन और अभ्यास के बाद मैं ने धर्म के विषय में जो तथ्य खोजा उसी का मैं आज जनता में प्रचार कर रहा हूँ। तुम लोग बाजार में दो पैसे का बर्तन खरीदते हो, तो उसे भी कई बार ठोक बजाकर देखते हो, और चारों ओर से निहारते हो, कहीं से कच्चा पिल्ला तो नहीं, फिर धर्म जैसे अमोल रत्न को बिना देखे भाले और बिना परीक्षा किये कैसे अपनाया जावे। धर्म का जीवन से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। मानव का इस लोक तथा परलोक में केवल धर्म ही साथ देनेवाला पदार्थ है, इसलिये पारलौकिक सद्गति की अभिलाषा रखनेवाले आत्मा को चाहिये कि वह धर्मतत्त्व की परीक्षा में किसी प्रकार की भी कमी न रक्खे। आज मैं तुम लोगों से स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ कि मैं ने वीतराग देव के धर्म मार्ग का जो स्वरूप तुम लोगों को बतलाया है और उसके सम्बन्ध में शास्त्रों के जो जो प्रमाण दिखलाये हैं उनकी तुम अच्छी तरह से जांच करो। दूसरे साधुओं के पास जाओ, मेरा कहा हुआ उनको सुनाओ और उनसे उसका उत्तर पूछो और फिर मेरे पास आओ। अगर फिर भी तुमको समझने या समझाने में कुछ कठिनाई मालूम दे तो उन साधुओं को मेरे पास लाओ या मुझे उनके पास ले चलो और परस्पर के विचार विनिमय से जो सत्य प्रतीत हो उसे स्वीकार करने का यत्न करो। मुझे तो अपने इन विचारों में रत्तीभर भी सन्देह नहीं रहा, यदि अपना सोना खरा है, और चोरी का भी नहीं तो सरे बाजार उसको कसौटी पर लगाने और आग में तपाने से हमें क्यों इन्कार करना चाहिये। इसलिये तुम लोग मेरे बतलाये हुए विचारों की अपनी इच्छा के अनुसार एक बार नहीं सौ बार परीक्षा करो। इससे मुझे और भी प्रसन्नता होगी।

महाराज श्री आत्मारामजी के इन उद्‌गारों ने पंजूमल आदि श्रावकों को मंत्र मुग्ध सा बनाकर एक दम ठंडा कर दिया। जिस समय वे लोग वहां आये थे उस समय श्री आत्मारामजी सटीक आवश्यक सूत्र का पर्यालोचन कर रहे थे। पुस्तक बहुत बड़ा था। एक श्रावक ने बड़े संकोच से काम्पते हुए स्वर में पूछा—महाराज! यह कौनसा शास्त्र है?

श्री आत्मारामजी—आवश्यक सूत्र।

महाराज ! यह तो बहुत बड़ा है, इस में किस बात का वर्णन आता है ? श्रावक ने जरा साहस-पूर्वक पूछा।

श्री आत्मारामजी जरा हंस कर—यह तो अभी आधा है, इतना और है। इसमें साधु के छै आवश्यकों का वर्णन किया गया है।

पजूमल—तो क्या महाराज ! उस दिन आपने जो कहा था कि ११ अग १२ उपांग ४ मूल ४ छेद-सूत्र यह कुल ३१ हुए और ३२ वां आवश्यक, इस प्रकार ये ३२ सूत्र कहे व माने जाते हैं। तो क्या यह-वही बत्तीसवां सूत्र है ?

श्री आत्मारामजी—वाहरे भाई ! तुमने तो खूब याद रक्खा। हां यह वही ३२ वां सूत्र है, परन्तु अपने लोगों का आवश्यक तो मन घडत और घर घर का अलग २ है, वह भी गुजराती मिश्रित खिचड़ी सा। जब कि गणधर देव ने सारे सूत्रों की रचना अर्द्धमागधी-प्राकृत भाषा में की है तो आवश्यक सूत्र भी उसी भाषा में निबद्ध होना चाहिये। यह जो आवश्यकसूत्र तुम्हारे सामने पड़ा है इसका मूल प्राकृत में है और इस पर श्री हरिभद्रसूरि की जो टीका है वह संस्कृत में है। तथा पंचम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु की इस पर निर्युक्ति है। भाष्य और चूर्णी उससे अलग है।

पंजूमल—आपने मूर्तिपूजा सम्बन्धि अनेक पाठ ३२ सूत्रों मे से निकाल कर बतलाये जिन में भी श्री ज्ञातासूत्र, राजप्रश्नीय, व्याख्या प्रज्ञप्ति और उपासकदशा तथा औपपातिक आदि कई एक अन्य सूत्रों के पाठ तो दिखलाये किन्तु आवश्यक सूत्र का कभी नाम नहीं लिया। तो क्या इस मे मूर्तिपूजा को प्रमाणित करने-वाला कोई पाठ नहीं है ? मेरे ख्याल में तो इसमें होना भी नहीं चाहिये क्योंकि आपके कथनानुसार इसमे साधु के छ आवश्यकों का वर्णन है जो कि केवल साधु के कर्तव्य के निर्देशक हैं, और मूर्तिपूजा से साधु का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वह गृहस्थ के लिये है।

श्री आत्मारामजी—नहीं भाई ऐसा नहीं ! साधु के लिये भी भावरूप से जिनप्रतिमा की उपासना का विधान है, इसके अतिरिक्त गृहस्थ के द्वारा की जानेवाली द्रव्यपूजा की अनुमोदना करने का भी शास्त्र मे विधान है। इसी उद्देश्य से आवश्यक सूत्र में साधु के लिये उसका विधान किया है। लो देखो आवश्यक सूत्र का यह मूल पाठ, इसे पढ़ो और इसके परमार्थ को समझो।

पजूमल—महाराज ! हम इस योग्य होते तो आपको इतना कष्ट ही क्यों उठाना पड़ता ? कृपा करके आप ही मूल पाठ और उसका परमार्थ सुनाकर हमें अनुगृहीत करे।

श्री आत्मारामजी—अच्छा सुनो ! आवश्यक सूत्र का यह पाठ इस प्रकार है—

$ "सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउसग्गं वंदण वत्तियाए, पूयण वत्तियाए सक्कार वत्तियाए सम्माण वत्तियाए" इत्यादि ।

भावार्थ—सर्व लोक मे स्थित अर्हच्चैत्यों-तीर्थंकर प्रतिमाओं के वन्दन पूजन सत्कार और सम्मान के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। तात्पर्य कि तीर्थंकर प्रतिमाओं को साक्षात्-श्रद्धापूर्ण हृदय से वन्दन करने, पूजन करने सत्कार और सम्मान करने का जो पारलौकिक फल साधक को प्राप्त होता है वह मुझे इस कायोत्सर्ग द्वारा प्राप्त हो, इस भावना से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । दूसरे शब्दों में कहें तो वन्दन पूजन सत्कार और सम्मान के स्थानापन्न मेरा यह कायोत्सर्ग हो, सारांश कि तीर्थंकर प्रतिमाओं के वन्दन पूजन सत्कार और सम्मान के निमित्त ही मै यह कायोत्सर्ग कर रहा हूँ ।

परमार्थ—आवश्यक सूत्र के इस पाठ से अर्हच्चैत्यों के पूजन और सत्कार के निमित्त-तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा और सत्कृति के लिए यति को भी-भावस्तवारूढ़ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्री तीर्थंकरादि ने किया है। और पूजन सत्कार ये दोनों द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा रूप ही हैं। अतः अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा साधु के लिये भी शास्त्र विहित है, दूसरे शब्दों में साधु को गृहस्थों के द्वारा आचरण किये गये द्रव्यस्तव-अर्चन पूजन आदि के अनुमोदन की आज्ञा सूत्र में दी गई है। इस प्रकार श्री आत्मारामजी से आवश्यक सूत्रगत मूर्तिपूजा सम्बन्धी पाठ के भावार्थ और परमार्थ को सुनकर वे लोग बड़े चकित हुए और प्रसन्न चित्त से वन्दना नमस्कार करके वहां से विदा हुए।

$ छाया—सर्व लोके अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दन प्रत्ययं, पूजन प्रत्ययं, सत्कार प्रत्ययं सम्मान प्रत्ययम् ॥

अध्याय २४

"श्री रामबक्षजी से वार्तालाप"

—:*×*:—
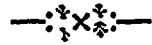
दूसरे दिन श्री पंजूमल आदि पांच सात श्रावकों ने सलाह मशवरा करके पटियाले मे विराजमान पूज्य श्री अमरसिहजी के शिष्य श्री रामबक्षजी के पास जाने का निश्चय किया और उनके पास पटियाले पहुंच गये ।

वन्दना नमस्कार करने और सुखसाता पूछने तथा इधर उधर की कुछ बातें करने के बाद श्री पंजूमलजी ने उनकी सेवा में उपस्थित होने का प्रयोजन बतलाते हुए निम्न लिखित प्रश्नों का समाधान करने की प्रार्थना की :—

(१) महाराज ! अपना यह ढूंढक पंथ श्री महावीर स्वामी की किस गच्छपरम्परा में से है ? कारण कि ठाणांग सूत्र में भगवान के जिन नौ गणों-गच्छों का उल्लेख है उनमें तो अपने पंथ का कहीं नाम है नहीं ।

(२) श्री लौंकाजी से पहले जैन परम्परा मे मूर्तिपूजा प्रचलित थी याकि नहीं ? अगर प्रचलित थी तो वह शास्त्र विहित थी या शास्त्र बाह्य ? यदि शास्त्र विहित थी तो उसका लौंकाजी ने निषेध क्यों किया ? यदि शास्त्र बाह्य थी तो लौंकाजी से पहले भी जैन परम्परा के किसी विशिष्ट आचार्य ने उसका प्रतिवाद किया ? किया तो किसने ? और यदि नहीं किया तो क्यों ? श्री लौंकाजी पहले स्वय तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा करते और मस्तक पर तिलक लगाते थे। ऐसा उनके जीवन चरित्र से प्रमाणित होता है, पीछे से उन्होंने मूर्तिपूजा का खंडन किया सो किस आधार पर ?

(३) लौंकाजी आगमों के पूरे जानकार थे इसके लिये आपके पास कोई पुष्ट प्रमाण है ? क्या लौंकाजी ने संस्कृत या प्राकृत का कोई ऐसा निबन्ध या ग्रन्थ लिखा है जिससे उनकी विद्वत्ता और योग्यता का माप किया जा सके ?

(४) अपनी इस ढूंढ़क परम्परा में-[जिसके मूल पुरुष हम भगवान महावीर स्वामी को मानते हैं] कौन कौन से प्रभावशाली आचार्य हुए और उन्होंने संस्कृत या प्राकृत भाषा में कौन कौन सी रचना की ? क्या उनमें से किसी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध भी किसी प्रकार की घोषणा की है ? यदि नहीं तो क्यों ? यदि अपनी इस परम्परा में लौंकाजी से पहले कोई भी आचार्य ऐसा नहीं हुआ तो अपनी यह परम्परा महावीर की परम्परा किस प्रकार कहला सकती है ?

(५) अपने सन्ध्या सामायिक के बाद जो यह पढ़ते हैं-"प्रथम साध लवजी भये" तो क्या लवजी से पूर्व कोई साधु नहीं था ? लवजी स्वामी विक्रम की १८ वीं शताब्दी में हुए और वे लौंकाजी के गच्छ में उनसे अनुमान दोसौ वर्ष बाद हुए तथा लौंकाजी गृहस्थ थे, साधु नहीं थे, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। और यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि लवजी स्वामी से पहले लौंका मत के या लौंकागच्छ के कोई भी यति मुंहपत्ती नहीं बांधते थे, मुंहपत्ती बांधने की प्रथा लवजी से चली, लौंकाजी ने तो केवल जिन प्रतिमा की उत्थापना की है। तब अपनी इस परम्परा में मूर्ति अर्थात् जिन प्रतिमा की उत्थापना और मुंहपत्ती का बांधना ये दोनों बातें प्रचलित ही नहीं किन्तु सिद्धान्त रूप से प्रविष्ट हैं, तो क्या इससे यह मानने के लिये बाधित नहीं होना पडता कि हम वास्तव में भगवान महावीर के न होकर लौंका और लवजी के हैं ? अर्थात् हमारी ढूंढ़क या स्थानकवासी परम्परा के मूल पुरुष दो, श्री लौंकाजी और लवजी। इनमें पहला गृहस्थ और दूसरा यति है, आप कृपा करके इन सब बातों का स्पष्ट शब्दों में खुलासा करने की कृपा करें ?

(६) अन्त में एक बात और है जिसका स्पष्टीकरण हम इन प्रश्नों के उत्तर मिल जाने के बाद करावेंगे वह आवश्यक सूत्रगत-"अरिहंत चेइयाणं करेमि काउसग्गं" पाठ के परमार्थ से सम्बन्ध रखती है। आप श्री ज्ञानवान हैं हमारे इस मत के नेता हैं और मार्गदर्शक हैं इसलिये हम लोग आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। हमारी इन उक्त शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान करने की कृपा करें ?

श्री पंजूमलजी आदि श्रावकों की उक्त शंकाओं को सुनकर श्री रामबख्शजी तो एकदम किंकर्तव्य विमूढ़ से होगये। अब उत्तर दें तो क्या दें ? और उत्तर देने की शक्ति भी कहां ? यदि शक्ति भी हो तो इनका उत्तर भी क्या हो सकता है ? दो और दो चार को झूठा भी कैसे ठहराया जा सके ? बहुत कुछ ऊहापोह करने के बाद आपको पीछा छुड़ाने की एक युक्ति सूझी और आप बोले तुम लोगों ने जो प्रश्न-किये हैं वे सबके सब मैंने सुनलिये हैं और इनका उत्तर भी मैं अच्छी तरह से दे सकता हूं, परन्तु यह तो बतलाओ कि तुमको यहां पर भेजा किसने ? ये तुमारे अपने प्रश्न नहीं हैं, किन्तु किसी दूसरे ने तुम्हें तोते की तरह ये प्रश्न पहले रटा दिये और हमारे पास उत्तर के लिये भेज दिया इसलिये तुम

नहीं बोल रहे बल्कि तुमारे अन्दर कोई दूसरा बोल रहा है। और जहां तक मैं समझ पाया हूँ तुमारे ऊपर आत्माराम का जादू चल गया है, जीरे में आने के बाद उसने तुम लोगों को ऐसी ऊटपटांग-बिना सिर पैर की बातें सिखाकर तुमारी श्रद्धा को भी बिगाड़ दिया है अन्यथा ऐसी श्रद्धाहीन बातें दूसरा कौन कह सकता है। सो इन प्रश्नों में तुम नहीं बोल रहे किन्तु आत्माराम बोल रहा है, यदि जवाब देना होगा तो उनको देंगे तुम लोगों को क्या देना है? जोकि कुछ जानते ही नहीं।

एक श्रावक—महाराज! यदि जानते होते तो आपके पास आने की जरूरत ही क्या थी? परन्तु आपने भी तो कोई काम की बात नहीं कही! हम लोग तो आपके पास अपनी डगमगाती हुई पुरानी श्रद्धा को दृढ़ करने के लिये आये थे परन्तु आपने उसे और भी ठोकर मारदी!

दूसरा श्रावक—महाराज! आप फर्माते हैं कि हमारे इन प्रश्नों में आत्माराम बोल रहा है यदि यह सत्य है तो आप इस बोलते को चुप कराइये न? यदि यहां नहीं करा सकते तो कृपया वहां जीरा पधारिये। अथवा कहो तो हम उन्हें विनति करके यहा आपके पास ले आते हैं तब तो आपको चुप कराना और भी सुगम होगा। कहिये कौनसी बात मन्जूर है?

श्री रामवक्षजी जरा आवेश में आकर—तुम लोग तो मेरी दिल्लगी कर रहे हो, मेरी हसी उड़ा रहे हो। क्या यह भी कोई सभ्यता है?

पंजूमलजी—महाराज! आप खफा क्यों होते हो? श्री आत्मारामजी ने जीरे आकर हम लोगों के सामने ये सब बाते कही हैं और हम लोगों ने आज तक ऐसी बाते कभी सुनी नहीं थी, तब हमारे मन में विचार उठा कि आप के पास चलकर निर्णय करे कि वास्तव में ऐसा ही है जैसा कि श्री आत्मारामजी फर्मा रहे हैं या इस में कुछ अन्तर है। परन्तु आपने हमारी बातों पर कुछ भी ध्यान न देकर उलटा हमें श्रद्धाहीन और मूर्ख कहना शुरु कर दिया। ऐसा करना आपके लिये और इस पथ के अनुयाइयों के लिये कहां तक उचित और हितकर हो सकता है इसका विचार आप स्वयं करे। आत्मारामजी के सम्पर्क से तुम्हारी भी श्रद्धा भ्रष्ट हो गई है, इतना कह देने से तो आप हमारे मन पर काबू नहीं पा सकते और नाही श्री आत्मारामजी के प्रभाव को कम कर सकते हैं।

पंजूमलजी के इस सभापण ने श्री रामवक्षजी के मन मे एक नई घबराहट उत्पन्न करदी और वे गहरी सोच मे पड़गये, अन्त में उन्हें एक मार्ग सूझा अपना पीछा छुड़ाने का। वह था आवश्यक सूत्रगत पाठ का। आप बोले—देखो भाई! और बातें तो पीछे होंगी पहले आवश्यक सूत्र के पाठ की बात करलो,आत्मा राम ने तुम्हें धोखा दिया है आवश्यक सूत्र में यह पाठ ही नहीं है लो देखो यह पड़ा आवश्यक, निकालो! इसमें वह पाठ! [भला उसमें वह पाठ कहां निकलता जब कि वह था ही गुजराती मिश्रित भापा में]।

श्री पंजूमलजी—महाराज ! यह आवश्यक कैसा ? आचारांग प्रभृति सभी सूत्र ग्रन्थ जब अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में हैं तो आवश्यक सूत्र भी तो उसी भाषा में होना चाहिये ? यह तो गुजराती भाषा मिश्रित कुछ और ही प्रतीत होता है, कृपा करके आप असली आवश्यक सूत्र निकालो ! यदि आपके पास नहीं हो तो हम लाकर आपको दिखा सकते हैं।

रामवक्षजी क्रोधावेश में—तुम लोगों के अन्दर अज्ञान बढ़गया है। इसलिये हमारी बात को सुनते नहीं हो। यदि हमारे ऊपर तुमको विश्वास है और तुम हमको गुरु मानते हो तो जैसे हम कहें वैसे ही तुम करते और मानते जाओ, हमारे पास तो यही आवश्यक है तुम्हारे लिये कोई नया आवश्यक तो हम लाने से रहे। तुम अपना असली आवश्यक अपने ही पास रक्खो हमको उसकी जरूरत नहीं। जाओ साधुओं से झगड़ा मत करो ! तुमारी श्रद्धा तुमारे पास और हमारी हमारे पास। इतना कहकर श्री रामवक्षजी वहां से उठ खड़े हुए, और जीरा के सद्गृहस्थों ने भी, हाथ जोड़कर बड़ी कृपा महाराज ! आपने हम लोगों के प्रश्नों का उत्तर देकर हमें कृतार्थ कर दिया" कहते हुए वहां से प्रस्थान किया।

ये लोग पटियाले से चलकर सीधे जीरे पहुँचे और सर्व प्रथम श्री आत्मारामजी के पास आये। अन्य लोग जो उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वे भी उनका आगमन सुनकर वहीं-[जहां श्री आत्मारामजी ठहरे हुए थे] पहुँच गये। ला० पंजूमलजी आदि गृहस्थों ने श्री आत्मारामजी को वन्दना करी और पटियाला की यात्रा में जो कुछ हुआ उसे सबके समक्ष अथ से इति तक कह सुनाया। सुनकर श्री आत्मारामजी कुछ मुस्कराये और कहने लगे-तुमारी इस प्रकार की मनोवृत्ति और सद्व्यवहार से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। धर्म निर्णय के लिये तुमारी जैसी गवेषक बुद्धि के लोग ही उपयुक्त हो सकते हैं ! अब तुमारी जैसी इच्छा हो वैसे करो ! पंजूमल आदि गृहस्थ लोग हाथ जोड़कर-महाराज ! जिस समय हम लोगों ने अपने प्रश्नों का उत्तर-[जैसा कि पहले कह सुनाया है] श्री रामवक्षजी के मुखारविन्द से सुना, उसके अनन्तर ही हमने अपने ढूंढक मत के संस्कारों को उनके सुपुर्द कर दिया ! और उनसे कह दिया—कि "महाराज ! आपकी दी हुई वस्तु हम आपको ही वापिस करे देते हैं कृपया आप ही इसे संभाले, हमसे अब यह संभाली नहीं जाती ! आप श्री ने हमारे ऊपर जो उपकार किया है, उसके लिये हम आपके अधिक से अधिक आभारी हैं और आपने हमें जो सन्मार्ग दिखाया है, शेष जीवन में हम उसी का अनुसरण करेंगे !" आज से आप हमारे सद्गुरु और हम आपके विनीत शिष्य हुए, यह गुरु शिष्य का धार्मिक नाता उत्तरोत्तर अखंड और स्थायी रहेगा।

इतना कहने के बाद सबने श्री आत्मारामजी से शुद्ध सनातन जैन धर्म का श्रद्धान अंगीकार किया। इसके अतिरिक्त इसी क्षेत्र में आपने पूज्य श्री अमरसिंहजी के समुदाय के श्री कल्याणजी नाम के एक ढूंढक साधु को प्रतिबोध देकर शुद्ध सनातन जैन धर्म का अनुरागी बनाया। इस प्रकार अपनी जन्मभूमि

जीरा में प्राचीन जैन परम्परा के भव्य प्रासाद की आधार शिला का न्यास करके श्री आत्मारामजी ने जीरा से जगरावां के लिये विहार किया। विहार के समय भाविक जनता ने आपसे चातुर्मास के लिये साग्रह प्रार्थना की और अपने हाथ के लगाये हुए इस धर्म के पौदे को अपनी सुदृष्टि से समय २ पर अभिषिक्त करते रहने की ओर भी ध्यान दिलाया। उक्त प्रार्थना के उत्तर मे आपने फर्माया कि जीरा में चतुर्मास करने का भाव तो है परन्तु वह इस वर्ष होता है या आगामी वर्ष मे, यह तो केवली गम्य है।

अध्याय २५

"तुम नहीं मिलने का नियम लो !"

जीरा में अपने समुदाय के साधु कल्याणजी को श्री आत्मारामजी का अनुगामी बना जान, पूज्य श्री अमरसिंहजी को बड़ा क्रोध आया । उन्होंने श्री हुक्म मुनि को फौरन अपने पास-[भदौड़ में] बुलाया और डांटते हुए कहा कि तूं मेरा होकर मेरे ही घर को लुटा रहा है ! ऐसा करते हुए तुमको कुछ विचार नहीं आया ? तूं कल्याणजी को लेकर जीरे क्यों गया था ? तुमको मालूम नहीं था कि वहां आत्माराम बैठा है, और वह-कल्याणजी कच्चे विचारों का है, अगर उसके सम्पर्क में एक बार भी आगया तो फिर वह अपना नहीं रहेगा !

पूज्यजी साहब के इस वार्तालाप को सुनकर हुक्म मुनि (मन ही मन में)—"पूज्यजी साहब ! आप भूलते हो, हुक्म मुनि अब आपका नहीं है, वह तो बहुत दिनों से तुमारा सम्बन्ध छोड़ चुका है, उसका मानसिक सम्बन्ध तो अब श्री आत्मारामजी से है, जो कि वीर भाषित सच्चे जैनधर्म के प्ररूपक हैं । तभी तो वह कल्याणजी को श्री आत्मारामजी के पास लेकर गया ताकि वह उन्मार्ग को छोड़ सन्मार्ग का अनुसरण करे । (प्रकट रूप में)—महाराज ! क्षमा करें मुझसे बड़ी भूल हुई, मै यह नहीं समझता था कि वह-कल्याणजी वहां जाकर आत्मारामजी के चंगुल में फंस जायगा । पास में बैठे हुए श्री विश्नचन्दजी आदि ने भी पूज्यजी साहब की आंखें पोंछते हुए कहा—महाराज ! अब इसे क्षमा करो ! अगर कल्याणजी चला गया तो कौनसी कानखजूरे की टांग टूट गई है ? ऐसी बातों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं । उसी रोज़ श्री विश्नचन्दजी आदि साधुओं ने लुधियाने को विहार करने का निश्चय किया हुआ था । जब वे विहार करने की तैयारी करने लगे तब पूज्यजी ने उनको बुलाकर कहा कि, तुमारे रास्ते में आत्माराम जीरे से विहार करके जगरावां में आकर बैठा है, तुम लोग उससे मिलो, यह मुझे अच्छा नहीं लगता ।

श्री विश्नचंदजी—क्यों महाराज ! मिलने में क्या हरकत है ?

पूज्यजी साहव—हरकत का तुमको अभी तक पता ही नहीं लगा ? अपने कई एक साधु उसके गुन गाने लग गये और सैंकड़ों गृहस्थ उसके वन गये, अभी न मालूम आगे को वह क्या करे ?

श्री विश्नचन्दजी—(मन ही मन मे)-जिनके सामने आप अपना रोना रो रहे हैं, वे तो मनसे सर्वेसर्वा महाराज आत्मारामजी के वने हुए हैं, भविष्य मे आत्मारामजी क्या करेंगे इसे हम लोग जानते हैं। उनके सदुपदेश से इसी पजाव भूमि में पचासों जिन मन्दिर वनेंगे। हजारों उनकी पूजा सेवा करनेवाले होंगे और यह देश सत्य सनातन जैनधर्म के प्रचार में मुख्यस्थान ग्रहण करेगा।" (प्रकट रूप में) तो महाराज ! आप क्या चाहते हैं ?

पूज्यजी साहव—वस यही कि तुम आत्माराम से मिलना छोड दो !

श्री विश्नचन्दजी—वहुत अच्छा महाराज ! यदि आपकी यही इच्छा है तो हम उनसे नहीं मिला करेंगे ?

पूज्यजी—अच्छा तो "उनसे न मिलने का नियम लो !"

श्री विश्नचन्दजी (मन में) ये तो हमें उनसे न मिलने का नियम कराते हैं और हम सदा उनके चरणों में वैठे रहना चाहते हैं, वह दिन हमारे लिये धन्य होगा जब कि हम उनके प्रतिदिन के प्रवचन से उत्तरोत्तर अपनी आत्मा को सद्गति का भाजन वनाने का श्रेय प्राप्त करेंगे। जो नियम हृदय से न किया जावे और जिसके करने की सर्वथा अनिच्छा हो ऐसा नियम यदि कोई आप सरीखा-"पूज्य अमरसिंहजी जैसा" जवरदस्ती दिलाने का यत्न करे तो उसकी क्या कीमत होगी ? कुछ भी नहीं। परन्तु यदि हम इस समय इनकार कर दे तो हमारे निर्धारित कार्य में क्षति पहुँचने का सभव है आज हम गुप्तरूप से धर्म का प्रचार कर रहे हैं और उसमें हमे जो आशातीत सफलता प्राप्त हुई है उसमें विघ्न पड़ जावेगा, इसलिये जैसा कुछ ये कहते हैं, अव तो उसी को विना ननु नच के स्वीकार कर लेना चाहिये।-"स्वकार्यंसाधयेद्धीमान, कार्यभ्रंशो हि मूर्खता" (प्रकट रूप में)-अच्छा महाराज ! यदि आप इसी में प्रसन्न हैं तो हम उनसे नहीं मिलेंगे। इतना कहकर श्री विश्नचन्दजी आदि साधुओं ने विहार कर दिया और जगरावां मे पहुंचकर श्री आत्मारामजी के पास न ठहर कर अलग किसी दूसरे मकान में ठहर गये ।

अध्याय २६

"नियम के प्रकाश में मिलाप"

पूज्य श्री अमरसिंहजी की आंखें पोंछने की खातिर श्री विश्नचन्द्जी अलग मकान में तो ठहरे परन्तु मन तो उनका श्री आत्मारामजी के चरणों के इर्द गिर्द ही चक्कर काटने लगा। उनके जगरावां पहुँचने और अलग मकान में ठहरने का समाचार एक ओसवाल सज्जन के द्वारा जब महाराज श्री आत्मारामजी को मिला तब वे बड़े प्रसन्न हुए और अपने स्थान से चलकर जहां विश्नचन्द्जी ठहरे हुए थे वहां पहुँचकर उनसे मिले। मिलकर कहने लगे कि पूज्यजी साहब ने न मिलने का नियम तुमको कराया है, मेरे को तो नहीं कराया ? अब तो मैं तुमसे मिला हूँ, तुम मुझ से नही मिले, इसलिये तुमारे नियम में कोई बाधा नहीं आई।

श्री विश्नचन्द्जी ने उठकर आपका हार्दिक स्वागत किया और हाथ जोड़कर कहने लगे। महाराज ! आपकी इस महती कृपा के लिये हम सब आपके बहुत २ आभारी हैं। इस नियम की कीमत जो हमारे दिल में है उसे आप अच्छी तरह से समझते हैं। अबोध जनता को अपनी ओर आकर्षित करके उसके मताग्रही मानस को बदलना उतना ही कठिन है जितना कि एक तरफ बहते हुए नदी के प्रवाह को रोक कर दूसरी तरफ ले जाना। सो जब तक हमें अपने निर्धारित कार्य में पूरी २ सफलता नहीं मिल जाती तब तक तो नीति मार्ग का अनुसरण करना ही उचित रहेगा। अन्यथा हमें इच्छित सफलता का मिलना कठिन है। और हमारा उद्देश्य बिलकुल शुद्ध एवं निस्वार्थ है इसलिये गुप्त प्रचार की नीति को अपनाना हमारे लिये दोषावह भी नहीं है।

श्री आत्मारामजी—तुम लोग जिस नीति से काम कर रहे हो वही हमारे कार्य के लिये हितकर है, पूज्यजी साहब के प्रतिकूल चलकर तुम्हें काम करने में कितनी कठिनाई होगी इसका मुझे पूरा २ अनुभव है, इसलिये बाह्य रूप से तुमारा उनके साथ मिले रहना ही अच्छा है, मुझे इसी में प्रसन्नता है। और मैं

तो यह भी चाहता हूँ कि तुम लोग इनके जीवन तक उनके साथ ही बने रहो, भले ऊपर से ही सही। इससे इनकी आत्मा को कुछ न कुछ सन्तोष तो बना रहेगा, आगे तुम्हारी जो इच्छा। इतने प्रासंगिक वार्तालाप के बाद श्री आत्मारामजी श्री विश्नचन्दजी का हाथ पकड़कर अपने स्थान पर–[जहां उतरे हुए थे] ले गये। और एकान्त में बैठकर, किस २ क्षेत्र में कितना काम हुआ और आगे के लिये कहां और किस प्रकार काम करना है इत्यादि सारे कार्यक्रम का सिंहावलोकन किया।

दूसरे दिन श्री विश्नचन्दजी ने लुधियाने को विहार कर दिया और श्री आत्मारामजी ने एक दिन पीछे विहार किया। परन्तु दैवयोग से बीचमें वर्षा हो जाने के कारण रास्ते में सात कोस पर आने वाले "बोपांराय" नाम के ग्राम में दोनों का मेल हो गया! और दोनों अपने २ साधुओं के साथ एक ही मकान में ठहरे। वहां किसी ओसवाल का घर न होने से किसी प्रकार के उपद्रव की भी आशंका नहीं थी। इसलिये सब साधु निशंक होकर एक दूसरे से ज्ञानचर्चा करते रहे और सन्ध्या का प्रतिक्रमण भी सबने एक साथ ही किया।

प्रतिक्रमण के समय श्री आत्मारामजी ने विश्नचन्दजी आदि साधुओं से कहा—लो आज मैं तुम्हें श्री महावीर स्वामी के शासन में विहित प्रतिक्रमण को विधि सहित कराऊं? सबने सहर्ष स्वीकृति दी। प्रतिक्रमण और उसकी विधि को देखकर सारे चकित हो गये और कहने लगे-महाराज! इस प्रकार विधि-सहित प्रतिक्रमण करने का कभी हम लोगों को भी प्रत्यक्ष अवसर मिलेगा? अथवा हम इसी पंथ की फांसी के रस्से को गले में डाले हुए यहां से चल बसेंगे?

श्री आत्मारामजी—जरा धैर्य रक्खो, समय पर सब कुछ ठीक हो जावेगा।

श्री विश्नचन्दजी—भाई शान्ति रक्खो, इतनी उतावल न करो, अन्यथा हमारा बना बनाया खेल बिगड जावेगा। यदि धैर्य से काम लोगे तो तुम्हारा अपना भी भविष्य बन जायगा और जनता को भी उचित लाभ पहुंचेगा। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री विश्नचन्दजी ने लुधियाने को विहार कर दिया और पमाल होकर लुधियाने पहुंचगये, तथा श्री आत्मारामजी एक दिन बाद लुधियाने पहुँचे। दोनों अपने अपने साधुओं के साथ अलग अलग मकान में ठहरे।
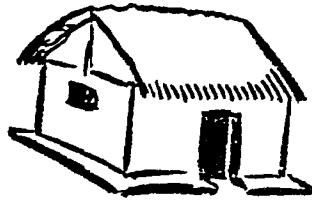
अध्याय २७

साधु कन्हैयालाल का भाग्योदय
और
पूज्यजी का ज़हर प्रलाप

—

श्री विश्नचन्दजी आदि साधु यद्यपि अलग स्थान में उतरे हुए थे परन्तु श्री आत्मारामजी के धर्म प्रवचन को वे निरन्तर श्रवण करने जाते। इनमें कन्हैयालाल नाम का एक साधु था जो कि न तो कभी आत्मारामजी के व्याख्यान में जाता और न कभी उनकी कही हुई बात को ही सुनता। उसे किसी साधु ने ऐसी ऊंधी पट्टी पढ़ा रक्खी थी कि आत्माराम धर्म से पतित होगया है और वह स्थान स्थान पर जहर के पेड़ लगा रहा है। उसके पास जाना अपने समकित का नाश करना है।

परन्तु—"स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः" इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार जब उसके किसी पूर्व जन्म के पुण्य का उदय हुआ तो उसकी इस हठीली मनोवृत्ति में कुछ विवेक का उदय हुआ वह दो चार साधुओं के कहने से एक दिन श्री आत्मारामजी का प्रवचन सुनने को गया और मन से उन्हीं का हो गया। महाराज श्री आत्मारामजी की उस दिन की निर्मल प्रवचन वारिधारा ने कन्हैयालाल के हृदय का सारा आन्तरिक मल धो डाला। व्याख्यान उठते ही वह बोल उठा कि कौन कहता है कि आत्मारामजी ज़हर के बूटे लगा रहे हैं? इनकी अमृतमयी वाणी में तो मृतप्राय हृदयों में जीवन संचार करने की शक्ति है। यह तो कोई अलौकिक महापुरुष है मुझे ईर्षालु साधुओं ने इनके सदुपदेश से वंचित रक्खा जिसका मुझे अधिक से अधिक शोक है, अस्तु, अब तो इन्हीं की शरण में रहकर शेष जीवन में शुद्ध सनातन जैनधर्म का अनुसरण करते हुए अपनी आत्मा को सद्गति का भाजन बनाने का यत्न करूं गा। तदनन्तर व्याख्यान सभा से उठकर श्री आत्मारामजी को वन्दना करके कन्हैयालाल अपने स्थान पर आया और मन में कुछ विचार करने के बाद अपने गुरु भाई गणेशजी से बोला कि "तुम जो मेरे दूसरे साधुओं के पास से अनिश्राचरण कराते हो और खुद भी करते हो ऐसा करना जैन मत के किस शास्त्र में लिखा है। यातो मुझे शास्त्र का पाठ बतलाओ नहीं तो इसका प्रायश्चित करो?

गणेशजी — भाई ! साधुओं का काम ऐसे ही चलता है। परन्तु यह तो बताओ, तुम्हें आज यह कैसे सूझी ?

कन्हैयालालजी — पहले चल गया सो चल गया मगर अब नहीं चलेगा और न चलने दिया जायगा। मेरे मुन्दे हुए विवेक चक्षु अब खुल गये इसलिये मुझे सब कुछ सूझने लगा है। तुमारे जैसे दंभी और अनिष्टाचारियों की सगत मे रहना भी अधर्म को पुष्ट करना है, और तुमारे जैसों के सहवास में रहकर आत्म पतन की ओर जाने वाला जीव कभी सद्गति को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये तुभारे दुष्ट ससर्ग को त्याग कर मैं तो अब उसी महापुरुष की शरण मे जाऊगा जिसके पुनीत प्रवचन ने मेरी आंखे खोलदी है।

इतना कहने के बाद श्री कन्हैयालालजी सीधे महाराज श्री आत्मारामजी के पास आये आर उनसे जैनधर्म के शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा को अंगीकार किया।

इधर पथौड़ ग्राम में विराजे हुए पूज्य श्री अमरसिंहजी को जब यह समाचार मिला तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ और मानसिक चिन्ता के बढ़ने से ज्वर आने लगा। ज्वर का वेग इतना बढ़ा कि आप उसमें प्रलाप करने लगे, और पास में बैठे अपने शिष्य तुलसीराम से कहने लगे — "तुलसी ! उठो लुधियाने चले, वहां चलकर आत्माराम की खबर लेवे और उस पर मुकद्दमा चलाकर कैद करा देवे ! इसने मेरे सब चेले बहकाकर अपनी तरफ कर लिये हैं" इत्यादि।

पूज्यजी साहब यद्यपि ज्वर के तीव्र वेग मे बेभान हुए यह सब कुछ कह रहे थे परन्तु उनका यह कथन तो अक्षरशः सत्य था कि — "आत्माराम ने मेरे सब चेले बहकाकर अपनी तरफ कर लिये हैं"

श्री विश्नचद, हाकमराय और चम्पालालजी आदि जितने अच्छे २ साधु पूज्य अमरसिंहजी के समुदाय मे दिखाई देते थे वे सबके सब मन से श्री आत्मारामजी के हो चुके थे, और गुप्त रूप से उन्हीं के आदेशानुसार काम कर रहे थे। पूज्यजी साहब से तो उनका ऊपर का ही मेल था अन्दर से तो वे उनके विरुद्ध थे। तथा — जिस तुलसीराम के पास श्री अमरसिंहजी ने उक्त बातें कहीं वह भी अन्दर से श्री आत्मारामजी का ही भक्त था और उन्हीं के विचारों का गुप्तप्रचारक भी। इसलिये तुलसीरामजी ने पूज्य अमरसिंहजी के प्रलाप को कोई महत्व नहीं दिया। यद्यपि श्री आत्मारामजी का भाव तो जीरा में चतुर्मास करने का था परन्तु लुधियाने की जनता की सानुरोध प्रार्थना और बलवती क्षेत्र फर्सना के कारण उनका १६२८ का चतुर्मास लुधियाने में हुआ। इधर श्री विश्नचन्दजी आदि का विचार भी लुधियाने में चतुर्मास रहने का था परन्तु पूज्यजी साहब को यह इष्ट नहीं था, इसलिये उन्होंने पत्र पर पत्र भिजवाकर वहां से विहार करा दिया और चतुर्मास उन्होंने अम्बाले मे किया।

———

अध्याय २८

"प्रत्यक्ष सहयोग"

—:※:—

चौमासे बाद लुधियाना से विहार करके श्री आत्मारामजी होशयारपुर पधारे, और अम्बाले का चतुर्मास पूरा करके श्री विश्नचन्दजी भी होशयारपुर पहुंचगये। यहां भी अमरसिंहजी के कितने एक साधुओं में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति को देखकर श्री विश्नचन्दजी के मन को बहुत खेद पहुंचा, उन्होंने पूज्य श्री अमरसिंहजी के पास जाकर कहा—महाराज! चतुर्थव्रत का भंग करनेवाले इन भ्रष्टाचारियों को अपने यहां रखना उचित नहीं है इन्हें अपने समुदाय से बाहर कर देना चाहिये! इनके कारण सभी साधुओं को लांछन लग रहा है। परन्तु पूज्यजी साहब ने इस कथन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। बल्कि यह कहा कि तुम लोग उन साधुओं से द्वेष रखते हो तुमारी श्रद्धा भ्रष्ट हो गई है इसलिये तुमारा रास्ता अलग और हमारा अलग है जाओ हम इस विषय में तुमारी कोई भी बात नही सुनेंगे। तब श्री विश्नचन्दजी आदि बारां साधुओं ने मिलकर पूज्यजी से फिर अर्ज की और बड़ी नम्रता से कहा–कि महाराज! आप सर्व साधु मंडल के नेता हैं आपको हमारी इस नम्र प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। जब पूज्यजी ने फिर भी उनकी बात मानने से इनकार कर दिया तब सब ने ज़रा उत्तेजित से होकर कहा कि पूज्यजी साहब! आपने हमारी उचित प्रार्थना को भी ठुकरा दिया है, स्मरण रक्खे आपको पीछे से बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उस वक्त हमारी बात का आपको ख्याल आवेगा। जब इन शब्दों का भी उनके हृदय पर असर नहीं हुआ तो सबने उनसे अलग होजाने मे ही अपने आत्मा का हित समझा और उनसे अलग होकर श्री आत्मारामजी के पास आगये। उनके पूज्यजी से सदा के लिये अलग होकर आजाने का समाचार सुनते ही श्री आत्मारामजी बोले–तुम लोगों ने अच्छा नहीं किया, अभी अलग होने का अवसर नहीं था।

श्री विश्नचन्दजी—महाराज! आप जो कुछ फर्माते हैं ठीक है परन्तु आप सत्य जानें, हमने पूज्यजी साहब को बहुत समझाया, बड़ी नम्रता से समझाया और अन्त मे धमकी भी दी मगर वे टस से मस नहीं हुए। इसमें हम सब निर्दोष हैं अलबत्ता भ्रष्टाचारियों के साथ मिलकर रहना हमे पसन्द नहीं था इसलिये पूज्यजी साहब से हमने अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है।

श्री आत्मारामजी—अच्छा जो हुआ सो ठीक, अब इसकी तो चिन्ता करना व्यर्थ है। अब तो अपना भावी कार्यक्रम निश्चित करना चाहिये। सो यदि तुम लोगों को इसी देश मे विचरना हो तब तो शीघ्र से शीघ्र पंजाब के ग्राम ग्राम और नगर नगर में फैल जाओ और अधिक से अधिक गृहस्थों को शुद्ध सनातन जैनधर्म के श्रद्धालु बनाने का प्रयास करो, इसके लिये जितना भी प्रयास हो सके करो ! यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर का बल तो अवश्य हो जाना चाहिये। फिर आप खुशी से इस देश में विचर सकते हैं बिना, अपने अनुयायी श्रावकों के इस पंचमकाल मे संयम का पालन नितान्त कठिन है। और यदि इस देश में विचरने की तुमारी इच्छा न हो तो चलो सीधे गुजरात देश में चलें, वहां चलकर किसी सुयोग्य साधु से शुद्ध सनातन जैन धर्म की दीक्षा अंगीकार करें और उसी देश में विचरें ! यह बात जान बूझकर आपने साधुओं से कही ताकि उनका आशय मालूम होजावे, वैसे आपने तो इसी देश मे वीर भाषित जैन परम्परा का झंडा गाढने का दृढ़ संकल्प कर रक्खा था, अन्य साधुओं की तो आप अनुमति मात्र चाहते थे।

आपके इस कथन को सुनकर श्री विश्नचन्दजी आदि साधु बोले—महाराज ! हमारा तो इसी देश में विचरने का संकल्प है, और आपने जो धर्म प्रचार की बात कही सो उसके लिये हम हर प्रकार से तैयार हैं, आपके नेतृत्व में हम अधिक से अधिक प्रयत्न करेंगे। हम दो दो तीन तीन की टोली बनाकर सारे पंजाब में फिर निकलेंगे, वैसे तो आज भी आपकी कृपा से पंजाब के हर एक ग्राम और नगर में आपके सेवकों की पर्याप्त संख्या विद्यमान है। मालेरकोटला में निश्चित किये गये कार्यक्रम के अनुसार हमने अपना प्रयास चालु रक्खा और उसमें हमें काफी सफलता प्राप्त हुई है।

जिस समय यह मंत्रणा हो रही थी उसी समय श्री आत्मारामजी के पास उनके नेतृत्व मे काम करने वाले २० साधु थे। उनमें १२ तो श्री विश्नचंदजी आदि पूज्य अमरसिंह के समुदाय के और आठ साधु श्री योगराजजी के समुदाय के थे। इस प्रकार २० ही साधु महाराज श्री आत्मारामजी का आशीर्वाद लेकर चारों तरफ निकल पडे और सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक रूप मे ढूंढक पंथ का चिरकाल का बिछा हुआ बिछौना उठाकर प्राचीन जैन परम्परा का बिछौना बिछा दिया। उनके सतत् प्रयास और श्री आत्मारामजी की आन्तरिक प्रेरणा से पंजाब के हर क्षेत्र में प्राचीन जैनधर्म का झंडा गड़ गया। फलस्वरूप—होशियारपुर जालन्धर, नकोदर, जडियाला, अमृतसर, पट्टी, वैरोवाल, कसूर, नारोवाल, सनखत्तरा, जीरा, मालेर कोटला, अम्बाला, लुधियाना, लाहौर, गुजरांवाला, रामनगर, पसरूर, रोपड़, जेजों और जम्मू आदि स्थानों मे वीर भाषित प्राचीन जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या सात हजार के करीब होगई।

इस प्रकार श्री आत्मारामजी को श्री विश्नचंदजी आदि अन्य साधुओं के सहयोग से अपने कार्य में जो सफलता प्राप्त हुई उसका एक मात्र श्रेय उनकी सत्यनिष्ठा और विशद ज्ञान सम्पत्ति को है।

———

अध्याय २९

साम्प्रदायिक संघर्ष, प्रत्यक्ष रूप में
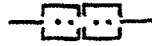
कोई भी पंथ या सम्प्रदाय हो उसके अच्छे या बुरे संस्कार जब एक बार जनता के हृदय में बैठ जाते हैं तब उनका निकालना बहुत कठिन हो जाता है। और यदि कोई उन अशुद्ध संस्कारों को निकालने का यत्न करता है तो अबोध जनता और उसके नेता लोग हाथ धोकर उसके पीछे पड़ जाते हैं। उनके हृदय पर छाया हुआ अज्ञान जन्य अन्धकार का पर्दा उन्हें वस्तु तत्त्व के भान से वंचित कर देता है, अतः वे हित को अहित और अहित को अपना हित समझते हुए मार्गदर्शन को उन्मार्गगामी कहने व मानने में भी संकोच नहीं करते। परन्तु ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जिनके विवेक चक्षु सर्वथा बन्द न होकर कुछ खुले भी रहते हैं, तब ऐसे लोगों को यदि कोई सच्चा मार्गदर्शक मिल जावे तो वे उसके बतलाये हुए मार्ग को अपनाने भी लगते हैं। पंजाब की भूमि में कई सदियों से जैन धर्म के सूर्य को ढूंढ़क पंथ के बादलों ने आच्छन्न कर रक्खा था। दूसरे शब्दों में प्राचीन जैनधर्म पर सर्वेसर्वा अधिकार ढूंढ़क पंथ या सम्प्रदाय ने जमा लिया था, लोग प्राचीन जैनधर्म के स्वरूप से बिलकुल अज्ञात हो चुके थे, उसके स्थान में ढूंढ़क पंथ को ही वे वास्तविक जैनधर्म समझ रहे, और मान रहे थे ऐसी दशा में जैन धर्म के प्रतिष्ठापक किसी सच्चे धर्मनेता को इस प्रकार के फिरकावासित मानस को बदलने के लिये कितना परिश्रम करना होगा इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है, महाराज श्री आत्मारामजी ने प्राचीन जैन धर्म पर छाये हुए ढूंढ़क पंथ के पर्दे को दूर हटाने के लिये कितनी कठिनाइयों का सामना किया, और किस प्रकार उन पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने बुद्धिबल और शारीरिकबल का उपयोग किया, तथा उस समय के पंथ नेताओं ने उनको कितने उपसर्ग देने की चेष्टा की, यह सब कुछ उन साम्प्रदायिक संस्कारों को ही आभारी है, जिनको अबोध जनता के हृदय से निकालकर दूर फैंक देने का श्री आत्मारामजी संकल्प किये हुए थे।

श्री विश्नचन्द्जी आदि योग्य साधुओं का निकल जाना और उनके द्वारा खुल्लमखुल्ला ढूंढक पंथ के विरुद्ध प्रचार का होना एवं सैकड़ों नहीं हजारों गृहस्थों का ढूंढक पंथ छोड़कर प्राचीन जैन परम्परा में प्रविष्ट होना आदि कुछ ऐसी बातें थी जिनसे पूज्य अमरसिंहजी को घबराहट पैदा होना अनिवार्य था। उस समय चारों तरफ साम्प्रदायिक संघर्ष मचा हुआ था, विचार विनिमय ने विचार विरोध का स्वरूप धारण कर लिया था। इसके अतिरिक्त श्री आत्मारामजी और उनके सहयोगी साधु जहां कहीं भी जावें वहीं पर साधु साधु में और गृहस्थ गृहस्थ मे तथा साधु और गृहस्थों मे विचारों की खूब ले दे होती और कभी २ गर्मागर्मी भी हो जाती, तात्पर्य कि वह, क्षेत्र [जिसमें कि श्री आत्माराम और उनके साधु जाते] विचार संघर्ष का एक खासा अखाड़ा बन जाता।

यह तो सुनिश्चित सी बात थी कि ढूंढक पथ का कोई भी साधु या गृहस्थ श्री आत्माराम और उनके साधुओं के सामने आने की ताब नहीं रखता था। सब चुपके २ अपने भक्तों को संभाल रखने मे ही अपना कल्याण समझते थे। इधर समझदार लोग धड़ाधड़ ढूंढक पंथ को छोड़कर जैन धर्म के श्रद्धान को अंगीकार कर रहे थे उधर पूज्य श्री अमरसिंह और उनके साधु चिन्ता के सागर मे गोते लगा रहे थे। पूज्यजी साहब को जहां गृहस्थों के चले जाने की चिन्ता थी वहां उनको शेष रहे साधुओं के निकल जाने का भी भय व्याप्त हो रहा था। ऐसी दशा मे उनको धैर्य देनेवाला कोई प्रभावशाली साधु या गृहस्थ भी उनके पास नहीं था। तब पूज्यजी साहब ने अपने चुने हुए भक्तों को बुलाया और उनके सामने बड़े मार्मिक शब्दों मे यह प्रस्ताव रक्खा—"मेरे अच्छे पढ़े लिखे १२ साधु तो मुझे छोड़कर आत्माराम के पास चले गये और उसके साथ मिलकर पंजाब के सब शहरों को विगाड़ रहे हैं। यदि वे इसी तरह विगाड़ते ही चले गये तो मेरे बाकी रहे इन साधुओं के लिये बड़ी मुश्किल का सामना होगा। सभव है आहार पानी का मिलना भी कठिन हो जावे, इसलिये तुम लोगों को कोई योग्य प्रबन्ध करना चाहिये। यदि तुम लोग कोई उचित प्रबन्ध नहीं करोगे तो मैं इस देश को छोड़कर मारवाड़ आदि अन्य देशों से चला जाऊंगा, और वहां पर अपना शेष जीवन पूरा करूंगा। इतना कहने के साथ ही आपके नेत्रों से दो मोती ढुलक पड़े।

सब लोग हाथ जोड़कर—नहीं महाराज आप ऐसा न करे। हम लोग आपके परामर्श से इसके लिये अवश्य कोई उचित प्रबन्ध करेगे। तदनन्तर पटियाला आदि दो तीन शहरों के ढूंढक गृहस्थों ने पूज्य अमरसिंहजी के कथनानुसार निम्नलिखित आशय के कुछ पत्र लिखाकर एक ब्राह्मण के द्वारा पंजाब के मुख्य २ शहरों में भिजवाये—

"पूज्यजी साहब का यह फर्मान है कि श्री आत्माराम और उनके साथी जितने भी साधु अपने ढूंढक मत से विपरीत श्रद्धा रखने वाले हैं और उसके विरुद्ध प्रचार करते हैं उनको मेरा कोई भी श्रावक

न तो वंदना करे न रहने को स्थान दे न व्याख्यान वाणी सुने और नाही आहार पानी आदि की विनति करे। हम लोगों ने पूज्यजी साहब के आदेशानुसार इन बातों का नियम कर लिया है, आप भी अपने शहर में लोगों से नियम कराने का यत्न करें।

यह पत्र या इसका समाचार जब होशयारपुर के श्रावकों के सुनने में आया तो भक्त नत्थूमल और लाला प्रभदयाल आदि ने कहा कि महाराज श्री आत्माराम और उनके साधुओं के लिए तो ऐसा प्रबन्ध होना दुर्घट है, हां ! जिसने यह पत्र भिजवाया है उसके लिए तो ऐसा किया जा सकता है और किया जाना भी चाहिये। एक श्रावक ने तो यहां तक भी कहदिया कि पत्र भिजवाने वालों को चाहिये कि वे इसे अपने पास वापिस मंगवा कर इसे शहद लगा कर चाटा करे। इसी प्रकार अन्य शहरों के विचारशील गृहस्थों ने भी इस पत्र की खूब हंसी उड़ाई और कहा कि पूज्यजी साहब और उनके दूसरे साधु लुक छिप कर दूसरों के कन्धों पर रखकर क्यों चलाते हैं। महाराज आत्मारामजी के सामने क्यों नहीं आते ? यदि उनमें सचाई है तो मैदान में आकर फैसला करें। लुक छिप कर वार करना तो निरी नपुंसकता है और हमे तो यह भी संदेह है कि आत्मारामजी का आहार पानी बन्द कराते २ कहीं अपना ही बन्द न करा बैठें। सारांश कि पूज्य अमरसिंहजी के भिजवाये हुए पत्रों का विचारशील श्रावकवर्ग पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। बल्कि श्री आत्मारामजी और उनके सहयोगी साधुवर्ग पर उनकी पहले से भी अच्छी श्रद्धा होगई।

होशयारपुर से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते और धर्मोपदेश करते हुए श्री आत्मारामजी तो जीरे में पधारे और १६२६ का चतुर्मास आपने वहीं पर किया। इधर श्री विश्नचन्दजी आदि ने उनके आदेशानुसार भिन्न २ शहरों में चतुर्मास किये।

जीरे के इस चतुर्मास मे जनता आपकी तरफ और अधिक आकर्षित हुई। उससे पहले की अपेक्षा विशेष प्रेम और असाधारण धर्मानुराग का अनुभव करते हुए श्री आत्मारामजी को भी बहुत आनन्द हुआ। उधर पंजाब के विभिन्न नगरों मे होने वाले अन्य साधुओं के चतुर्मासों में भी प्राचीन जैन धर्म के श्रद्धालुओं की संख्या में काफी उन्नति हुई। चतुर्मास की समाप्ति के बाद श्री आत्मारामजी तथा श्री विश्नचन्दजी आदि ने पंजाब के हर एक ग्राम और नगर आदि में भ्रमण करके अपने हाथ के लगाये हुए धर्म पौदे को विपक्षियों से सुरक्षित रखने का यत्न किया। १६३० का चतुर्मास श्री आत्मारामजी ने अम्बाला में किया और १६३१ का होशयारपुर में। अन्य साधुओं के चतुर्मास अन्य नगरों में हुए। इन दो चतुर्मासों में प्राचीन जैन धर्म की प्रतिष्ठा में जो कुछ कमी बाकी थी वह भी पूरी हो गई।

अध्याय ३०

"जिन चौवीसी की रचना"

महाराज श्री आत्मारामजी निरे आगमवेत्ता या शास्त्रों के पंडित ही नहीं थे अपितु अच्छे कवि भी थे। आपने हिन्दी भाषा में प्रभु की स्तुति में जो काव्य लिखे हैं एवं वैराग्य और शान्त रसमें रंगी हुई जो मार्मिक रचनायें की हैं, उन्हें देखते हुए आपकी प्रतिभा-सम्पत्ति की जितनी भी सराहना की जावे उतनी कम है।

जिस समय आपका अम्वाले में चतुर्मास था उस समय आपके पास ढूंढक पंथ का परित्याग करके वीतराग देव के धर्म में दीक्षित होने वाले साधु श्री हुक्मचन्द-हुक्ममुनि ने आपसे प्रार्थना की कि-महाराज! आप जानते हैं कि मुझे संगीत का कुछ थोड़ा वहुत अभ्यास है, इसलिये मैं चाहता हूं कि भगवान् की स्तुति रूप कुछ ऐसे भजन हों जिन्हें मै गाकर संगीत के साथ २ आत्मोल्लास का भी अनुभव प्राप्त कर सकूं। मेरी इस चिरतन अभिलाषा को पूर्ण करने की आप अवश्य कृपा करें। हुक्ममुनि की इस अभ्यर्थना को मान देते हुए श्री आत्मारामजी ने २४ तीर्थंकरों के २४ स्तवन वनाये जोकि जिन चौवीसी के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिन चौवीसी के अन्त में दिये गये कलश के वाद एक दोहे में आपने हुक्ममुनि के नाम का भी निर्देश किया है यथा—

कलश—चउवीस जिनवर सयल सुखकर गावतां मन गह गहे।
संघ रंग उमंग निजगुण भावतां शिवपद लहे॥
नामे अम्वाला नगर जिनवर वैन रस भविजन पिये।
संवच्छरो खं० अग्नि३ निधि९ विधु१ रूप आतम जस किये॥

दोहा—जिनवर जस मनमोद थी हुकुममुनि के हेत।
जो भवि गावत रंगसु, अजर अमर पद देत॥१॥

अध्याय ३१

"वेष परिवर्त्तन का विचार"

होशयारपुर के चतुर्मास के बाद श्री आत्मारामजी और उनके सहयोगी विश्नचन्दजी आदि सब साधु लुधियाने में आकर इकट्ठे हो गये। महाराज श्री आत्मारामजी के सत्यनिष्ठा और आत्म बल पर अवलम्बित क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन ने ढूंढक मत के अभेद्य किले को छिन्न भिन्न कर दिया। उसकी बड़ी २ दीवारें गिर पड़ी। और उसके आलोकरहित प्रदेश में बन्द की हुई अबोध जनता को प्रकाश की किरणें देकर वहां से निकालने में जिस वीरोचित साहस का परिचय दिया है वह जैन परम्परा के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में उल्लेख करने योग्य है।

लगभग दश वर्ष के [१६२१ से १६३१ तक के] इस क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन में उन्हें जो सफलता प्राप्त हुई उसकी साक्षी पंजाब के गगन चुम्बी अनेकों जिनालय और उनके सहस्रों पुजारी प्रत्यक्षरूप में दे रहे हैं।

पाठकों को इतना स्मरण रहे कि इस क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन में आरम्भ से लेकर आज तक [सं० १६३१ तक] महाराज श्री आत्मारामजी और उनके सहयोगी श्री विश्नचन्दजी आदि साधुओं ने ढूंढक मत के वेष का परित्याग नहीं किया था। ढूंढक मत के वेष में रहते हुए ही उन्होंने यह धार्मिक क्रान्ति फैलाई और उसमें सफल हुए।

पंजाब प्रान्त के प्रत्येक नगर और ग्राम में जिन शासन की पुनीत ध्वजा को प्रतिष्ठित करने के बाद जिन शासन के इन अनन्योपासकों का लुधियाने में सम्मेलन हुआ और उसमें श्री विश्नचन्दजी ने भावि कार्यक्रम का निश्चय करने के लिये प्रस्ताव उपस्थित करते हुए महाराज श्री आत्मारामजी को सम्बोधित करके कहा—

महाराज ! आप श्री के पुण्य प्रताप से आज पंजाब के हर एक नगर और ग्राम में जिन शासन का भेरी नाद हो रहा है। इस समय हम लोगों का जो कर्तव्य था वह प्रायः पूर्ण हो चुका। और आपके आदेशानुसार उसके पालन मे हम लोगों ने अणुमात्र भी प्रमाद नहीं किया। एवं आप श्री के अमोघ आशीर्वाद से हमें उसमें सफलता भी मिली परन्तु अब हम आपसे जो प्रार्थना करनी चाहते हैं उसकी ओर भी आप ध्यान देने की कृपा करें ?

श्री आत्मारामजी—कहो भाई क्या कहना चाहते हो ? मैं तुम्हारी उचित मांग की अवलेहना या उपेक्षा करूं इसका तो तुमको कभी ख्याल भी नहीं लाना चाहिये।

श्री विश्नचन्दजी—कृपानाथ ! सबसे पहली प्रार्थना तो यह है कि इस शास्त्रबाह्य ढूंढक वेष में हमें आप कब तक बिठाये रक्खोगे ? इस शास्त्रबाह्य वेष का परित्याग करके विशुद्ध जैन परम्परा के साधु वेष को धारण करने का आप क्यों प्रयत्न नहीं करते ? यह सत्य है कि इसके लिये किसी सुयोग्य निर्ग्रन्थ गुरु की आवश्यकता है परन्तु इसकी उपलब्धि के लिये प्रयत्न करना भी तो आप ही का काम है।

दूसरी प्रार्थना—आपने कई बार श्री शत्रुंजय और गिरनार आदि प्राचीन तीर्थों का जिकर किया, उनकी महिमा सुनाई और उनकी यात्रा का महत्व वर्णन किया तो क्या ऐसे महा महिमशाली लोकोत्तर तीर्थों की पुण्य यात्रा से हमें वंचित ही रक्खा जायगा ? क्या हमें उनकी यात्रा का सद्भाग्य प्राप्त न होगा ? महाराज ! अधिक क्या कहें हमें तो इस पथ के कुवेश से अब बहुत घृणा हो रही है। इसलिये कृपया शीघ्र से शीघ्र हमें इससे मुक्त कराइये।

श्री आत्मारामजी—अच्छा भाई जैसी तुम्हारी इच्छा ? कुछ जल्दी कर रहे हो, यदि थोड़ा समय और ठहर जाते तो रही सही न्यूनता भी पूरी हो जाती। अच्छा ज्ञानी ने ऐसा ही देखा होगा इसलिये अब इस सम्बन्ध में अधिक विचार करना अनावश्यक है। तो फिर चलो तैयारी करो और मन में उठी हुई इस पुनीत भावना को शीघ्र से शीघ्र पूर्ण करने का यत्न करो। मानव भव की सर्वोच्चता और अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए धर्म साधन में तत्पर रहना ही साधु जीवन का सच्चा आदर्श है।

अध्याय ३२

"मुखवस्त्रिका-[मुंहपत्ती] का परित्याग"

दूसरे दिन सब साधुओं ने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार लुधियाने से प्रस्थान कर दिया, शुद्ध सनातन जैन परम्परा सम्मत साधु धर्म में दीक्षित होने और प्राचीन प्रभाविक जैन तीर्थों की यात्रा से पुण्यानुबन्धी पुण्य संचय करने के लिये। आहार पानी और रात्रि निवास के निमित्त रास्ते में आने वाले नगरों और ग्रामों में ठहरते हुए मालेरकोटला और वहां से सुनाम पधारे। सुनाम में हांसी जाते हुए रास्ते में कुछ देर विश्राम करने के लिये सब एक रेत के टिब्बे-टीले पर बैठ गये।

ढूंढक परम्परा के साधु वेष में सबसे अधिक महत्व का स्थान मुखवस्त्रिका-मुँहपत्ती को ही प्राप्त है, जबकि जैनागमों में साधु दीक्षा के लिये केवल रजोहरण और पात्रा इन दो का ही उल्लेख किया है, मुखवस्त्रिका को वहां स्थान नहीं दिया। कोई भी व्यक्ति कितना भी ज्ञानवान या संयमशील क्यों न हो पर जब तक उसके मुख पर डोरेवाली मुखवस्त्रिका विराजमान न हो तब तक वह साधु नहीं कहला सकता और नाही उसे कोई वन्दना नमस्कार करता है। आज कल तो इस मत के विद्वान् साधुओं में भी इसका व्यामोह अपनी सीमा को पार कर गया है, उन्होंने गणधरों और तीर्थंकरों तक के मुख को इससे अलंकृत करके अपनी विद्वत्ता को चार चान्द लगा दिये हैं। साम्प्रदायिक व्यामोह में सब कुछ क्षम्य है। संक्षेप से कहें तो इस पंथ में मुंहपत्ती की उपासना को जिन प्रतिमा की शास्त्र विदित उपासना से कहीं अधिक महत्व का स्थान प्राप्त है। महाराज श्री आत्मारामजी को इस सम्प्रदाय के मानस का खूब अनुभव था तभी उन्होंने अपनी धार्मिक क्रान्ति में मुंहपत्ती को अपनाये रक्खा, और उसे तब तक मुख से अलग नहीं किया जब तक कि लोक मानस को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उसकी आवश्यकता प्रतीत होती रही। इस दृष्टि से देखें तो महाराज श्री आत्मारामजी के क्रान्ति प्रधान धार्मिक आन्दोलन मे इस मुखवस्त्रिका ने भी आपको काफी सहायता दी है, अस्तु।

रेत के कोमल और सुहावने टिब्बे पर कुछ क्षण विश्राम करने के बाद श्री हाकमराय ने मुंहपत्ती को हाथ लगाते हुए श्री आत्मारामजी से कहा—कृपानाथ ! इस कुलिंग को अब कब तक मुंह पर विठाये रखना है ?

श्री आत्मारामजी—यह तो अब तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है. तुम चाहो तो अभी उतार दो।

श्री हाकमरायजी—महाराज ! हम तो आप की तर्फ देख रहे हैं ?

श्री आत्मारामजी—तो लो अभी उतार देता हूँ। ऐसा कहकर आपने डोरा तोड़कर मुंहपत्ती से अलग कर दिया, वस फिर क्या था आन की आन में एक दूसरे ने एक दूसरे की मुंहपत्ती को मुख पर से अलग कर दिया। मुख पर से उतारी हुई मुंहपत्तियों का रेते पर एक छोटासा ढगला बन गया। और उस ढगले को देखते हुए सबने हाथ जोड़कर कहा—हे शासनदेव ! अब फिर किसी भव मे हमें ऐसा कुलिंग प्राप्त न हो। तदनंतर सब साधुओं ने श्री आत्मारामजी से कहा—कि महाराज ! यदि आज्ञा हो तो इन मुंहपत्तियों को इन डोरों के साथ बान्धकर इनका पार्सल कराकर पूज्यजी साहब को भेज दिया जावे और साथ में लिख दिया जावे कि तुम्हारी चीज तुम्हें वापिस भेज दी गई है इसे संभाल कर रखले ?

श्री आत्मारामजी—नहीं भाई ! ऐसा करना उचित नहीं। हमारे इस व्यवहार से उनको बहुत कष्ट होगा, उनकी आत्मा और भी दुःख मानेगी, अपने साधु हैं, किसी को कष्ट पहुंचाना यह भी तो साधु धर्म के विरुद्ध है इसलिये हमें ऐसा काम शोभा नहीं देता। तब सबने आपकी सम्मति से उन मुंहपत्तियों को कहीं रेते के टिब्बे में दबा दिया। और वहां से विहार करके हांसी, भिवानी आदि नगरों मे होते हुए मारवाड़ प्रान्त के प्रसिद्ध नगर पाली में पधारे।

अध्याय ३३

अहमदाबाद के सेठों का सद्भाव प्रदर्शन

महाराज श्री आत्मारामजी की धार्मिक क्रान्ति केवल पंजाब तक ही सीमित नहीं रही, किन्तु पंजाब से बाहर मारवाड़ और गुजरात आदि देशों को भी स्पर्श करते हुए वहां की जैन जनता को प्रभावित किया। वह उस दिन की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से कर रही थी जब कि आप जैसे प्रभावशाली महापुरुष के दर्शन और प्रवचन का उसे सौभाग्य प्राप्त हो। महाराज श्री आत्मारामजी ने अपने कतिपय साधुओं के साथ पंजाब से अहमदाबाद के लिये विहार कर दिया है और वे ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाली तक पहुंच गये हैं, ऐसा समाचार जब अहमदाबाद के नगर सेठ श्री प्रेमाभाई हेमाभाई और उनके साथी सेठ दलपतभाई भग्गूभाई को मिला तो उन्होंने दो श्रावकों को पाली में भेजा और उन्हें आदेश दिया तुम महाराज श्री आत्मारामजी को सुविधा पूर्वक अहमदाबाद ले आओ विहार यात्रा में उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे इसका पूरा २ ध्यान रखना।

जिस समय श्री आत्मारामजी अपने साधु समुदाय के साथ पाली में पधारे उस समय वे दोनों श्रावक आपकी सेवा में उपस्थित हुए और विधि सहित वन्दना नमस्कार करने तथा सुखसाता पूछने के बाद उन्होंने आपसे कहा—महाराज! हमें अहमदाबाद के नगर सेठ श्रीयुत प्रेमाभाई हेमाभाई तथा सेठ दलपतभाई भग्गूभाई ने आपकी सेवा मे भेजा है। आप पहले पहल इस देश में पधार रहे हैं और मार्ग से बिलकुल अपरिचित हैं, विहार यात्रा में आपको कोई कष्ट न हो इसकी सुविधा के लिये अहमदाबाद तक आपकी सेवा में उपस्थित रहने के लिये आये हैं।

श्री आत्मारामजी—साधु साध्वी के विहार मे रास्ते का उपयोग रखना यह श्रावकों का धर्म ही है। और इसी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उक्त दोनों धर्मात्मा पुरुषों ने हमारी विहार यात्रा के सुविधार्थ तुमको यहां भेजा है परन्तु हमारे लिये किसी प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं, हम तो इससे भी

कष्टसाध्य मार्ग में सुखसाता से चले आ रहे हैं! अब तो किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रही, स्थान २ पर श्रावकों के घर हैं, आहार पानी की सुलभता है और रात्रि निवास में कोई कष्ट नहीं, इसलिये हमारी विहार यात्रा में किसी प्रकार की भी सुविधा की जरूरत नहीं है। अहमदाबाद के नगरसेठ और उनके साथी सेठ श्री दलपतभाई भग्गूभाई आदि ने हमारे प्रति जो सद्भाव प्रदर्शित किया है वह उनके आदर्शभूत श्रावक धर्म के सर्वथा अनुरूप ही है।

महाराज श्री आत्मारामजी के इस कथन को सुनकर उक्त दोनों गृहस्थों ने नम्रता पूर्वक कहा—महाराज! साधारण साधुसाध्वी का भी अपना विशेष पुण्य होता है जिसके आधार पर वे अपनी संयम यात्रा का सुखपूर्वक पालन करते हैं, और आप जैसे विशिष्ट पुण्यवान महापुरुषों के विषय मे तो कहना ही क्या है, वे तो जहां भी पधारें वहां पर ही सब प्रकार की सुविधायें उनके लिये उपस्थित रहती है, परन्तु श्रमणोपासक गृहस्थों का भी यह कर्तव्य है कि वे गुरुजनों के प्रति अपनी सद्भावना और भक्तिभाव का उपयोग करने में पीछे न रहें। अतः सेठजी के आदेशानुसार आपकी विहार यात्रा मे अहमदाबाद तक हम आपके साथ रहने की आपसे नम्र प्रार्थना करते हैं।

श्री आत्मारामजी—दोनों श्रावकों की ओर देखकर, अच्छा भाई जैसी तुम्हारी इच्छा! हम तुम्हारे इस सद्भाव पूर्ण भक्तिभाव को अकारण ठुकराना भी नहीं चाहते।

अध्याय ३४

"विहार यात्रा में तीर्थ यात्रा"

लुधियाने से विहार करते समय सर्व सम्मति से जो कार्यक्रम निश्चित हुआ था- उसमें मुख्य दो बातें थीं (१) ढूंढ़क मत के साधु वेष को त्यागकर प्राचीन जैन परम्परा के साधु वेष को विधिपूर्वक धारण करना (२) श्री शत्रुञ्जय और गिरनार आदि प्राचीन तीर्थों की यात्रा करना। इसी सद्विचारणा को मुख्य रखकर लुधियाने से अहमदाबाद की तरफ प्रस्थान किया गया था। रास्ते में आने वाले अनेक जैन तीर्थों की यात्रा का लाभ प्राप्त करते हुए अहमदाबाद पहुंचने के लिये निर्धारित किये गये कार्यक्रम के अनुसार जब आप सब साधुओं के साथ पाली में पधारे तो सर्व प्रथम आपने पाली में विराजमान श्री नवलक्खा पार्श्वनाथ स्वामी के पुनीत दर्शनों से अपने को पुण्यशाली बनाने का श्रीगणेश किया। वहां से विहार करके वरकाणा ग्राम में श्री वरकाणा पार्श्वनाथ और नाडोल में श्री पद्मप्रभु तथा नाडलाई में श्री ऋषभदेव स्वामी के दर्शन किये।

एवं घाणेराव में श्री महावीर स्वामी और सादड़ी तथा § राणकपुर में श्री ऋषभदेव के दर्शनों से अपने को कृतार्थ किया वहां से आप सिरोही पधारे और वहां पर एक ही आधारशिला पर बनाये गये १४ जिन मन्दिरों के दर्शनों का लाभ प्राप्त करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए जैन परम्परा के परम विख्यात तीर्थ क्षेत्र श्री आबूराज में पधारे और सर्व साधुओं के साथ वहां की यात्रा करके आपको जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका उल्लेख इस क्षुद्र लेखिनी की शक्ति से बाहर है। श्री आबूराज देलवाड़ा के जिनमन्दिरों की यात्रा करके वहां से श्री अचलगढ़ तीर्थ की यात्रा के लिये गये यहां के भव्य चैत्यालयों में १४४४ मण सोने की १४ जिन प्रतिमायें हैं उनके दर्शन करते ही सब साधुओं को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हुई और सबके सब श्री आत्मारामजी के चरणों का स्पर्श करते हुए अपने सद्भाग्य की भूरि २ सराहना करने लगे। श्री विश्नचन्दजी ने हाथ

§ श्री राणकपुर मरुस्थली का प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र है।

जोड़कर महाराज श्री आत्मारामजी से कहा महाराज ! आप श्री ने हम लोगों पर जो उपकार किया है उसके लिये हम आपके भवभव में ऋणी रहेंगे। आप श्री के पुण्य सहवास से हमारा मानव भव सफल हो गया ! हमारा यह किसी विशेष पुण्य का उदय है जो आप जैसे महापुरुष का सहयोग प्राप्त हुआ है ! ऐसा कहते २ श्री विश्नचन्द्जी के नेत्र सजल हो उठे और आपके [श्री आत्मारामजी के] चरणों में गिर पड़े। बाकी के साधुओं ने भी आप श्री के चरणों में मस्तक रखकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता को मूकभाषा में अभिव्यक्त किया।

तदनन्तर श्री आबूराज के पहाड़ पर से उतर कर श्री आत्मारामजी पालनपुर में पधारे। पालनपुर गुजरात के प्रसिद्ध जैन क्षेत्रों में से एक है। श्री आत्मारामजी का आगमन सुनकर पालनपुर की जैन जनता हर्षातिरेक से वर्षाकालीन नदी के वेग की तरह उनके दर्शनों को उमड़ पड़ी, और नगर के बाहर जाकर उनका सहर्ष स्वागत किया। पालनपुर की जनता के अनुरोध से आप कुछ दिन वहां ठहरे और अपने सद्बोधपूर्ण उपदेश से जनता को कृतार्थ किया।

पालनपुर से विहार करके आप भोयणी क्षेत्र में पधारे; वहां श्री मल्लिनाथ स्वामी के दर्शन करके ग्रामानुग्राम विचरते और जिन मन्दिरों के दर्शन करते एवं वहां के श्रावक समुदाय को दर्शन देते हुए १६ साधुओं के साथ आपने गुजरात के सुप्रसिद्ध नगर अहमदाबाद में प्रवेश किया।

अध्याय ३५

"अपूर्व स्वागत"

अहमदाबाद गुजरात की जैन नगरी कही जाती है इसमें अनुमान जैनों के सात हजार घर और ५०० के करीब जैन मन्दिर हैं। पाली से अहमदाबाद तक साथ मे आने वाले दोनों श्रावकों ने जब नगर सेठ श्री प्रेमाभाई हेमाभाई को महाराज श्री आत्मारामजी के अहमदाबाद पधारने का शुभ समाचार दिया तो वे प्रसन्नता से गद्गद हो उठे! और सारे जैन समुदाय को समाचार कहला भेजा। समाचार मिलते ही थोडी सी देर में नगर सेठ के वहां सब भाविक स्त्री पुरुष एकत्रित हो गये। श्रीयुत नगर सेठ और उनके सहचारी सेठ दलपतभाई भग्गूभाई आदि अनुमान तीन हजार श्रावक श्राविकाओं के समुदाय ने अहमदाबाद के बाहर तीन कोस की दूरी पर आगे चलकर महाराज श्री आत्मारामजी का सहर्ष स्वागत किया और विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार करने के बाद बड़ी धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया! और सेठ दलपत भाई के बगले में ठहराया। वहां पर दर्शनार्थ आई जनता की भीड़ और भी अधिक हो गई। जनता आपके वचनामृत का पान करने के लिये अधीर हो रही थी, तब नगर सेठ की प्रार्थना से आपने थोड़ा समय अपने वचनामृत का पान कराकर उसे तृप्त किया।

श्री नगरसेठ और उनके साथी सेठ श्री'दलपत भाई ने आप श्री को सम्बोधित करते हुए कहा– कि महाराज! बहुत समय से आपश्री के दर्शनों की अभिलाषा हो रही थी, आज का दिन हमारे जीवन में सबसे अधिक भाग्यशाली है! आप जैसे सत्यनिष्ठ चारित्रशील महापुरुषों के पुनीत दर्शन किसी पूर्वकृत विशिष्ट पुण्य उदय से ही प्राप्त होते हैं! अतः आज हम अपने सद्भाग्य की जितनी भी सराहना करें उतनी कम है! इस प्रकार दोनों महानुभावों ने अपना हार्दिक भक्तिभाव प्रदर्शित किया और धर्म प्रवचन का समय निश्चित करने के बाद आहार पानी की विनती की।

दूसरे दिन आपके प्रवचन सुनने की अभिलाषा रखनेवाला श्रावक एवं श्राविकावर्ग नियत समय से पहले ही व्याख्यान सभा में उपस्थित हो गया। जिस समय आप सभा में पधारे तो सबने जयध्वनि से

आपका स्वागत किया। मंगलाचरण के अनन्तर अपना धर्मप्रवचन आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम आपने गुजरात देश में अपने आने का प्रयोजन वतलाया और कहा कि साथ के सव साधुओं की इच्छा शीघ्र से शीघ्र तीर्थराज श्री सिद्धाचलजी की यात्रा करने की है, इसलिये मेरा अधिक दिनों तक यहां पर ठहरना इस समय नहीं हो सकेगा। श्री सिद्धाचल जी की यात्रा करने के वाद इधर आने का भाव है सो यदि ज्ञानी ने अपने ज्ञान में देखा होगा और क्षेत्र फर्सना हुई तो अवश्य आऊंगा। इतना कहने के वाद आपने जो धर्मोपदेश दिया उससे उपस्थित जनता इतनी प्रभावित हुई कि उसने नगर सेठ श्री प्रेमाभाई को वड़े आग्रह भरे शब्दों में आप श्री को कुछ दिन तक ठहराने के लिये अनुरोध किया और आपश्री से भी कुछ दिन रहकर अपना प्रवचनामृत पान कराने की विनम्र प्रार्थना की।

जनता की प्रेम भरी प्रार्थना को मान देते हुए आपने कुछ दिनों के लिये ठहरने की स्वीकृति देदी। स्वीकृति मिलते ही सव ने आपके नाम का जयकारा बुलाते हुए हर्षपूरित मन से अपने २ घरों का रास्ता लिया—मनमें अगले दिन के प्रवचनामृत को पान करने की अभिलाषा को लिये हुए।

अध्याय ३६

श्री शान्तिसागर का पराजय

प्राभाविक पुरुष जहां कहीं भी जावें उनका पुण्य उनके साथ होता है, उसके बल पर ही संसार उनके सामने झुकता है। महाराज श्री आत्मारामजी को अहमदाबाद जैसे अज्ञात प्रदेश में इतना सम्मान प्राप्त होना उनके पुण्य प्रचय को ही आभारी है। पुण्यशाली महापुरुष का व्यक्तित्व उसकी गुणगरिमा से इतना ऊंचा होजाता है कि उसे ऐहिक प्रलोभन स्पर्श तक भी नहीं करपाते और सांसारिक वैभव से भरपूर बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उनके सामने नत मस्तक हुए विना नहीं रह सकता।

महाराज श्री आत्मारामजी जिन दिनों अहमदाबाद में पधारे उनदिनों अहमदाबाद का धार्मिक वातावरण भी कुछ विक्षुब्ध सा हो रहा था। कई एक कुल गुरुओं की उत्सूत्र प्ररूपणा ने उसके (धर्म के) विशुद्ध स्वरूप को विकृत कर दिया था। बहुत सी अबोध जैन जनता इनके चंगुल में बुरी तरह से फंसी हुई थी। श्री शांति सागर जी इन सब में शिरोमणि थे।

परन्तु महाराज श्री आत्मारामजी की क्रान्ति प्रधान धर्मघोषणा ने जहां अहमदाबाद की अबोध जैनजनता के अन्धकारपूर्ण हृदयों में प्रकाश की किरणें डालकर उन्हें सन्मार्ग का भान कराया वहां श्री शान्तिसागर जैसे उत्सूत्र प्ररूपक के हृदय में भी एक प्रकार की हलचल पैदा करदी। उसने आपके प्रवचन से प्रभावित हुए अपने भक्तों को जब अपने से विमुख होते देखा तो उसने श्री आत्मारामजी से शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव किया। शांतिसागरजी के प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत करते हुए श्री आत्मारामजी ने उपस्थित जनता को सम्बोधित करते हुए कहा कि भाईयो! मैं तो सत्य का जिज्ञासु अथच सत्य का पक्षपाती हूं—आप लोगों को इस बात का ध्यान रहे कि मैंने क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हुए सर्वप्रथम ढूंढकमत की दीक्षा को अंगीकार किया और वर्षों तक उस मत में रहा परन्तु जैनागमों के सतत अभ्यास से जब मुझे ढूंढक मत का स्वरूप प्राचीन जैन धर्म से विरुद्ध प्रतीत हुआ तब मैंने उस सम्प्रदाय में प्राप्त होने वाली महती

प्रतिष्ठा को भी ठुकराकर सत्य को अंगीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया ? श्री शांतिसागर का कथन यदि आगम सम्मत्त होवे तो उसके स्वीकार करने में मुझे या आप लोगों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये परन्तु जहां तक मुझे मालूम है उनका कथन शास्त्रसम्मत नहीं किन्तु उसके विरुद्ध है। जैन दर्शन अनेकान्तवाद प्रधान दर्शन है उसमें एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं। न्याय वेदान्त आदि दर्शनों को जैन दर्शन इसलिये असद्दर्शन कहता है कि उनमें एकान्तवाद को ही अपनाया गया है। अतः अनेकान्त दृष्टि से किया गया विचार सम्यक्त्व का पोषक है जब कि एकान्त दृष्टि मिथ्यात्व को पुष्ट करती है। इस वस्तु को समझकर ही आप लोगों के मेरे और शान्तिसागरजी के कथन पर ठंडे दिल से विचार करने की आवश्यकता है, कारण कि उनका और मेरा शास्त्रार्थ केवल मेरे या उनके लिये नहीं अपितु आप लोगों के लिये भी है।

अगले दिन श्री शान्तिसागर ने आकर आपसे जो प्रश्न किये उनका शास्त्रों के आधार पर आपने इतना सचोट उत्तर दिया कि शान्ति सागरजी को निरुत्तर होकर वहां से प्रस्थान करने के सिवा और कोई मार्ग न सूझा।

इस वार्तालाप का अहमदाबाद की जैन जनता पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा, अभी तक जो लोग शान्तिसागर का कुछ पच लिये बैठे थे उन्होंने भी पल्ला झाड़ दिया अर्थात् वे भी शान्तिसागर का पीछा छोड़ गये।

महाराज श्री आत्मारामजी की अपूर्व विद्वत्ता प्रतिभा और समयज्ञता की जनता द्वारा भूरि २ प्रशंसा होने लगी, और श्री आत्मारामजी के तेजस्वी प्रभाव के आगे शान्तिसागरजी का व्यक्तित्व अमावस के चन्द्रमा की भान्ति निस्तेज होकर रह गया। व्याख्यान सभा के विसर्जित होने और श्रोताओं की भीड़ कम होने पर नगर सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई और सेठ दलपतभाई भग्गूभाई दोनों प्रमुख श्रावकों ने महाराज आत्मारामजी को सम्बोधित करते हुए हाथ जोड़कर कहा कि कृपानाथ! निदाघजन्य महाताप से सन्तप्त मानव मेदनी को शान्ति पहुंचाने वाले वर्षा कालीन मेघ की भांति आपश्री ने अपने प्रवचन वारिधारा से हम लोगों के हृदयों में जिस शान्त रस का संचार किया है उसके लिये हम सब आपश्री के जन्म जन्मान्तर तक कृतज्ञ रहेंगे। श्री शान्तिसागर के चंगुल में फंसी हुई भोली जैन जनता को सन्मार्ग पर लाने का आपने जो श्रेय साधक प्रयत्न किया है वह आप श्री के महान् व्यक्तित्व को ही आभारी है। आपश्री सिद्धाचल तीर्थराज की यात्रा करके वापिस अहमदाबाद पधारें और चातुर्मास करने की कृपा करें तो हम लोगों पर बहुत ही उपकार होगा।

—※०※—

अध्याय ३७

श्री सिद्धाचल की यात्रा के लिये

—:※:—

इस प्रकार अहमदाबाद में वीरभाषित जैन धर्म के तात्त्विक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने और श्री शान्तिसागर के एकान्त पक्ष का निरसन करने में सफलता प्राप्त करके श्री आत्मारामजी ने श्री विश्नचन्दजी आदि सब साधुओं के साथ अहमदाबाद से तीर्थराज श्री सिद्धाचल की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विचरते और धर्मोपदेश देते हुए आप पालीताणा पधारे।

प्राचीन जैन परम्परा के कथा साहित्य में श्री सिद्धाचल तीर्थ की जितनी महिमा वर्णन की गई है इतनी दूसरे तीर्थ की शायद ही की गई हो। यहां प्रति वर्ष लाखों यात्री इस तीर्थराज की यात्रा करने को आते हैं। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन तो यात्रियों का इतना समारोह होता है कि पालीताणा की विशाल धर्मशालाओं में ठहरने को स्थान मिलना कठिन हो जाता है। थोड़े शब्दों में कहें तो श्वेताम्बर जैन परम्परा का यह सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है। और इसे शाश्वता तीर्थ माना गया है। यहां पर्वत पर श्री आदीश्वर भगवान् का सर्वोत्कृष्ट विशाल मन्दिर है और इसकी भिन्न २ टूंकों पर लगभग २७०० जिनमन्दिर हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री आत्मारामजी अपने सब साधुओं को साथ लेकर पर्वत पर चढ़ने के लिये तलहटी पर पहुँचे और पर्वत पर चढना आरम्भ किया। आगे आप और आपके पीछे श्री विश्नचन्दजी आदि १६ साधु चल रहे थे। सबके हृदय उत्साह पूर्ण और हर्षातिरेक से लवालब थे। और जिस रूप में आप चल रहे थे उससे ऐसा प्रतीत होता था जैसे कोई विजय प्राप्त वीर सेनानी सेना को साथ लेकर विजय की सूचना देने के लिये उत्साह पूर्वक अपने स्वामी के पास जा रहा हो। तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र की इस सजीव प्रतिमा की देदीप्यमान भव्य आकृति को देखकर अन्य यात्री लोग मार्ग छोड़कर आपके चरणों में झुक जाते। अस्तु

श्री सिद्धगिरि के भव्य प्रासाद में विराजमान श्री आदिनाथ भगवान् के पुण्य दर्शन की चिरंतन अभिलाषा की पूर्ति का पुण्य अवसर आया और ऊपर चढ़ते २ सब साधुओं के साथ आप आदीश्वर भगवान

के विशाल मन्दिर में पहुंचे। जहां प्रभु शान्तमुद्रा में विराजमान थे।

वीतराग प्रभु श्री आदिनाथ के दर्शन करते ही आप और आप के साथ आनेवाले अन्य साधुओं के मन आनन्द से विभोर हो उठे। प्रभु दर्शन का निर्निमेष दृष्टि से पान करते हुए ऐसे तल्लीन हुए कि कुछ क्षणों के लिये अपने आप को भी भूल गये। महाराज श्री आत्मारामजी ने अपने हार्द को प्रभु के सन्मुख किस रूप में व्यक्त किया है, पाठक उन्हीं के शब्दों में सुने —

अब तो पार भये हम साधो, श्री सिद्धाचल दर्श करीरे।
आदीश्वर जिन मेहर करी अब, पाप पटल सब दूर भयोरे॥
तनमन पावन भविजन केरो, निरखी जिनन्द चन्द सुख थयोरे॥१॥
पुंडरीक प्रमुखा मुनि बहु सिद्धा, सिद्ध क्षेत्र हम जांच लह्योरे।
पसु पंखी जहां छिनक में तरिया, तो हम दृढ़ विश्वास गह्योरे॥२॥
जिन गणधर अवधि मुनि नाहीं, किस आगेहुँ पुकार करूंरे।
जिम तिम करी विमलाचल भेट्यो, भवसागर थी नाहीं डरूंरे॥३॥
दूर देशान्तर में हम उपने, कुगुरु कुपंथ को जाल परयोरे।
श्री जिन आगम हम मन मान्यो, तब ही कुपंथ को जाल जरयोरे॥४॥
तो तुम शरण विचारी आयो, दीन अनाथ को शरण दियोरे।
जयो विमलाचल पूरण स्वामी, जन्म जन्म को पाप गयोरे॥५॥
दूर भवि अभव्य न देखे, सूरी धनेश्वर एम कह्योरे।
विमलाचल फर्से जो प्राणी, मोक्ष महल तिन वेग लह्योरे॥६॥
जयो जगदीश्वर तूं परमेश्वर, पूर्व नवांणु वार थयोरे।
समवसरण रायण तले तेरो, निरखी अघ मम दूर गयोरे॥७॥
श्री विमलाचल मुझ मन वसिओ, मानुं संसार तो अन्त थयोरे।
यात्राकरी मन तोष भयो अब, जन्म मरण दुःख दूर गयोरे॥८॥
निर्मल मुनिजन जो तैं तारया, तेतो प्रसिद्ध सिद्धान्ते कह्योरे।
मुझ सरिखा निन्दक जो तारो, तारक विरुद ए साच लह्योरे॥९॥
ज्ञानहीन गुण रहित विरोधी, लम्पट धीठ कसायी खरोरे।

तुम विन तारक कोइ न दीसे, जयो जगदीश्वर सिद्ध गिरीरे ॥१०॥
नरक तिर्यंचगति दूर निवारी, भवसागर की पीड़ हरीरे।
आतमाराम अनघ पदपामी, मोक्ष वधू तिण वेग वरीरे ॥११॥
सम्वत् बत्रीसौ ओगणीसे, मास वैसाख आनन्द भयोरे।
पालिताणा शुभ नगर निवासी, ऋषभ जिनन्द चन्द दर्श थयोरे ॥१२॥

श्री आदिनाथ प्रभु के दर्शन करने के अनन्तर साथ के अन्यमन्दिरों के दर्शन करने लगे। सारा दिन दर्शनों में बीता परन्तु किसी को भी क्षुधा या पिपासा का अनुभव नहीं हुआ। जिनका मानस मधुकर परमानन्द स्वरूप प्रभु के पादारविन्द, मकरन्द का यथेच्छ आस्वाद ले रहा हो उनमें लौकिक भूख प्यास की चिन्ता कहां ? सब के हृदय प्रभु दर्शन के उल्लास से भरपूर हो रहे थे। देवदर्शन के अनन्तर श्री विशनचन्दजी आदि सभी साधुओं ने महाराज श्री आत्मारामजी की चरणधूली को मस्तक पर लगाते हुए कहा—कृपानाथ ! हम पामरों पर आप श्री ने जो महान् उपकार किया है उसके लिए हम सब जन्मजन्मान्तर तक आपके ऋणी रहेंगे। यदि हमलोगों को आप श्री का पुण्य सहयोग उपलब्ध न होता तो क्या हमें कभी ऐसा पुण्य अवसर प्राप्त होता ? आज हम लोग जिस अपूर्व आनन्द का अनुभव कर रहे हैं उसका तो हमें कभी स्वप्न में भी भान नहीं था, यह सब कुछ आप श्री के महान् व्यक्तित्व को ही आभारी है जो कि हमारे जैसे पामर प्राणियों को नरक यातना से निकाल कर किसी अलौकिक स्वर्गीय सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करा रहे हैं। हम लोगों के हृदय में आप श्री के लिए जो सद्भावना है उसे हम शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। आप जैसे महान् उपकारी सद्गुरु का पुण्य संयोग भव भव में प्राप्त हो यही हमारी शासन देव से प्रार्थना है।

महाराज श्री आत्मारामजी ने श्री विशनचन्दजी आदि साधुओं के उक्त सद्भाव पूर्ण उद्गारों का सप्रेम अभिनन्दन करते हुए कहा—कि यह सब कुछ तुम लोगों के सद्भावपूर्ण साधु व्यवहार को ही आभारी है, तुम्हारे किसी महान् पुण्य के उदय का ही यह शुभ परिणाम है। मानव प्राणी का सत्तागत पुण्य प्रचय जब उदय में आता है तब उसके ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय के साधनों का संयोग उसे स्वयमेव प्राप्त होता चला जाता है और जब उसके किसी पापकर्म का उदय होता है तब उसे अधोगति या असद्गति के साधन भी अनायास ही मिलजाते हैं। अपने लोगों के किसी महान् पुण्यकर्म के उदय का ही यह फल है जोकि वीतराग देव के सर्वोत्कृष्ट साधु धर्म में दीक्षित होने का हमें अवसर प्राप्त हुआ है। सुदेव सुगुरु और सुधर्म की प्राप्ति ही मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट साध्य है. सो उसकी उपलब्धि नितरां पुण्याधीन है।

इसके अतिरिक्त पंजाव प्रदेश में शास्त्राभ्यास कराते समय मैंने तुम लोगों को जिन प्रतिमा के सम्वन्ध में शास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टि से जो कुछ वतलाया था, उसके विषय में तो शायद अव तुम लोगों के मन में किसी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं रहा होगा। इस विहार यात्रा में जिन २ महान् तीर्थों की यात्रा का पुण्य अवसर मिला और मार्ग में आनेवाले विशाल जिन भवनों तथा भव्य जिन बिम्बों का अलौकिक आतिथ्य इन नेत्रों को प्राप्त हुआ, उससे प्राचीन जैन परम्परा में जिन प्रतिमा की उपासना को कितना महत्व प्राप्त है, यह अनायास ही प्रमाणित हो जाता है और उसके साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि उसके उत्थापक समाज को श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा मे कोई स्थान नहीं। इन विचारों के साथ ही सव साधुओं को साथ लेकर श्री आत्मारामजी पहाड़ से नीचे उतरे और जिस स्थान में ठहरे थे वहां पहुंच गये। यद्यपि ऊपर से नीचे आने को किसी भी साधु का मन नहीं करता था, परन्तु रात्रि को ऊपर किसी यात्री का ठहरना नहीं होता इसलिये विवश होकर सव को नीचे आना पड़ा।

नीचे उतर कर आहार पानी के वाद - सायकाल का प्रतिक्रमण करके तीर्थराज की महिमा और गुणगान करते हुए रात्रि को सवने शयन किया मन में प्रातःकाल सूर्योदय के साथ फिर ऊपर चढ़कर श्री आदिनाथ भगवान के पुण्य दर्शनों की पुनीत भावना को लेकर।

प्रातःकाल होते ही प्रतिक्रमण और प्रतिलेखनादि साधु की आवश्यक क्रिया से निवृत्त होकर सव साधुओं के साथ श्री आदिनाथ भगवान के दर्शनार्थ आप फिर पहाड़ पर चढ़े और सव मन्दिरों के दर्शन करके फिर नीचे उतर आये। इसी प्रकार निरन्तर कई दिनों तक यात्रा करते रहे।

अध्याय ३८

"पीली चादर"

एक दिन जब आप साधुओं के साथ यात्रा करने के लिये ऊपर चढ़ रहे थे तो उस समय यात्रा के निमित्त बाहर से आयी हुई बहुत सी गुजराती बाइयें भी साथ २ ऊपर चढ़ रही थीं। उनमें से दो चार बाइयों को साधुओं के अत्यन्त समीप से होकर चलते देख साधु श्री चम्पालाल ने कहा—बहन! जरा विवेक से चलो ताकि साधुओं से तुम्हारा संघट्टा न हो, एक दूसरी बाई को साधुओं के बीच में से निकल कर जाते देख दूसरे साधु ने कहा—माता! क्या कर रही हो, तुमको साधुओं के संघट्टे का ख्याल रख कर चलना चाहिये। इतने में एक अन्य बाई आगे बढ़कर बोली—"महाराज! तमने शूं छे तमेतो गोरजी छो न? संघट्टाना दोष तो साधु ने लागे? इस पर चम्पालालजी ने कहा—बहन हम साधु हैं, गोरजी-यति नहीं हैं। एक तीसरी बाई—तमे केवा साधु? त्यागी साधु संवेगी होय छे जेना पीला कपड़ा होय छे तमे तो धौला कपड़ा वाला गोरजी जेवा देखाओ छो? तात्पर्य की गुजरात में जितने यतिलोग थे वे इन पजाबी साधुओं जैसे सफैद कपड़े पहनते और परिग्रह धारी होने से लोग न तो उन्हें साधु समझते और नाही उनसे बाइयें स्पर्शास्पर्शी का ध्यान रखतीं। इसलिये जो त्यागवृत्ति वाले जितने संवेगी साधु थे उनके ऊपर पीली चादर होती, ताकि परिग्रहधारी यतियों से वे जुदे दिखाई पडें। यही कारण था कि गुजराती जैन महिलाये इन के संघट्टे की पर्वाह नहीं करती थीं।

उस रोज ऊपर से यात्रा करके जब श्री आत्मारामजी सब साधुओं के साथ नीचे आये तो उन गुजराती बाइयों के कथन की चर्चा होने लगी, महाराज श्री आत्मारामजी ने फरमाया कि मेरा तो यही विचार था कि अपने सफैद कपड़े ही रक्खेंगे, पीली चादर नहीं ओढेंगे परन्तु यहां की प्रवृत्ति और व्यवहार को देखते हुए हमें भी पीली चादर करनी पड़ेगी, अन्यथा परिग्रहधारी यतियों की गणना में आना पड़ेगा। इससे परमार्थ को न समझने वाले गृहस्थों में भ्रान्तधारणा उत्पन्न होने का सम्भव है। अतः हमें भी पीली चादर ही ओढनी चाहिए। आपके इस कथन का सब साधुओं ने समर्थन किया और सबने अपनी चादरें पीली

करलीं। बस फिर क्या था, गिरिराज की यात्रा में जाने वाली जैन महिलायें दूर रहकर श्रद्धापूरित हृदय से आपको वन्दना करतीं और आपको आते देख दूर से ही रास्ता छोड़कर एक तरफ खड़ी हो जातीं। सत्य है- "जमात में ही करामात होती है" जहां पर अधिक संख्या में पीली चादर ओढ़ने वाले साधु साध्वी ही त्यागी वर्ग में गिने जाते हों तथा पीली चादर को साधु के वेष में मुख्य स्थान प्राप्त हो वहां किसी सफैद कपड़े वाले त्यागी साधु के वेष की समानता से परिग्रह रखने वाले गोरजी-यतिजी समझना कोई अस्वाभाविक नहीं है। अतः महाराज श्री आत्माराम और उनके साधुओं को पीली चादर ओढ़नी पड़ी।

तीर्थराज श्री सिद्धाचल की यात्रा का यथेष्ट लाभ प्राप्त करने के बाद—श्री आत्मारामजी ने सब साधुओं के साथ फिर अहमदाबाद के लिये प्रस्थान किया। श्री पालीताणा से विहार करके आप भावनगर में पधारे। भावनगर की जैन जनता ने बड़े समारोह से आपका सप्रेम स्वागत किया वहां से विहार करके वला, पच्छेगाम, लाखेणी, लाठीधर, बोटाद, राणपुर, चुड़ा और लींबडी आदि ग्रामों में विचरते, और सैंकडों जिनमन्दिरों की यात्रा करते तथा भाविक जनता को सद्बोध देते हुए फिर अहमदाबाद पधारे।

अहमदाबाद की जनता आपके आगमन की बड़ी आतुरता से राह देख रही थी। इसलिये आपश्री के स्वागत में उसने पूरा सहयोग दिया।

अध्याय ३६

"सद्गुरु की शोध में"

—※०※—
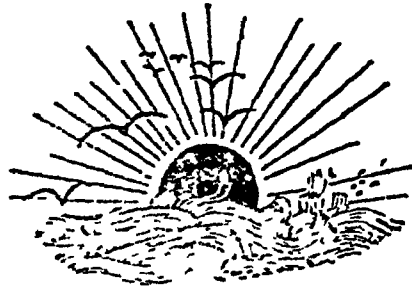
"मैंने अपने ढूंढ़क पंथ को विशुद्ध जैन परम्परा से बाह्य समझकर त्यागा और वीरभाषित जैन-धर्म को अपनाकर उसका भरसक प्रचार किया, उस प्रचार में मुझे अधिक से अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जिस विकट परिस्थिति में मैंने ढूंढ़क पंथ से बगावत करने का साहस किया और उसके मजबूत किले को तोड़ने में यथेष्ट सफलता मिली, यदि दुर्बल प्रकृति का अन्य कोई व्यक्ति होता तो सम्भवतः उसे हताश होकर किनारे बैठ जाना पड़ता। और मुझे भी इस काम में इतनी सफलता प्राप्त न होती यदि मेरे अन्दर भी सत्य जिज्ञासा और सत्य प्ररूपणा के अतिरिक्त कोई और ऐहिक प्रलोभन होता। इसलिये प्रस्तुत धार्मिक क्रान्ति में मुझे जो सफलता प्राप्त हुई उसका एकमात्र श्रेय मुझे या मेरे प्रयत्न को नहीं किन्तु वीर भाषित अबाधित सत्य को है। दूसरे शब्दों में यह मेरी विजय नहीं किन्तु प्रभु वीर भाषित सत्य की विजय है। तब उस सत्य को निश्चय और व्यवहार उभयरूप से अपनाना भी मेरे जैसे सत्य गवेषक श्रमण के लिये नितान्त आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं भाव से श्रमण अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के धर्म का अनुगामी हूं परन्तु भगवान् की श्रमण परम्परा का जो बाह्य वेष है उसको मैंने शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार अभी तक धारण नहीं किया जिसका विधिपूर्वक धारण करना भी मेरे लिये अत्यन्त आवश्यक है। "दव्वो भावस्स कारण" इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार भाव साधुता के साथ द्रव्य साधुता का होना जरूरी है। तात्पर्य कि जैसे निश्चय में भाव साधुता अपेक्षित है वैसे ही व्यवहार में द्रव्य साधुता की—द्रव्य लिंग की अपेक्षा रहती है। तब इसके लिये वीरभाषित श्रमणपरम्परा में होने वाले किसी सुयोग्य सद्गुरु की आवश्यकता है, सुयोग्य सद्गुरु का प्राप्त होना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। परन्तु पूर्वकृत जिस पुण्य के प्रभाव ने मुझे यहां तक पहुंचाया है उससे सद्गुरु की प्राप्ति भी सुलभ हो जावेगी। [इतने में आपका ध्यान—अहमदाबाद में विराजमान, परम श्रद्धेय गणि श्री मणिविजयजी के हस्त दीक्षित महाराज श्री बुद्धिविजयजी—प्रसिद्ध नाम श्री बूटेरायजी महाराज की ओर गया। उक्त महापुरुष

श्री हंस वि० म० आ० म०, श्री विजयवल्लभसूरिजी म०. प्र० कांति वि० म०, सन्मित्र कपूर वि० म०,

श्री आत्मारामजी, श्री बूटेरायजी, (वुद्धि वि० म०) श्री मणिविजयजी म० दादा, श्री बुद्धिचन्द्रजी म०, आ० श्री विजयकमलसूरिजी,

[जैनानंद प्री प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेट

[नवयुग निर्माता]

चरित्र नायक के सद्गुरुदेव श्री बूटेरायजी (बुद्धि वि॰ म॰)

[जैनानंद प्रीं. प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेट

का ध्यान आते ही-] सद्गुरु तो मेरे पास में ही हैं फिर चिन्ता कैसी ? बस उन्हीं के चरणों में आत्म निवेदन कर देना चाहिये, वे भी पजाबी और मैं भी पंजाब का। वे भी पहले इस ढूंढक पंथ मे दीक्षित हुए और मैंने भी इस पंथ में दीक्षाली, बाद में उन्होंने भी इसे असार समझकर त्यागा और मैंने भी शास्त्रबाह्य मनःकल्पित समझकर छोड़ दिया। वे भी यहां आकर अविछिन्न वीरपरम्परा के श्रमण बने और मैं भी यहीं पर इस परम्परा में गिने जाने का श्रेय प्राप्त करूंगा। वे परम श्रद्धेय गणि श्री मणिविजयजी से दीक्षित हुए और मैं उनसे दीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त करूंगा" ये थे महाराज श्री आत्मारामजी के स्वगत विचार जिन्हें वे शीघ्र से शीघ्र व्यावहारिक रूप देने के लिये अनुकूल समय की बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे।

दूसरे दिन स्वगत विचारों को प्रत्यक्ष रूप में क्रियाशील बनाने के लिये श्री विश्नचन्दजी आदि सब साधुओं से एकान्त में परामर्श करते हुए आपने फर्माया-कि लुधियाने से विहार करते समय सर्व सम्मति से जो कार्यक्रम बनाया या निश्चित किया गया था उसमें मुख्य तीन बातें थीं-[१] जैन परम्परा के प्राभाविक प्राचीन तीर्थों की यात्रा करना [२] गुजरात देश में जाकर विशुद्ध जैन परम्परा के किसी सुयोग्य मुनिराज को गुरु धारण करके शास्त्र सम्मत साधु वेष को धारण करना और [३] वापिस पंजाब में आकर विशुद्ध जैन परम्परा की स्थापना करना। इनमें से पहला तीर्थयात्रा का कार्य तो सम्पन्न हुआ !

अब सर कार्य है गुरु धारण का, सो भाग्य से यहां पर महाराज श्री बुद्धिविजयजी—श्री बूटेरायजी महाराज विद्यमान हैं। वे हर प्रकार से सुयोग्य हैं, इसके अतिरिक्त दूसरी तरह से भी इनका हमारा परस्पर में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है-वे स्वयं पंजाब के हैं और हम सब का जन्म स्थान भी वही है, इन्होंने भी प्रथम ढूंढक पंथ की साधु दीक्षा अंगीकार की और उसी मे वर्षों व्यतीत किये हैं, कुछ समय बाद जब इनको इस पंथ की वास्तविकता का ध्यान आया तो इसे त्यागकर ये भगवान महावीर स्वामी की श्रमण परम्परा में आ मिले, और हम लोगों ने भी इसे छोडकर प्राचीन श्रमण परम्परा में दीक्षित होने का सकल्प कर रक्खा है। इन व्यावहारिक समानताओं को देखते हुए तथा इनकी साधुजनोचित्त विशिष्ट गुणसम्पदा का ध्यान करते हुए मेरा मन तो इन्ही के चरणों में निवेदित होने अर्थात् इन्हीं को गुरु धारण करने के लिये आकर्षित हो रहा है, कहो आप लोगों की क्या सम्मति है ?

श्री विश्नचन्दजी—सब साधुओं की अनुमति के साथ हाथ जोड़कर—महाराज ! आप श्री ने जो कुछ फरमाया वह अक्षरशः सत्य है और हम लोग उससे पूरे २ सहमत हैं, आप भले श्री बुद्धिविजयजी महाराज को गुरु धारण करें, या इसी प्रकार के किसी अन्य महापुरुष को, इसमें हमें किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं, परन्तु हमलोगों के सद्गुरु तो आप केवल आपही हैं इसलिये हमें तो किसी दूसरे गुरु की आवश्यकता नहीं और नाही हमारे मन में किसी अन्य को गुरु धारण करने का संकल्प उत्पन्न हुआ है।

आप अपने लिये जैसा चाहें कर सकते हैं। आप श्री के गुरु होने के नाते वे हमारे लिये भी वन्दनीय और पूज्यनीय होंगे मगर हमारे गुरुदेव तो आप ही हैं और रहेंगे। यह हम सब का अटल निश्चय है और हम इसपर दृढ़ हैं और सदा रहेंगे।

श्री आत्मारामजी—अच्छा भाई! यदि तुम लोगों का ऐसा ही भाव है तो मैं उसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करूंगा।

महाराज श्री आत्मारामजी का यह विचार कानों कान अहमदाबाद की सारी जैन जनता में फैलगया, और विचारशील लोग आपकी इस उदार मनोवृत्ति की भूरि २ सराहना करने लगे। इतने-बड़े ज्ञानी पुरुष का इस हद तक निरभिमान होना कोई सहज बात नहीं है। कंचनकामिनी का त्याग इतना कठिन नहीं जितना कि मान बड़ाई और ईर्षा का त्याग करना कठिन है, धन्य है ऐसे सत्यनिष्ठ महापुरुष को। इस प्रकार अहमदाबाद की जैन जनता में आपका गुणानुवाद होने लगा।

जिस समय महाराज श्री आत्मारामजी के इस शुभ विचार का पता श्री बुद्धिविजयजी महाराज को लगा तो उनका हृदय हर्षातिरेक से भर गया और वे मन ही मन में कहने लगे—आत्माराम, नहीं नहीं धार्मिक क्रांति का जन्मदाता परम मेधावी परमतपस्वी युगपुरुष मेरा शिष्य बनेगा और मैं उसका गुरु, कितने हर्ष और सद्भाग्य की बात है मेरे लिये। जिसको ऐसे शिष्य रत्न की प्राप्ति हो वह गुरु भी निस्सन्देह भाग्यशाली है। मालूम होता है मेरे उन शुभ विचारों को व्यावहारिक रूप प्राप्त होने का अवसर आगया जो कि अभी तक मेरे हृदय में ही अव्यक्त रूप से अवस्थित हैं। पंजाब के हर एक नगर और ग्राम में गगनचुम्बी विशाल जिन मन्दिर हों और वह प्रतिदिन, श्रद्धापूरित हृदय से दर्शन और सेवा पूजा करने वाले श्रमणोपासकों की स्तुति गाथाओं से निनादित हो रहा हो! तथा बालक और बालिकाओं की धार्मिक शिक्षा के लिये जैन पाठशाला और कन्याशालायें हो। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन परम्परा के शास्त्रीय साधु वेष से सुसज्जित विद्वान साधुओं का निरन्तर भ्रमण हो और उनके सदुपदेशों से जनता के अबोध पूर्ण हृदयों में सद्बोध का उदय हो, जिससे कि वे इस ढूंढ पंथ के व्यामोह से छुटकारा पाकर सत्य सनातन जैन धर्म के झंडे तले एकत्रित होकर अपने मानव भव को सुधारने का श्रेय प्राप्त करे। सारांश कि ढूंढक पंथ के अन्धकार से व्याप्त हुई पंजाब की वीर भूमि वीर भाषित सत्य धर्म के सूर्योदय से प्रकाश प्राप्त करती हुई पहले की भांति एक बार फिर जगमगा उठे, बस यही मेरा हृदय निहित चिरन्तन संकल्प है जिसकी पूर्ति की सदिच्छा से मैं आजतक जीवित हूँ। परन्तु इस कार्य को इधर का कोई व्यक्ति करे या करसके इसकी तो न पहले कोई आशा थी और न अब सम्भावना है।

तब मेरे विचारानुसार तो इस कार्य को श्री आत्माराम जैसा कोई विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न और प्रभावशाली युग पुरुष ही करे तो करसकता है अन्य किसी साधारण साधु की शक्ति से यह बहुत दूर है।

गुरुधारण सम्बन्धी किये गये विचार को कार्यान्वित करने के लिये दूसरे दिन अपने शिष्य परिवार को साथ लेकर महाराज श्री आत्मारामजी ने श्री बूटेराय–बुद्धिविजयजी महाराज के स्थान की ओर प्रस्थान किया। इधर महाराज श्री बुद्धिविजयजी को किसी श्रावक ने आकर कहा कि महाराज! मुनि श्री आत्मारामजी आपके दर्शनों को यहां पधार रहे हैं उनका सारा शिष्य परिवार भी साथ में हैं।

श्री बुद्धिविजयजी ने स्मित मुख से श्रावक को कहा बड़ी खुशी से पधारें।

इतने में महाराज श्री आत्मारामजी भी अपने शिष्य परिवार सहित वहां पहुंच गये। सबने आपको विधि पूर्वक वन्दना की और आपके सम्मुख ही यथा स्थान बैठ गये। आपने भी सबको सुखसाता पूछी और सप्रेम सबका स्वागत किया।

श्री आत्मारामजी—महाराज! वर्षों से मै जिस गुरु रत्न की शोध में था वह मुझे मिल गया अब आप कृपा करके मुझे अपनाइये और शुद्ध सनातन जैन धर्म की दीक्षा से मेरे जीवन को सफल बनाने की कृपा कीजिये। अब तो मैं आपके चरणों में आत्मनिवेदन करने की भावना से ही इन साधुओं के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

श्री बुद्धिविजयजी ने आपकी बात को सहर्ष स्वीकार किया और उसी समय एक सुयोग्य ज्योतिषीजी के द्वारा आपकी दीक्षा का मुहूर्त निश्चय कर लिया गया।

अध्याय ४०

"आत्माराम से आनन्दविजय"

—:※:—

दीक्षा के लिये नियत किये गये दिन में अहमदाबाद के समस्त जैन संघ के आगेवानों के समक्ष शास्त्रविधि के अनुसार सं० १६३२ के आषाढ में श्री आत्मारामजी की दीक्षा का कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। महाराज श्री बुद्धिविजयजी ने श्री आत्मारामजी के मस्तक पर वासक्षेप डालते हुए एक सुयोग्य शिष्य के गुरु बनने का श्रेय प्राप्त किया और महाराज श्री आत्मारामजी ने श्री बुद्धिविजयजी के चरणों में आत्म-निवेदन करते हुए एक आदर्श गुरु को प्राप्त किया। इस प्रकार दोनों ही गुरु शिष्य एक दूसरे को प्राप्त करके अपने आपको भाग्यशाली मानने लगे। और श्री विश्नचन्दजी आदि अन्य साधुओं ने इस शास्त्रीय दीक्षा-विधि में श्री आत्मारामजी के चरणों में आत्मनिवेदन करते हुए अपनी अन्तरंगश्रद्धा का परिचय दिया अर्थात् श्री आत्मारामजी को गुरु धारण किया।

वासक्षेप देते समय वृद्ध गुरु श्री बुद्धिविजयजी ने जन्म के नाम से भिन्न नामकरण की प्रथा को मान देते हुए श्री आत्मारामजी को "आनन्द विजय" इस नाम से सम्बोधित करने की घोषणा की और बाकी के साधुओं को भी विजयान्त वाले विभिन्न नामों से सम्बोधित करने का आदेश दिया।

इस प्रकार नामकरण में विभिन्न नामों से निर्दिष्ट हुए सर्व साधुओं के पुराने नामों के साथ नये नामों की तालिका नीचे दी जाती है—

पुराना नया

[१] श्री आत्मारामजी—श्री आनन्द विजयजी।
[२] श्री विश्नचन्दजी—श्री लक्ष्मी विजयजी।
[३] श्री चम्पालालजी—श्री कुमुद विजयजी।
[४] श्री हुकमचन्दजी—श्री रंग विजयजी।

[५] श्री सलामतरायजी—श्री चारित्र विजयजी।
[६] श्री हाकमरायजी—श्री रत्न विजयजी।
[७] श्री खूबचन्दजी—श्री सन्तोष विजयजी।
[८] श्री कन्हैयालालजी—श्री कुशल विजयजी।
[९] श्री तुलसीरामजी—श्री प्रमोद विजयजी।
[१०] श्री कल्याणचंदजी—श्री कल्याण विजयजी।
[११] श्री निहालचदजी—§श्री हर्ष विजयजी।
[१२] श्री निधानमलजी—श्री हीर विजयजी।
[१३] श्री रामलालजी—श्री कमल विजयजी।
[१४] श्री धर्मचन्दजी—श्री अमृत विजयजी।
[१५] श्री प्रभुदयालजी—श्री चन्द्र विजयजी।
[१६] श्री रामजीलाल—श्री राम विजयजी।

§ चरित्र लेखक के गुरु।
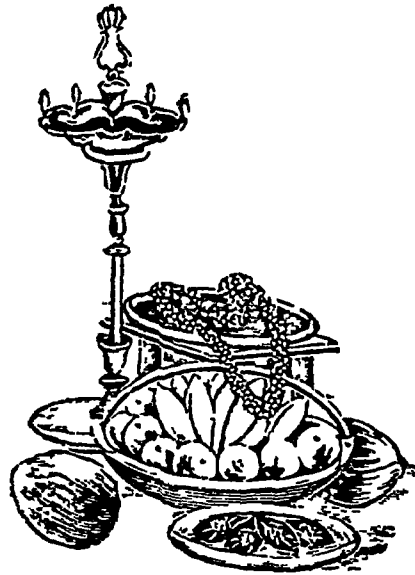
अध्याय ४१

"मार्मिक सदुपदेश"

—:*:—

आज का यह दीक्षा समारोह भारतीय जैन प्रजा और खास कर पंजाब की जैन प्रजा के लिये शुभ सूचना रूप था; जैन धर्म की तपगच्छ परम्परा के परम तपस्वी वयोवृद्ध आदर्श मुनिराज श्री बुद्धिविजयजी ने वासक्षेप देने के बाद श्री आत्मारामजी को सम्बोधित करते हुए कहा—प्रिय आनन्द विजय ! तुमारी विद्वत्ता, योग्यता और धर्म प्रियता पर जैन समाज जितना भी गर्व करे उतना कम है ! तुमने पंजाब देश में जिस धार्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है उससे मेरी आत्मा को बहुत सन्तोष मिला है। वहां ढूंढ़क पथ के प्रभाव से अपने पवित्र जैन धर्म की जो अवहेलना हुई और हो रही है, उसका स्मरण आते ही आत्मा अशान्त हो उठती है। परन्तु अब वह समय आगया है जब कि तुमारे जैसे प्रभावशाली पुरुष के द्वारा वहां सनातन जैन धर्म को फिर से असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, और स्थान २ पर गगन चुम्बी विशाल जिन भवनों पर लहरानेवाली ध्वजायें उसके प्राचीन वैभव को प्रमाणित करेंगी। इसलिये तुम लोग अब पहले से भी अधिक उत्साह और परिश्रम से वहां धार्मिक जागृति फैलाने का यत्न करो ताकि मैं अपने जीवन में ही यह सब कुछ देख सकूं। तुमारी सत्यनिष्ठा और आत्मविश्वास तुमारी सफलता के लिये पर्याप्त हैं। तिस पर मेरा आशीर्वाद तुम्हें सोने पर सुहागे का काम देगा। जाओ पंजाब को संभालो, तुम्हारा कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है, इसमें तुम्हारे सिवाय दूसरे को सफलता मिलनी कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

महाराज श्री बुद्धि विजयजी के इस मर्म स्पर्शी सदुपदेश ने जहां अन्य लोगों के हृदय को हिला दिया। वहां श्री आत्मारामजी का हृदय उत्साह और हर्ष से भरपूर हो गया और उन्हें पंजाब की उर्वरा भूमि में बोया हुआ धार्मिक क्रान्ति का बीज शीघ्र से शीघ्र अंकुरित पल्लवित और पुष्पित होकर फल देता हुआ दिखाई देने लगा। तदनन्तर आपने गुरुदेव के चरणों को स्पर्श करते हुए कहा कि गुरुदेव ! आप निश्चिंत रहें, जबकि आपश्री का अमोघ आशीर्वाद मेरे साथ है तो फिर सफलता में सन्देह कैसा ?

———

अध्याय ४२

"अहमदाबाद का चतुर्मास"

—:o:—
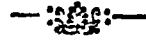
विक्रम सम्वत् १६३२ का वर्ष, जैन परम्परा में एक उल्लेखनीय स्थान रखता है। इस वर्ष पंजाव के एक वीर पुरुष ने पंजाव से निर्वासित हुई जैनश्री को वहां पर पुनः सिंहासनारूढ़ करने के लिये वीर-भाषित साधु वेष को धारण करके कार्य क्षेत्र में उतरने का दृढ़संकल्प किया और तब तक विश्राम नहीं लिया जब तक कि वह अनुरूप सिंहासन पर विराजमान नहीं हो गई। नगर सेठ और दूसरे सद् गृहस्थों की सानुरोध प्रार्थना से—सम्वत् १६३२ का चतुर्मास श्री आत्मारामजी ने अपने समस्त साधुओं के साथ अहमदाबाद में ही किया। यह उनका पहला चतुर्मास था जो कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा के साधु वेष में सुसज्जित होने के बाद उन्होंने अपने दीक्षा स्थान में किया। इस चतुर्मास की उल्लेख करने योग्य बात श्री शान्तिसागर से धर्म चर्चा की है। जब श्री आत्मारामजी पंजाब से विहार करके पहले यहां पधारे थे उस समय भी श्री शान्तिसागर से आपका वाद विवाद हुआ था जिसके परिणाम स्वरूप अहमदाबाद में शांतिसागर के पक्ष को बहुत धक्का पहुंचा था, परन्तु अब की बार तो उसका रहा सहा प्रभाव भी जाता रहा।

प्रतिदिन के व्याख्यान में श्री आत्माराम-श्री आनन्दविजयजी ने श्री हरिभद्रसूरि की व्याख्या सहित आवश्यक सूत्र का वाचन आरम्भ किया। आपकी अद्भुत व्याख्यान शैली से प्रभावित हुई जनता में आपके प्रति इतना आकर्षण बढ़ गया कि व्याख्यान सभा के विशाल भवन मे कहीं तिल धरने को भी जगह न रहती। और शान्तिसागर के व्याख्यान में इने गिने व्यक्तियों के सिवा और कोई न जाता। इसमें श्री शांतिसागरजी के मन में ईर्षा की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और वे उसके उग्रताप को सहन न करते हुए श्री बुद्धिविजय-श्री बूटेरायजी के पास पहुँचे और बोले—महाराज! मै आपके शिष्य आत्माराम-नहीं २ आनन्द विजयजी से व्याख्यान सभा में धर्म चर्चा करने के विचार से आपके पास आया हूँ आप मेरा उनसे शास्त्रार्थ करवाईये।

श्री बुद्धिविजयजी-(स्वगत) आनन्द विजय से शास्त्रार्थ, इसका अर्थ है सिंह से स्याल का युद्ध कितनी उपहास्यास्पद बात है ! अस्तु मुझे इसमें हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता है जनता स्वयं ही निर्णय करलेगी, पहलेभी तो उसने निर्णय किया ही है। (प्रकट) आप खुशी से शास्त्रार्थ करें, मैं न तो किसी को इन्कार करता हूँ और न इसमें हस्तक्षेप करता हूँ ?

श्री शांतिसागर—महाराज ! मैं यह चाहता हूँ कि हम दोनों के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ आप बनें ? [शांतिसागरजी को यह निश्चय था कि श्री बुद्धिविजयजी महाराज किसी प्रकार के वादविवाद में भाग नहीं लेते, अतः वे मेरे इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं करेंगे, तब मुझे यह कहने का अवसर मिलजायगा कि कि मैं तो आत्मारामजी से शास्त्रार्थ करने को तैय्यार था और उसी उद्देश्य से उनके गुरु श्री बुद्धिविजयजी के पास गया तथा उन्हीं को मध्यस्थ बनने का अनुरोध किया परन्तु वे नहीं माने, इससे तो यही फलित होगा कि उनमें शास्त्रार्थ करने की शक्ति नहीं है और मेरे सत्य विचारों का वे प्रतिवाद भी नहीं कर सकते]

श्री बुद्धिविजयजी— न भाई ! मैं तो किसी के भी वादविवाद में नहीं पड़ता और न मुझे इस प्रकार का वादविवाद पसंद ही है इसलिये तुम दोनों ही आपस में निपट लें मुझे बीच में लाने की आवश्यकता नहीं ! जब इस बात का पता श्री आत्माराम जी को लगा और उन्होंने सारी परिस्थिति का पूरा अध्ययन किया तब आपने श्री शांतिसागर के अंतरंग आशय को भांप लिया और उनके इस मनोरथ को विफल बनाने के लिये वे अपने गुरु महाराज श्री बुद्धिविजयजी से बोले-महाराज ! आप इससे क्यों घबराते हैं ? यदि श्री शांतिसागरजी की यही इच्छा है तो उसे पूरी होने दीजिये ? आप सभा में पधारें आपके एक तर्फ मैं बैठूंगा और एक तर्फ शांतिसागरजी बैठें । प्रथम लगातार तीन दिन शांतिसागरजी का भाषण हो और बाद में तीन मैं व्याख्यान करूंगा, दोनों के कथन को सभा मे उपस्थित सब श्रोता लोग सुनेंगे और सुनकर स्वयं निर्णय करलेंगे ऐसी व्यवस्था में आपको क्या आपत्ति है ?

श्री बुद्धिविजयजी—कुछ भी नहीं ।

श्री आत्मारामजी—तब आप शांतिसागरजी को बुलाकर दो चार मुख्य श्रावकों के सामने उनसे वार्तालाप करके दिन का निश्चय करलें ! इसके उत्तर में "बहुत अच्छा" कह कर महाराज श्री बुद्धिविजयजी ने शांतिसागरजी को बुलाकर उनसे बात चीत करके शास्त्रार्थ के लिए समय और दिन आदि का निश्चय कर लिया ।

निश्चित हुए दिवस में समय से पहले ही जनता से व्याख्यान सभा का स्थान खचाखच भरगया, महाराज श्री बुद्धिविजयजी के साथ श्री आत्मारामजी अपने शिष्य परिवार के साथ पधारे और उधर से श्री शांतिसागर भी अपने कतिपय अनुयाइयों के साथ व्याख्यान सभा में आपहुंचे । शांतिपूर्वक सबके बैठ जाने के बाद श्री शांतिसागरजी ने अपना भाषण आरम्भ किया जोकि बराबर घंटा सवा घंटा चालु रहा, इसी प्रकार तीन दिन के व्याख्यान में आपने अपने एकान्त निश्चयवाद को सिद्ध करने का यत्न किया । आपके

कथन का सार मात्र इतना ही था कि आजकल कोई भी व्यक्ति शास्त्र में लिखे मुताबिक साधु और श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता, इसलिये न कोई यथार्थ रूप में साधु है और न श्रावक। तीन दिन के बाद जब श्री आत्मारामजी की बारी आई तब आपने श्री शांतिसागर के मन्तव्य को शास्त्र विरुद्ध ठहराते हुए कहा कि एकान्त निश्चय और एकान्त व्यवहार ये दोनों ही मन्तव्य शास्त्र बाह्य होने से त्याज्य हैं। जैन सिद्धान्त में निश्चय और व्यवहार दोनों को ही सापेक्ष्य स्थान प्राप्त है इसलिये केवल निश्चय को मान कर व्यवहार का अपलाप करना सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है और इस मान्यता में एकान्तवाद का समर्थन न होने से यह सम्यग् दर्शन का बाधक मिथ्यात्व का पोषक हो जाता है। और इसके अतिरिक्त श्री शान्तिसागरजी ने जो यह कहा है कि आज कल कोई भी शास्त्र में लिखे मुताबिक साधु धर्म और श्रावक धर्म को नहीं पाल सकता, वह ठीक नहीं है। आज भी शास्त्रानुसार निश्चय और व्यवहार तथा उत्सर्ग और अपवाद को लेकर समयानुसार साधु धर्म का पालन किया जा सकता है। तथा जिस कोरे अध्यात्मवाद की प्ररूपणा करते हुए उन्होंने साधु धर्म का स्वरूप बतलाया है उसके अनुसार यदि वह चल कर दिखावे तो मैं उनका शिष्य बनने को तैयार हूँ। अन्यथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद के आश्रित इस समय जैसा साधु धर्म पालना चाहिये वैसा मैं पालकर दिखाता हूँ और यथाशक्ति नियमानुसार अब भी पाल रहा हूँ। यदि शांतिसागरजी के कथनानुसार साधुता का अभाव मानले तबतो श्री भगवती सूत्र में भगवान् के शासन को २१००० वर्ष तक चलते रहने का जो उल्लेख है उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? अभी तो २५०० वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये। इसलिए ऐसा कहना भगवान् के कथन का अपलाप करना है। अतः शास्त्रानुसार स्वयं आचरण करना और दूसरों को उपदेश देना तथा शास्त्र विरुद्ध आचरण से पीछे हटना यही साधु जीवन का आदर्श है और होना चाहिये।

महाराज श्री आत्मारामजी के प्रवचन से उपस्थित जनता बहुत प्रभावित हुई। उसके हृदय से शांतिसागरजी का रहासहा प्रभाव भी जाता रहा। बहुत से लोगों ने तो सभा में ही उनके विचारों को तिलांजलि देकर अपने मनका बोझ हलका कर दिया और बहुतों ने बाद में श्री आत्मारामजी के पास आकर उनसे अपना पीछा छुड़ाते हुए शुद्ध श्रद्धान को स्वीकार किया। एव कुछ लोगों ने श्री आत्मारामजी से कहा कि महाराज ! शांतिसागर के उपदेश से उन्मार्गगामी बनकर हमने बहुत अपराध किया है, उनके कथन पर विश्वास करते हुए जिनमन्दिरों और उनमें विराजमान जिन प्रतिमाओं को सुविहित आचार्यों की प्रतिष्ठित की हुई न मानकर उनके दर्शनों से इतने-पराङ्मुख हुए कि उनके पास से निकलते समय मुँह पर कपड़ा दे लेते थे। आज आप श्री के सदुपदेश से हमारा यह अज्ञानान्धकार दूर हुआ और हमारे विवेक चक्षु खुलगये जिसके लिये हम आप श्री के बहुत २ कृतज्ञ हैं, आप हमें उक्त पाप की आलोचना-प्रायश्चित देकर हमारी आत्मा को पाप के इस बोझ से हलका करने का अनुग्रह करे। अन्य कई एक श्रावक कहने लगे कि सचतो यह है कि शांतिसागर के उपदेश दावानल से परम सन्ताप को प्राप्त हुए जैन समाज को महाराज श्री

आत्मारामजी के प्रवचन रूप पुष्करावर्त मेघ ने जो अपूर्व शांति पहुँचाई है वह अहमदावाद के जैन समाज के प्रति उनकी बड़ी से बड़ी देन है। इधर श्री शांतिसागरजी, भास्कर भगवान के उदय होते ही निस्तेज होकर अस्ताचल की ओर भागते हुए चन्द्रमा की भांति श्री आत्मारामजी कें परमतेजस्वी व्यक्तित्व के आगे हतप्रभ होकर सभा से उठे और चुपचाप अपने स्थान की ओर चल पड़े।

अब उनके प्रवचन में न तो पहले सा प्रभाव रहा और न उनकी व्याख्यान परिषद् में पहलेसी रौनक दिखाई देती। अन्त में वे जिस पर्दे की ओट में भोले जीवों को अपने माया जाल में फसाते थे वह दम्भपूर्ण साधुता का पर्दा महाराज श्री आत्माराजी के सत्यपूर्ण प्रवचनास्त्र के प्रहार से कट गया और शांतिसागरजी अपने वास्तव स्वरूप में नग्न रूप से जनता को दीख पड़ने लगे। तात्पर्य कि उन्होने साधुवेष को छोड़कर एक धनिक स्त्री की दी हुई हवेली में निवास करना आरम्भ कर दिया। गृहस्थ के वेष में आने के बाद उनके द्वारा दिये गये पहले उपदेशों की वास्तविकता का जनता को जब अनुभव हुआ तब वह अपने भोलेपन पर अधिक से अधिक पश्चाताप करने के साथ २ श्री आत्मारामजी की भूरि २ प्रशंसा करने लगी।

श्री शांतिसागरजी के इस कर्तव्य को देख कर उनके गुरु श्री रविसागरजी महाराज को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने अहमदाबाद में विचरना अर्थात् आना ही छोड़ दिया। कोई भी धर्म नेता कितना भी अच्छा वक्ता हो, उसके प्रवचन में कितना भी माधुर्य और आकर्षण हो परन्तु जब तक उसके मनमें कोई स्वार्थ या सांसारिक प्रलोभन रहा हुआ है उसका पतन अवश्यम्भावी है, फिर वह शीघ्र हो या कुछ दिन बाद। इसी का यह फल हुआ कि सांसारिक प्रलोभन के वशीभूत हुए श्री शांतिसागर ऊपर से नीचे आगिरे। अतः धार्मिक नेता का सांसारिक प्रलोभनों से ऊंचा उठकर पूर्णरूप से संयम शील होना ही उसके जीवन का उज्ज्वल आदर्श है। उसी के आधार पर वह आत्मविकास में प्रगति करता हुआ दूसरों के लिए आदर्श अथच मार्ग दर्शक बनता है। महाराज श्री आत्माराम जी को जो अपने कार्य में सफलता मिली उसका हेतु भी सांसारिक प्रलोभनों से ऊंचा उठा हुआ मानस था। यही आदर्श साधु जीवन है।

अहमदावाद के चातुर्मास की यह विशेषता महाराज श्री आत्माराम-श्री आनन्द विजयजी के आदर्श व्यक्तित्व को चिरस्थायी रखने के लिये जैन परम्परा के इतिहास में असाधारण स्थान प्राप्त करेगी।

श्री शांतिसागर के माया जाल में फंसी हुई अबोध जनता को वहां से छुड़ाकर सन्मार्ग की ओर लेजाने और धर्म पर स्थिर करने का उन्होंने [श्री आनन्दविजयजी ने] जो काम किया है वह कुछ कम महत्व नहीं रखता।

अध्याय ४३

भावनगर के राजा साहब से मिलाप

-: और :-

वेदान्त की चर्चा

शरीर पर की पुरानी कांचली को असार समझकर उतार फैकने वाले अजगर की भांति ढूढक मत के पुराने असार-अशास्त्रीय साधुवेष को त्यागकर शुद्ध जैन परम्परा के शास्त्रीय नवीन वेष को धारण करने के बाद श्री आत्मारामजी इस परम्परा में श्री आनन्दविजय इस नाम से विश्रुत होने लगे। अहमदाबाद के चातुर्मास में श्री शांतिसागर के फैलाये हुए अन्धकार को दूर करने में उन्हें जो सफलता प्राप्त हुई उससे उनकी कीर्ति शारदी पूर्णिमा के प्रकाश की तरह गुजरात में चारों ओर फैलगई। जनता उनके दर्शनों के लिये अधीर हो उठी। यह उनके आदर्श व्यक्तित्व की प्रारम्भिक विजय थी जिसमें उत्तरोत्तर प्रगति ही होती गई।

चातुर्मास पूरा होने पर गुरुजनों की आज्ञा से श्री आनन्दविजय जी ने अपने शिष्य परिवार के साथ अहमदाबाद से विहार करके श्री शत्रुञ्जय और गिरनार आदि तीर्थों की पुनः यात्रा की, तथा विचरते २ भावनगर पधारे और वहां के जैन संघ की आग्रह भरी विनति को मान देते हुए १६३३ का चतुर्मास आपने भावनगर मे किया।

आपके प्रतिदिन के धर्मप्रवचन में सैंकड़ों स्त्री पुरुष उपस्थित होते और धार्मिक लाभ उठाते। उनमें जैनों के अतिरिक्त अन्य धर्मानुयायी लोगों की संख्या भी काफी होती। उन दिनों भावनगर में श्रीआत्माराम

था आत्मानन्द नाम के एक विद्वान् सन्यासी साधु भी पधारे हुए थे जो कि पंजाब के रहने वाले थे और अच्छे वक्ता थे। भावनगर की सनातन धर्मी जनता में उनकी काफी प्रतिष्ठा थी अतएव भावनगर के राजा साहब भी कभी २ उनके पास आया जाया करते थे।

इधर महाराज श्री आत्माराम-आनन्दविजयजी को भी उनके विद्वता पूर्ण प्रभावशाली व्याख्यानों ने भावनगर मे काफी विख्यात करदिया था इनकी आकर्षक और मोहक व्याख्यानशैली का जैनेत्तर जनता पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। घर घर मे लोग उनकी प्रशंसा के गीत गाने लगे। स्वामी आत्मानन्दजी के भक्तों मे से भी बहुत से लोग आपका प्रवचन सुनने आते थे। एक दिन बात बात में स्वामी जी के कुछ भक्तों ने उनसे कहा कि महाराज! यहां आत्माराम-आनन्दविजय नाम के एक पंजाबी जैन साधु आये हुए हैं उनका शारीरिक सौन्दर्य इतना आकर्षक और मोहक है कि दर्शन करते हुए नेत्र तृप्त नहीं होते, एवं उनकी वाणी के माधुर्य की तो प्रशंसा करते नहीं बनती, उसे पान करने के लिये कान सदा तृषित ही बने रहते हैं। सच पूछो तो जिस समय वे बोलते हैं हमे तो उस समय यही प्रतीत होता है कि हमारे स्वामीजी-(आप) ही दूसरे रूप में बोल रहे हैं।

स्वामी आत्मानन्दजी के मन पर अपने भक्तों के इस कथन का अव्यक्त रूप से अच्छा प्रभाव पड़ा, फलस्वरूप उसमे श्री आत्माराम-आनन्द विजयजी को मिलने की सहज उत्सुकता पैदा हुई। वे मन ही मन विचारने लगे—'यद्यपि साम्प्रदायिक विचारधारा से तो उनका हमारा कोई मेल नहीं बनता परन्तु मानवता के नाते तो हमारा उनका मेल हो सकता है उसमें तो कोई आपत्ति नहीं आती। वे भी साधु हैं, त्यागी हैं, और हम भी, बल्कि उनका त्याग तो हमसे कहीं अधिक है। इसके अतिरिक्त वे पंजाब के हैं और मैं भी पंजाबी हूँ अतः साधुता के नाते से एक होने के साथ २ देश के नाते से भी हम एक हैं। तब उनसे मिलने में हानि क्या ?' अस्तु, राजा साहब के आने पर उनके साथ बात करके इसका निश्चय किया जायगा।

दूसरे दिन जब राजा साहब वहां आये तो स्वामीजी ने महाराज श्री आत्माराम-आनन्द विजयजी से भेट करने का प्रस्ताव करते हुए कहा—'मैंने सुना है कि आपके इस नगर में कुछ दिनों से आत्माराम-आनन्द विजय नाम के एक पंजाबी जैन साधु आये हुए हैं जो कि अच्छे विद्वान् और सुयोग्य वक्ता तथा उदार मनोवृत्ति के हैं। वे पंजाब के हैं और मेरी जन्मभूमि भी पंजाब है। वे दूर से चलकर यहां पधारे हैं और मैं भी यहां पर आया हुआ हूँ, ऐसी परिस्थिति मे उनसे मिलने की सहज उत्कठा सी हो रही है, कहिये आपका इसमें क्या विचार है ?'

राजा साहब—महाराज! यह तो आपका बहुत ही अच्छा प्रस्ताव है, एक देश के उपजे हुए दो महापुरुष विदेश मे आकर एक दूसरे को प्रसन्न चित्त से भेटें इससे अधिक प्रसन्नता की और क्या बात हो

सकती है। मैं तो आपके इस प्रस्ताव को अपने लिये भी लाभदायक समझता हूँ, एक देश के जन्मे हुए विभिन्न सम्प्रदाय के दो महान् आचार्यों का एक स्थान पर सप्रेम मिलकर बैठना कुछ कम महत्व नहीं रखता और उनके पुनीत दर्शन तथा उपदेश से लाभ उठाने का अवसर भी किसी पुण्यशाली को ही मिलता है। इसलिये आपने मिलाप का जो प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा है मैं उसका पूरा २ समर्थन करता हूँ। परन्तु यह हो मिलाप कैसे? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आप उनके स्थान पर चलकर जावें या वे आपके स्थान पर आवें यह भी व्यावहारिक दृष्टि से कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। आप दोनों ही महानुभाव संभावित और सम्मान्य व्यक्ति है इसलिये मेरे विचारानुसार तो आप दोनों महापुरुषों का मिलाप मेरे अपने खानगी स्थान पर होना चाहिये, आप दोनों वहां पधारें, और आनन्द पूर्वक वार्तालाप करे।

स्वामी आत्मानन्दजी—आपका विचार बहुत श्लाघनीय है, आप जैसा उचित समझें वैसा प्रबन्ध करलें और उन्हें भी सूचित करदें। बहुत अच्छा कहकर राजा साहब ने वहां के एक मुख्यश्रावक को बुलाकर कहा कि श्री आत्माराम-आनन्द विजयजी के पास जाकर मिलाप सम्बन्धी सारी बातचीत करके वापिस आकर हमें पता दो ताकि दिन वगैरह का निश्चय कर लिया जावे। राजा साहब की बात को सुनकर वह श्रावक महाराज श्री आनन्द विजयजी के पास आया और वन्दना करने के अनन्तर राजा साहब के दिये हुए सन्देश को सुनाते हुए बोला—

महाराज! आपके देश के श्री आत्मानन्द नाम के एक सन्यासी महात्मा आये हुए हैं, वे आप से मिलने की इच्छा रखते है। राजा साहब ने आप दोनों महापुरुषों के मिलाप का प्रबन्ध अपने निजी स्थान में किया है, ताकि एक दूसरे को एक दूसरे के स्थान पर आने जाने में किसी प्रकार का संकोच भी न हो और राजा साहब ने यह भी फर्माया है कि दोनों महापुरुषों के मेरे स्थान पर पधारने से मेरा स्थान पवित्र होगा, मुझे दोनों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा तथा परस्पर की बातचीत सुनने का शुभ अवसर मिलेगा।

श्री आनन्दविजय जी—श्रावक की सारी बात चीत सुनकर प्रसन्नचित्त से बोले—जाओ राजासाहब से हमारा धर्मलाभ कहना और उन से कहना कि आपने हम दोनों के मिलाप का जो सुचारु प्रबन्ध किया है यह आपका नीतिपूर्ण व्यावहारिक कौशल्य है जिसकी हर एक बुद्धिमान प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता, वैसे तो महात्माजी यदि चाहें तो मुझे उनके स्थान पर जाने और उनसे भेट करने मे भी किसी प्रकार का संकोच नहीं है। इसलिये आप जब और जिस दिन का निश्चय करें उसकी सूचना मिलने पर मैं चला आऊंगा।

महाराज श्री आनन्दविजय जी के इस कथन को श्रावक ने जब राजा साहब को जाकर सुनाया तो राजा साहब बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि मैं कोई तारीख निश्चित करके महाराज श्री को अवश्य सूचित

कराऊंगा। परन्तु इतने में राजासाहब को कोई अन्य आवश्यक काम आपड़ा इससे यह सारा ही विचार वहीं का वहीं रहगया।

इधर जब चतुर्मास पूर्ण होने पर आया और राजा साहब की ओर से कोई सूचना न मिली तो एक दिन महाराज श्री आत्माराम-आनन्दविजय जी ने उस श्रावक को बुलाकर कहा कि भाई! तुम उस दिन राजा साहब का जो सन्देश लाये थे उसको अभी तक व्यावहारिक रूप प्राप्त नहीं हुआ, तुम जाकर राजा साहब से कहो कि आपने उस दिन मिलने सम्बन्धी जो सन्देश भेजा था उसके विषय में आपका अब क्या विचार है? हमारा चातुर्मास पूरा होने को आया है, शास्त्रीय साधु मर्यादा के अनुसार चातुर्मास के बाद हमारा यहां पर रहना नहीं हो सकता, हमें दूसरे ही दिन यहां से विहार कर जाना होगा, इसलिये आपका जो विचार हो उसे अवश्य सूचित करें। श्रावक ने जाकर राजा साहब को, महाराज श्री का जब उक्त सन्देश कह सुनाया तो सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि इस विषय में मैं महाराज श्री का बहुत कृतज्ञ हूँ जो कि उन्होंने मेरे को सूचना देकर सजग किया। मुझे यह मालूम नहीं था कि आप चातुर्मास के बाद तुरत ही विहार कर जावेंगे। मैं तो यही समझता था कि जैसे और साधु चतुर्मास के बाद भी जितने दिन चाहें ठहरे रहते हैं वैसे आपभी ठहरेंगे। अच्छा अब तो दिन बहुत थोड़े रहगये हैं इसलिये शीघ्र से शीघ्र इसका प्रबन्ध होना चाहिये, इसलिये एकादशी का दिन यदि महाराज श्री को अनुकूल पड़े तो उसी दिन का निश्चय करलिया जावे। और हमारे महाराज श्री आत्मानंदजी को तो इस दिन के लिये कोई अड़चन नहीं है।

तब श्रावक ने महाराज श्री आनंदविजय जी को जब यह सामचार सुनाया तो उन्होंने भी एकादशी के दिन को सहर्ष स्वीकार कर लिया। परिणाम स्वरूप दोनों ही महापुरुष एकादशी के दिन राजा साहब के स्थान पर निश्चित किये हुए समय पर पधारे और राजा साहब ने हर्षपूरित हृदय से दोनों का समुचित स्वागत किया तथा दोनों ही महानुभाव एक दूसरे से सप्रेम मिले और बराबर के दोनों आसनों पर विराजमान हो गये।

अनुरूप आसनों पर विराजे हुए दोनों महापुरुषों को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए राजा साहब बड़े विस्मय को प्राप्त हुए और बड़े सोच विचार में पड़गये। मन ही मन कहने लगे—मेरे गुरु ने दो रूप बना लिये हैं या जैन गुरु दो स्वरूपों में व्यक्त हो रहा है। दोनों का स्वरूप आकृति एक जैसी दिखाई देती है, केवल वेष में थोड़ासा अन्तर है, एक काषाय वस्त्रों से अलंकृत है दूसरा पीताम्बर-पीले वस्त्र मे सुसज्जित हो रहा है। इस वेष विभिन्नता से ही दो प्रतीत होते हैं। अस्तु, पूछ देखूंगा।

समान कक्षा में बैठे हुए दोनों महापुरुषों को प्रणाम करके राजा साहब भी उनके सामने बैठ गये।

राजासाहब—महाराज ! आप दोनों भाई भाई तो नहीं हो ? मुझे तो ऐसा ही लगता है। मैंने तो जिस समय आप दोनों के एक साथ दर्शन किये उसी समय से मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हो रहा है कि आपकी जन्मभूमि एक है इतना ही नहीं किन्तु आप दोनों नर पुगवों को जन्म देनेवाली परम भाग्यवती माता भी एक है और होनी चाहिये। आप दोनों महापुरुषों की आकृति में इतनी अधिक समानता दृष्टिगोचर होती है कि उससे हर कोई देखने वाला मन में यही निश्चय करेगा कि आप दोनों सहोदर होने चाहिये।

श्री आनन्दविजयजी (जरा हंस कर)—इसमें क्या शक है राजा साहब ! मैं, महात्माजी और आप हम तीनों ही भाई है। आप अपने गुरुजी से पूछ लीजिये। महात्माजी की तरफ इशारा करते हुए बोले-क्यों स्वामीजी ! मेरा कहना ठीक है न ?

महात्माजी—हंसकर बोले हम तीन ही क्या सारा जगत ही अपना भाई है। वेदान्त शास्त्र की दृष्टि से सारा चराचर जगत ब्रह्म ही तो है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म"।

राजा साहब महाराज श्री से—क्यों महाराज ! आप भी इस सिद्धान्त को मानते है ?

श्री आनन्दविजयजी—हां मानता हूँ पर किसी अपेक्षा से। द्रव्यार्थिक-अर्थात् सग्रहनय के मत से मूल द्रव्यस्पर्शी निश्चयगामिनी सामान्यदृष्टि के अनुसार—मैं ब्रह्म हूँ-मैं सिद्ध हूँ और मै सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, यह कथन ठीक है। आप इसे वेदान्त का सिद्धान्त कहते व समझते हैं और मैं इसे जैन दर्शन प्रतिपाद्य अध्यात्मवाद या निश्चयवाद मानता हूँ।

जितने भी संसारी जीव हैं उन सब में से ब्रह्मसत्ता, सिद्धसत्ता, और सच्चिदानन्द सत्ता मौलिकरूप से विद्यमान है। यह आत्मा कर्मों के आवरण से आवृत हुआ ससारी जीव कहा जाता है और आवरण के हट जाने से वही सिद्ध परमात्मा के नाम से अभिहित होता है। अतः जब तक यह जीव कर्म वर्गणाओं से सम्बन्ध रखता है, तब तक भिन्न २ अवस्थाओं को धारण करता हुआ भिन्न २ सज्ञाओं से सबोधित होता है, जैसे कि यह मनुष्य है, यह स्त्री है, यह पशु है, यह पक्षी है, यह देवता है, यह नारकी है, इसी प्रकार यह साधु है यह गृहस्थ इत्यादि। तात्पर्य कि एक ही आत्मा कर्मजन्म उपाधि से नानारूपों मे आभासित हो रहा है। जैसे एक हलवाई खांड की चासनी के खिलौने बनाता है कोई मनुष्य, कोई स्त्री, कोई हाथी, कोई घोडा एवं कोई हिरण और सिह इत्यादि, तब मनुष्याकार साचे मे ढली हुई चासणी मनुष्य, हाथी के सांचे में हाथी और हिरण के साचे की हिरण के नाम से सम्बोधित होती है। जैसे भिन्न २ सांचों में ढाले जाने से एक रूप चासणी जुदे जुदे रूपों में प्रतीत होती है उसी प्रकार जुदे जुदे कर्मों से प्राप्त होने वाले जुदे २ शरीर रूप सचों मे चासणी के समान ढला हुआ यह जीवात्मा जुदे २ रूपों मे प्रतीत होता है और जब ये कर्मजन्य आवरण इसके दूर हो जाते है तब यह आत्मा एक रूप एक सरीखा अपने निज स्वरूप

को प्राप्त करता हुआ सच्चिदानन्द स्वरूप सिद्ध परमात्मा के नाम से सम्बोधित होता है और फिर उसका संसार भ्रमण अर्थात नाना प्रकार के ऊंचे नीचे स्वरूपों में अभिव्यक्त होना सदा के लिए बन्द हो जाता है और उसकी विशुद्ध आत्मसत्ता निरन्तर सदा के लिए कायम रहती है इसी का दूसरा नाम मोक्ष है। जैसे अग्नि में भूंजा हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के नष्ट हो जाने से इस आत्मा का जन्म मरण रूपी संसार भ्रमण भी सदा के लिए बन्द हो जाता है।

यथा—दग्धेबीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः ॥

और वास्तव में विचार किया जाय तो जैन दर्शन की शुद्ध द्रव्यस्पर्शी निश्चयगामिनि एकत्व-निरूपक संग्रह दृष्टि से ही "अहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वेदान्त विचारों की सृष्टि हुई है। "संग्रहस्तु नयः प्राह जीवः शुद्धः सदाशिव" अर्थात् संग्रहनय के मत से यह जीव शुद्ध सच्चिदानन्द शिव स्वरूप है। तब आत्मा में सिद्ध और ससारी भेद की जो कल्पना है वह कर्मजन्य उपाधिमूलक है और उसकी प्ररूपणा निश्चय और व्यवहार दृष्टि को आभारी है। तथा—"कर्मबद्धो भवेद्जीवः कर्ममुक्तो महेश्वरः" यह इस अभियुक्तोक्ति का समन्वय भी इसी पद्धति का अनुसरण करने पर होता है। और जैन दर्शन के इस सिद्धान्त का समर्थन वैदिक परम्परा के प्रामाणिक साहित्य में भी जहां तहां किया हुआ देखा जाता है—महाभारत शांतिपर्व [अ० १८७ श्लो० २४] में महर्षि भृगु ने आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में विभिन्नता के कारण का निर्देश करते हुए ऋषि भारद्वाज से इस प्रकार कहा है—

"आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

अर्थात् जब यह आत्मा प्रकृति के गुणों से युक्त होता है तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीव कहते हैं और वही उनगुणों से मुक्त-रहित होने पर परमात्मा कहलाता है।

राजा साहब—आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा की मैं किन शब्दों में प्रशंसा करूं? महाराज! आपने तो मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए सारे वेदान्त को ही जैन दर्शन में प्रतिबिम्बित करके दिखा दिया। मै तो समझता था कि आप केवल जैनदर्शन के ही ज्ञाता होंगे, परन्तु आपतो जैन जैनेत्तर सभी दर्शनों में निष्णात प्रमाणित हुए हैं। आपश्री की वर्णनशैली इतनी स्पष्ट और तलस्पर्शी है कि उसमे किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश ही नहीं मिलता। आज आपके अभिभाषण से मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है उतनी इससे पहले कभी नहीं हुई। आप श्री ने वेदान्त के एकात्मवाद या अभेदवाद का जैनदृष्टि से जो स्पष्टीकरण किया है वह अश्रुतपूर्व अथच नितान्त श्लाघनीय है।

श्री आनन्दविजयजी—यह तो आपकी सज्जनता है जो कि मेरे लिये इतना बहुमान प्रदर्शित कर रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो वस्तु-तत्व के निर्णय में आप जैसे उदार मनोवृत्ति के विचारशील पुरुष ही सफल हो सकते हैं। संकुचित मनोवृत्ति के हठी और दुराग्रही पुरुप तो इससे वञ्चित ही रहते हैं।

राजा साहव—अच्छा महाराज! अव एक वात की और कृपा करो! 'ब्रह्मसत्य और जगत् मिथ्या" इस वेदान्त सिद्धान्त का क्या आशय है?

श्री आनन्दविजयजी—इस सिद्धान्त के मानने वाले आपके गुरुजी सामने ही तो वैठे हैं आप इन्हीं से पूछिये न?

स्वामी आत्मानन्दजी—(स्वगत) यदि इस विपय की चर्चा इन से चल पड़ी तो मुझे पीछा छुड़ाना कठिन हो जायगा, इनकी असाधारण विद्वत्ता और प्रतिभा को देखते हुए इनसे उलझना कोई मामूली बात नहीं, आज तक तो राजा साहव और दूसरी सनातनधर्मी प्रजा में मेरी प्रतिष्ठा बनी हुई है एवं सभी मुझे वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान समझते हैं अगर आजकी इस दार्शनिक चर्चा में मेरे पक्ष में जरा जितनी भी कमजोरी आगई तो सारा गुड़ गोवर हो जावेगा। इस लिये नीति से काम लेना चाहिये। (प्रकट मे) महात्माजी! मै तो इन्हें रोज ही सुनाता रहता हूँ और ये सुनते रहते हैं। परन्तु आपका पुण्य सहयोग तो आजही मिला है। इस लिये मेरी और राजा साहव दोनों की यही इच्छा है कि इस विषय में आप ही अपने मुखारविन्द से फरमाने की कृपा करें। आपने राजा साहव के पहले प्रश्न के उत्तर में जैन-दृष्टि से जो कुछ प्रतिपादन किया उससे हम लोगों को वहुत कुछ नवीन जानने को मिला है। आपकी वर्णन शैली निसन्देह अभिनन्दनीय है। राजा साहव के इस दूसरे प्रश्न के सम्वन्ध में जैन दृष्टि से आप उस पर जो कुछ प्रकाश डालेंगे उससे भी हमें कुछ नवीन ही जानने को मिलेगा। इसलिये राजा साहव की इच्छा है कि आप ही इस विपय पर कुछ प्रकाश डालने की कृपा करे। क्यों ठीक है न राजा साहव?

राजा साहव—हा महाराज! विलकुल ठीक। मै ने तो इसी विचार से यह प्रश्न किया था कि आप श्री का आज यहां पर पधारना हमारे किसी विशेप पुण्य के उदय से हुआ है और आप तो हमारे पास ही हैं। जव चाहें तव पूछ सकते और सुन सकते है। इसलिये प्रस्तुत प्रश्न के सम्वन्ध में आप श्री (मुनि श्री आनन्दविजयजी) से ही कुछ सुनने की मेरी अभिलापा है।

श्री आनन्दविजयजी—अच्छा राजा साहव! यदि आपकी ऐसी ही भावना है तो मुझे भी यथामति कहनेमें किसी प्रकार का सकोच नहीं है।

आपने कहा—अच्छा राजा साहव! अपने यहां परस्पर सद्भाव से भेटने और सप्रेम वार्तालाप करने के लिए एकत्रित हुए हैं, किसी प्रकार के वाद विवाद या जय पराजय की इच्छा से उपस्थित नहीं हुए

इस लिये अपना वर्तालाप वहीं तक सीमित रहना चाहिये, जहां तक सबके मनमें एक दूसरे के प्रति सद्भाव बना रहे।

जैसे कि पहले भी कहा गया है वेदान्त का यह सिद्धांत अपेक्षाकृत सत्य है, निरपेक्ष सत्य नहीं, आत्मा के अविनाशित्व और संसार की विनश्वरता को ध्यान में रखते हुए यदि ब्रह्म-चैतन्य स्वरूप विशुद्ध आत्मा को सत् और तद् विलक्षण संसार को असत् अर्थात् मिथ्या कहा जाय तब तो ठीक है। और यदि उक्त सिद्धान्त को सर्वे सर्वा अर्थात् निरपेक्ष रूप से सत्य मानें तब तो संसार के व्यवहार मात्र का ही सर्वथा लोप हो जावेगा। ब्रह्म से अतिरिक्त जितना भी दृश्यमान जगत् है वह यदि सर्वथा मिथ्या है तो मैं, आप और आपके गुरुमहाराज तथा हमारा सारा वार्तालाप इत्यादि सभी मिथ्या ठहरेगा। 'ब्रह्मसत्य और जगत मिथ्या है" ऐसा कहने वाला भी मिथ्या, और उसको सुनने वाला भी मिथ्या, तब जो सर्वथा मिथ्या है उसका कथन सत्य कैसे होगा? यदि यह कथन और कथन करने वाला सत्य है तो फिर "ब्रह्म से अतिरिक्त सब मिथ्या है" यह कथन असंगत होगा। ऐसी दशा में न कोई शिष्य, न कोई गुरु, न कोई उपास्य, न कोई उपासक, न कोई प्रश्नदाता और न कोई उत्तरदाता ही सिद्ध होगा। तात्पर्य कि ब्रह्म सत्ता से व्यतिरिक्त जब किसी पदार्थ की सत्ता को ही स्वीकार न किया जायगा तो संसार के व्यवहार मात्र का ही उच्छेद हो जावेग, इसी दृष्टि को सन्मुख रखकर अनेकान्त दृष्टि प्रधान जैन दर्शन ने जहां ब्रह्म को सत्य माना है वहां जगत को भी सत्य बतलाया है। अशुद्धब्रह्म जीव के बिना और किसी जड़ पदार्थ में जगत के असार भूत सम्बन्धों का परित्याग करने की रुचि नहीं हो सकती। इसलिये जगत की सत्ता को स्वीकार करना भी आवश्यक है। और यदि जगत ही नहीं तो फिर त्याग या स्वीकार का प्रश्न ही नहीं रहता। तात्पर्य कि उपास्य और उपासक दोनों सापेक्ष्य पदार्थ हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये जगत् और ब्रह्म दोनों ही सापेक्ष्य सत्य हैं।

तब—"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" इस कथन को अपेक्षाकृत सत्य मनकर समन्वयदृष्टि प्रधान जैनदर्शन की नय पद्धति से इस प्रकार समाहित कीजिये—जगतवासी जीव ब्रह्म ने अपनी कल्पना से अपने माता पिता पुत्र दारा आदि के कल्पित सम्बन्ध को अपना जगत बना लिया है अपना मान रक्खा है जो कि उसका अपना नहीं इसलिये वह सत्य नहीं किन्तु मिथ्या है। ऐसे जगत का मिथ्या स्वरूप जब भान होगा तब यह जगतवासी जीव संसार से विरक्त होकर अपने श्रेयसाधन में प्रवृति करेगा और धीरे २ आत्मशुद्धि करता हुआ अशुद्ध ब्रह्म से शुद्धब्रह्म होजायगा, जीवात्मा से परमात्मा बन जायगा। सारांश कि अपना आत्मा-ब्रह्म सतरूप है और उसका कल्पित संसार मिथ्या है। हम लोग राग द्वेष के वशीभूत होकर जगत के झूठे मोहजाल में फंसे हुए अपने सच्चिदानन्द परिपूर्णब्रह्म स्वरूप को भूले हुए हैं। उसके वास्तविकस्वरूप का भान कराने और उसके इस औपाधिक सम्बन्ध को मिथ्या प्रतीत कराने का भरसक प्रयत्न करना यही हमारे जीवन का एक मात्र ध्येय है और होना चाहिये।

लो हमने तो अपनी शास्त्र-सम्मत विचारधारा के अनुसार इस प्रश्न का यथामति समाधान कर दिया है। अब हमारे आवश्यक दैनिक कर्तव्य का समय निकट आगया है, इसलिये अब हम यहां से चलते हैं।

राजा साहब—महाराज! आपकी भी इस अनन्य कृपा का मैं बहुत २ आभारी हूँ। स्वामी आत्मानन्दजी (सप्रेम आलिंगन करते हुए) आपने बड़ी कृपा की जो यहां पधारे, आपको मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई आपकी सज्जनता और सप्रेम वार्तालाप बहुत समय तक याद रहेगा।

तदनन्तर राजासाहब ने नमस्कार करते हुए कहा—महाराज! आपश्री का जब कभी फिर यहां पधारना हो तो मुझे अवश्य सूचना दिलाने की कृपा करे। ताकि मुझे भी दर्शन का लाभ प्राप्त हो सके।

नमस्कार के उत्तर में धर्मलाभ देते हुए "जैसा भाविभाव" कहकर आप वहा से सम्मानपूर्वक विदा हुए।
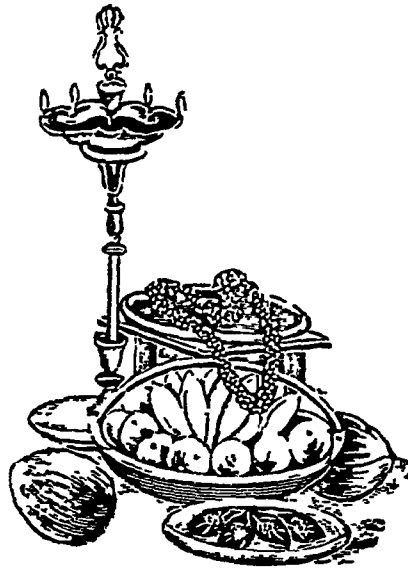
अध्याय ४४

"संघ के साथ पुनः तीर्थयात्रा"

चातुर्मास सम्पूर्ण होने के बाद बहोरा अमरचन्द जसराज झवेरचन्द की तर्फ से तीर्थयात्रा के लिये एक संघ निकाला गया उसमें तीर्थयात्रा के लिये साथ पधारने की संघपति की ओर से प्रार्थना करने पर आप शिष्यवर्ग के साथ पुनः तीर्थयात्रा के लिये पधारे।

श्री शत्रुँजय ,तलाजा, डाढ़ा, महुआ, दीप, प्रभास पाटण, वेरावल, और मांगरोल आदि स्थानों में देव दर्शन करते हुए जूनागढ में श्री गिरनार तीर्थ पर विराजमान प्रभु नेमिनाथ के दर्शन करके जामनगर पधारे, वहां भावनगर के श्रीसंघ ने आपसे पुनः भावनगर पधारने की विनति की परन्तु आपने पंजाब में जाकर अपने हाथ के लगाये हुए धर्म पौदे को सिंचन करने तथा आरम्भ की हुई धार्मिक क्रान्ति को सक्रिय बनाने के लिये पुनः भावनगर पधारने से इनकार कर दिया और संघसे अलग होकर पंजाब की तर्फ जाने के लिये मोरवी, ध्रांगध्रा और झिंझुवाड़ा होकर संखेश्वर ग्राम में पधारे, वहां पर विद्यमान § श्री संखेश्वर पार्श्वनाथ प्रभु की प्रभावशाली भव्यमूर्ति के दर्शन करके आप और आपके शिष्य वर्ग ने बड़ा आनन्द प्राप्त किया। वहां से विहार करके आप गुजरात के प्रसिद्ध नगर पाटण में पधारे, यहां के प्राचीन पुस्तक भंडारों का निरीक्षण किया और कितने एक अलभ्य ग्रन्थों की नकलें भी करवाई।

---

§ श्री सखेश्वर पार्श्वनाथ की यह मूर्ति अत्यन्त प्राचीन समय की मानी जाती है। यह मूर्ति शंखपति श्रीकृष्ण-वासुदेव को धरणीन्द्र की आराधना से प्राप्त हुई थी। इसके स्नात्र जल के छिडकने से "जरासिन्ध" नामा प्रतिवासुदेव की जरा विद्या का प्रभाव कृष्ण वासुदेव की सेना से दूर हुआ था इतना इस मूर्ति का प्रभाव बतलाया गया है।

अध्याय ४५

"जोधपुर पधारने की विनति"

—: ❀ :—

पाटण से विहार करके तारगा जी में पधारे, यहां पर महाराजा कुमारपाल के द्वारा उद्धार किये गये विशाल जिन भवन में विराजमान श्री अजितनाथ स्वामी के दर्शन किये। वहां से विहार करके पालनपुर, आबू, सिरोही, पंचतीर्थी आदि की यात्रा करते हुए पाली शहर में पधारे। इन पूर्वोक्त स्थानों में पधारने पर वहां की जनता ने आप श्री का जी भरकर स्वागत किया और आपके उपदेशामृत का पान करते हुए अपने सद्भाग्य की भूरि २ सराहना की।

पाली में पधारने पर आपको जोधपुर के श्रावक वर्ग का एक पत्र मिला। उसमें आप श्री से जोधपुर पधारने की विनति करते हुए लिखा था कि यहां पर इस समय ढूंढ़क मतके ३५ साधु आपश्री से चर्चा करने के लिये एकत्रित हो रहे हैं और दीवान विजयसिंह जी मह्ता को पंडित मंडली के साथ इस धर्म चर्चा में मध्यस्थ नियत करने का निश्चय हुआ है इसलिये आपश्री शीघ्र से शीघ्र जोधपुर पधारने की कृपा करें। यह समाचार मिलते ही आपने जोधपुर की ओर विहार कर दिया। परन्तु जोधपुर में जिस दिन आप पधारे उसके दूसरे ही रोज ३४ साधु तो सभा होने से पहले ही विना चर्चा किये चुपचाप पलायन कर गये और पैंतीसवां हर्षचन्द नामा साधु जो वाकी रह गया था उसने आपके पास आकर आपके विचारों का अनुसरण करते हुए शुद्ध सनातन जैनधर्म में दीक्षित होने का श्रेय प्राप्त किया। और आपश्री के आदेशानुसार श्री लक्ष्मीविजयजी (विशनचन्दजी) को गुरु धारण किया। तव से आप लघु हर्ष विजय के नाम से सम्बोधित होने लगे।

जिस समय आप–[मुनि श्री आनन्द विजयजी] जोधपुर में पधारे उस समय वीरभाषित प्राचीन जैन धर्म की बड़ी शोचनीय दशा थी। ढूंढ़कों के अनिष्टाचरण से राज्य के भय से कितने एक ओसवालों ने अपने प्राचीन जैनधर्म को त्याग कर वैष्णवादि अन्य मतों में प्रवेश कर लिया था। उन लोगों को वापिस

सन्मार्ग पर लाने के लिये आपने १६३४ का चातुर्मास जोधपुर में ही करना उचित समझा। इस चतुर्मास में आपके प्रतिदिन के प्रवचनों ने मार्ग भ्रष्ट जनता को सन्मार्ग दिखाने में एक स्थायी प्रकाश का काम किया। उन्मार्गगामी जनता सन्मार्गगामी बनी। अन्धकारपूर्ण हृदय-गुफाओं में- प्रकाश का दीपक जगा। ढूंढक पंथ को ही जिनधर्म समझने वालों को अपनी भूल सुधारने का समय मिला और इसी कारण से त्यागे हुए सुधर्म को फिर से अपनाने का सद्भाग्य भी प्राप्त हुआ। फलस्वरूप जहां पहले जिनधर्म का अनुसरण करनेवाले मात्र ५० घर रह गये थे वहां फिर से ५०० के करीब हो गये। यह था आपके विशिष्ट व्यक्तित्व का अपूर्व प्रभाव। सत्य है-तमसःकुतोऽस्तिशक्तिः दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम्" अर्थात् अन्धकार में यह शक्ति कहां? जो सूर्य किरणों के सामने ठहर सके। ऐसे परम मनीषी परमतपस्वी महापुरुष के पधारने से जोधपुर की ओसवाल जनता को अपने खोये हुए धर्मधन को पुनः प्राप्त करने का जो अवसर मिला वह उसके सद्-भाग्य को ही आभारी है।

अध्याय ४६

"पुनः पंजाब को"

—:※:—

चातुर्मास की समाप्ति के बाद जोधपुर से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए शिष्य मडली सहित आप दिल्ली और वहां से अम्वाले पधारे। आप और आपके शिष्य अन्य १५ साधुओं का प्राचीन जैन परम्परा के अनुरूप साधुवेष देखकर अम्वाला निवासी जनता-जो कि आपके चरणों में श्रद्धा रखती थी उसको वहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ। इससे पहले आप जब अम्वाला में पधारे थे तव आप इस वेष में नहीं थे, उस समय आपका वेष ढूंढ़क पंथ के साधुओं का था जिसे आपने अहमदावाद में जाकर उतारा।

इस प्रकार के शास्त्र विहित साधु वेष को देखने का पंजाव की जनता को यह प्रथम ही अवसर प्राप्त हुआ था। इससे पहले तो वह प्रायः यही समझती थी कि ढूंढ़क साधुओं का जो वेष है वही जैन साधु का वेष है। परन्तु आज आपके वेष को देखकर ढूंढ़क पंथ और प्राचीन जैन परम्परा के साधु वेष में जो मौलिक विभिन्नता है उसका उसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार होगया। महाराज श्री आत्माराम-आनन्द विजयजी की भावानुप्राणित द्रव्य साधुता ने पंजाव की जनता को पहले से भी अधिक प्रभावित किया। और उसकी धर्म विषयक आस्था को सक्रिय अथच प्रगतिशील होने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ।

अध्याय ४७

"शिष्य परिवार में वृद्धि"

—:❦:—

अम्बाले में कुछ दिन निवास करने के बाद आप लुधियाने पधारे। वहां पर आपको चार शिष्यों की उपलब्धि हुई। (१) फीरोजपुर जिला के मुदकी ग्राम वास्तव्य श्री दुनीचन्दजी (२) होशयारपुर निवासी श्री उत्तमचन्दजी (३) पाली-मारवाड़ के हर्षचन्दजी और (४) जेजों के रहने वाले श्री मोतीचन्दजी, ये चारों महानुभाव ओसवाल वंश के थे और वैराग्यगर्भित मन से साधु धर्म की दीक्षा ग्रहण करने के लिये आपके पास आये थे। आपने भी इनकी इच्छा के अनुसार मुनिधर्म में दीक्षित करके इनके सांसारिक नामों को बदलकर क्रमशः नीचे लिखे नाम रक्खे। यथा—

(१) श्री विनयविजय (२) श्री कल्याणविजय (३) श्री सुमतिविजय (४) श्री मोतीविजय। ये सब आपके मुख्य शिष्य श्री लक्ष्मीविजय-(श्री विश्नचन्दजी) के शिष्य बनाये गये। यहां से आपके शिष्य-परिवार में प्रगति आने लगी और उससे वीर भाषित प्राचीन धर्म की प्रतिष्ठा में वृद्धि होने लगी।

उस समय चातुर्मास के आरम्भ होने में वहुत थोड़े दिन रहते थे इसलिये १९३५ का चातुर्मास आपने सब साधुओं के साथ लुधियाने में ही किया।

अध्याय ४८

"संगति का फल"

—※※※—

नीतिकारों का कथन है-"सतांसंगो हि भेपजम्" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों की संगति उत्तम औषधि है। जैसे उत्तम औषधि के व्यवहार से रोग दूर हो जाता है उसी प्रकार उत्तम पुरुषों के संसर्ग में आने से मनुष्य का विपरीत धारणा रूप आन्तरिक रोग दूर हो जाता है।

लुधियाने के चातुर्मास में आपश्री का धर्म प्रवचन सुनने के लिये जैनों के अतिरिक्त जैनेतर लोग भी पर्याप्त संख्या में उपस्थित होते थे। उनमें "रामदित्ता मल" नाम के एक क्षत्रिय पुरुष भी थे। जो कि फिलौर निवासी पंडित श्रद्धारामजी के संसर्ग में आने से अर्द्धनास्तिक से बने हुए थे। परन्तु आपके सत्संग में आने से उनकी नास्तिकता आस्तिक भाव में बदल गई, अर्थात् वे पूरे २ आस्तिक बन गए। महाराज श्री आनन्द-विजयजी की ओर से प्राप्त होने वाली आस्तिक विचारों की पुनीत वारिधारा ने श्री रामदित्तामल के मलयुक्त अन्त करण को धोकर साफ और स्वच्छ बना दिया। तथा स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की भांति उसके विशुद्ध हृदय में आस्तिक भाव स्फुट रूप से झलकने लगा। तब आपके चरणों में मस्तक रखते हुए श्री राम-दित्तामल ने कहा—गुरुदेव! मेरे अज्ञान मूलक सशयों को दूर करके आपने मुझे धर्म सम्बन्धी जो अलौकिक प्रकाश दिया है उसके लिये मैं आपका बहुत २ कृतज्ञ हूँ, धार्मिक सद्विचारणा की दृष्टि से तो मुझे आज ही मानव भव की प्राप्ति हुई, मैं मानता हूँ। तदनन्तर महाराज श्री आनन्द विजयजी से समझे हुए कुछ प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिये श्री रामदित्तामल जी पंडित श्रद्धारामजी के पास फिलौर गये। उनके प्रश्नों को सुनकर पडित श्रद्धारामजी कुछ चकित से रहगये, उनको पहले रामदित्तामल और अब के रामदित्तामल में बहुत अन्तर प्रतीत हुआ। तब, समय के जानकार पंडितजी ने झट से पूछा कि तुमने ये प्रश्न कहां से सीखे?

रामदित्तामल—मेरे शहर लुधियाने में मुनि श्री आनन्दविजय-श्री आत्माराम नाम के एक विद्वान् जैन साधु पधारे हुए हैं, उनके सत्संग से प्राप्त हुए अनुभव के आधार पर मैं ये प्रश्न पूछ रहा हूँ?

श्री श्रद्धानन्दजी—तुम्हारे इन प्रश्नों का उत्तर देना कुछ कठिन तो नहीं परन्तु तुम समझ नहीं पाओगे।

रामदित्तामल—आप कृपा करके उत्तर तो दें समझने और न समझने की बात तो पीछे देखी जावेगी। अच्छा और न सही आप मेरे इस पहले प्रश्न का तो उत्तर देने की कृपा करें कि यदि शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है तो विभिन्न कालीन ज्ञानों का एकीकरण करने वाला कौन है? अथच बाल्यकाल में अनुभव किये हुए विषयों का वृद्धावस्था में स्मरण किसको होता है? अनुभव और स्मृति का तो समान अधिकरण है, अर्थात् जिसको अनुभव होता है उसको ही स्मृति होती है, यदि केवल शरीर को ही आत्मा मान लिया जाय तो बाल्यावस्था का शरीर तो वृद्धावस्था में रहा नहीं तब स्मरण की संगति कैसे होगी? आत्मा को शरीर से अतिरिक्त और एक मान लेने से तो इस शंका को अवकाश रहता नहीं, कारण कि बाल्यावस्था में जो आत्मा जिस वस्तु का अनुभव करता है वृद्धावस्था में भी उसी को स्मृति होती है। अनुभवकर्ता भी आत्मा है और स्मृति भी आत्मा को होती है क्योंकि वह एक है और अविनाशी है, परन्तु शरीर में यह संघटित हो नहीं सकता इस अबाधित युक्ति से आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता ही प्रमाणित होती है।

पं० श्रद्धानन्दजी—वाह भाई! तुम तो बड़े होशयार हो गये हो मालूम होता है तुमको महात्मा जी ने खूब पढ़ाया है, परन्तु मैं तो इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उन्हीं से बात चीत करूंगा, [अपने अन्दर की कमजोरी को छिपाते हुए पंडितजी ने इतने मात्र से ही अपना पीछा छुड़ाने की कोशिश की]।

रामदित्तामल—अच्छा गुरुजी! यदि आपका यही आग्रह है और मुझे आप इस योग्य नहीं समझते और उन्हीं से वार्तालाप करने की इच्छा रखते हो तब मुझे उन्हीं को लाने का यत्न करना होगा, परन्तु आप मेरे प्रश्नों का इस समय उत्तर देने में आनाकानी क्यों कर रहे हो इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आया और जो आया है उसे मैं भी व्यक्त करना नहीं चाहता।
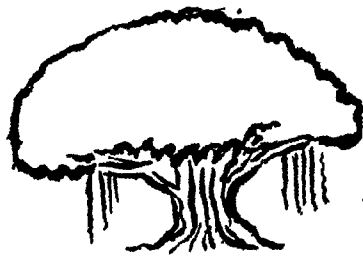
अध्याय ४६

"पंडित श्रद्धाराम से भेट"

—: ❀ :—

श्री रामदित्तामल तो फिलौर से वापिस आगये प्रश्नों का उत्तर विना पाये। जब उन्होंने अपनी फिलौर यात्रा का अथ से इति तक सारा वृत्तान्त महाराज श्री आनन्द विजयजी को आकर सुनाया तो वे हंस पडे और कहने लगे कि अच्छा कभी फिलौर जाना हुआ तो हम भी उनके दर्शन कर लेवेंगे परन्तु तुम वहां से क्या भावना लेकर आये?

रामदित्तामल—वस यही कि उनके पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने येन केन उपायेन अपना पीछा छुड़ाने का यत्न किया है।

समय समय का काम करता है कुछ दिनों वाद विचरते विचरते आपका फिलौर में जाना होगया। आपके पधारने से पहले ही ला० रामदित्तामल ने पंडितजी को सूचना देदी कि महाराज श्री आनन्द विजयजी अमुक दिन फिलौर में पधार रहे हैं। आपको उनसे भेट करने का यह अच्छा अवसर है। श्री रामदित्तामल की सूचना को पाकर समय के जानकार पंडितजी ने रास्ते में ही आपका स्वागत किया और सीधे अपने मकान में ही ले आये, और एक अलग स्थान में आपको उतारा देदिया। फिलौर में उन दिनों किसी जैन गृहस्थ का आवास नहीं था, विहार करते हुए फिलौर में कोई जैन साधु रात्रि-निवास के लिये ठहरता तो वहां की एक सार्वजनिक छोटीसी धर्मशाला में आकर ठहरजाता और प्रातःकाल वहा से विहार कर जाता, परन्तु पंडितजी के सप्रेम आग्रह से महाराज श्री आनन्दविजयजी ने धर्मशाला की बजाय पंडितजी के स्थान में ही एक रात्रि निवास करना स्वीकार कर लिया।

आप जैसे त्यागशील आदर्श मुनिजनों का मेरे स्थान पर पधारना मेरे लिये बड़े ही अहोभाग्य की वात है। पंडितजी ने कृत्रिम सद्भाव प्रकट करते हुए नम्र शब्दों में निवेदन किया।

महाराज श्री आनन्द विजयजी ने भी पंडितजी के शब्दों का समुचित उत्तर दिया। इस प्रकार शिष्टाचार हो जाने के बाद, महाराज श्री आनन्द विजयजी की दृष्टि घर के एक कोने की तर्फ गई जहां एक छोटासा मन्दिर था और उसमें ठाकुरजी विराजमान किये हुए थे। तब आश्चर्य चकित होकर आपने पंडितजी से पूछा—पंडितजी! यह क्या माजरा है। आपके शिष्य ला० रामदित्तामल ने आपके विषय में जो कुछ बतलाया और आपके लिखे हुए "सत्यामृत प्रवाह" नाम के पुस्तक को देखने से जो कुछ अनुभव में आया वह तो कुछ और है परन्तु यहां प्रत्यक्ष में जो कुछ देखने में आया वह कुछ और है। "सत्यामृत प्रवाह" में तो आप मूर्तिवाद का प्रतिवाद कर रहे हैं और विपरीत इसके घर में आपने ठाकुरजी का मन्दिर बना रक्खा है ऐसा क्यों? कम से कम मेरे जैसे आगन्तुक व्यक्ति के लिये यह समझना अत्यन्त कठिन है कि आप प्रभु-मूर्ति के उपासक हैं या उत्थापक?

पंडितजी—(कुछ लज्जित से हुए २) महाराज! आप जानते हैं यह दुनिया दोरंगी है, इसमें एक रूप से रहना अत्यन्त कठिन है। ठाकुर पूजा के प्रताप से आजीविका बहुत अच्छी तरह से चल रही है और प्रतिष्ठा भी प्राप्त है, परन्तु यह सब ऊपर का दिखावा है; अन्दर से तो मैं कुछ और ही हूँ। इसलिये मैं मूर्तिपूजक भी हूँ और उत्थापक भी।

श्री आनन्दविजयजी—पंडितजी तब तो—

§"अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः, सभामध्ये तु वैष्णवाः।
नाना रूपधराः कौला विचरन्तीह भूतले॥"

किसी कौल मतानुयायी व्यक्ति के विषय में कही गई कवि की यह उपहास्योक्ति आप पर भी लागु हो रही है।

पंडित श्रद्धारामजी—महाराज! जो कुछ भी हो मैंने अपना सच्चा हार्द आपके पास खोल दिया है। आप महात्मा और विद्वान हैं आपसे मैं किसी विषय को लेकर वाद विवाद नहीं करना चाहता वाद विवाद परस्पर के प्रेम का विरोधी है इसलिये अपनी ओर से ऐसी कोई भी चेष्टा नहीं होनी चाहिये जो कि परस्पर के प्रेम या सद्भाव में विघ्न उपस्थित करने वाली प्रमाणित हो। मेरे और आपके मिलाप में किसी पूर्वले पुण्य सयोग को ही कारण मानना चाहिये, अपने दोनों की इस समय जो सप्रेम भेंट हुई है उसको चिरस्मरणीय बनाये रखने के लिये किसी प्रकार के वाद विवाद को स्थान नहीं मिलना चाहिये।

---

§ अन्दर शाक्तिक-शक्ति के उपासक, बाहर शैव और सभा में परम वैष्णव, इस प्रकार कौल मतानुयायी नाना प्रकार के रूपों को धारण करते हुए इस पृथिवी पर विचर रहे हैं।

श्री आनन्दविजयजी हसते हंसते–अच्छा! पंडितजी आप यदि आज के मिलाप को पूर्व भव के सयोग विशेष का फल मानते हैं तव तो आपके कथन से शरीर व्यतिरिक्त आत्मा की सत्ता स्वयमेव सिद्ध होगयी और परलोक का अस्तित्त्व भी प्रमाणित हो गया। अस्तु अब आप आराम करें!

सज्जनों में परस्पर वाद होता है विवाद नहीं। वाद में तत्त्व निर्णय को प्राधान्य है और विवाद जय पराजय की भावना से होता है। आप स्वयं विद्वान् हैं आपसे अधिक कहना अनावश्यक है किन्तु सत्य का गवेषण और अनुसरण ही विशुद्ध बुद्धि का धर्म है और होना चाहिये इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर यदि किसी पदार्थ का स्वरूप निश्चय किया जाय तो वह परिमार्जित ही होगा, आप जैसे प्रतिभाशाली के लिये इतना संकेत ही काफी है। इस प्रकार प्रेमालाप करते हुए दोनों महानुभाव अलग हुए पंडितजी ने धन्यवाद पूर्वक आपके कथन का स्वागत किया और फिर भी कभी दर्शन देने की प्रार्थना की।

अगले दिन महाराज श्री आनन्दविजयजी ने लुधियाने को विहार कर दिया और पंडितजी आपको सप्रेम कुछ दूर तक छोड़ने आये।

अध्याय ५०

"अस्त में उदय की रेखा"

—:※:—

जिस समय महाराज श्री आनन्दविजयजी ने लुधियाने को विहार किया उन दिनों पंजाब के कितने ही शहरों में ज्वर की बीमारी का बहुत प्रकोप था जिनमें लुधियाना में तो और भी जोरों पर था। मंगसर का महीना था उसमें आपके शिष्य मुनि श्री रत्नविजय-श्री हाकमरायजी का इसी ज्वर की बीमारी के प्रकोप से स्वर्गवास होगया। उनके स्वर्ग सिधारने के दो चार दिन बाद ही आपको ज्वर आने लगा और थोड़े ही दिनों में ज्वर का प्रकोप इतना बढ़ा कि आप बेहोश होगये। आपकी निरन्तर बढ़ती हुई बेहोशी को देख कर लुधियाने का श्री संघ एक दम चिन्तातुर हो उठा। अब क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये इस विचार में पड़ा हुआ कि कर्तव्य विमूढ़ सा बन गया। कई तरह के उपचार किये मगर बेहोशी दूर नहीं हुई। इतने में मालेर कोटला निवासी लाला कंवरसेनजी वहां आगये। लालाजी जहां आपके परमभक्त थे वहां आपके सम्पर्क मे आने से जैनधर्म के शास्त्रविहित उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के सिद्धान्त के भी अच्छे जानकार थे। उन्होंने आते ही महाराज श्री की चिन्ताजनक दशा को देखकर और लुधियाने के जलवायु को उनके अनुपयुक्त अनुभव करके वहां के मुख्य श्रावक लाला गोपीमल और नाजर प्रभदयाल आदि से कहा कि यह समय अधिक विचार करने का नहीं आप इन्हें जल्दी से जल्दी अम्बाला लेजाने का प्रबन्ध करें, वहां का जलवायु इस समय अन्य शहरों से बहुत अच्छा है वहां जाते ही आप ठीक होजावेंगे, लालाजी के जोर देने पर आपको अम्बाले में लेजाया गया और वहां जाने के दो दिन बाद आपके ज्वर का वेग बहुत कम होगया और आप होश में आगये। होश में आने के बाद जब आपने अपने को अम्बाले के जैन उपाश्रय में पड़े हुए देखा तो आप एकदम आश्चर्य चकित होकर पास में बैठे हुए श्रावकों से कहने लगे कि यह क्या बात है, मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ या मुझे मतिविभ्रम हो रहा है। मैं तो लुधियाने के उपाश्रय में था यह तो अम्बाले का उपाश्रय है। कुछ समझ में नहीं आता क्या बात है? तब पास में बैठे हुए लाला कंवरसेन आदि श्रावकों ने हाथ जोड़कर कहा कि—महाराज जी साहब! आप इस विषय में किसी प्रकार की भी चिन्ता न करें हम लोगों को सबसे अधिक प्रिय आपश्री का जीवन है, उसी के लिये हम

आपको लुधियाने से यहा–अम्बाले में ले आये हैं। इस कार्य का सारा उत्तरदायित्व हमारे ऊपर है आप सर्वथा निर्दोष हैं। आपके सुरक्षित रहने पर धर्म सुरक्षित है और धर्म की रक्षा से हम सब की रक्षा है, इसी दृष्टि को सन्मुख रखकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने निर्ग्रन्थ प्रवचन में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को प्रतिष्ठित किया है अतः हमारा यह कर्तव्य अशास्त्रीय भी नहीं। कदाचित् किसी अंश में हो भी तो भी आप तो निर्दोष ही हैं। क्योंकि इस व्यापार में न तो आपकी प्रेरणा है और न अनुमोदना। हमारी दृष्टि में तो आप इस विषय में पत्र पलाश की तरह अलिप्त ही हैं।

श्रावकवर्ग के इस कथन को सुनकर आपने फर्माया कि अच्छा भाई! तुम्हारी तुम जानो मैं तो तुम्हारे इस कर्तव्य की न तो अनुमोदना ही करता हूँ और न भर्त्सना! मेरा उत्कृष्ट साधु धर्म मुझे अनुमोदना की आज्ञा नहीं देता, और तुम्हारा किसी प्रकार के ऐहिक प्रलोभन से अछूता सद्भावपूर्ण व्यवहार किसी प्रकार की भर्त्सना के लिये भी उद्यत् नहीं होने देता इसलिये मैं तो इस विषय में मौन की ही शरण लेनी अधिक उचित समझता हूँ इतना कहकर आप चुप कर गये मन में प्रायश्चित की भावना को लेकर। अनुमान दो मास के बाद महाराज श्री आनन्द विजयजी को स्वास्थ्य का लाभ हुआ अर्थात् अस्त में उदय की रेखा निकली और उसने फिर से अपना प्रकाश देना आरम्भ किया।
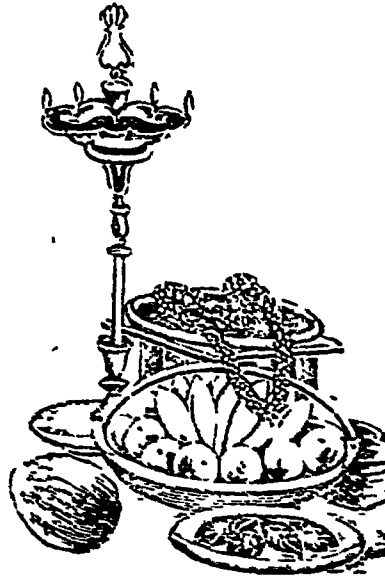
अध्याय ५१

"प्रायश्चित के लिये आवेदन"

यद्यपि इस अपवाद सेवन में मेरी किसी प्रकार की मानसिक या वाचिक प्रेरणा या अनुमोदना नहीं, इसलिये मैं निर्दोष हूँ, तथापि गुरुजनों से इसका निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है, इस मानसिक सद्भावना से प्रेरित होकर आपने अहमदाबाद में विराजमान अपने बड़े गुरुभाई गणि श्री मुक्तिविजय-श्री मूलचन्दजी महाराज को एक पत्र लिखा, उसमें अथ से इति तक सारा वृत्तान्त लिखने के बाद आपने प्रायश्चित के लिये निवेदन किया और कहा कि आप जो प्रायश्चित उचित समझें लिख दें मैं उसे सहर्ष आचरण में लाऊंगा।

आप के इस पत्र के उत्तर में गणि श्री मुक्तिविजय-श्री मूलचन्दजी महाराज का जो पत्र आया वह तो उपलब्ध नहीं हो सका परन्तु आप श्री का बतलाया और स्मरण में रहा हुआ सारांश इस प्रकार है—

"पत्र तुम्हारा मिला, समाचार मालूम हुआ, जिस परिस्थिति का तुमने उल्लेख किया है उस में तो प्रायश्चित का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। शास्त्रीय मर्यादा का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से इस विषय में तुम निर्दोष प्रमाणित होते हो फिर प्रायश्चित कैसा? हां लौकिक, मर्यादा को ध्यान में रखते हुए केवल व्यवहार शुद्धि के लिये पत्र लिखित प्रायश्चित करलेने में भी कोई हरकत नहीं, प्रत्युत लाभ ही है। सुखसाता का समाचार देते रहना।" आपने भी पत्र में दिये गये आदेश का पूरी श्रद्धा से पालन किया।

अध्याय ५२

"तीन सुयोग्य शिष्यों की उपलब्धि"

—※※※—

आप श्री के स्वास्थ्यलाभ से सारे पंजाव और खासकर अम्वाला की जैनप्रजा को वहुत हर्ष हुआ! घर घर में वधाइयें वंटी और मंगलाचार के गीत गाये गये तथा गरीवों की अन्नादि के वितरण से झोलिये भरी गई! क्यों न हो गुरुदेव का स्वास्थ्य उसके धार्मिक जीवन का आधार स्तम्भ जो था।

अम्वाला नगर का सद्भाग्य भी नितरां सराहनीय है, जहां उसे महाराज श्री आनन्दविजयजी के स्वास्थ्यलाभ का गौरवान्वित यश मिला वहां तीन सद्गृहस्थों को मुनिधर्म में प्रवेश करवाने का भी पुण्य अवसर प्राप्त हुआ।

भावनगर के वीर भाई वड़ौदे के छगनलाल और छोटा लाल नाम के तीन सद्गृहस्थ महाराज श्री आनन्दविजय जी के पास मुनिधर्म में दीक्षित होने की भावना से आये हुए थे उनकी दीक्षा भी वड़े समारोह से वहीं पर सम्पन्न हुई। गुरु महाराज ने इन तीनों सद्गृहस्थों को साधुधर्म में दीक्षित करने के वाद इन तीनों के क्रमश: श्री वीरविजय, श्री कान्तिविजय और श्री हंसविजय ये नाम रक्खे जो कि भविष्य में गुणनिष्पन्न ही प्रमाणित हुए। इन तीनों ही महानुभावों ने अपनी गुणगरिमा से आपके नाम को चार चान्द लगाये! उपाध्याय श्रीवीरविजयजी प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी और शान्त मूर्ति श्रीहंसविजयजी सचमुच ही आप की शिष्य परम्परा के वहुमूल्य रत्न सावित हुए।

अध्याय ५३

"श्री हंसविजयजी के पिता का आगमन"

— ❀ :—

उक्त तीनों महानुभावों को साधु धर्म में दीक्षित करने के वाद महाराज श्री आनन्द विजयजी अम्वाले से विहार करके जव होशयारपुर में पधारे तो पुत्र के साधु होजाने की खवर पाते ही श्री हंसविजयजी के पिता श्री जगजीवन दास होशयारपुर में आये। यद्यपि वे धर्मात्मा व्यक्ति थे। जैन गृहस्थोचित कर्तव्य का वड़ी सावधानी से पालन करते थे। प्रातःकाल उठकर सामायिक व प्रतिक्रमण करना तदनन्तर मन्दिर में जाकर देवपूजन करना पश्चात् गुरुजनों का दर्शन और उपदेश सुनना तथा आहार के समय साधुओं को आहार पानी की विनति करना और उनको आहार पानी देकर पीछे भोजन करना और सन्ध्या के समय उपाश्रय में जाकर गुरुजनों के साथ प्रतिक्रमण करना आदि जितना भी गृहस्थ का शास्त्र विहित आचार है उसका यथाशक्ति सम्यक्तया पालन करते थे। इसके अतिरिक्त साधु धर्म के महत्व को भी खूव समझते थे, परन्तु इतने पर भी वे पुत्र के प्रति होने वाले मोह से पराजित थे। उन्होंने मोह के वशीभूत होकर दीक्षित हुए २ पुत्र को वापिस घर लेजाने की भरसक-चेष्टा की जो कि उचित नहीं थी उन्होंने अपने चिरंजीवी को वहुत समझाया और गुरुजनों को भी कहा परन्तु जव वे इसमें विफल हुए तो श्री हंसविजयजी को सम्वोधित करते हुए वोले—

देखो वेटा! तुमने संयम ग्रहण किया है इसको हर प्रकार से सुरक्षित रखने का यत्न करना, तुम एक प्रतिष्ठित कुल में पैदा हुए हो उस कुल की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए अपने संयम में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने देना, मैं संयम का विरोधी नहीं किन्तु उसकी कठिनाइयों की ओर ध्यान देते हुए मुझे भय लगता है। अच्छा, गुरुदेव की छत्र छाया तले रहते हुए तुम इसमें सफल निवड़ोगे ऐसी मुझे पूर्ण आशा है। फिर गुरुमहाराज श्री आनन्द विजयजी को सम्वोधित करते हुए वोले—गुरुमहाराज! मैंने पुत्र मोह के वशीभूत होकर कदाचित किसी शब्द के द्वारा आपका अविनय किया हो तो उसकी मैं आप श्री से क्षमा मांगता हूँ यह अव आपके सुपुर्द है, आप ही अव इसके संरक्षक हैं और आपकी संरक्षता में यह अपना आत्म विकास करे यही मेरी हार्दिक इच्छा है। इतना कहकर विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार के वाद वे वहां से विदा हुए गुरुजनों का आशीर्वाद मूलक धर्म लाभ प्राप्त करके।

———

अध्याय ५४

"हठीसिंह की दीक्षा"

—:o:—

इस अवसर में धांगध्रा (काठियावाड़) के रहनेवाले दो व्यक्ति अपने साथ साधु के उपकरण लिये हुए महाराज श्री आनन्दविजय जी के पास आये और बोले—कि महाराज हम दोनों को अभी दीक्षा देदो यदि नहीं दोगे तो हम स्वय वेष पहर लेंगे। महाराजश्री ने तो उनके इस कथन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया परन्तु उनके शिष्य श्री लक्ष्मीविजय जी ने दो तीन साधुओं को साथ लेकर किसी ग्राम में जाकर उन दोनों को दीक्षा देकर उनका मनोरथ पूर्ण कर दिया।

इधर उन्हीं दिनों में भावनगर का श्रीमाली हठीसिंह नाम का एक व्यक्ति भी महाराजश्री के पास दीक्षित होने के लिये आया हुआ था। उस समय होशयारपुर में कोटला के कई एक श्रावक भी आपके दर्शनार्थ आये हुये थे। उन्होंने गुरु महाराज से प्रार्थना की कि आप मालेरकोटला पधारने की कृपा करें और वहां पर ही इस भाग्यशाली हठीसिंह की दीक्षाविधि का समारोह किया जावे।

इच्छा न रहते हुए भी इन लोगों की विनती को मान देते हुए आपने होशयारपुर से विहार कर दिया और जालन्धर, लुधियाना होते हुए आप मालेरकोटला पधारे।

इधर होशयारपुर में दिये गये दीक्षा सम्बन्धी वचन को सक्रिय रूप देने के लिये कोटला के श्रीसंघने दीक्षा की तैयारी करली अर्थात समारोह पूर्वक दीक्षा विधि को सम्पन्न करने की जो जो सामग्री अपेक्षित थी उसका सारा प्रबन्ध करलिया।
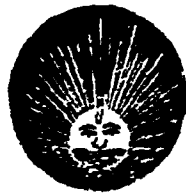
अध्याय ५५

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि"

—:※:—

यह बात अकसर देखने में आती है कि जब किसी शुभ कार्य का आरम्भ किया जाय तो उसमें कोई न कोई विघ्न अवश्य आखड़ा होता है। मन्दिराम्नाय वालों ने दीक्षा सम्बन्धी जलूस निकालने आदि की सब आज्ञा नवाब साहब से लेली और अमुक दिन जलूस निकलेगा तथा दीक्षा सम्पन्न होगी, इस निश्चित कार्यक्रम का जब वहां के ढूंढक भाइयों को पता चला तो उन्होंने इसका पूरे जोर शोर से विरोध किया और नवाब साहब के पास जाकर उनको उलटा सीधा समझाकर उनका पहला हुक्म वापस करवा दिया। इधर जब मन्दिराम्नाय वालों को इसका पता चलातो उन्होंने नवाब साहब के पास अर्ज करके फिर जलूस निकालने की आज्ञा प्राप्त करली। नवाब साहब कुछ ऐसे अस्थिर विचार का था कि उसको अपने दिये गये हुक्म को बदलते देरी नहीं लगती थी। इसके अलावा दोनों ही पक्ष के लोगों का नवाब साहब से मेल था। जो कोई उनके पास जाता और समझाता वे उसीको हां कर देते परिणामस्वरूप उनके दुवारा दिये हुक्म को ढूंढियों ने फिर रद्द करा दिया और मनाही का हुक्म लेआये।

नवाब साहब के इस व्यवहार को अनुचित समझकर महाराज श्री आनन्दविजय जी ने वहां पर दीक्षा देने का विचार छोड़ वहां से विहार कर दिया। इससे वहां के श्रावक वर्ग के हृदय को बहुत आघात पहुंचा।

अध्याय ५६

"सफलता की शुभ घड़ी"

—०‌‌‌❀०—

यह एक निर्धारित तथ्य है कि जो बात जिस समय जिस स्थान और जिस रूप में होनी होती है वह उसी समय उसी स्थान और उसी रूप में होकर रहती है। श्री हठीसिंह की दीक्षा का निश्चय दृष्टि से जो समय नियत था उसमें अभी थोड़ी देरी थी। जब वह निकट आया तो सभी विघ्न बाधायें दूर भाग गईं और उसी स्थान में उसी रूप में यह सम्पन्न हुई। इसीलिये दार्शनिकों ने कार्य निष्पत्ति मे अन्य सापेक्षित सामग्री से समय को अधिक प्राधान्य दिया है।

बात यूं बनी कि जिस रोज महाराज जी साहब ने बिना दीक्षा दिये मालेरकोटला से विहार कर दिया और सभी श्रावक लोग नितान्त उदास मन से उन्हें विदा करके लौटे तो एक श्रावक–जोकि नवाब साहब का खजाञ्ची था–ने नवाब साहब से जाकर अर्ज की कि हजूरवाला! कहते हुए तो भय लगता है मगर कहे बिना रहा भी नहीं जाता, आपने हमारे दीक्षा महोत्सव को बिना किसी कारण के बन्द करा दिया जिससे हम लोगों के हृदय को जो ठेस पहुँची है उसका हम वर्णन नहीं कर सकते। आज हमारे गुरु महाराज भी चले गये। हमारी सभी तैयारी धरी की धरी रह गई। हजूर को ऐसा करना मुनासिब नहीं था।

नवाबसाहब—हैं गुरुजी चले गये! यदि ऐसा है तो जाओ गुरुजी को पीछे ले आओ। मैं अभी हुक्म कराये देता हूँ, और मेरा यह हुक्म अब सुनिश्चित होगा इसे किसी हालत में भी बदला नहीं जायगा।

खजाञ्ची—हजूर हमारे कहने से तो अब वे पीछे नहीं लौटेंगे।

नवाबसाहब—तो अच्छा हमारा सवार लेजाओ और उनसे जाकर अर्ज करो कि नवाब साहब ने आपको सलाम बोला है और वापिस लौट आने की अर्ज की है। जाओ देरी मत करो। और साथ में मेरी तर्फ से यह भी अर्ज करना कि यदि आप वापिस नहीं लौटेंगे तो मुझे बहुत दुःख होगा।

नवाब साहिब के फरमाने पर एक घुड़सवार को साथ लेकर खजाञ्ची साहब महाराजजी साहब से रास्ते में जा मिले और वन्दना नमस्कार करके बोले—महाराजजी साहब कृपा करो ! नवाब साहब ने आपके जाने का सुनकर बहुत दुःख मनाया है और वापिस लौट आने की अर्ज की है, इसके प्रमाणरूप उन्होंने अपना घुड़सवार आपकी सेवा में भेजा है । तब घुड़सवार ने घोड़े पर से नीचे उतर कर आपको झुककर सलाम किया और बोला कि महाराज ! हजूरवाला ने आपको सलाम कही है और कहा है कि मेरे ऊपर नेक नजर करके आप वापिस लौट आने की तकलीफ करें तथा अपनी दीक्षा सम्बन्धी सारी कार्रवाई अपनी इच्छा के अनुसार करें उसमें अब किसी तरह की भी रुकावट नहीं आवेगी ।

खजाञ्ची और घुड़सवार की बातों को सुनकर भी महाराजजी साहब वापिस लौटने को राजी तो नहीं थे मगर खजाञ्ची जी के आग्रह से वे पीछे लौट आये । आने पर दीक्षा का कार्य बडी धूम धाम से निश्चित समय पर सम्पन्न हुआ । महाराज श्री ने हठीसिंहजी को श्री लक्ष्मीविजयजी का शिष्य घोषित करते हुए शान्तिविजय नाम रक्खा । मालेर कोटला की जनता को इस प्रकार के दीक्षा समारोह देखने का यह पहला ही अवसर था इसलिये उसने जलूस की शोभा को बढ़ाने में उत्साहपूर्वक भाग लिया । मालेर कोटले का यह दीक्षा महोत्सव अपनी शान का एक ही था § ।

दीक्षा के उपरान्त आपने जंडियाले को विहार किया, मालेर कोटले से लुधियाना और जालन्धर होते हुए आप जंडियाला पधारे, १९३६ का चतुर्मास जंडियाले में किया । चौमासे बाद नारोवाल, सनखतरा, जीरा, पट्टी और अमृतसर होते हुए गुजरांवाला पधारे और १९३७ का चतुर्मास गुजरांवाले में बिताया । यहां चातुर्मास आरम्भ होने के पूर्व आपने दो गृहस्थों को दीक्षा देकर उनके श्री माणिक्यविजय और मोहनविजय नाम रक्खे ।

"जैनतत्त्वादर्श की रचना"

गुजरांवाला के चतुर्मास में बहुत से लोगों की प्रार्थना से, संस्कृत और प्राकृत का बोध न रखने वाले लोगों को भी जैन धर्म के सिद्धान्तों का सम्यक् बोध हो सके, इस दृष्टि से हिन्दी भाषा भाषी जगत के लिये "जैनतत्त्वादर्श" के नाम से एक हिन्दी ग्रन्थ की रचना का आरम्भ किया जोकि १९३८ के चातुर्मास में होशियारपुर में समाप्त हुआ ।

§ मालेर कोटला में अन्य स्थानों की अपेक्षा आपस में अधिक संघर्ष रहा, मगर अब कुछ शांति है ।

अध्याय ५७

"सत्यार्थप्रकाश की चर्चा"

—※※※—

जिन दिनों आप गुजरांवाले मे विराजमान थे, किसी ने आपको वर्तमान आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का बनाया हुआ सत्यार्थप्रकाश नाम का ग्रन्थ लाकर दिया जोकि ईस्वी सन् १८७५ का छपा हुआ था। उक्त पुस्तक मे जहां अन्य मतों का खंडन किया गया था वहां जैन धर्म पर भी सभ्यता से गिरे हुए बिना प्रमाण के उल्लेखों की भी कमी न थी। जैनधर्म सम्बन्धी बिना सिर पैर की लिखी हुई बातों को देख कर आप बहुत विस्मित हुए और कहने लगे कि इस ग्रन्थ के लेखक को क्या समझा जाय? इसने जो कुछ लिखा है उसमें तो यह महान् हठी दुराग्रही और परले सिरे का निन्दक प्रतीत होता है। तथा परमत विद्वेष तो इसकी नस २ में भरा हुआ मालूम देता है। इसके अलावा जैन धर्म का तो इसे एक अबोध बालक जितना भी बोध प्रतीत नहीं होता। फिर इस महात्मा ने इतना दुःसाहस क्यों किया यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। इससे तो जैनधर्म विषयक बोध न रखने वाली जनता के लिये बड़े अनर्थ की सम्भावना है अस्तु इसका भी अवसर आने पर विचार किया जावेगा। महाराज जी साहब की इन बातों को सुनकर पास में बैठे हुए ला० ठाकुरदासजी–जो गुजरांवाले के श्रावक थे और विचारशील तथा पढ़े लिखे थे–ने कहा–महाराज! इसमें अपने धर्म के विरुद्ध जो कुछ लिखा है वह कृपया मुझे बतलाइये मैं उनसे पूछने का यत्न करूंगा।

महाराज जी साहब—भाई! क्या बतलाऊं, एक आध बात हो तो बतला भी दूं, परन्तु यह तो सारे का सारा झूठ का पुलन्दा है और फिर यदि इसमें से एक आध बात तुम्हें बतला भी दी जावे तो उसका उत्तर तो वह नहीं देगा किन्तु इधर उधर की बातें करके तुम्हें टालने की कोशिश करेगा, खिलाड़ी–चालबाज व्यक्ति प्रतीत होता है।

ठाकुरदासजी—महाराज! आप इस विषय में निश्चित रहिये, मैं भी कच्चाभूत हूँ अगर पीछे लग गया तो छोड़ने वाला नहीं हूँ, आप बतला और समझा दीजिये।

लाला ठाकुरदास के आग्रह से महाराज जी साहब ने दो तीन प्रश्न लिखवा दिये और कहा कि इनका उत्तर उनसे पूछना। यदि हम से चर्चा करना चाहें तो हम तैयार हैं।

लाला ठाकुरदासजी उन प्रश्नों को लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास पहुंचे और प्रश्नों का जवाब मांगा तो बात वही बनी जो कि महाराजश्री ने कही थी। तो भी ला० ठाकुरदास ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। प्रश्नों का उत्तर और महाराजश्री के साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती वे बराबर देते रहे। अन्त में महाराजश्री से शास्त्रार्थ करने का निश्चय भी हुआ और समय भी निश्चित किया गया परन्तु वे-स्वामी दयानन्दजी उससे पहले ही परलोक सिधार गये अर्थात् वि० सं० १६४० मे उनका देहान्त होगया इसलिये बात बीच की बीच ही रह गई। *गुजरांवाले से विहार करके आप पिंडदादनखां में पधारे वहां पर अमृतसर निवासी ला० गोपीमल ओसवाल को साधु धर्म की दीक्षा दी और श्री हीरविजयजी का शिष्य बनाकर सुन्दर विजय यह नाम रक्खा।

* इस विषय का सारा वृत्तान्त ला० ठाकुरदासजी ने उस समय एक ट्रैक्ट के रूप मे लिखकर प्रकाशित करा दिया था, ट्रैक्ट का नाम "दयानन्द मुख चपेटिका" है पाठक देखना चाहे तो वहां देखलें। (लेखक)

अध्याय ५८

"पूर्वजों की भूमि में पदार्पण"

—:❀:—

पिंडदादनखां से विहार करके "कलश" नामा ग्राम में पधारे, कलश आपके पूर्वजों की जन्मभूमि थी, आपके पिता पितामह आदि सब पहले इसी ग्राम में रहते थे। लहरा में तो आपके पिता ही आये थे। जिस समय आप कलश में गये उस समय वहां आपके सांसारिक परिवार के चचेरे भाई श्री मंगलसेन और प्रभदयालजी आदि मौजूद थे। उन्होंने आपका बड़े ही प्रेम और श्रद्धा से स्वागत किया तथा कुछ दिन ठहरने की प्रार्थना की परन्तु आप एक रात्रि से अधिक वहां नहीं ठहरे।

कलश से विहार करके रामनगर पपनाखा, किला दीदारसिंह, गुजरांवाला, लाहौर, अमृतसर और जालन्धर होते हुए आप सपरिवार होशयारपुर पधारे और १९३८ का चतुर्मास वहीं पर किया। इस चौमासे में आपने गुजरांवाले में आरंभ किये गये जैनतत्त्वादर्श नामक ग्रन्थ को संपूर्ण कर दिया।

चौमासे के बाद विहार करके जालन्धर, नकोदर, जीरा और मालेरकोटला आदि नगरों में विचरते हुए लुधियाने पधारे। यहां पर आपकी सेवा में आये हुए चार गृहस्थ युवकों को परमार्हती भगवती जैनदीक्षा से अलंकृत करके चारों के क्रमशः श्री जयविजय, श्री अमृतविजय, श्री अमरविजय, और श्री प्रेमविजय ये नाम निर्दिष्ट किये। इनमें श्री अमरविजय और श्री जयविजय ये दोनों डभोई [बड़ोदा स्टेट] के निवासी श्रीमाली कुटुम्ब के थे और दोनों के नाम क्रमशः जयचन्द तथा अमरचन्द थे। श्री अमृतविजय जी दक्षिण महाराष्ट्र के रहने वाले श्रीमाल थे उनका पहला नाम अमृतलाल था और प्रेमविजयजी नारोवाल के दुग्गड़ गोत्रीय ओसवाल थे उनका गृहस्थपने का नाम प्रभदयाल था।

अध्याय ५६

"स्वमत संरक्षण की ओर"

क.—जैनतत्त्वादर्श का प्रकाशन—

चौमासे बाद लुधियाने से विहार करके आप अम्बाले पधारे। वहां मुर्शिदाबाद के रईस राय बहादुर श्री धनपतसिंहजी आपके दर्शन करने को आये। आप श्री की आदर्शरूप चारित्र-निष्ठा और विशिष्ट ज्ञान-सम्पदा को देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। विदा होने से पहले एक दिन वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर हाथ जोड़कर जब उन्होंने आपसे कुछ सेवा फरमाने की प्रार्थना की तब आपने उनको स्वनिर्मित जैनतत्त्वादर्श ग्रन्थ को छपवाकर वितरण करने की सेवा फरमादी। जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और जाते ही छपवाकर वितरणार्थ आपके पास भेजदिया और साथ में अन्य सेवा के लिये भी प्रार्थना करदी।

ख.—अज्ञानतिमिर भास्कर का आरम्भ—

जैनधर्म के स्वरूप और सिद्धांतों के विषय में ज्ञानशून्य होने के कारण आम जनता में फैले हुए भ्रान्त विचारों को दूर करने की भावना से प्रेरित होकर मौखिक उपदेश के साथ साथ अपनी लेखिनी को भी मुखरित करना उचित समझा, कारण कि मौखिक उपदेश तो चिरस्थायी होता है और ना ही अधिक व्यापक। इसके बदले लेख जहां चिरस्थायी होता है वहां उसकी बहुव्यापकता भी सुकर है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये आपने सर्वप्रथम नवतत्त्व और जैनतत्त्वादर्श का निर्माण किया। ये दोनों ही ग्रन्थ हिन्दी भाषा भाषी जगत के लिये जैनधर्म में प्रवेश करने और उसके वास्तविक स्वरूप और सिद्धांतों को समझने में अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुए हैं।

इधर गुजरांवाला में किसी व्यक्ति द्वारा प्राप्त हुए सत्यार्थप्रकाश को देखने और उसमें की गई जैनधर्म की झूठी प्रतारणा से आपके हृदय को जो ठेस लगी उसने आपको स्वमत संरक्षण के लिये उद्-बोधित किया। तब आपने अन्य रचना के लिये भी अपनी लेखनी को प्रस्तुत करने का विचार किया। उसी का परिणाम यह "अज्ञानतिमिर भास्कर" ग्रन्थ का आरम्भ है। परन्तु उस समय इसमें जिन वेद वेदांगादि पुस्तकों के उद्धरणों कि आवश्यकता थी वे सभी पास मे न थे इसलिये केवल आरम्भ मात्र करके भविष्य के लिये छोड़ दिया गया।

अध्याय ६०

सतरांभेदी पूजा की रचना

—०—

देश जाति अथवा सम्प्रदाय किसी का भी नेतृत्व करना कठिन ही नहीं किन्तु अत्यन्त कठिन होता है। सबको संभालना, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करना एवं सुरक्षित रखना इत्यादि सभी बातों का उत्तरदायित्व नेता पर होता है। पंजाब में आपके उपदेश देने से पहले देवपूजा और उसकी विधि का किसी को ध्यान तक भी नहीं था। सब कुछ नया ही सिखाना होता था। तब प्रभु प्रतिमा के आगे देवों द्वारा की गई सतरां भेदी पूजा का समारम्भ किस प्रकार करना, यह तो पंजाब के जैनधर्म में दीक्षित हुए गृहस्थों के लिये बिलकुल ही अज्ञात था। गुजराती भाषा से वे सर्वथा अपरिचित थे। इस कमी की पूर्ति का ख्याल करके विविध प्रकार की राग रागणियों से युक्त पूजाओं की रचना का भी आरम्भ किया जिनमें सर्वप्रथम श्रावक वर्ग की विनति पर सतरां भेदी पूजा की रचना की। उसके अन्तिम कलश में आपने जो कुछ लिखा है वह बड़ा ही मनोरंजक है, उसमें सारी गुरु परम्परा का उल्लेख कर दिया है। यथा—

> "जिनन्द जस आज मैं गायो, गयो अघ दूरमो मनको।
> शत अठ काव्य हूँ करके थुणे सब देव देवन को ॥१॥
> तपागच्छ गगन रविरूपा, हुआ विजयसिंह गुरु भूपा।
> सत्य कर्पूर विजय राजा, क्षमा जिन उत्तमा ताजा ॥२॥
> पद्म गुरु रूप गुण भाजा, कीर्ति कस्तूर जग छाजा।
> मणि बुधि जगत में गाजा, मुक्तिगणि सम्प्रति राजा ॥३॥
> विजय आनन्द लघु नन्दा, निधि[९] शिखी[३] अंक[९] है चन्दा[१]।
> अम्बाले नगर में गायो, निजातम रूप हूँ पायो ॥४॥

इतने वर्षों में महाराज श्री आनन्दविजयजी के परिवार मे श्री लघुहर्ष विजयजी, श्री उद्योतविजय जी आदि १६ शिष्य नये हुए। उनमें जिस २ की दीक्षा उनके हाथ से हुई, उस उसके नाम ही इस चरित्र में उल्लेख किये गये हैं, बाकी के शिष्यवर्ग की नामावली परिशिष्ट में दिये गये वंश वृक्ष से जान लेनी।

———

अध्याय ६१

"पंजाब में पांच वर्ष"

विशुद्ध जैन परम्परा मे दीक्षित होने के बाद महाराज श्री आनन्द विजयजी ने पंजाब में पांच चतुर्मास किये। इन पांच वर्षों में आपके क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सहस्रों नर नारियों ने शुद्ध सनातन जैनधर्म में प्रवेश किया। और देवपूजक बने। देव मन्दिरों की स्थापना का आरम्भ हुआ। तथा अन्य धर्मानुयाइयों की तरफ से लगाये जाने वाले कलंक से जैनधर्म को मुक्त किया §। लोग जैनधर्म के वास्तविक आचार विचारों को समझने लगे और जैन साधु के यथार्थ वेष का उन्हें परिचय प्राप्त हुआ। जिससे कि इससे पूर्व वे बिलकुल अपरिचित थे। अधिक क्या कहें पंजाब से वर्षों से गई हुई जैन श्री को आपने फिर से उसके अनुरूप सिंहासन पर ला बिठाया। जहां पर विशुद्ध जैन परम्परा के साधु और जैन मन्दिरों की स्मृति भी लोग भूल चुके थे वहां अनेक साधुओं का घूमना और मन्दिरों मे पूजा प्रभावना आदि का देखना, अन्य मतानुयायियों के लिये बिलकुल नया होते हुए भी आनन्द के देने वाला बना। वे लोग भी इस प्रकार के आचार व्यवहार की प्रशंसा करते। तात्पर्य कि आपके सतत प्रयास से पजाब के हर एक नगर और ग्राम में जैनधर्म को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होगया ढूढक पंथ के मुकाबिले में। इसके अतिरिक्त आपने कई एक ग्रन्थों की रचना करके और समय २ पर अन्य मतावलम्बियों से चर्चा करके जैनधर्म के महत्व को दर्शाते हुए अन्य लोगों को उसकी ओर आकर्षित करने का भी सफल प्रयास किया।

---

§ उस समय के ढूंढक साधु बडे मलिन वेष में रहते थे, और व्याकरणादि शास्त्रों के पठन पाठन का भी विरोध करते, एवं गृहस्थों को स्नानादि न करने का भी नियम दिलाते, इत्यादि-बातों को देखकर अन्य मतानुयायी लोग इन से घृणा करते और इस बहाने जैन धर्म की निन्दा भी करते थे। परन्तु आज वह बात नहीं रही, आजकल तो इनके साधुओं का वेष भी शुद्ध है और अच्छे पढ़े लिखे विद्वान् साधु भी देखने में आते हैं।

अध्याय ६२

"पुनः गुजरात की ओर"

—:※:—

इस प्रकार पंजाब में जैनधर्म की पुनः स्थापना करने के बाद आपने अपने नवीन शिष्यों को छेदोपस्थापनीय चारित्र अर्थात् बड़ी दीक्षा दिलाने के लिये गुजरात–अहमदाबाद की ओर विहार किया। कारण कि उस समय श्री बुद्धिविजय–बूटेरायजी महाराज के परिवार में गणि श्री मुक्तिविजय–श्री मूलचन्दजी महाराज के सिवा और किसी को इस संस्कार के कराने का अधिकार नहीं था और वे उस समय अहमदाबाद में थे इसलिये आपको जल्दी ही पंजाब को छोड़कर वहां जाने के लिये विहार करना पड़ा।

अम्बाले से विहार करके आप दिल्ली पधारे। वहां आपको भावनगर की जैनधर्म प्रसारक सभा की तरफ से "समकितसार" नामकी एक पुस्तक मिली, और सभा के मंत्री ने आपको उसका उत्तर लिख भेजने की प्रार्थना की। आपने पुस्तक को पढ़ा और उसका उत्तर लिखना आरम्भ कर दिया। वह उत्तर 'सम्यक्त्व-शल्योद्धार' के नाम से प्रसिद्ध है।

दिल्ली से मेरठ होते हुए श्री हस्तिनापुर पधारे वहां की यात्रा करके जयपुर, अजमेर और नागौर आदि शहरों में विचरते हुए बीकानेर पधारे और १९४० का चातुर्मास बीकानेर में किया। वहां पर आपने सतरां भेदी पूजा के बाद 'बीस स्थानक पूजा' की रचना की। इस पूजा में भी अन्त के कलश में आपने अपनी गुरु परम्परा का बड़ी सुन्दरता से परिचय दिया है यथा—

"शुद्धमन करोरे आनन्दी विंशति पद शुद्ध० अंचली।
विंशति पदपूजन करि विधि सुं, उजमण करो चित्त रंगी ॥१॥
ए सम अवर न करणी जग में, जिनवर पद सुख चंगी ॥२॥
तपगच्छ गगन में दिन मणि सरिखे, विजयसिंह विरंगी ॥३॥

सत्य कर्पूर क्षमा जिन उत्तम, पद्म रूप गुरु जंगी ॥४॥
कीर्ति विजय गुरु समरस भीने, कस्तूर मणि है निरंगी ॥५॥
श्री गुरु बुद्धिविजय महाराजा, मुक्ति विजयगणि चंगी ॥६॥
तस लघु भ्राता आनन्द विजये, गाई विंसति पद भङ्गी ॥७॥
खं॰ युग४ अंक९ इन्दु१ वत्सर में, बीकानेर सुरंगी ॥८॥
आत्माराम आनंद पद पूजो, मन तन हो इकरंगी ॥९॥
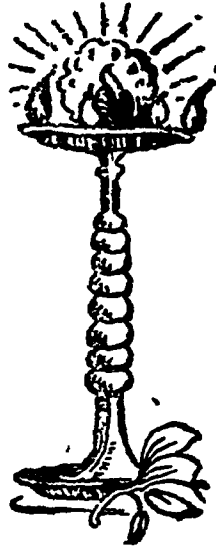
अध्याय ६३

'बीकानेर दरबार से भेंट'

बीकानेर के चतुर्मास में आपके प्रधान शिष्य श्री लक्ष्मीविजय-श्री विश्वचन्दजी बीमार पड़गये। परन्तु आयु अभी शेष थी इसलिये अच्छे होने का निमित्त भी मिल गया। जंडियालागुरु के रहने वाले हकीम सुक्खुमल [जो कि जाति के नापित थे परन्तु महाराज श्री के अनन्य भक्त थे] वहां आपके दर्शनार्थ आगये और उनके उपचार से श्री लक्ष्मीविजय जी अच्छे होगये। इन्हीं दिनों में दरबार बीकानेर भी बीमारी की हालत में चारपाई पर पड़े हुए थे। अच्छे २ वैद्यों और डाक्टरों के उपचार से भी कोई लाभ नहीं हुआ। इतने में उनके पास रहने वाले किसी आदमी ने उनसे कहा कि अन्नदाता! यहां पर पंजाब के जैन साधु चौमासा रहे हुए हैं। उनके पास एक हकीम आये हुए हैं, जिन्होंने उनके एक बीमार साधु का इलाज किया है, वह बिलकुल अच्छा होगया है, यदि अन्नदाता आज्ञा दें तो उनको बुलाकर दिखा दिया जावे।

दरबार—बुलाइये! अवश्य बुलाइये।

इतना हुक्म होने के बाद वहां से आदमी आया और हकीमजी को बुलाकर लेगया। हकीम सुक्खुमल ने दरबार बीकानेर को देखा और कहा कि हजूर आप बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे। परन्तु अकेली औषधि पर ही निर्भर न रहें कुछ और भी करें।

दरबार—वह क्या?

हकीमजी—दान, दान से जल्दी कल्याण होता है महाराज! दान सौ औषधि की एक औषधि है।

दरबार—तो बताओ क्या दान करें?

सुक्खुमल—साधारण लोग तो रुग्णावस्था में गौदान करते हैं, परन्तु आप तो महाराजा हैं इसलिये आपको तो हाथी दान करना चाहिये-हकीमजी ने उचित समय का विचार करके कहा। इतना सुनने के

वाद उसी समय हाथी मंगवाया गया और उसका मूल्य कराकर खजाने से रुपया मगवाकर गरीवों को वांटा गया इधर हकीमजी ने औषधि भी देनी आरम्भ करदी जिससे राजा साहव राजी होगये और हकीम सुक्खुमल को यश और धन दोनों का लाभ हुआ।

आपका यहां पर आना कैसे हुआ हकीमजी ? राजा ने सहज उत्सुकता से पूछा।

हमारे गुरुमहाराज श्री आनन्द विजयजी का यहां चातुर्मास है उनके एक साधु वीमार थे उनकी दवाई और गुरुमहाराज के दर्शनार्थ आया हूँ, हकीमजी ने वड़े सरल शब्दों में उत्तर दिया। यह सुनकर दरवार वीकानेर को भी आपके दर्शन करने की उत्कंठा जागी। उनके पास एक सन्यासी महात्मा रहते थे उनकी सम्मति पूछी तो उन्होंने भी आपके विचारानुसार ही सम्मति दी।

परन्तु मिलना कहां पर हो इसके लिये सेठ चान्दमलजी ढड्ढा की सलाह से उनकी कोठी में मिलने का प्रवन्ध किया गया। सेठ चान्दमलजी ढड्ढा वीकानेर के प्रतिष्ठित रईस थे और ओसवाल जैन थे। परन्तु आपके हृदय पर वैदिक सम्प्रदाय के संस्कारों का प्रभाव अधिक पड़ा हुआ था। दरवार वीकानेर आपका वहुत मान करते थे।

महाराज श्री जव ढड्ढाजी साहव की कोठी में पधारे तो राजासाहव ने आगे आकर आपका सप्रेम स्वागत किया और श्रद्धापूर्वक नमस्कार करके आपको वैठने की प्रार्थना की। इधर सन्यासी महात्मा के साथ भी साधुजनोचित शिष्टाचार करने के वाद आप अपने आसन पर विराज गये। श्रीयुत चान्दमलजी ढड्ढा ने आपको वन्दना की और सप्रेम सुखसाता पूछी। आपने भी उत्तर में धर्मलाभ दिया। सवके यथास्थान वैठ जाने पर—"आप श्री के दर्शनों से मुझे वहुत प्रसन्नता हुई और आपका इस नगर में पदार्पण करना मेरे लिये तो जीवनदान ही प्रमाणित हुआ है। राजासाहव ने वडी नम्रता से निवेदन किया।

महाराजजी-साहव—राजन्! जैसा होना होता है उसके अनुसार वैसे ही निमित्त मिल जाते हैं,—"सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता" आपका आयुकर्म शेष था और असातावेदनीय कर्म का क्षय और सातावेदनीय के उदय का अवसर आजाने पर उसके अनुरूप निमित्त भी मिलगया। निश्चय में तो ऐसा ही है वाकी तो यह सव व्यावहारिक वाते हैं कि अमुक ने इलाज किया और अमुक अच्छा होगया इत्यादि।

सन्यासी महात्मा—हमारा यह परम सौभाग्य है कि आज हमें आप जैसे त्यागशील तपोनिधि महापुरुष के दर्शनों का लाभ हुआ है। आप जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् हैं और हम लोग जैन दर्शन से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, इसलिये हम जैन दर्शन के विषय में आपसे कुछ जानना चाहते हैं उसमें भी जैन दर्शन का जो अनेकान्तवाद है उसके यथार्थ स्वरूप से परिचित होने की हम सव की जिज्ञासा अधिक है। दैवयोग से आपका यह पुण्य संयोग प्राप्त हुआ है यदि कुछ कृपा करे तो हमे वहुत लाभ होगा।

महाराजजी साहब—स्वामीजी की ओर दृष्टिपात करते हुए-मैं तो आपसे वेदान्त के विषय में कुछ सुनने की इच्छा रखता था परन्तु आप तो मुझे ही सुनाने के लिये फरमा रहे हैं।

राजा साहब—महाराज! स्वामीजी ने जो कुछ फरमाया है मेरी भी उसी के सुनने की अभिलाषा है, वेदान्त के विषय में तो बहुत बार सुनने का अवसर मिला है, परन्तु जैनधर्म या उसके दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में सुनने का आजतक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, इसका पुण्य अवसर तो आज ही प्राप्त हो रहा है, आशा है आपश्री हम लोगों की इस अभिलाषा को अवश्य पूर्ण करने की कृपा करेंगे।

श्री ढड्ढाजी—महाराज! मेरी भी आपके चरणों में यही प्रार्थना है कि आप कृपा करके स्वामीजी और दरबार श्री के प्रस्ताव को स्वीकार करने की कृपा करें। आपके मुखारविन्द से ही उक्त विषय पर सुनने की हम सब की तीव्र अभिलाषा है।

महाराजश्री—अच्छा यदि आप सब की यही इच्छा है तो मुझे भी सुनाने में कोई इनकार नहीं है।

अनेकान्तवाद यह जैन दर्शन का प्रधान विषय है, जैन तत्त्वज्ञान की सारी इमारत अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है, वास्तव में इसे जैन दर्शन के तात्विक विचारों की मूल भित्ति समझना चाहिए। अनेकान्त शब्द, एकान्तत्व-सर्वथात्व-सर्वथा एवमेव इस एकान्त निश्चय का निषेधक और विविधता का विधायक है, सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण समझकर ही जैन-दर्शन में अनेकान्तवाद को मुख्य स्थान दिया गया है। अनेकान्तवाद का अर्थ है, पदार्थ का भिन्न २ दृष्टि-विन्दुओं-अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना, तात्पर्य कि एक ही पदार्थ में भिन्न २ वास्तविक धर्मों का सापेक्षतया स्वीकार करने का नाम अनेकान्तवाद है। यथा एक ही पुरुष अपने भिन्न २ सम्बन्धीजनों की अपेक्षा से पिता, पुत्र और भ्राता आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है। इसी प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में विभिन्न अनेक धर्मो की सत्ता प्रमाणित होती है।

स्याद्वाद, अपेक्षावाद और कथंचित्वाद, अनेकान्तवाद के ही पर्याय समानार्थवाची शब्द हैं। स्यात् का अर्थ है कथंचित् किसी अपेक्षा से अर्थात् स्यात् यह सर्वथात्व-सर्वथापन का निषेधक अनेकान्तता का द्योतक कथंचित् अर्थ में व्यवहृत होने वाला $ अव्यय है कितने एक लोग "स्यात्" का अर्थ, शायद कदाचित् इत्यादि संशयरूप में करते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है।

$ क-अत्रसर्वथात्व निषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थेस्याच्छब्दोनिपातः।

[पंचास्तिकाय टीका-अमृतचन्द्रसूरि श्लो० १४]

ख-स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततःस्याद्वादः अनेकान्तवादः नित्यानित्यादि धर्मशबलैक-वस्त्वभ्युपगम इति यावत्।

[स्याद्वाद मंजरी का० ५ पृ० १५]

जैनदर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नहीं मानता उसके मत में पदार्थ मात्र ही अनेकान्त अर्थात् नित्यानित्यादि अनेक धर्म विशिष्ट है। केवल एक दृष्टि से किये गये पदार्थ निश्चय को जैनदर्शन अपूर्ण समझता है। पदार्थ का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसमें अनेक प्रतिद्वन्द्वी परस्पर विरोधीधर्म दृष्टिगोचर होते हैं। तव यदि वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही धर्म को लेकर उस वस्तु का निरूपण करे, और उसी को सर्वांश में सत्य समझें तो यह विचार अपूर्ण एवं भ्रान्त ही ठहरेगा। कारणकि जो विचार एक दृष्टि से सत्य समझा जाता है। तद्विरोधी विचार भी दृष्ट्यन्तर से सत्य ठहरता है।

उदाहरणार्थ किसी एक पुरुष व्यक्ति को ले लीजिये—अमुक नामका एक पुरुष है उसे कोई पिता कहता है-कोई पुत्र, कोई भाई कहता है और कोई भतीजा अथवा कोई चाचा या ताया कहता है। एक ही पुरुष की भिन्न २ संज्ञाओं के निर्देश से प्रतीत होता है कि उसमें पितृत्व पुत्रत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। अब यदि उसमें रहे हुए केवल पितृत्व धर्म की ही ओर दृष्टि रखकर उसे सर्व प्रकार से पिता ही मान बैठें तव तो बड़ा अनर्थ होगा। वह हर एक का पिता ही सिद्ध होगा परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, वह तो पिता भी है और पुत्र भी। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और स्वकीय पिता की अपेक्षा से वह पुत्र भी कहलायेगा। इसी प्रकार भिन्न २ अपेक्षाओं से इन सभी उक्त संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता है $। जिस तरह अपेक्षा भेद से एक ही देवदत्त व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व ये दो विरोधी धर्म अपनी सत्ता का अनुभव कराते हैं उसी तरह हर एक पदार्थ में अपेक्षा भेद से अनेक विरोधी धर्मों की स्थिति प्रमाण सिद्ध है। यही दशा सब पदार्थों की है उनमें नित्यत्व आदि अनेक धर्म दृष्टिगोचर होते हैं; इसलिये पदार्थ का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द के द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता और नाही वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही धर्म को स्वीकार करके अन्य धर्मों का अपलाप किया जा सकता है, अतः केवल एक ही दृष्टि विन्दु से पदार्थ का अवलोकन न करते हुए भिन्न २ दृष्टि विन्दुओं से उसका अवलोकन करना ही न्यायसगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप होगा। संक्षेप से जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का यही स्वरूप है।

विश्व के पदार्थों का भलीभांति अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे उत्पत्ति विनाश और स्थिति से युक्त हैं। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। जहां हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहां पर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है। उदाहरणार्थ सुवर्ण पिण्ड को ही लीजिये। प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गलाकर उसका कटक—कड़ा बना लिया गया और कटक का ध्वंस करके मुकुट तैयार किया गया। वहां पर स्वर्ण पिंड के विनाश से कटक की उत्पत्ति और कटक के

$ एकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधि भेदात् पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व, भागिनेयत्व, पितृव्यत्व भ्रातृत्वादि धर्माणां परस्पर विरुद्धानामपि प्रसिद्धि दर्शनात। [स्याद्वाद मंजरी, का० २४]

ध्वंस से मुकुट का उत्पन्न होना देखा जाता है, परन्तु इस उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। पिंड दशा के विनाश और कटक की उत्पत्ति दशा में भी सुवर्ण की सत्ता मौजूद है, एवं कड़े के विनाश और मुकुट के उत्पादकाल में भी सुवर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के केवल आकार विशेष का होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप स्थिति से च्युत नहीं होती। कटक कुण्डलादि सुवर्ण के आकार विशेष हैं, इन आकार विशेषों का ही उत्पन्न और विनष्ट होना देखा जाता है। इनका मूलतत्त्व सुवर्ण तो उत्पत्ति विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रमाणित हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव सिद्ध हैं। इस लिए जगत के सारे ही पदार्थ उत्पति विनाश और स्थितिशील हैं, यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है। इसी आशय से जैन ग्रन्थों में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"+ यह पदार्थ का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। जैन दर्शन में उत्पाद व्यय को पर्याय और ध्रौव्य को द्रव्य के नाम से अभिहित करके वस्तु-पदार्थ को द्रव्यपर्यायात्मक * भी कहा है। उसमें द्रव्यस्वरूप नित्य और पर्याय स्वरूप अनित्य है। द्रव्य नित्य स्थायी रहता है और पर्याय बदलते रहते हैं।

जैन दर्शन के इस सिद्धान्त का समर्थन वैदिक परम्परा के दर्शनशास्त्रों में भी स्पष्ट शब्दों मे किया गया है। उदाहरणार्थ-महाभाष्य के प्रणेता महर्षि पतंजलि मीमांसकधुरीण कुमारिलभट्ट के उल्लेख देखिये—

(१) महाभाष्य का लेख—

"द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णंकयाचिदाकृतयायुक्तं पिण्डोभवति पिंडाकृति मुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्यकटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्यायुक्तः खदिरांगारसदृशेकुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"

+ श्री उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू २९।

भाष्यम्—उत्पादव्ययौध्रौव्यच युक्त सतोलक्षणम्। यदुत्पद्यते यद्व्ययेति यच्चध्रुवं तत् सत् अतोऽन्यदसदिति।

तथा आगम पाठ—उप्पज्जेइवा विगमेइवा, धुवेइवा—

* वस्तुतत्त्वंच उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्-[स्याद्वादमंजरी]

वस्तुनःस्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमितिब्रूमः [स्या० वा० मंजरी]

अर्थात् द्रव्य-मूल पदार्थ नित्य और आकृति-आकार-पर्याय अनित्य हैं। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिंडरूप वनता है, पिंड का विध्वंस करके उसके रुचक-दीनार-मोहर वनाये जाते हैं, रुचकों का विनाश करके कड़े और कड़ों के ध्वंस से स्वस्तिक वनाते हैं एव स्वस्तिकों को गलाकर फिर स्वर्ण पिंड तथा उसकी विशिष्ट आकृति का उपमर्दन करके खदिरांगार सदृश दो कुंडल वना लिये जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आकार तो उत्तरोत्तर वदलते रहते हैं और द्रव्य वास्तव में वही है अर्थात् आकृतियों के विनाश होने पर भी द्रव्य शेष रहता है।

महाभाष्यकार के इस कथन से द्रव्य की नित्यता और पर्यायों की विनश्वरता ये दोनों बातें सुनिश्चित होगईं। तथा द्रव्य का धर्मी और पर्यायों का धर्म रूप से भी निर्देश होता है। सुवर्ण तथा मृत्तिका रूप द्रव्य धर्मी, कटक कुण्डल और घटशरावादि उनके धर्म कहे व माने जाते हैं। इनमे धर्मी अविनाशि और धर्म विनाशी-परिवर्तनशील है। कारण कि सुवर्ण तथा मृत्तिका के कटक कुंडल और घटशरावादि धर्म तो उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं। परन्तु सुवर्ण और मृतिका रूप धर्मी-द्रव्य तो धर्मों के उत्पाद और विनाशकाल में भी सदा अनुगत रूप से ही अपनी स्थिति का ज्ञान कराते हैं।

(२) महामति कुमारिलभट्ट का लेख वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक-अर्थात् उत्पत्ति विनाश और स्थितिरूप सिद्ध करने में स्वच्छ दर्पण के समान है, यथा—

"वर्द्धमानक भंगेच रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥२१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावेस्यान्मति त्रयम् ॥२२॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विनासुखम्।
स्थित्याविना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ॥२३॥

इन श्लोकों का सक्षिप्त भावार्थ यह है कि-स्वर्ण के प्याले को तोडकर जव उसका रुचक वनाया जावे तव जिसको प्याले की जरूरत थी उसको शोक और जिसे रुचक की आवश्यकता थी उसे हर्ष तथा जिसे स्वर्ण मात्र ही चाहिये था उसे हर्ष या शोक कुछ भी नही होता किन्तु वह मध्यस्थ ही रहता है, इससे प्रतीत हुआ कि वस्तु उत्पत्ति स्थिति और विनाश रूप है। क्योंकि उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये तीनों धर्म यदि वस्तु के न माने जावें तो शोक प्रमोद और माध्यस्थ्य इनकी कभी उपपत्ति नहीं हो सकती।

कुमारिलभट्ट के इस लेख से भी पदार्थ का व्यापक स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक ही सिद्ध होता है।

इनके अतिरिक्त प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखनेवाला ऋषि व्यासदेव प्रणीत-पातञ्जलयोग भाष्य का उल्लेख भी देखने योग्य है।

"तत्र धर्मस्य धर्मिणिवर्तमानस्यैवाध्वसु–अतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न द्रव्यान्यथात्वं यथा सुवर्णभाजनस्य भित्वान्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति" [विभूति पा० सूत्र ११ का भाष्य]

अर्थात् जैसे स्वस्तिकादि अनेक विध आकारों को धारण करता हुआ भी सुवर्ण पिंड अपने मूल स्वरूप का परित्याग नहीं करता, तात्पर्य कि रुचक स्वस्तिकादि भिन्न २ आकारों के निर्माण होने पर भी सुवर्ण असुवर्ण नहीं होता किन्तु उसके आकार विशेष ही अन्यान्य स्वरूपों को धारण करते हैं, इसी प्रकार धर्मी में रहने वाले धर्मों का ही अन्यथाभाव-भिन्न २ स्वरूप परिवर्तन होता है धर्मी रूप द्रव्य का नहीं। धर्मी द्रव्य तो सदा अपनी उसी मूल स्थिति में रहता है। तब इस कथन से धर्मों का उत्पाद विनाश और धर्मी का ध्रौव्य रूप निश्चित होने से वस्तु का उक्त स्वरूप सुतरां ही प्रमाणित हो जाता है।

इस प्रकार वस्तु के उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक होने से उसके दो स्वरूप प्रमाणित होते हैं एक विनाशी दूसरा अविनाशी। उत्पाद व्यय उसका विनाशी स्वरूप है जब कि ध्रौव्य उसका अविनाशी स्वरूप है। जैन परिभाषा में पदार्थ के विनाशी स्वरूप को पर्याय और अविनाशी को द्रव्य के नाम से कथन किया है। जैसा कि मैं ने पहले बतलाया है–जैन दर्शन को कोई भी वस्तु एकान्त नित्य अथवा अनित्य रूप से अभिमत नहीं वह सभी को नित्यानित्य उभयरूप मानता है। जिस प्रकार पदार्थ में नित्यत्व का भान होता है उसी प्रकार उसमें अनित्यता के भी दर्शन होते हैं। जब कि हमारा अनुभव ही स्पष्टरूप से पदार्थ में नित्यानित्यत्व की सत्ता को बतला रहा है तो एक को मानना और दूसरे को न मानना यह कहां का न्याय है?

पदार्थ को केवल एकान्त रूप से स्वीकार करने पर उसके यथार्थ स्वरूप का पूर्णतया भान नहीं हो सकता, कारण कि एकान्त दृष्टि अपूर्ण है। यदि पदार्थ को एकान्त नित्य ही मानें तो उसमें किसी प्रकार की परिणति नहीं होनी चाहिये, परन्तु होती है–उदाहरण स्वरूप सुवर्ण अथवा मृत्तिका को लीजिये। कटक कुंडल और घट शराव आदि सुवर्ण और मृत्तिका के ही परिणाम अथवा पर्याय विशेष हैं। इन प्रत्यक्ष सिद्ध पर्यायों का अपलाप कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार सर्वथा अनित्य भी वस्तु को नहीं कह सकते, क्योंकि कटक कुंडलादि में सुवर्ण और घट शराव आदि में मृत्तिका रूप द्रव्य का अनुगत रूप से प्रत्यक्ष भान हो रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु एकान्ततया नित्य अथवा अनित्य नहीं किन्तु नित्यानित्य उभय रूप है। द्रव्य की अपेक्षा वह नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।*

* "द्रव्यात्मनास्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा"

[स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ १५८]

यद्यपि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य हैं, इसी प्रकार द्रव्य धर्मी और पर्याय उसके धर्म, द्रव्य कारण और पर्याय कार्य, द्रव्य गुणी पर्याय गुण, द्रव्य सामान्य पर्याय विशेष एवं द्रव्य एक और पर्याय अनेक हैं। तथापि द्रव्य और पर्याय आपस में एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं हैं कारण कि द्रव्य को छोड़कर पर्याय और पर्यायों को छोड़कर द्रव्य नहीं रहता। अथवा यूं कहिये कि पर्याय द्रव्य से अलहदा नहीं हैं, और द्रव्य पर्यायों से पृथक् नहीं हो सकता। अत: ये दोनों ही सापेक्षतया भिन्न अथच अभिन्न हैं *। इसलिये पदार्थ न केवल द्रव्यरूप और न सर्वथा पर्यायरूप ही है किन्तु द्रव्य पर्याय उभयरूप है और उभयरूप से ही उसकी उपलब्धि होती है। सारांश कि द्रव्य और पर्याय धर्मी और धर्म, कारण तथा कार्य, जाति और व्यक्ति आदि एक दूसरे से न तो सर्वथा भिन्न हैं और न अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न उभयरूप हैं। जिस प्रकार इनका भेद सिद्ध है उसी प्रकार अभेद भी प्रामाणिक है। दूसरे शब्दों में-जिस प्रकार ये अभिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार इनमें विभिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। तब दो में से किसी एक का भी सर्वथा त्याग या स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: दोनों के अस्तित्व को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करना ही न्यायसंगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप प्रतीत होता है।

जैन दर्शन के अनेकान्त वाद का यही तात्पर्य है। वैदिक परम्परा के दार्शनिक विद्वानों ने भी तात्विक विचार में इस अनेकान्त वाद को अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में आदरणीय स्थान दिया है§

---

* दव्वं पज्जव विउअं दव्व विउत्ता पज्जवा णत्थि।
उप्पाय ट्ठिइ भगा हंदिदविय लक्खणं एयं [सन्मतितर्क १५]
छाया—द्रव्यं पर्याय वियुत द्रव्य वियुक्ताश्च पर्यवा न सन्ति।
उत्पादस्थिति भंगा हंत द्रव्य लक्षणमेतत्॥
इसके अतिरिक्त स्याद्वादमंजरी आदि ग्रंथों में इसी आशय का एक सस्कृत श्लोक देखने में आता है—
"द्रव्य पर्याय वियुत, पर्याया द्रव्य वर्जिता:।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा॥"

§ कुछ उदाहरण लीजिये—

(क) वाचस्पति मिश्र—

"अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति, नह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मीरूपवद् धर्मादित्वम्, नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्वं, सचानुभवोऽनैकान्तिकत्व-मवस्थापयन्नपि धर्मादिपूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतो व्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयत इति। तदनुसारिणो वयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया धर्मानुभवान् व्यवस्थापयितुमीश्महे इति।" [यो० भा० की तत्त्व-विशारदी टीका]

जिससे अनेकान्त वाद की व्यापकता और प्रामाणिकता में किसी प्रकार के भी सन्देह को अवकाश नहीं रहता।

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का संक्षिप्त स्वरूप आपको बतला दिया है। अधिक देखने की जिज्ञासा हो तो इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले, स्याद्वाद मंजरी, रत्नाकराव-तारिका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकान्त जयपताका और सन्मतितर्क प्रभृति ग्रन्थों का पर्यालोचन करें।

भावार्थ—हमारा अनुभव ही धर्म धर्मी के भेदाभेद को सिद्ध कर रहा है। धर्म और धर्मी आपस में न तो सर्वथा भिन्न हैं और नाही सर्वथा अभिन्न इनको यदि सर्वथा अभिन्न मानें तो सुवर्ण धर्मी और हार मुकुटादि उसके धर्म, इस भेदनिबन्धन लौकिक व्यवहार का लोप हो जायगा। एवं मृत्तिका रूप धर्मी के घट शराव आदि धर्मों में जो पारस्परिक भेद तथा भिन्न २ कार्य साधकता देखी जाती है उसका भी उच्छेद हो जायगा। इसी प्रकार सर्वथा अभिन्न भी नहीं मान सकते। यदि धर्मी से धर्मों को सर्वथा भिन्न स्वीकार किया जाय तो इनका कार्य कारण सम्बन्ध ही दुर्घट है, तब तो सुवर्ण से हार मुकुटादि और मृत्तिका से घट शराव आदि कभी भी उत्पन्न नहीं होने चाहिये। और नाही हार मुकुटादि सुवर्ण के तथा घट शराव आदि मृत्तिका के धर्म हो सकते हैं कारण कि ये दोनों (धर्म धर्मी) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। गाय और घोड़ा आपस में सर्वथा भिन्न हैं। जिस प्रकार इनका धर्म धर्मी भाव और कार्य कारण भाव सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार सुवर्ण, हार मुकुटादि, और मृत्तिका, घट शरावादि का धर्मधर्मीभाव और कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी अशक्य होजायगा परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सुवर्ण रूप धर्मी से हार मुकुटादि और मृत्तिका से घट शराव आदि का उत्पन्न होना सर्वानुभव सिद्ध है। इसलिये धर्म धर्मी के आत्यन्तिक भेद और अभेद का निरास करके उनके भेदाभेद को ही अबाधित रूप से अनुभव हमारे सामने सम्यक्तया उपस्थित करता है। जिस अनुभव ने हमारे सामने धर्म धर्मी की अनेकान्तता को उपस्थित किया है वही अनुभव हमारे समक्ष अनुगत रूप से धर्मी में एकत्व और व्यावृत्ति रूप से धर्मों में अनेकत्व के साथ २ धर्मी के अविनाशित्व और धर्मों की विनश्वरता को भी उपस्थित करता है हम तो अनुभव के अनुसार ही पदार्थों के स्वरूप की व्यवस्था करने वाले हैं; तब अनुभव जिस बात की आज्ञा देगा उसी को हम स्वीकार करेंगे, अनुभव का उल्लंघन करके अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वस्तु तत्त्व की व्यवस्था के लिये हम कभी तैयार नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त "स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का" [विभूति पाद सू० ४३] इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या में आप लिखते हैं—

"नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नोघटादिरभिन्नो वा, भिन्नत्वे गवाश्ववद् धर्मधर्मीभावानुपपत्तेः, अभिन्नत्वे धर्मीरूपवत्तदनुपपत्तेः, तस्मात् कथंचिद् भिन्नः कथंचिदभिन्नश्चास्थेयः तथा च सर्वमुपपद्यते"

सन्यासी महात्मा—महाराज ! सत्य कहता हूँ आज आपके मुखारविन्द से जैन दर्शन के अनेकान्त वाद का स्वरूप और उसका दार्शनिक समन्वय सुनकर मन को जितनी प्रसन्नता हुई है उसका शब्दों के द्वारा व्यक्त करना अशक्य है ! आप जितने त्यागी हैं उससे कहीं अधिक दर्शनों के प्रकांड विद्वान् हैं। आपको मिलकर अपार हर्ष हुआ।

वीकानेर दरवार—महाराज ! सबसे अधिक भाग्यशाली तो मैं हूँ जिसे न केवल आप श्री के दर्शनों का ही लाभ हुआ प्रत्युत ऐसे अश्रुतपूर्व दार्शनिक विषय को आपके मुखारविन्द से सुनने का भी पुण्य अवसर प्राप्त हुआ।

श्री ढड्ढासाहव*—महाराज ! मैं अपने पुण्यप्रभार की श्लाघा किन शब्दों में करूं आप जैसे परम-मेधावी परमत्यागी महापुरुष का मेरे यहां पधारना और स्वामीजी जैसे विद्वान् पुरुष का पदार्पण करना एवं हमारे अन्नदाता का यहां उपस्थित होना क्या मेरे लिये कम गौरव की वात है ? तीर्थङ्कर देव की साधु मुद्रा के प्रतीक रूप आप श्री की त्यागवहुल ज्ञानविभूति ने आज जिस निर्मल प्रकाश को प्रसारित किया है उसने मेरे हृदय को आलोकित करके भूरि २ सान्त्वना प्रदान की है, जिसके लिये मैं आप श्री का वहुत वहुत कृतज्ञ हूँ।

श्री आनन्दविजयजी—सज्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे साधारण व्यक्ति को भी अधिक से अधिक सम्मान देने का यत्न करते हैं। आप लोगों ने मेरे कथन को शान्ति पूर्वक सुना और उसमें

(ख) महामति कुमारिल भट्ट—

"इहानैकान्तिक वस्त्वित्येवं ज्ञान सुनिश्चितम्" [श्लो० वा० पृ० ६३३]

स्वरूप पर रूपाभ्यां नित्यंसदसदात्मके।

वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित् कदाचन ॥१२॥ [श्लो० वा० पृ० ४७६]

अर्थात् वस्तु, स्वरूप से सत और पर रूप से असत् एवं स्वरूप पर रूप से सदसद् उभयरूप है ॥

*नोट:—श्रीयुत् चांदमलजी ढड्ढा ओसवाल जाति के अग्रगण्य और राजमान्य व्यक्ति थे। जैन होते हुए भी अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों के अधिक सम्पर्क में आने तथा योग्य जैन साधुओ के सम्पर्क से अलग रहने के कारण उनका श्रद्धान जैनधर्म की अपेक्षा वैष्णव धर्म पर अधिक था। परन्तु जब से उन्हे महाराज श्री आत्मारामजी का सहयोग प्राप्त हुआ तब से उनके विचारों में और आस्था मे काफी अन्तर पड़गया। वे प्रथम केवल ठाकुरजी का ही पूजन किया करते थे। बाद में जब उनको वस्तुस्थिति का भान हुआ तो वे अपने नित्य के पूजन में श्री तीर्थंकर देव की मूर्ति की भी बड़ी श्रद्धा से अर्चा-पूजा करने लगे जो कि जीवन पर्यन्त करते रहे और जैन सिद्धान्तो से परिचय प्राप्त करने के लिये जैन ग्रन्थो का स्वाध्याय और जैन विद्वानों के समागम में भी आते रहे। "सता संगोहि भेषजम्" ।—लेखक

उपस्थित किये सद्विचारों को अनुमोदन दिया यह भी कोई कम हर्ष की बात नहीं है। अच्छा अब मेरे भी दैनिक साधु कृत्य का समय हो रहा है इसलिये आपसे विदा मांगता हूँ, "धर्म लाभ" इतना कहते हुए महाराज आनन्दविजयजी वहां से उठे और साथ में महात्माजी, दरबार बीकानेर और चांदमलजी ढड्ढा भी उठकर आप श्री को विदा करने के लिये साथ में आये और वन्दना नमस्कार करके वापिस लौटे। इधर महाराज श्री आनन्द-विजयजी भी अपने स्थान पर पहुंचकर अपने दैनिक धार्मिक कृत्य में लग गये।

अध्याय ६४

"जोधपुर का आमंत्रण"

—:❀:—

बीकानेर के चतुर्मास में जोधपुर के कुछ गण्य मान्य श्रावक आपके दर्शनों के लिये आये और दर्शन एवं वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर उन्होंने हाथ जोड़कर आपसे जोधपुर पधारने की विनति करते हुए कहा—

कृपानाथ ! चातुर्मास पूरा होते ही आप जोधपुर पधारने की कृपा करो। इस समय जोधपुर में आपकी उपस्थिति की बहुत आवश्यकता है। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जोधपुर में आये हुए हैं, जोधपुर दरबार और उनके भाई प्रतापसिंहजी दोनों स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों को बहुत अच्छा समझने लगे हैं और श्री प्रतापसिंहजी तो उनमें विशेष रूप से भाग लेने लग गये हैं। एक दिन दरबार श्री ने हम लोगों से फर्माया कि तुम्हारे जैनधर्म में कोई अच्छे महात्मा होवें तो बतलाओ, हमारी इच्छा है कि हम उनका स्वामीजी से वार्तालाप करावें और सत्यासत्य का निर्णय करें। तब हमने दरबार श्री से अर्ज किया कि महाराज ! इस समय जोधपुर में तो कोई खास ऐसे महात्मा नहीं है, परन्तु बीकानेर में पंजाब से आये हुए गुरु महाराज श्री आनन्दविजय-आत्मारामजी हैं जो कि इस समय जैनधर्म के सर्वोपरि महात्मा गिने जाते हैं उनका चतुर्मास बीकानेर में है, चौमासे में जैन साधु एक ही स्थान में रहते हैं किसी दूसरे ठिकाने नहीं जाते। तथा जैन साधु पैदल भ्रमण करते हैं किसी प्रकार की भी सवारी नहीं करते। हजूर की आज्ञा हो तो बीकानेर जाकर हम उनको जोधपुर पधारने की विनति करें, यदि उनकी इच्छा होगी तो चौमासे के बाद वे इधर को विहार कर देंगे और लगभग दो तीन मास तक यहां पधार जावेंगे।

महाराज ! हमारे इस कथन को सुनकर दरबार श्री ने फर्माया कि आप लोग अवश्य बीकानेर जाकर उनसे जोधपुर पधारने की प्रार्थना करो और हमारी तर्फ से भी उनकी सेवा में नमस्कार पूर्वक यहां पधारने की अर्ज करनी इत्यादि। सो कृपानाथ ! चौमासा उठते ही आप जोधपुर पधारने की अवश्य कृपा करो।

गुरुमहाराज—भाई ! तुम लोगों की विनति तो मुझे स्वीकार है परन्तु इस वक्त हमारा एक साधु बीमार पड़ा है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यहां से कब विहार होगा, यदि ज्ञानी ने क्षेत्र फरसना देखी होगी तो विहार के समय देखा जायगा, हमने गुजरात को जाना है सो जोधपुर होते हुए चले जावेंगे। सरकार को हमारी तर्फ से धर्मलाभ कह देना। महाराज श्री को विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर विनति करने वाले श्रावकों ने वापिस जोधपुर आकर सरकार को सब समाचार सुना दिया।

जोधपुर दरबार—(उक्त समाचार को सुनकर)-हमारी इस नगरी का यह अहोभाग्य है जो कि दो महान् व्यक्तियों का मिलाप होगा और उनके मुखारविन्द से धर्म सम्बन्धी वार्तालाप सुनने का शुभ अवसर प्राप्त होगा। उससे मुझे और मेरी प्रजा को जो लाभ होगा उस का तो कहना ही क्या है। अच्छा! उस शुभ दिन की प्रतीक्षा करनी होगी।

जिस समय जोधपुर दरबार यह कह रहे थे उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी भी वहां पर उपस्थित थे उन्होंने भी इस समाचार का सहर्ष अनुमोदन किया और कहा कि वह दिन मेरे लिये भी बड़े हर्ष का होगा जबकि पंजाब के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् जैन मुनि का मिलाप होगा और उससे धर्मसम्बन्धी वार्तालाप का अवसर मिलेगा।

इतने वार्तालाप के बाद श्रावक लोग तो वहां से विदा होकर अपने २ घरों को वापिस आगये, सरकार और स्वामी जी वहीं पर विराजे रहे।

अध्याय ६५

"मिलाप में दैवका हस्तक्षेप"

यद्यपि दरबार जोधपुर की यह उत्कट इच्छा थी कि इन दोनों महापुरुषों का जोधपुर में मिलाप हो और इस मिलाप में होनेवाले वार्तालाप को जोधपुर की सारी प्रजा सुने, परन्तु कुदरत को यह मन्जूर नहीं था इसलिये जोधपुर नरेश की भावना सफल न हो सकी। कहते हैं कुदरत दो महारथियों का मेल नहीं होने देती, एक वासुदेव का दूसरे वासुदेव से मिलाप नहीं होने पाता। तात्पर्य कि दैव की प्रतिकूलता में मनुष्य का सारा ही प्रयास निष्फल हो जाता है।

श्रावक वर्ग के चले जाने के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने जोधपुर नरेश से कहा—सरकार! जिस जैन महात्मा से मिलने का प्रस्ताव हुआ है वे अभी बीकानेर में विराजमान हैं-चातुर्मास की समाप्ति पर वे वहां से चलेंगे उन्होंने पैदल सफर करना है अतः यहां पहुंचते उन्हें कम से कम दो मास लगेंगे, तबतक उनकी प्रतीक्षा में यहां बैठा रहना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता और उधर अजमेर में कुछ काम भी है, अतः अजमेर जाकर मैं अपना दूसरा आवश्यक काम निमटालूं और जिस समय आपकी सूचना मुझे मिलेगी मैं यहां पहुँच जाऊंगा इससे समय का भी सदुपयोग हो जावेगा और मिलाप भी बन सकेगा।

जोधपुर नरेश—बहुत अच्छा आप अजमेर हो आइये, तब तक जैन मुनि भी आजावेंगे और आपको आने की सूचना भी करादी जावेगी।

इतना वार्तालाप होने के बाद स्वामीजी जोधपुर से अजमेर को रवाना होगये। परन्तु कुछ ही दिनों बाद उनका वहीं पर स्वर्गवास होगया। सारे विचार धरे के धरे ही रह गये और मिलाप का किस्सा ही खतम होगया। दैव के इस प्रतिकूल हस्तक्षेप ने मिलाप का सारा ही खेल मिट्टी में मिला दिया।

इधर महाराज श्री आनन्दविजय-आत्मारामजी ने जोधपुर पहुंचने के लिये चौमासा उठते ही अपने बीमार साधु को साथ लेकर अन्य शिष्य परिवार के साथ बीकानेर से विहार कर दिया और शनैः २

विहार करते हुए जोधपुर पधारे। आपश्री के जोधपुर पधारने का समाचार मिलते ही वहाँ के संघ में भी आनन्द की एक अपूर्व लहर दौड गई, उसने दिल खोलकर आपश्री का स्वागत किया।

आर्यसमाज नाम के एक नवीन मत के संचालक तथा परम पवित्र जैनधर्म पर प्रमाण शून्य असभ्य आक्षेप करने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ वार्तालाप करने के निमित्त बीकानेर से सतत विहार करके जोधपुर पहुंचने के बाद जब महाराज श्री आनन्दविजयजी को स्वामी दयानन्द सरस्वती के देहान्त का समाचार मिला तो आप आश्चर्य चकित हो अवाक् से रहगये! भाविभाव की अमिटता और जीवन की क्षण-भंगुरता आपके सामने मूर्तरूप में आभासित होने लगी। पास में बैठे हुए श्रावक वर्ग को सम्बोधित करते हुए आप बोले—भाइयो! यह मानव जीवन जितना दुर्लभ है उतना ही अस्थिर भी है। इसकी स्थिति कुशा के अग्रभाग में स्थित जल बिन्दु से भी कम है। इसलिये जहां तक बने और जितना शीघ्र बने इस मानव प्राणी को धर्म संचय की ओर प्रस्तुत होने का यत्न करना चाहिये।

स्वामी दयानन्दजी से मिलने और उनसे वार्तालाप करने की जोधपुर दरबार की ओर से की गई विज्ञप्ति को मान देकर मैं बीकानेर से चल कर यहां आया परन्तु दैव को यह मिलाप मन्जूर नहीं था। मेरे यहां आने से पहले ही स्वामीजी स्वर्ग-सिधार गये। जीवन की अस्थिरता का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है। भारत के ज्ञान सम्पन्न तपोनिधि, महर्षियों ने इसी विचार से मानव भव प्राप्त प्राणियों को अधिक से अधिक धर्मध्यान में प्रवृत्त होने का आदेश दिया है। अस्तु, इतना कहकर आप चुप हो गये।
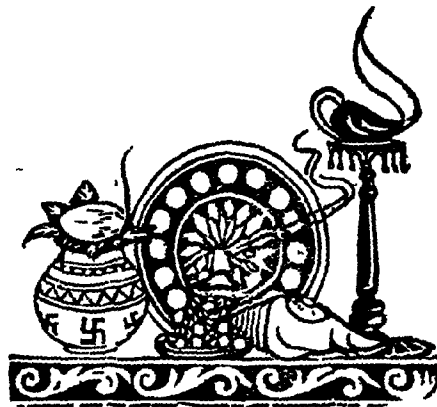
अध्याय ६६

श्री प्रतापसिंहजी से वार्तालाप

आपश्री के जोधपुर पधारने का समाचार प्राप्त होने के बाद एक दिन जोधपुर नरेश के भाई श्री प्रतापसिंहजी आपके दर्शनों को आये। आते ही आपने नमस्कार किया और उत्तर में महाराज श्री ने धर्मलाभ दिया। श्री प्रतापसिंहजी-(महाराजश्री के सन्मुख उचित स्थान पर बैठने के बाद) महाराज! आप यहां पधारे यह हम सब का अहोभाग्य है परन्तु हमने जिस सदिच्छा को लेकर आपको यहां पधारने का कष्ट करने की प्रार्थना की थी वह तो सब स्वप्न होगया। हमारा सारा उत्साह नष्ट होगया। हमारी यह भावना थी कि इधर आप पधारेंगे और उधर स्वामीजी भी यहां आजावेंगे, दोनों महापुरुषों का कतिपय धार्मिक विषयों पर निर्णयात्मक वार्तालाप होगा और हम सब लोग उसे शांतिपूर्वक सुनेंगे और सुनकर किसी यथार्थ निश्चय पर पहुंचेंगे। मगर अफ़सोस! कि श्री स्वामीजी यहां से अजमेर पहुंचते ही कुछ दिनों के बाद परलोक सिधार गये। और हमारी यह मिलाप की भावना फलीभूत न हो सकी।

श्री आनन्दविजयजी—(कुछ गम्भीरता से) राजन्! स्वामीजी की असामयिक मृत्यु का खेद तो अवश्य है परन्तु क्या किया जाय भाविभाव के आगे किसी का भी कुछ चारा नहीं चलता। इस जीवने अपने पूर्व भव में जितने आयु कर्म का बन्ध किया है उसके समाप्त हो जाने पर कोई भी इसको रख नहीं सकता। आयु कर्म के क्षय होने पर सब के लिये यही अन्तिम मार्ग है। यह अमिट अपरिहार्य है। इसीलिये मानव प्राणी को सचेत करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

> अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
> नित्यं संनिहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्मसंचयः॥ १॥

अर्थात् यह शरीर नाशवान है यह सांसारिक वैभव सदा स्थिर रहने वाला नहीं और मृत्यु हर समय पास में ही है ऐसा विचार कर इस मनुष्य को धर्म के संचय-उपार्जन की ओर प्रवृत्त होना चाहिये।

धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जिसके अनुसरण से मानव इस जन्म मरण परम्परा से छुटकारा हासल कर सकता है। इसलिये राजन्! इन आपात रमणीय सांसारिक विषय भोगों में अधिक आसक्त न होकर पुण्य संयोग से प्राप्त हुए मानव भव की अस्थिरता को ध्यान में रखकर जितना वने उतना शुभकर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने का यत्न करना चाहिये।

श्री प्रतापसिंहजी—महाराज! आपसे मिलकर मुझे वहुत आनंन्द हुआ। मेरे शोक सन्तप्त हृदय को आपके इस उपदेशामृत से जो शान्ति और सान्त्वना मिली है उसके लिये मैं आपश्री का वहुत ही कृतज्ञ हूँ। आपके इस थोड़े समय के सत्संग से ही मेरे हृदय को वहुत सन्तोष प्राप्त हुआ है। कुछ समय मौन रहने के वाद फिर वोले—महाराज! कुछ अर्ज करना चाहता हूँ यदि आज्ञा हो तो करूं?

श्री आनन्द विजयजी—करो वड़ी खुशी से करो। फकीरों का दरवाजा तो हर किसी के लिये हर समय खुला रहता है, आप तो एक सम्मान्य सद्‌गृहस्थ हैं, आपके साथ वार्तालाप करने में तो मुझे भी आनन्द आयगा। इसलिये आप जो कुछ भी पूछना चाहते हैं खुशी से पूछें। मैं उसका यथामति उत्तर देने का अवश्य यत्न करूंगा। और हमारा यह वार्तालाप तो प्रेम मूलक वार्तालाप है, इसमें सद्‌भावपूर्वक विचार विनिमय के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की भावना को तो कोई स्थान ही नहीं अतः आप जो कुछ भी कहना या पूछना चाहें विना संकोच कहें या पूछें!

श्री प्रतापसिंहजी—महाराज! कहते हुए कुछ संकोच तो होता है मगर आपकी उदार मनोवृत्ति और प्रतिभा-सम्पत्ति की ओर ध्यान देते हुए किसी निश्चय पर पहुंचने की खातिर कहना भी उचित प्रतीत होता है। आप जैसे उदार चेता ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष का सहयोग मिलना, यह भी हम लोगों के किसी शुभकर्म का ही फल है, इसलिये ऐसे लाभ के अवसर को खो देना भी मूर्खता होगी। जो वातें मैं आपसे पूछने लगा हूँ उन्हीं के सम्बन्ध में स्वामीजी के साथ आपका वार्तालाप कराने की मेरी इच्छा थी, परन्तु वह तो पूरी न हो सकी। स्वामीजी तो इस संसार से चल वसे और उनके दिये हुए विचार यातो उनकी लिखी हुई पुस्तकों में हैं, या उनके अधिक सम्पर्क में आने वाली व्यक्तियों के हृदय पर अंकित हैं, मगर वे कहां तक युक्तियुक्त हैं इसका निर्णय तो आप जैसे अन्य विद्वानों के साथ वार्तालाप करने से ही हो सकता है। इसी विचार को लेकर आज मैं आपसे पूछने लगा हूँ, उसमें यदि कोई अवज्ञा हो तो आप मुझे क्षमा करें!

श्री आनन्द विजयजी—राजन्! आप जो चाहें पूछें, संकोच की कोई आवश्यकता नहीं। अव रही मान या अपमान की वात, सो साधु तो इन दोनों से ही पृथक् होता है!

श्री प्रतापसिंहजी—तो क्या महाराज! जैनमत नास्तिक है? स्वामीजी से जव कभी जैनमत विषयक वार्तालाप करने का अवसर मिला तव ही उन्होंने कहा कि यह तो वेदनिन्दक अनीश्वरवादी नास्तिक मत है इसकी तो चर्चा ही करनी व्यर्थ है इत्यादि।

स्वामीजी के इस कथन मे कितना औचित्य है यह मै आपसे जानना चाहता हूॅ। इसके अतिरिक्त आर्य समाज के कतिपय अन्य सिद्धान्तों पर भी आपश्री के तटस्थ विचारों को श्रवण करने की मेरी अभिलाषा है।

श्री आनन्द विजयजी—आपके इन प्रश्नों के सम्बन्ध मे विचार करने से पहले मैं एक बात की ओर आपका ध्यान खेचना चाहता हूँ। किसी भी मत या सम्प्रदाय की आलोचना से पहले उस मत के प्रवर्तक के अन्तरंग और बाह्य जीवन का भलीभांति निरीक्षण करना चाहिये। उसके अनन्तर उसने जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका अवलोकन भी आग्रह-रहित शुद्ध मनोवृति से करना चाहिये। सत्यगवेषक मनोवृति में आग्रह को स्थान नहीं होता। आजकल मतमतान्तरों मे जो अनिच्छित सघर्ष पैदा हो रहा है उसका कारण भी आग्रही संकुचित अथच दूषित मनोवृत्ति है। इसलिये जो व्यक्ति सत्य की गवेषणा करना चाहता है उसे सर्वप्रथम अपनी मनोवृत्ति को शुद्ध करना चाहिये। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिविम्बित होने वाली वस्तु अपने असली स्वरूप में दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार शुद्ध मनोवृत्ति से अवलोकन किया गया पदार्थ भी अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रकट हो जाता है अर्थात् उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टभान होने लगता है। अस्तु,
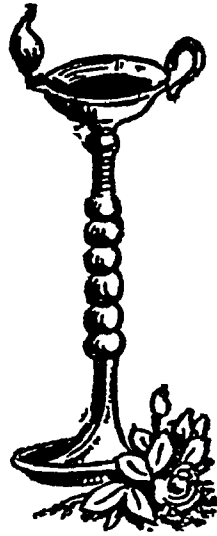
अध्याय ६७

"आस्तिक नास्तिक शब्द का परमार्थ"

—:❀:—

अब आप अपने प्रश्नों के उत्तर की ओर भी तटस्थ मनोवृत्ति से ध्यान देने की उदारता करें।

भारतीय दर्शनों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, एक वैदिक दूसरी अवैदिक। वेदोपजीवि अर्थात् वेदों के आधार से वस्तुतत्व का निर्वचन करने वाले दर्शन वैदिक, और वेदों की अपेक्षा न रखकर वस्तु स्वरूप का निरूपण करने वाले दर्शन अवैदिक कहे व माने जाते हैं। पहली श्रेणी में, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त आदि की गणना है, जब कि दूसरी श्रेणी में चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि दर्शनों का निर्देश कियाजाता है। इनमें केवल अनात्मवादी चार्वाकूदर्शन को छोड़कर बाकी के सभी दर्शन आत्मवादी होने के नाते आस्तिक हैं।

आस्तिक और नास्तिक दोनों शब्द आत्मा और परलोक के स्वीकार तथा निषेध के बोधक हैं। अतः जो दर्शन इस पांच भौतिक या औदारिक शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता और उसके आवागमन को मानता है वह आस्तिक है, और जो इन दोनों बातों से इनकार करता अर्थात न तो शरीर से अतिरिक्त किसी चेतन सत्ता का स्वीकार करता है और न उसके आवागमन को मानता है वह दर्शन नास्तिक कहलाता है। शब्द शास्त्र के अनुसार आस्तिक और नास्तिक शब्द का व्युत्पत्तिजन्य सर्व सम्मत अर्थ भी यही है ¶

¶ अस्ति नास्ति दिष्टं मति. [पाणिनीय व्याकरण सू० ४।४।६०]

· · ······· अस्ति परलोकः, इत्येवं मतिर्यस्य सः आस्तिकः, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः इत्यादि।

अर्थात् परलोक है ऐसी जिनकी मति-धारणा है वह आस्तिक और परलोक नहीं ऐसी धारणा रखने वाला नास्तिक कहलाता है।

महाभाष्यम्—कि यस्यास्तिमतिः आस्तिकः किञ्चात श्चौरेपि प्राप्नोति। एवं तर्हि इति लोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अस्तीत्यस्यमतिः आस्तिकः नास्तीत्यस्यमति. नास्तिकः। [पतञ्जलिः]

प्रदीपम्-अस्ति, चौरेऽपीति-तस्यापिमति सद्भावात्।

जैन दर्शन आत्मा और परलोक का भूरि २ समर्थक है इसलिये अध्यात्मवादी आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में अपना मुख्य स्थान रखता है। बस यही आस्तिकता और नास्तिकता का परमार्थ है जो कि सक्षेप से मैंने आपके सामने प्रस्तुत करदिया है। अब आइये स्वामी दयानन्दजी के कथन की ओर। सो उनका कथन तो मुझे ऐसा ही लगता है जैसे कोई मुसलमान यह कहता है कि "जो कोई खुदा के कलाम कुरानशरीफ पर ईमान नहीं लाता वह काफर है" काफर और नास्तिक दोनों एक ही अर्थ के परिचायक हैं। तब यदि एक मुसलिम व्यक्ति के उक्त कथन को सत्य मानकर कुरान को प्रमाण न मानने वाले मैं आप और आपके स्वामीजी आदि हम सब काफर बन सकते हैं, [कुफर-झूठ बोलने वाले हैं] तो जैनधर्म भी नास्तिकता की श्रेणी मे परिगणित किया जा सकता है, इससे अधिक स्वामीजी के कथन में कोई और तथ्य हो तो आप बतला दीजिये।

वेदोपजीवी न होने से जैनदर्शन को नास्तिक कहना यह तो उसके साथ अन्याय करना है! वास्तव में विचार किया जाय तो जैनदर्शन वेदों का निन्दक नहीं अपितु "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम:" इत्यादि वैदिक श्रुतियों के आधार से किये जाने वाले पशुबलिप्रधान वैध यज्ञों का विरोध करता है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इस मान्यता को "अहिंसा परमोधर्मः" के अनन्योपासक जैनधर्म में कोई स्थान नहीं, यदि इसी हेतु से जैनधर्म को नास्तिक कहा व माना जाता है कि वह धर्म के नाम से की जाने वाली मूक प्राणियों की हत्या को अधर्म कहकर उसका विरोध करता है तो ऐसी नास्तिकता को स्वीकार करने में वह अपना अहोभाग्य समझता है।

इसके अतिरिक्त इन वैध यज्ञों का उपनिषद्, महाभारत और भागवतादि वेदोपजीवी ग्रन्थों मे भी बड़े तीव्र शब्दों में प्रतिवाद किया § गया है अतः अवैदिकता भी नास्तिकता का हेतु नहीं है। तात्पर्य कि वेदों को

अचेतनश्चपदार्थो नास्तिकः स्यादितिवक्तव्यम्, न्यायस्य तु प्रदर्शनात् भाष्यकारेण प्रतिपदं नोक्तम्। अस्तीत्यस्येति परलोक कर्तृका सत्ता विज्ञेया। तत्रैव विषये लोके प्रयोग दर्शनात्, तेन परलोकोऽस्ति, इति मतिर्यस्य स आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः॥ इति कैयट॥

§ क —प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा:, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतत्-श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा:, जरामृत्युं पुनरेवापि यति॥ ७॥
[मुंडकोपनिषद्]

महाभारत शांतिपर्व अध्याय २८३ पिता पुत्र के संवाद में लिखा है—

"पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिवप्राज्ञ:, क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत्॥ ३३॥

(ख)—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४ अध्याय २५

प्राचीन बर्हिष राजा के प्रति नारद का कथन—

भोभोः प्रजापतेः ! राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे ।
संज्ञप्तान् जीवसंघान्, निर्घृणेन सहस्रशः ॥ ७ ॥
एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तोवैशसं तव ।
संपरेत मयैः कूटैः, छिन्दन्त्युत्थित मन्यवः ॥ ८ ॥

महाभारत शांतिपर्व मोक्षाधिकार २७३ में यज्ञीयहिंसा का निषेध इस प्रकार किया है —

तस्यतेनानुभावेन, मृगहिंसात्मनस्तदा ।
तपोमहत्समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया ॥ १८ ॥

भा०—स्वर्ग के अनुभाव से एक मुनि ने मृग की हिंसा की। तब उस मुनि का जन्म भर का बड़ा भारी तप नष्ट होगया इसलिये हिंसा यज्ञ के लिये हितकर नहीं है।

महाभारत शांतिपर्व मोक्षा० अ० १६५ —

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥
स्वस्तिगोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां ही प्रवृत्तायामाशीरेषां तु कल्पिता ॥ ३ ॥
अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनु वर्णिता ॥ ४ ॥
सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।

महाभारत आश्वमेधिक पर्व अध्याय ६१ में —

आलम्भ समयेप्यस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज ! बभूवुः कृपयान्विता. ॥ ११ ॥
ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥ १२ ॥
अपरिज्ञानमेतत्ते, महान्तं धर्ममिच्छतः ।
नहि यज्ञे पशुगणा विधि दृष्टाः पुरन्दर ! ॥ १३ ॥
धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो !
नायं धर्मकृतो यज्ञो, न हिंसा धर्म उच्यते ॥ १४ ॥
विधि दृष्टेन यज्ञेन, धर्मस्तेषु महान् भवेत् ।
यज्ञबीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्ष परमोषितैः ॥ १५ ॥

अध्याय ६८

'अनीश्वरवाद भी नास्तिकता का कारण नहीं'

आपके स्वामीजी ने जैनों को अनीश्वरवादी कह कर नास्तिक ठहराया, अर्थात् जैन दर्शन ईश्वर को नहीं मानता इसलिये वह नास्तिक है, उनका यह कथन भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैनदर्शन ईश्वर को तो मानता है परन्तु उसे सृष्टिकर्ता नहीं मानता। यदि सृष्टिकर्ता न मानने का नाम ही अनीश्वरवाद है तब तो जैन दर्शन अपने को अनीश्वरवादी कहने में कोई दोष नहीं समझता। अगर इस दृष्टि से उसे अनीश्वरवादी कहा जाय तो वह उसे मुक्तकंठ से स्वीकार करेगा। तब यदि इस प्रकार के अनीश्वरवाद को नास्तिकता का कारण मान लिया जाय तो जैनदर्शन की भांति सांख्य और मीमांसादर्शन तो नास्तिकता की प्रथम कोटि में गिने जाने चाहिये। वेदों को अपौरुषेय और परम प्रमाण मानने वाले ये दोनों दर्शन स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करते हैं। इनमें जितनी प्रबलता से ईश्वरकर्तृत्ववाद का खडन किया है उससे तो जैन दर्शन में बहुत कम देखने में आता है।

जैन और बौद्ध धर्म के प्रबल विरोधी मीमांसिकधुरीण कुमारिलभट्ट ने तो यहां तक लिखा है कि "बिना प्रयोजन के कोई मूढ़ पुरुष भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तो ईश्वर का सृष्टि रचने मे क्या प्रयोजन है?" यदि ईश्वर इस सृष्टि की रचना न करता तो उसका कौनसा ऐसा काम था, जो अधूरा पड़ा रहता ?× एव सांख्य दर्शन भी प्रकृति पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य ईश्वरादि पदार्थ को नहीं मानता। परन्तु ईश्वरवाद का स्पष्ट शब्दों मे प्रतिवाद करने वाले इन दोनों दर्शनों को आज तक किसी ने भी नास्तिक नहीं कहा। न तो स्वामी दयानन्दजी ने और न अन्य किसी प्रमाणिक विद्वान् ने। जब कि जैनदर्शन की भाति ये दोनों भी अनीश्वरवादी हैं। बल्कि कुमारिलभट्ट ने तो यहां तक लिखा है कि "जो लोग नास्तिकता

× प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।
जगच्चासृजतस्तस्य किंनामेष्टं न सिध्यति [श्लो॰ वार्तिक]

की ओर जा रहे हैं उन्हें आस्तिकता के मार्ग पर लाने के लिए मेरा यह प्रयत्न है"* ऐसी परिस्थिति में जैन दर्शन को अनीश्वरवादी कह कर नास्तिक बतलाने या सिद्ध करने की चेष्टा करना कहा तक उचित है इसका विचार आप स्वयं करें।

आपने फिर कहा—राजन ! बुरा न मानना, यदि मै स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो स्वामी दयानन्दजी ने जैनधर्म के विषय में जो कुछ कहा व लिखा है वह सब उनकी परमत विद्वेषपूर्ण दूषित मनोवृत्ति का ही परिणाम है। ऐसी मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति से—फिर वह कितना ही विद्वान् या प्रतिभाशाली क्यों न हो वस्तुतत्त्व के यथार्थ निर्णय की आशा रखना ऐसा ही है जैसा कि बालुका के कणों से तेल की आशा करना। स्वामी दयानन्दजी को जैन धर्म का कुछ भी बोध हो अथवा उन्होंने जैनशास्त्रों का थोड़ा बहुत स्वाध्याय भी किया हो या जैन धर्म को समझने का कुछ भी प्रयत्न किया हो, ऐसा उनके लेखों से प्रमाणित नहीं होता ! दूसरे शब्दों मे कहूँ तो जैनधर्म के विषय में वे बिल्कुल कोरे थे।

ऐसी दशामे बिना समझे सोचे उन्होने जैनधर्म और उसके अनुयायिवर्ग पर जो असभ्य आरोप किये हैं, यह सब कुछ उनके परमत विद्वेष की भावना से भरे हुए व्यक्तित्व को ही आभारी है। वे कहते हैं कि—"स्वामी शकराचार्य का अद्वैत मत ठीक नहीं है। हां अगर जैनों के खंडन के लिये उन्होंने इस मत का स्वीकार किया हो तो अच्छा है" उनके ये शब्द किसी प्रकार की व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखते इनसे जैनधर्म के प्रति उनकी मनोवृत्ति कैसी थी इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर वे यदि जैनों को नास्तिक कहें व मानें तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है। अब आप स्वयं विचार करें कि जैन मत नास्तिक है या आस्तिक ? मैंने तो जो कुछ संक्षेप से कहना था वह कह दिया।

श्री प्रतापसिंहजी—महाराज ! मैं तो समझता था कि आप केवल जैनधर्म के ही ज्ञाता होंगे परन्तु आप तो जैन जैनेतर सभी शास्त्रों के पारंगत प्रमाणित हुए ! आस्तिक नास्तिक शब्द का इतना सुन्दर और तलस्पर्शी प्रामाणिक विवेचन सुनने का मेरे जीवन में यह पहला ही अवसर है। आजतक तो मै यही समझता रहा कि जैनधर्म वेद विरोधी एक नास्तिक धर्म है, परन्तु आज आपने आस्तिक नास्तिक का जो परमार्थ समझाया है उससे तो मेरी आंखे खुल गई और मुझे स्पष्ट अनुभव होने लगा कि मेरी पहली विचारधारा भ्रान्त थी अतएव मुझे उसका त्याग कर देना चाहिये और मैने अब उसे अपने मन से निकाल भी दिया है।

---

* प्राय एव हि मीमांसा लोकैलोकायती कृता।
तामास्तिकपथेनेतुं, प्रयत्नोऽयं कृतो मया ॥ १ ॥
[तंत्रवार्तिक]

आपके साधु समागम में आने का यह मुझे अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है। अच्छा अब आप आर्यसमाज और उसके कतिपय सिद्धान्तों के विषय में भी थोड़ासा स्पष्टीकरण करने की कृपा करें। आप श्री के भाषण में जितना माधुर्य है, और वर्णनशैली जितनी आकर्षक अथच हृदयस्पर्शी है उसको देखते हुए तो कोई भी विचारशील पुरुष आपके आदर्श व्यक्तित्व के सामने नतमस्तक हुए विना नहीं रह सकता। आपश्री के पुनीत दर्शनों से मेरे हृदय को जो सन्तोष और सान्त्वना मिली है उससे तो मैं—

"गंगापापं शशीतापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापंतापं च दैन्यं च हरति साधु समागमः॥"

इस श्लोक के भावार्थ को यहां प्रत्यक्ष रूप में चरितार्थ होते देख रहा हूँ।

श्री आनन्दविजयजी—राजन! यह तो आपका प्रकृतिसिद्ध सौजन्य है जो आप मेरे विषय में इस प्रकार के उद्गार निकाल रहे हैं। मैं तो इस योग्य नहीं हूँ, अस्तु अब हम आर्यसमाज के विषय मे विचार करे। "आर्यसमाज" इस शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य यौगिक अर्थ होता है श्रेष्ठ पुरुषों का समुदाय। आर्य नाम श्रेष्ठ का है, समाज समुदाय को कहते है। तब, ससार मे जितने भी श्रेष्ठ पुरुष हैं उन सब के समुदाय या समूह को आर्यसमाज इस नाम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। परन्तु आपने जिसको लक्ष्य रखकर प्रश्न किया है वह इससे भिन्न और केवल स्वामी दयानन्दजी की ओर से दी गई "आर्यसमाज" इस सज्ञा-नाम से निर्दिष्ट होने वाला सज्ञावाची रूप शब्द है। दूसरे शब्दों मे कहूँ तो स्वामी दयानन्दजी के विचारों का अनुसरण करने वाले पुरुषों का समुदाय आर्यसमाज। अत: आर्यसमाज के सिद्धान्त या मन्तव्य वे ही हो सकते हैं जो कि स्वामी दयानन्दजी के थे। तब आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर विचार करने का अर्थ होता है स्वामी दयानन्दजी के सिद्धान्तों का अवलोकन करना। परन्तु स्वामीजी के जीवन का अध्ययन करने से मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनका कोई भी निश्चित सिद्धान्त नहीं था। एक वक्त था जब कि वे मुक्तात्मा का पुनरागमन नहीं मानते थे फिर एक वक्त आया जब कि आप इसका तीव्र विरोध करने लगे और मुक्त जीवों की पुनरावृत्ति मानने लगे। इसी प्रकार एक समय था जब कि आप शैव मत का प्रचार करते, रुद्राक्ष पहनते और शिवलिंग का पूजन करते थे। फिर कुछ समय बाद आप उसका खंडन करने लगे। इसी भांति एक समय उन्होंने मृतक का श्राद्धतर्पण करना वेद विहित कहा और फिर कुछ समय बाद उसी को वेद विरुद्ध बतलाया। इन बातों से प्रतीत होता है कि वे अभीतक किसी निश्चित सिद्धान्त तक नहीं पहुंच पाये थे। क्या मालूम यदि वे कुछ काल और जीवित रहते तो अपने विचारों में क्या २ परिवर्तन $ करते।

$ आपश्री के इस कथन को स्वर्गीय लाला लाजपतराय के निम्न लिखित उल्लेख से और भी समर्थन प्राप्त होता है यथा—

"हम को भली भांति विदित है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन में कई बार अपनी सम्मतिए पलटी।

इसलिये जिनके विचार इतने अस्थिर हों उनके किसी भी विचार को सिद्धान्त समझ कर उसपर ऊहापोह करना यह भी मस्तिष्क को श्रम देना और समय को व्यर्थ यापन करना होगा। तो भी आपकी जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए कतिपय विषयों पर संक्षेप से विचार करलेना भी अनुचित प्रतीत नहीं होता।

(१) जैन दर्शन के सिद्धान्तानुसार इस अनादि सृष्टि में यह जीवात्मा स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार की ऊंची नीची योनियों में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के सुख दुःखों का अनुभव करता चला आ रहा है। जब कभी इस मानव शरीर में आने के बाद उसे जन्म मरण परंपरा के हेतुभूत कर्मों से छुटकारा देने वाले साधनों की उपलब्धि हो जाती है, और वह उन साधनों के द्वारा इन कर्मों का नाश करके अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करलेता है उसका यह वास्तविक शुद्ध स्वरूप ही परमात्म-स्वरूप हो जाता है, इस परमात्मस्वरूप को प्राप्त करलेने के बाद उसका संसार भ्रमण सदा के लिये बन्द हो जाता है। और कर्म बन्धन से सदा के लिये मुक्त हुआ २ वह आत्मा शरीर का परित्याग करने के अनंतर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में सदा के लिये अवस्थित रहता है इसी अवस्था का नाम मोक्ष है और ऐसी अवस्था को प्राप्त करने वाला आत्मा जैन परिभाषा में सिद्ध के नाम से प्रख्यात होता है। तात्पर्य कि जिस प्रकार भट्टी में भुंजा हुआ बीज अनेक यत्न करने पर भी अंकुर नहीं देता उसी प्रकार कर्म रूप बीज के दग्ध हो जाने पर संसाररूप अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् कर्मों को सर्वथा विनष्ट करके मुक्ति को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा फिर जन्म मरण धारण नहीं करता है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है—

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः॥

तब जैन मान्यतानुसार कर्मों की आत्यन्तिक निर्जरा से प्रकट होने वाली आत्मा की निरावरण ज्ञान ज्योति के लोकव्यापि प्रकाश में कर्मबन्ध के हेतुभूत रागद्वेषादि कषायरूप अन्धकार का जब कि वहां अस्तित्व ही नहीं तो फिर मोक्षगत आत्मा को वापिस संसार मे लाने वाला कौन?

एक समय था कि वह शैव मत का प्रतिपादन करते थे, और रुद्राक्ष और कंठीमाला धारते थे। फिर एक समय आया कि उसका खंडन करने लगे। एक समय था कि वह [देखो चान्दपुर का वाद] मोक्ष की अवधि नहीं मानते थे, और उनका निश्चय था कि मुक्त हुई आत्मा फिर देह धारण नही करती। फिर वह समय आया कि उन्होंने अपनी सम्मति पलट दी, आदि आदि। किसको विदित है कि यदि वह जीते रहते तो अपने जीवन में और क्या क्या सम्मतियें पलटते। जितनी आयु बढ़ती थी उतनी ही विद्या और ज्ञान उनका अधिक होता जाता था। उतना ही प्रत्यय प्रकाश उनपर डालता जाता था। ऐसी अवस्था में कौन कह सकता है कि स्वामीजी निर्भ्रान्त थे। जो महाशय उनको निर्भ्रान्त मानते है वह कृपा कर उस समय को भी प्रकट करें जब कि वह निर्भ्रान्त हुए।"

["महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम" पृ० १४२]

इसके अतिरिक्त मोक्ष के विषय में वैदिक परम्परा के दर्शन शास्त्रों का भी प्राय: यही सिद्धान्त है, केवल शब्दों का हेर फेर है। जैन दर्शन-"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:" कहता है जब कि वेदोपजीवी दर्शन-"अज्ञान की आत्यन्तिक निवृत्ति" अथच दु:ख की आत्यन्तिक निवृति और परमानन्द की प्राप्ति" को मोक्ष के नाम से निर्दिष्ट करते हैं।

स्वामी दयानन्दजी ने मोक्ष का स्वरूप तो ऐसा ही बतलाया है परन्तु उन्होंने मुक्तात्मा का वापिस लौटना किस आधार से स्वीकार किया, यह तो वही जाने, कारण कि उनके इस कथन में कोई भी शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। वैदिक परम्परा के किसी भी दर्शन ने स्वामी जी के इस मन्तव्य का समर्थन नहीं किया। विपरीत इसके न्यायदर्शन, सांख्य और वेदान्त दर्शन के मूलसूत्रों में तथा उपनिषद् और भगवद्-गीता आदि अन्य प्रमाणिक ग्रन्थों में इस मंतव्य का स्पष्ट शब्दों में प्रतिषेध किया है।* इसलिये स्वामीजी का उक्तमन्तव्य अशास्त्रीय अथच मन:कल्पित ही सिद्ध होता है। इसके अलावा एक बात और है जिसकी तर्फ मै आपका ध्यान खैंचना चाहता हूँ। स्वामीजी के लिखे हुए "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" नाम के ग्रन्थ से तो आप परिचित ही होंगे ? उसमें मोक्ष नाम का जो प्रकरण है उसे आप पढ़ जाइये उसमें कहीं पर भी मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति का उल्लेख आपको नहीं मिलेगा और इसके पुनर्जन्म प्रकरण में "द्वेसृति अशृणवं" इत्यादि वेद मंत्र की व्याख्या में पितृयान और देवयान का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं।

"जिसमे यह जीवात्मा माता पिता के द्वारा शरीर धारण करके पुण्य और पाप के फलरूप सुख दु:ख का उपभोग करता है अर्थात् पूर्वापर अनेकविध जन्मों को धारण करता है वह पितृयान है और जिसमे मोक्षरूप पद को उपलब्ध करके जन्ममरण रूप ससार से छूट जाता है वह देवयान है § इत्यादि" इससे प्रतीत होता है कि उस समय वे मुक्ति से पुनरावर्तन नहीं मानते थे और बाद में किसी कारण वश उन्होंने इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया होगा जो कि युक्तिविधुर और प्रमाणशून्य है। राजन्! कहते हुए तो सकोच होता है परन्तु क्या करूं आप पूछते हैं इसलिये कहे विना रहा भी

* क—"बाधना लक्षण दु.खम् तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग:" "वीतराग जन्मादर्शनात्"

[न्याय द० १-२४-२५। ३—२५]

ख—"तत्र प्राप्त विवेकस्यानावृत्ति श्रुति:" न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगेऽपि अनावृत्ति श्रुते:"

[सांख्य द० १—८३। ६—१७]

ग—"अनावृत्ति:शब्दात्, अनावृत्ति.शब्दात्" [वेदान्त द० ४—२२]

घ—न स: पुनरावर्तते, न स: पुनरावर्तते" [उपनिषद्]

च—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरममम" [१५—६]

"मामुपेत्यतु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" [८। १६]

[भगवद् गीता]

नहीं जाता। आपके स्वामीजी के सिद्धान्तों में सबसे अधिक उपहास्यजनक और घृणास्पद तो नियोग का सिद्धान्त है जिसमें उन्होंने एक स्त्री को ११ पति तक करने की आज्ञा § फर्माई है। और इस आज्ञा को वेदाज्ञा कहकर वेदों को लांछित करने में भी कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। मेरी दृष्टि में तो वेद-[जिन्हें ईश्वरीय ज्ञान कहा व माना जाता है] ऐसे घृणित एवं निन्दनीय व्यभिचारप्राय व्यवहार की आज्ञा दें यह सम्भव नहीं लगता $ इसके सिवा स्मृतिकारों में मनु को सबसे अधिक प्रमाण माना है, जहां तक कि उपनिषदों में मनु के कथन को औषधि रूप † बतलाया है। वह मनु तो इस नियोग को पशुधर्म § बतलाकर इसकी निन्दा करते हैं जबकि स्वामीजी इसे वेदाज्ञा या ईश्वराज्ञा बतला रहे हैं। तब इन दो में से किसके

$ स्वामीजी की भाष्य भूमिका का वह उक्त स्थल इस प्रकार है—

"द्वेसृती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् [यजु० १९-४७]

भाष्यम्-(द्वेसृती) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौस्त। एकः पितृणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानाम्)विद्या विज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्चेति। यत्र जीवो मातृपितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुंक्ते,अर्थात् पूर्वापर जन्मानि चधारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद् विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसंचयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवं भूते द्वेसृती (अश्रृणवं) श्रुतवानस्मि। [ऋग्वेदादि भा० भू० पृ० २६२]

——लेखक

§ हे स्त्री तूं नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर। [ऋ० वे० भा० भू० पृ० २७४]

(१) मनुस्मृति में लिखा है कि "विवाह के मन्त्रों मे कहीं पर भी नियोग का कथन नहीं किया गया और नाही विवाह विधि में विधवा के विवाह का उल्लेख है यथा—

"नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु, नियोगः कीर्त्यतः क्वचित्।
न विवाह विधावुक्तं विधवा वेदन पुनः ॥
[अ. ९ श्लो. ६५]

व्या०—"अर्यमणं नु देव" इत्येवमादिषु विवाह प्रयोग जनकेषु मन्त्रेषु क्वचिदपि शाखायां न नियोगः कथ्यते।-नच विवाह विधायक शास्त्रेऽन्येन पुरुषेण सह पुनर्विवाह उक्तः। [कुल्लूक भट्टः]

† "मनुर्यद्वदत्तद्धि भेषजम्" [छान्दोग्योपनिषद्]

§ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
[अ. ९ श्लो. ६६]

इत्यादि के लिये देखो मनुस्मृति का यह स्थल।—लेखक

कथन को यथार्थ समझना चाहिये इसका विचार आप स्वय कर सकते हैं। इसी प्रकार के उनके अन्य सिद्धान्त है जिनपर कि विचार करने का आज तो अवसर नहीं है कभी फिर अवसर मिला तो उनपर भी यथामति विचार प्रस्तुत किया जासकता है। आज तो आप इतने मात्र से ही सन्तोष करें।

श्री प्रतापसिंहजी—हाथ जोड़ते हुए, महाराज ! आप जैसे शास्त्रनिष्णात त्यागमूर्ति महापुरुष के समागम से मुझे धर्मसम्बन्धि जो अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है उससे मैं अपने आपको अधिक से अधिक भाग्यशाली मानता हूँ। यह मेरे किसी पूर्वजन्म के शुभ कर्म का प्रत्यक्ष फल है जो आप जैसे आदर्शजीवी महापुरुष का पुण्य सहयोग मिला। मैं आपश्री का बहुत २ आभारी हूँ, कभी फिर आप यहां पधारे तो मुझे दर्शन का लाभ अवश्य देने की कृपा करें। इतना कहकर हाथ जोड़ नमस्कार किया और वहां से विदा हुए। जोधपुर के श्री संघ ने आपश्री की अपूर्व विद्वत्ता, प्रतिभा और चारित्रनिष्ठा आदि विशिष्ट गुणों से प्रभावित होकर आपको "न्यायाम्भोनिधि" विरुद प्रदान किया तब से आप "न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानद सूरि" इस नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार जोधपुर में जैनधर्म की आशातीत प्रभावना करके आपने पाली की ओर विहार कर दिया।
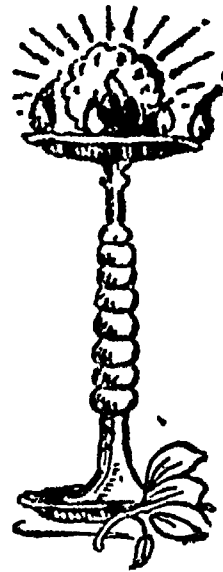
अध्याय ६६

"शिष्य वियोग"

—:※:—

मानवजीवन सुख दुःख और संयोग वियोग का केन्द्र है। जीवन यात्रा में उसे अनेक प्रकार के इष्टानिष्ट सम्बन्धों का अनुभव करना पड़ता है परन्तु जिनका मानसस्तर ससार से कुछ ऊंचा उठा हुआ होता है उनका जीवन इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि से अधिक विक्षुब्ध नहीं होता।

अहमदाबाद पहुँचने के लिये जोधपुर से अपने शिष्य परिवार के साथ विहार करके जब श्री आनन्दविजय-आत्मारामजी महाराज पाली शहर में पधारे तो वहां आपके प्रधान शिष्य श्री लक्ष्मीविजयजी [जो कि पहले से कुछ रुग्ण थे] का स्वर्गवास होगया §। श्री लक्ष्मीविजयजी आपके प्रधान शिष्य वर्ग में से एक थे। ढूंढक पंथ में रहते हुए आपने जो क्रान्तिकारी आन्दोलन पंजाब में उठाया उसमें सबसे अधिक सहयोग इन्हीं महात्मा ने दिया था। ये महात्मा श्री आत्मारामजी की दक्षिण भुजा कहे जाते थे। ऐसे शासन सेवी सुयोग्य शिष्य के वियोग से आपश्री के गम्भीर और प्रशांत मन को भी खेद तो हुआ परन्तु सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए जहां आपने अपने मन को संभाला वहां शोक निमग्न श्री संघ को भी सांत्वना दी और अपने लक्ष्य की ओर बढते रहने का आदेश दिया। आपश्री के वचनामृत से शोक सन्तप्त जनता के मानस को कुछ धैर्य और शान्ति मिली।

§ स्वर्गवास चैत्र कृष्णा चतुर्दशी—गुजराती फाल्गुन कृष्णा १४ सम्वत् १६४० में हुआ।

अध्याय ७०

"अहमदाबाद में चतुर्मास"

पाली के सभी श्रावक वर्ग को अपनी धर्म देशना से सान्त्वना देने के बाद वहां से विहार करके पंचतीर्थी और आबूराज तीर्थ की यात्रा करते हुए शिष्य परिवार के साथ आप अहमदाबाद में पधारे। अहमदाबाद की जैन जनता ने आपका पहले से भी अधिक उत्साह भरा स्वागत किया। यहां आपने वड़ोदा राज्य में आने वाले "डभोई" नगर के रईस श्री मोतीचन्द को साधुधर्म में दीक्षित करके "श्री हेमविजय" इस नाम से अलकृत किया तथा श्री हंसविजयजी का शिष्य घोषित किया। और अपने साथ के श्री उद्योत विजय आदि शिष्य वर्ग को गणी श्री मूलचन्दजी महाराज के हाथों वड़ी दीक्षा दिलाई तथा श्री सघ की प्रार्थना से १९४१ का चतुर्मास भी वहां अहमदाबाद में ही किया।

अहमदाबाद का यह चतुर्मास कई प्रकार की विशेषताओं को लिये हुए सम्पन्न हुआ। स० १९३२ के चतुर्मास में वाकी रहा हुआ आवश्यकसूत्र ही आपने वाचना आरम्भ किया। और भावनाधिकार में श्री धर्मरत्न प्रकरण का व्याख्यान शुरु किया।

आपकी अलौकिक व्याख्यानशैली इतनी आकर्षक और मोहक थी कि व्याख्यान सभा मे तिल धरने को भी स्थान नहीं रहता था लगभग सात हजार स्त्री पुरुषों का जमघट होता था। इस चतुर्मास में जैनधर्म का आशातीत उद्योत हुआ। पर्युषण पर्व के दिनों में सैंकड़ों अठाई महोत्सव हुए, पूजा और प्रभावना आदि की तो कोई गणना ही नहीं रही। विविध प्रकार की तपश्चर्या और अनेक साधर्मिवात्सल्य हुए। तात्पर्य कि यह चतुर्मास हर एक दृष्टि से विशेष रहा और सबसे अधिक विशेषता इस चतुर्मास की यह कि आपके सदुपदेश से आकर्षित और प्रभावित हुई जनता ने पंजाब को धार्मिक सहायता पहुंचाने का श्रेय उपार्जन किया।

एक दिन अहमदाबाद के श्री सघ ने सम्मिलित रूप से परामर्श करके आपके पास आकर प्राथना की, कि महाराज! आपश्री ने पंजाब देश से जो नये श्रावक बनाये हैं, उनको हम लोग कुछ सहायता

पहुंचानी चाहते हैं। वहां पर पूजा सेवा के लिये वीतराग प्रभु के जो मन्दिर निर्माण हुए या हो रहे हैं उनमें जिस २ वस्तु की आवश्यकता हो वह हम भेजना चाहते हैं।

श्री आनन्दविजयजी—तुम लोगों की यदि यह इच्छा है तो बहुत अच्छी बात है। अपने साधर्मी भाई को मदद देना, धर्म से गिरते हुए साधर्मी भाई को धर्म में लगाना यह तो श्रावक का सब से पहला कर्तव्य है, मैंने उपदेश द्वारा वहां जिन लोगों को वीतराग देव के धर्म का अनुगामी बनाया है उनको बनती सहायता देने का आप लोग जो विचार कर रहे हैं वह कम प्रशंसनीय नहीं है। इसलिये आप खुशी से मदद देवें। तदनन्तर श्री संघ के आगेवानों ने बहुत सी धातु और पाषाण की जिनप्रतिमायें पंजाब के भिन्न २ शहरों में सेवा पूजा के लिये भेजीं। जिनमें अम्बाला, लुधियाना, मालेरकोटला, जीरा, जालन्धर, होशयारपुर, अमृतसर, जंडयालागुरु, पट्टी, नारोवाल, सनखत्तरा और गुजरांवाला आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त आपने इस चतुर्मास में "सम्यक्त्वसार" पुस्तक के उत्तर रूप $"सम्यक्त्वशल्योद्धार" नाम का पुस्तक लिखकर सम्पूर्ण किया।

$ यह पुस्तक सर्व प्रथम भावनगर की सभा की तरफ से छपा और उसमें कितना एक भाग सभा की तरफ से और बढ़ाया गया। इस पुस्तक के पढ़ने से, ढूंढक मत और सनातन जैनधर्म में जो अन्तर है वह स्पष्ट मालूम हो जाता है। परन्तु कितने एक शब्द कठिन तथा गुजराती बोली में होने से हिन्दी भाषा भाषियों को इससे उतना लाभ नहीं पहुच सकता, इसलिये कई एक लोगो का विचार है कि इस पुस्तक को जिस ढंग से जिस भाषा में लिखा है उसी रूप में उसको छपवाया जावे ताकि सर्व साधारण इससे लाभ उठा सकें। परन्तु यह विचार गुरुदेव के स्वर्ग सिधारने के बाद ही कार्य रूप में परिणत हुआ, पहले नहीं। स्वर्गीय बाबू जसवन्त राय जैन ने इसे लाहौर मे छपवाकर प्रकाशित कराया। बाद में दूसरी आवृत्ति भी छपी और खतम होगई, जब इसकी तीसरी आवृत्ति छपने को थी कि देश के विभाजन रूप पाकिस्तानी विप्लव में प्रेस आदि नष्ट होगये और छपना बन्द होगया। अब फिर छपवाने का विचार किया गया है, आशा है प्रस्तुत चरित्र के साथ ही इसके छपने का भी प्रबन्ध हो जावेगा।—लेखक

अध्याय ७१

"थानापतियों की सज्जनता"

अहमदावाद के इस चतुर्मास में महाराज श्री आनन्दविजयजी को श्री संघ की ओर से जो प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त हुआ वह आपके विद्वत्ता पूर्ण त्याग प्रधान आदर्श साधुजीवन के अनुरूप होने के साथ साथ अहमदावाद के धार्मिक इतिहास में विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। आपके प्रतिदिन के प्रवचन में सहस्रों स्त्री पुरुष आपके उपदेशामृत का पान करने के लिये अधिक से अधिक उत्सुक रहते, और आपकी तेजोमयी भव्य और प्रशान्त साधु मुद्रा को अपने हृदय मन्दिर में निरन्तर विठाये रखने का पुण्य प्रयास करते। अधिक क्या कहें हर एक घर में आपके साधु गुणों का कीर्तन होना, और लोग उसमें अपूर्व आनन्द का अनुभव करते। परन्तु आपकी यह प्रतिष्ठा और अपूर्व सम्मान वहां के थानापति साधुओं को सह्य नहीं हुआ। वे नहीं चाहते थे कि उनके अधिकृत क्षेत्र में कोई दूसरा विदेशी साधु आकर जनता के सम्मान का विशेष भाजन बने, इसलिये वे पुख्ता दीवार में छिद्र ढूंढने की कोशिश करने वाली च्युंटी की तरह इसी ताक में थे कि कोई न कोई ऐसी वात उनके हाथ में आजावे जिसको सन्मुख रखकर वे महाराज श्री आनन्द-विजयजी को जन समाज में किसी न किसी रूप में अपवादित करने में सफल हो सके। मगर इसमें वे सफल नहीं हो पाये। दैवयोग, एक दिन महाराज श्री ने प्रसंगवश, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय मे साधु साध्वी के विचरने योग्य क्षेत्रों की मर्यादा कितनी और कहां तक थी इसका वर्णन करते हुए वृहत्कल्प भाष्य और निर्युक्ति पाठ के *आधार से वतलाया कि दक्षिण दिशा में कौशाम्बी तक साधु साध्वी का विहार

---

* वृहत्कल्प भाष्य और निर्युक्ति का टीका युक्त वह पाठ इस प्रकार है—

वृहत्कल्पसूत्र– उद्दे० १ सू० ५०

कप्पई निगंथाणवा निगंथीणवा पुरत्थिमेण जाव अग मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंवीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थुणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव-कुणाला विसयाओ एत्तए। एताव ताव कप्पइ। एताव ताव आरिए खेत्ते। नोसे कप्पइ एत्तो वाहिं। तेण पर जत्थ नाण दंसण चरित्ताइ उस्सप्पंति त्तिवेमि।

होता था। इस पर व्याख्यान सभा में उपस्थित एक श्रोता ने पूछा—महाराज! कौशाम्बी कहां पर आई? इसके उत्तर में महाराज श्री ने फर्माया–बिहार प्रान्त में, अर्थात् बंगाल से पूर्व देश में कौशाम्बी थी जो कि आजकल अल्लाहाबाद के नजदीक "कोसम्ब" नाम से प्रसिद्ध एक छोटा सा ग्राम है। वही किसी समय विशाल कौशाम्बी नगरी थी। बस फिर क्या था, उन थानापतियों के हाथ बात आगई। वे श्री आनन्द-विजयजी के उक्त कथन का मनमाना अर्थ करके उन्हें बदनाम करने का यत्न करने लगे। उन्होंने आम जनता में यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि श्री आनन्दविजय–आत्मारामजी श्री शत्रुञ्जय और गिरनार जैसे महान तीर्थ क्षेत्रों को अनार्य बतला रहे हैं। इनमें मुख्य वहां के थानापति पन्यास श्री रत्नविजयजी थे। उनके पास जो कोई भी श्रावक आता उसको वे कहते कि तुम लोग जिस पंजाबी साधु आनन्दविजयजी की प्रशंसा करते नहीं थकते वे तो सिद्धाचल जैसे तीर्थराज को अनार्य बतला रहे हैं।

इसके सिवा उन्होंने महाराज श्री आनन्दविजयजी के शास्त्रीय वक्तव्य को शास्त्र विरुद्ध बतलाने और भोली जनता पर अपना प्रभाव जमाने के लिये "आर्यानार्य देश ज्ञापक चर्चापत्र' नाम की एक छोटीसी

टीका—अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या–कल्पते निर्ग्रन्थानांवा निर्ग्रन्थीनांवा पूर्वस्यांदिशि यावत् अंग मगधान् 'एतुं, विहर्तुम्' अंगोनाम चम्पा प्रतिबद्धो जनपदः। मगधो राजगृहप्रतिबद्धो देशः। दक्षिणस्यां दिशि यावत् कोशांबीमेतुं। प्रतीच्यां दिशि स्थूणा विषयं यावदेतुं। उत्तरस्यां दिशि कुणाला विषयं यावदेतुम्। सूत्रे पूर्व दक्षिणादि पदेभ्यः तृतीया निर्देशो लिंग व्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। एतावत् तावत् क्षेत्रमभ्धीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुतः–इत्याह–एतावत् तावत् यस्मादार्य क्षेत्रं "नो से" तस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते अतः एवं विधात् आर्य क्षेत्रात् बहिर्विहर्तुम्। "ततः" परं बहिर्देशेषु अपि सम्प्रति नृपति कालादारभ्य यत्र ज्ञान–दर्शन–चारित्राणि उत्सर्पन्ति–स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्तव्यम्। इति परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थंकर गणधरोपदेशेन नतु स्वमनीषिकयेति सूत्रार्थः।

अथेदं सूत्रं भगवता यत्र क्षेत्रे यं च काल प्रतीत्य प्रज्ञप्तं तदेवाह—

साएयम्मि पुरवरे, स भूमि भागम्मिवद्धमाणेण। सुत्तमिणं पण्णत्तं, पडुच्च तंचेव कालंतु ॥३२६१॥

व्या०—साकेते पुरवरे सभूमि भागे उद्याने समवसृतेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना सूत्रमिदं "तमेव" वर्तमान काल प्रतीत्य निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां पुरतः प्रज्ञप्तं ॥३२६१॥

कथमित्याह—

मगहा कोसंबी या, थुणाविसओय कुणाला विसओय। एसा विहार भूमी, एतावत्ताऽऽरिय खेत्त ॥३२६२॥

व्या०—पूर्वस्यां दिशि मगधान्, दक्षिणस्या दिशि कोशाम्बीं, अपरस्यां दिशि थुणा विषयं, उत्तरस्यां दिशि कुणाला विषय यावत् ये देशाः एतावदार्यं क्षेत्रं मन्तव्यम्। अतएव साधूनामेषा विहार भूमि। इतः परं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां विहर्तुं न कल्पते ।३२६२॥

पुस्तक भी लिखकर प्रकाशित करादी § परन्तु आपके इस विफल प्रयास से महाराज श्री आनन्दविजयजी की प्रतिष्ठा को अणुमात्र भी क्षति नहीं पहुँची। अहमदाबाद और गुजरात काठियावाड़ की जैन जनता पर आपके कथन का कुछ भी प्रभाव न पड़सका। उससे जैन जनता के हृदय में महाराज श्री आनन्दविजयजी के प्रति जो गुणानुराग उत्पन्न हो चुका था उसमें अणु मात्र भी कमी नहीं आई। संस्कृत के किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

कर्णेजपानां वचनप्रपंचाः, महात्मनः क्वापि न दूषयन्ति।
भुजंगमानां गरलप्रसंगान्नापेयतां यांति महासरांसि॥

§ इस पुस्तक का उत्तर महाराज श्री आनन्दविजयजी ने अपने शिष्य श्री शांतिविजयजी से पुस्तक के रूप में दिलाया जिसका नाम "आर्यानार्य देश दर्पण" है इसमे आर्यानार्य देशों के विषय में शास्त्रीय आधार से बहुत अच्छा प्रकाश डाला है, और पन्यास श्री रत्नविजयजी के वक्तव्य की पूरी २ आलोचना की गई है। यह पुस्तक उसी समय छपवाकर प्रसिद्ध करा दिया गया था। इसके देखने से पाठकों को उक्त विषय का पूरा २ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(लेखक)

अध्याय ७२

"फिर सिद्धगिरि की यात्रा को"

चातुर्मास की समाप्ति के बाद महाराज श्री आनन्दविजयजी ने शिष्य परिवार के साथ श्री सिद्धाचलजी की यात्रा के लिये अहमदाबाद से पालीताणा की ओर विहार कर दिया। ग्रामानुग्राम विचरते हुए पालीताणा पधारे। वहां एक मास तक निरन्तर श्री आदीश्वर भगवान के दर्शनों के लिये ऊपर पहाड़ पर जाते रहे। और गुजरात देश के धनीमानी सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई, सेठ नरसी केशवजी, सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आई. ऐस. आदि श्रावक समुदाय की मदद से, ३५ जिन बिम्ब-जो कि बड़े ही सुन्दर और आकर्षक थे, पंजाब के भिन्न भिन्न शहरों में भिजवायें। इनके वहां पहुंचने से पंजाब के जैन समुदाय में धर्म की अधिक जागृति हुई। उन लोगों ने इन विशाल जिन बिम्बों को प्रतिष्ठित करने के लिये अपने अपने शहर में विशाल जिन भवन बनाने का आयोजन किया। और थोड़े ही समय में पंजाब का हर एक नगर गगन चुम्बी जिन भवनों से सुशोभित हुआ। पंजाब के अनेक प्रसिद्ध नगरों में निर्मित हुए इन मन्दिरों में श्री तीर्थंकर देवों की भव्य प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित करने का पुण्य कार्य भी आपके कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। आपश्री के स्वर्गवास के बाद जिन मन्दिरों की प्रतिष्ठा रह गई थी वह आपके शिष्य वर्ग द्वारा सम्पन्न हुई।

अध्याय ७२

"लींबड़ी के राजा साहिब से भेंट"

पालीताणा से विहार करके शिष्य परिवार सहित शिहोर, वरतेज, भावनगर होते हुए आप घोघा बन्दर पधारे। वहां पर विरामान श्री नवखंडा पार्श्वनाथ की यात्रा करके वला और बोटाद होकर लींबड़ी शहर में पधारे। यहां पर तीन जिन मन्दिर और पांचसौ घर श्रावकों के हैं। यहां के श्री संघ ने आपका बड़े समारोह के साथ अनुपम स्वागत किया और आपके पधारने की खुशी में समवसरण की रचना आदि अनेक महोत्सव किये। आपके प्रति दिन के धर्म प्रवचन में सैंकड़ों स्त्री पुरुष उपस्थित होते और आपके उपदेशामृत का पान करते हुए अपने सद्भाग्य की भूरी २ सराहना करते। उपस्थित जनता में अन्य सम्प्रदाय के लोगों की भी पर्याप्त संख्या होती।

नगर की आम जनता में आपके धर्म उपदेश का इतना प्रभाव बढ़ा कि वहां के दरबार को भी आपके दर्शनों की उत्कंठा बढ़ी और वे एक दिन आपके दर्शनों के लिये आपके स्थान पर पधारे। आते ही आपने महाराज श्री को नमस्कार किया और उत्तर में महाराज श्री ने सप्रेम धर्म लाभ दिया।

वहां पर उपस्थित श्रावक वर्ग ने भी राजा साहिब का समुचित स्वागत किया और वे महाराज श्री के सन्मुख एक आसन पर बैठगये और उनके साथ में आने वाले दो तीन पंडित भी वहां पर विछाये हुए आसन पर बैठे।

राजासाहब विद्वानों के प्रेमी, शास्त्रों का स्वाध्याय करने वाले अच्छे विचारशील व्यक्ति थे। वैदिक परम्परा में आने वाली सम्प्रदायों का तो उनको अच्छा ज्ञान था परन्तु जैनधर्म के विषय में वे बहुत कम ज्ञान रखते थे और जैन मुनियों के संसर्ग में आने का उन्हें अवसर भी नहीं मिला था। महाराज श्री आनन्दविजयजी के सन्मुख बैठते ही उनकी वैराग्यगर्भित वेष भूषा और तेजोमयी अथच शान्त मुद्रा को

देखकर राजासाहिब बहुत प्रभावित हुए और मन ही मन कहने लगे-मैं ने आजतक अनेक साधु महात्माओं के दर्शन किये एवं उनके संसर्ग में भी अनेक बार आने का अवसर मिला, परन्तु यहां पर आते ही इस महात्मा के दर्शन से मुझे जिस अपूर्व शांति का अनुभव हुआ, वैसा आज से पहले कभी नहीं हुआ। निस्सन्देह यह कोई अपूर्व व्यक्ति है। तदनन्तर हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए बड़ी नम्रता से बोले— महाराज! आप श्री के साधु-दर्शन से मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। आपने अपने पुनीत चरणों से इस नगर को पावन किया यह मेरा और मेरी प्रजा का अहोभाग्य है। मुझे कई दिनों से आपके दर्शनों की इच्छा हो रही थी परन्तु कई एक सांसारिक कार्यों मे व्यस्त रहने से दर्शन न करसका आप जैसे त्यागशील तपस्वी महापुरुषों के दर्शन भी किसी पुण्य से ही उपलब्ध होते हैं। कहिये आप कुशलपूर्वक तो हैं? आपको यहां किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो फर्माइये?

लीबडी नरेश के नम्र निवेदन को सुनकर महाराज श्री आनन्दविजयजी बोले—राजन्! धनिकों और शासकों में नीतिनिपुण और व्यवहारपटु तो प्रायः सभी होते हैं परन्तु उनमें मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर प्रस्थान करने की रुचिवाला तो कोई विरला ही होता है। आपसे भेट होने पर मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि जहां आप प्रजा के शासक हैं वहां आपका, आत्मानुशासन की ओर भी ध्यान है। और वास्तव में देखा जाय तो मानव जीवन का प्रत्येक क्षण इतना मूल्यवान् है कि उसको व्यर्थ खोना अधिक से अधिक अक्षम्य अपराध करना है। अतः इस देव-दुर्लभ-मानव-भव को प्राप्त कर श्रेय-मार्ग का अनुसरण करने में ही मानव जीवन सफल और सार्थक बनता है।

इतना कहने के बाद महाराज श्री आनन्दविजयजी ने लींबड़ी दरबार को बड़े मार्मिक शब्दों में धर्मोपदेश दिया. और दरबार उससे बड़े प्रभावित हुए। परन्तु राजासाहब के साथ में आये हुए पंडितों को उनका महाराजश्री के द्वारा प्रभावित होना अखरा। वे नहीं चाहते थे कि राजा साहब पर किसी अन्य व्यक्ति का प्रभाव पड़े जिससे उनके गौरव को क्षति पहुँचे। ब्राह्मणों को प्रायः इस बात का अभिमान होता है कि संस्कृत भाषा पर एकमात्र उन्हीं का अधिकार है, इसलिये वहां पर आये हुए पडितों के हृदय में कुछ ईर्षा की मात्रा जागी और वे राजा साहब के कुछ कहने से पहले ही अपने पांडित्य का प्रदर्शन करने लगे अर्थात् उन्होंने महाराज श्री आनन्दविजयजी के साथ संस्कृत बोलना आरम्भ कर दिया। महाराजश्री ने भी [इस दृष्टि से कि कहीं ये लोग इस बात का प्रचार करें कि इन को संस्कृत का ज्ञान नहीं-] उनके साथ संस्कृत मे ही वार्तालाप शुरु कर दिया। परन्तु पंडितों के भाषण में जितनी उग्रता थी उससे कहीं अधिक शान्ति महाराजश्री के संभाषण में थी। पंडितों को ऊंचे २ बोलते देख समीप में एक किनारे पर अपना पाठ याद करने के लिये बैठे हुए महाराजश्री के शिष्य मुनि श्री शांतिविजय नाम के साधु अपने स्थान से उठकर वहां आगये और आते ही उन पंडितों से भिड़ गये। और उन्हीं की तरह बड़ी उग्रता से संस्कृत में बोलने

लगे। तब महाराजश्री और लींबड़ी दरबार दोनों कुतूहलवश पंडितों के साथ होनेवाले मुनि शांतिविजयजी के संभाषण को चुपचाप सुनने लगे। इस शास्त्रार्थ का विषय था ईश्वर और उसका सृष्टिकर्तृत्व। पंडितों का पक्ष था कि इस दृश्यमान सृष्टि की रचना ईश्वर ने की है, और मुनि शांतिविजयजी कहते थे कि ईश्वर का जो स्वरूप आप मानते हैं उससे उसमें सृष्टिकर्तृत्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। उक्त विषय को लेकर पहले तो दोनों ओर से संस्कृत भाषा में जो संभाषण हुआ उस में उग्रता तो थी, भाषासमिति का उल्लंघन नहीं था। परन्तु थोडे ही समय के बाद इस वाणी विलास ने प्रस्तुत विषय को त्यागकर परस्पर कटाक्ष का उग्ररूप धारण कर लिया और वाग्विलास की जगह वाण वर्षा होने लगी। दोनों ओर से "अयोग्यो भवान्, अनभिज्ञो भवान्" इत्यादि अनुपयुक्त अथच अनुचित शब्दों का क्रोधावेश में व्यवहार होने लगा। तब राजा साहब ने महाराज श्री की ओर देखते हुए इस व्यर्थ के विवाद को शान्त करने का संकेत प्राप्त करके अपने पंडितों को कहा कि पंडितजी यह शास्त्र चर्चा है या क्रोध और अभिमान का प्रदर्शन? आप जिन शब्दों का व्यवहार कर रहे हैं उन से तो आपका पराजित होना ही सिद्ध होता है। एवं मुनि श्री शांति-विजयजी से बोले कि महाराज! आप तो साधु हैं, क्षमाशील होने से क्षमाश्रमण कहलाते हैं इसलिये आप को तो अपनी साधु भाषा का कभी भी त्याग नहीं करना चाहिये। इतना कहकर जब दरबार चुप हुए तो गुरुमहाराज ने सब को शान्त करते हुए कहा कि भाइयो! शास्त्रकारों का कथन है—

" कोहो पीई पणासेइ, माणो विणय भंजणो " *

अर्थात् क्रोध प्रीति का घातक है और मान विनय को नष्ट करने वाला है। विद्या प्राप्ति का फल तो नीतिकारों के कथनानुसार § विनयी और विचारशील होना है, यदि विद्वान् ही अविनीत अथच विचारविधुर हो जावेंगे तो फिर विनय और विवेक जैसे गुणों को आश्रय ही कहां मिलेगा। जल, अग्नि को शान्त करने के लिये होता है यदि उसी में से अग्नि प्रकट होने लगे तो फिर अग्नि को शान्त करने के लिये किसका आश्रय लिया जावे? तात्पर्य कि विद्वान् पुरुष के मुख से विनय रहित अभिमान पूर्ण शब्दों का निकलना ऐसा ही है जैसा जल से अग्नि का प्रादुर्भूत होना। इसलिये तात्विक विचारणा में जहां तक बन सके, विद्वान् पुरुष को सद्भावपूर्ण विचारसरणी का अवलम्बन करना चाहिये और उसमें भाषा समिति का पूरा २ ध्यान रखना चाहिये।

---

* छाया— क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनय भजनः "

§ विद्याहि विनयावाप्त्यै, साचेदविनयावहा'।
किं कुर्मः कुत्र वायामः, सलिलादग्निरुत्थितः॥

भावार्थ— विद्या तो विनय प्राप्ति के लिये है 'मगर वही अविनय को देने वाली हो तो फिर क्या करें और कहां जावें यह तो जल से अग्नि प्रकट होने वाली बात बनी!

फिर लींबड़ी दरबार के पंडितों और अपने शिष्य मुनि शांति विजय जी को लक्ष्य रखते हुए आप बोले—आप लोगों ने जिस विषय को लेकर परस्पर विचार आरम्भ किया था वह बड़ा ही रोचक और उपादेय था। इसी दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्रों में इसकी व्यापक चर्चा की गई है भारतीय दर्शनों में ऐसा शायद ही कोई दर्शन होगा जिसमें इस विषय की चर्चा को स्थान न मिला हो। परन्तु बुरा न मानना आप लोगों ने प्रस्तुत विषय को त्याग कर व्यक्तिगत आक्षेपों में ही अपनी विद्वता को चरितार्थ करने का यत्न किया जिससे मुझे और राजा साहब को ऐसा लगा कि कहीं बढ़ते २ यह शास्त्रार्थ शस्त्रार्थ का रूप धारण न कर लेवे अत. इसे स्थगित कर देना ही उचित है ताकि आपस में वैमनस्य न बढ़ना पावे।

राजासाहब—महाराज साहब! इन महानुभावों के बोलने में मुझे तो कुछ सार नजर आया नहीं और ना ही मैं इनके अवच्छेदकावच्छिन्न और विशेष्यता प्रकारता को समझ पाया हूँ कृपा करके आप यदि इस विषय को संक्षेप से समझाने का कष्ट करें तो कुछ मेरे पल्ले भी पड़ जावे?

श्रीआनन्द विजयजी—राजन्! इन पंडितों का कथन है कि इस सारे विश्वका कर्ता धर्ता एक मात्र ईश्वर है और हमारे इस साधु का कहना कि विश्व के सारे पदार्थों का निर्माता ईश्वर नहीं हो सकता ईश्वर का जो स्वरूप माना जाता है उससे उसमें—ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व प्रमाणित नहीं हो सकता। ईश्वर आप्तकाम कृतकृत्य और सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सर्वदर्शी अथच अशरीरी एवं नित्य मुक्त स्वरूप माना गया है तब ऐसा स्वरूप रखने वाले ईश्वर पदार्थ को घट का निर्माण करने वाले कुम्भकारकी तरह यदि सारे ब्रह्मांड का निर्माता स्वीकार किया जाय तो उसमें अनेक दोष उद्भव होते हैं! यथा—

(१) संसार में जितने भी पदार्थ बने हुए दृष्टिगोचर होते हैं उनके बनाने वाले सब के सब शरीरी-शरीर वाले हैं, बिना शरीर वाले के कोई भी पदार्थ बनता हुआ दिखाई नहीं देता है। और जैसे आकाश अशरीरी है, वह किसी पदार्थ का निर्माण नहीं कर सकता इसी प्रकार अशरीरी होने से ईश्वर भी इस जगत का रचयिता सिद्ध नहीं होता। यदि ईश्वर को शरीरी माना जाय तो उसमें यह शंका उपस्थित होगी कि उस शरीर का निर्माण किसने किया। इस प्रकार तो अनवस्था दोष आवेगा।

(२) कर्ता में इच्छा और प्रयत्न का होना आवश्यक है, बिना इच्छा और प्रयत्न के कार्य का निर्माण ही नहीं हो सकता। परन्तु ईश्वर आप्तकाम और कृतकृत्य है उसमे किसी प्रकार की इच्छा का संभव ही नहीं हो सकता, एवं व्यापक पदार्थ में कोई क्रिया-प्रयत्न भी नहीं होता यदि व्यापक वस्तु में क्रिया या प्रयत्न अंगीकार किया जावे तो उसका व्यापकत्व ही नष्ट हो जावेगा। आकाश व्यापक है उसमें कोई क्रिया व प्रयत्न भी नहीं, इसलिये आप्तकाम और सर्व व्यापक ईश्वर में इच्छा और प्रयत्न दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते और बिना इच्छा प्रयत्न के कर्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती।

(३) चेतन पदार्थ की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन अवश्य होता है, बिना प्रयोजन के चेतन पदार्थ किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तब सृष्टि रचना में ईश्वर की प्रवृत्ति भी किसी प्रयोजन से ही होनी चाहिये परन्तु प्रयोजन कोई दिखाई नहीं देता। ईश्वर आप्त और कृतकृत्य है, उसका कोई प्रयोजन बाकी नहीं, यदि उसका कोई प्रयोजन बाकी है तो उसकी ईश्वरता मे कमी आती है।

पंडितजी—जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल भुक्ताना ही सृष्टि रचना में प्रयोजन है। कर्म जड़ हैं वे स्वयं फल नहीं दे सकते।

श्री आनन्दविजयजी—इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीवों के कर्मों का फल भुक्ताने के लिये ईश्वर को सृष्टि रचना में प्रवृत्त होना पड़ता है।

पडितजी—हां यही बात है महाराज! हमारे यहां लिखा भी है—

"अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः।
"ईश्वर प्रेरितोगच्छेत् स्वर्गंवा श्वभ्रमेव वा ॥ १ ॥

अर्थात यह अल्पज्ञ जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलरूप सुख दुःख को स्वय प्राप्त करने में असमर्थ है अतः ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक मे जाता है।

श्री आनन्दविजयजी—आपके इस कथन से दो बाते फलित होती हैं-पहली—जीवों के कर्म ईश्वर को प्रेरणा करते हैं और उनसे प्रेरित हुआ ईश्वर सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है। दूसरी यह कि सृष्टि रचना के बाद जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल भुक्ताने के लिये ईश्वर प्रेरणा देता है अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार प्रवृत्ति करते हुए संसारी जीव अच्छे या बुरे फल को भोगते हैं। ऐसी दशा में न तो ईश्वर ही स्वतन्त्र रहता है और न जीवों की शुभाशुभ प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता रहती है। तात्पर्य कि ईश्वर कर्माधीन हुआ और जीव ईश्वराधीन सिद्ध हुए। इस प्रकार स्वीकार कर लेने से इधर ईश्वर की स्वतन्त्रता का व्याघात होने से ईश्वरत्व का लोप हुआ उधर जीवों को स्वतन्त्र प्रवृत्ति से हाथ धोना पड़ा। इसके अतिरिक्त जो कर्म जड़ होने से जीवात्मा को स्वयं फल भुक्ताने में असमर्थ हैं वे ईश्वर जैसी स्वतन्त्र सत्ता को प्रेरणा कैसे दे सकते है यह भी विचार करने योग्य है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है-जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल भुक्ताने के लिये ईश्वर सृष्टि की रचना करता है परन्तु शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना और शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करना ये दोनों ही शरीर सापेक्ष्य हैं बिना शरीर के न तो जीव कर्म कर सकते है और ना ही उनके फल को भोग सकते हैं एव जीवों के शरीर की रचना अथवा सृष्टि निर्माण दोनों एक ही कोटि में परिगणित होते है। तब शरीर सापेक्ष्य कर्म और कर्म सापेक्ष्य शरीर होने से अन्योन्याश्रय दोष

लागू हो जाता है। दूसरे शब्दों में-ईश्वर सृष्टि की रचना कब करे जब जीवों को शुभाशुभ कर्मों का फल भुक्ताना हो और जीव शुभाशुभ कर्मों में कब प्रवृत्त हों जब सृष्टि रचना अर्थात् उनके शरीर का निर्माण हो। ऐसी परिस्थिति में तो कोई भी सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। इसी विचारधारा को सन्मुख रखकर वैदिक परम्परा की अद्वैत सम्प्रदाय के महान् संस्थापक स्वामी शंकराचार्य ने महर्षि व्यास प्रणीत वेदान्त दर्शन के पत्युरसामंजस्यात् [२।२।३७] इस सूत्र के भाष्य में नैयायिकाभिमत ईश्वर के कर्तृत्व-निमित्त कारणवाद की बड़े तीव्र शब्दों में आलोचना की है § जिसमें उन्होंने इस सिद्धान्त को नितरां युक्तिशून्य बतलाया है इतना कहने के बाद आप उपस्थित पंडितों को सम्बोधित करते हुए फिर बोले—

पंडितजी! राजा साहब तो इस विषय में अधिक प्रवीण नहीं किन्तु आप तो न्याय शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हैं आपने न्यायदर्शन के सिद्धान्तानुसार "क्षित्यादिकं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" अर्थात् पृथिवी आदिक पदार्थ किसी बुद्धिमान् कर्ता के बनाये हुए हैं क्यों कि ये कार्य हैं, जो जो कार्य होते हैं वे सब बुद्धिमत् कर्तृक ही होते हैं जैसे घट आदि पदार्थ, पृथिवी आदिक भी कार्य हैं इसलिये ये भी किसी बुद्धिमान के ही बनाये हुए हैं, वह बुद्धिमान कर्ता ही आपके मत में ईश्वर है। इस अनुमान के द्वारा आप ईश्वर को सृष्टि कर्ता प्रमाणित करते हैं। इस अनुमान में पृथिवी आदि पक्ष है, बुद्धिमत्कर्तृक अर्थात ईश्वर साध्य और कार्यत्व हेतु तथा घटादिक दृष्टान्त हैं। जैसे धूम से पर्वतगत वन्हि का अनुमान किया जाता है वैसे ही यहां पर कार्यत्व हेतु से कारण का अनुमान किया गया है और वह कारण ईश्वर है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्याप्ति ग्रह ही अनुमति का साधक होता है। और साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं, जैसे धूम और वन्हि का साहचर्य है। व्याप्य व्यापक, जन्य जनक और कार्य कारण का ही नियत साहचर्य होता है। उदाहरण के लिये धूम और वन्हि-अग्नि को ही ले लीजिये? धूम व्याप्य है वन्हि व्यापक, कारण कि जहां २ धूम है वहां २ वन्हि अवश्य है, और जहां वन्हि नहीं वहां धूम भी नहीं होता। और जहां पर वन्हि है वहां पर धूम होता भी है और नहीं भी होता, जैसे अयोगोलक तपाया हुआ लोहे का गोला। उसमें अग्नि तो है परन्तु धूम नहीं है। अतः धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। इसी प्रकार इनका जन्य जनक अथच कार्य-कारण भाव भी अनुभव सिद्ध है। परन्तु न्याय शास्त्र का एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि-"अन्वय व्यतिरेक

---

§ देखो उक्त सूत्र पर उनका शारीरिक भाष्य और उसकी भामती टीका का यह अभिलेख—

अयमर्थः—यदीश्वरःकरुणा पराधीनो वीतरागः स्वतः प्राणिनः कपूये कर्मणि न प्रवर्तयेत्, तच्चोत्पन्नमपि नाधितिष्ठेत्, तावन्मात्रेण प्राणिनां दुःखानुत्पादात्। नहीश्वराधीना जनाः स्वातंत्र्येण कपूयं कर्म कर्तुमर्हन्ति। तदनधिष्टितं वा कपूयं कर्मफलं प्रसोतुमुत्सहते। तस्मात् स्वतत्रोपीश्वरः कर्मभिः प्रवर्त्यते इति दृष्ट विपरीतं कल्पनीयम्। तथा चायमपरो गंडोपरि स्फोट इतरेतराश्रयः प्रसज्येत, कर्मणेश्वरः प्रवर्तनीय ईश्वरेण च कर्मेति॥

गम्यो हि कार्य-कारणभावः" अर्थात् कार्य-कारणभाव और अन्वय व्यतिरेक इन दोनों में गम्य गमक भाव, मानो व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। जैसे धूम और वन्हि में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पहले बतलाया गया है। जहां पर धूम होता है वहां पर अग्नि अवश्य होती है,और जहां अग्नि होती है वहां धूम हो भी और न भी हो। तात्पर्य कि जहां व्याप्य होता है वहां पर व्यापक अवश्य होता है परन्तु जहां व्यापक होता है वहां व्याप्य होता भी है और नहीं भी होता। इसी प्रकार कार्य-कारणभाव और अन्वय व्यतिरेक भाव इन दोनों में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। यहां पर कार्य-कारणभाव व्याप्य है और अन्वय व्यतिरेकभाव व्यापक है। सारांश कि जहां कार्य-कारणभाव होगा वहा अन्वय-व्यतिरेक अवश्य होगा परन्तु जहां अन्वय-व्यतिरेक है वहां कार्य-कारण होवे भी और न भी होवे। न्याय सम्मत अन्वय व्यतिरेक का लक्षण है-तत्सत्वे तत्सत्वमित्यन्वयः" तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः" अर्थात् कार्य के सद्भाव में कारण के सद्भाव को अन्वय कहते है और कारण के असद्भाव में कार्य के असद्भाव को व्यतिरेक का नाम दिया है। जैसे कि जहां धूम (कार्य) है वहां पर अग्नि (कारण) अवश्य होती है यह अन्वय कहलाता है और जहां पर अग्नि (कारण) नहीं है वहां पर धूम (कार्य) भी नहीं होता इसे व्यतिरेक कहते हैं। इसी प्रकार अगर ईश्वर और सृष्टि-जगत में परस्पर कार्य-कारणभाव है अर्थात् जगत कार्य और ईश्वर उसका कारण इस प्रकार दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध यदि सुनिश्चित है तो उनमें अन्वय व्यतिरेक भी अवश्य होना चाहिये जैसे कि अग्नि और धूम मे देखा जाता है। परन्तु यहां पर ईश्वर के साथ जगत का अन्वय तो है लेकिन व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता। व्यतिरेक दो प्रकार का माना है एक काल व्यतिरेक दूसरा क्षेत्र व्यतिरेक। इन दोनों प्रकार के व्यतिरेकों में से ईश्वर में एक भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वर को नैयायिकों ने नित्य माना है इसलिये काल व्यतिरेक भी नहीं और न्याय मत में ईश्वर सर्व व्यापक है अतः उसमें क्षेत्र व्यतिरेक भी नहीं है। काल व्यतिरेक तब प्रमाणित होगा जब यह कहें कि जिस २ समय ईश्वर नहीं उस २ वक्त जगत भी नहीं, परन्तु ऐसा कथन तो संगत नहीं हो सकता ईश्वर तो सदैव काल है उसका तो किसी समय पर भी अभाव नहीं। और क्षेत्र व्यतिरेक तब हो जब यह माने कि जिस २ स्थान में ईश्वर नहीं वहां जगत भी नहीं, यह कथन भी ईश्वर की व्यापकता का विघातक है। जब व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता तो ईश्वर और जगत में कार्य-कारणभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता और जब इनका कार्य कारण भाव ही सिद्ध नहीं तो ईश्वर जगत् का कारण-कर्ता है यह कैसे प्रमाणित माना जाय ? इसका आप ही विचार करें ? मेरे विचारानुसार तो इन्हीं विप्रतिपत्तियों को ध्यान में रखते हुए अपेक्षावाद प्रधान समन्वय दृष्टि रखने वाले जैन दर्शन ने इस कर्तृत्ववाद की गुत्थी को इस प्रकार सुलझाने का यत्न किया है कि ईश्वर का कर्तृत्व उसके साक्षीरूप में ही पर्यवसित हो सकता है। यह सृष्टि प्रवाह से अनादि है और जगत् वासी जीव अनेक प्रकार के निमित्तों द्वारा कर्मों का उपार्जन करते है और विविध प्रकार के निमित्तों के द्वारा ही उनका फल भोगते हैं ईश्वर का इसमें कोई दखल नहीं, ईश्वर तो केवल साक्षीरूप है। यह जीव जिन २ निमित्तों द्वारा कर्म करता है उसका फल भी उसको उसी प्रकार के

निमित्तों द्वारा मिल जाता है। यह बात कर्मों के स्वरूप को समझने पर भलीभांति विदित हो जाती है। कर्मों के स्वरूप को यथावत् न समझने से ही लोक में उनके फल देने में विविध प्रकार की शंकायें उत्पन्न हो रही हैं। कर्म एक पौद्गलिक द्रव्य वस्तु है, उसका आत्मा के साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है और किन २ निमित्तों द्वारा यह जीव उनका वन्ध करता है और किस प्रकार उनकी निर्जरा होती हैं इत्यादि सारी बातों का जैन परम्परा के कर्म स्वरूप विवेचन प्रधान ग्रन्थों में बड़े विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है जो कि आप जैसे विद्वानों के देखने योग्य है। अब रही ईश्वर की बात सो वह तो सर्व दोषों से रहित निरंजन निर्विकार सर्वज्ञ सर्वदर्शी और आप्त काम है। उसके सर्वव्यापी निर्मल ज्ञान में विश्व के समस्त पदार्थ सामान्य अथच विशेषरूप से करामलकवत् आभासित हो रहे हैं। अमुक जीव अमुक निमित्त के द्वारा अमुक प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म का वन्ध कर रहा है और अमुक जीव अमुक समय में अमुक निमित्त के द्वारा उपार्जन किये हुए शुभ या अशुभ कर्म का अमुक निमित्त के द्वारा फल भोग रहा है इत्यादि सब कुछ ईश्वर के ज्ञान में निहित है, बस यही उसका निर्दोष कर्तृत्व है। इसी आशय से जैन शास्त्रकारों ने कहा है—

सर्वभावेषु ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं यदि संमतम्।
मतां नः सन्ति सर्वज्ञा मुक्ताः काय भृतोऽपिच ॥१॥

अर्थात् यदि सर्व भावों पदार्थों का यथावत् ज्ञान धराने वाले को ही कर्ता माना जावे तब तो हमें भी स्वीकार है। हमारे यहां दो प्रकार के सर्वज्ञ ईश्वर माने हैं एक मुक्त विदेह स्वरूप और दूसरा कायभृत शरीर धारी। ये दोनों क्रमशः सिद्ध और अरिहन्त के नाम से पुकारे जाते हैं। तात्पर्य कि एक ईश्वर शरीर धारी जो कि जीवन मुक्त कहलाता है और दूसरा शरीर रहित सिद्ध परमात्मा सच्चिदानन्दरूप जो कि मुक्तात्मा कहा जाता है। इन दोनों का निर्मल ज्ञान चराचर में व्याप्त है इसलिये ये दोनों प्रकार के शरीरी और अशरीरी ईश्वर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अथच चराचर के ज्ञाता हैं। आप लोग स्वयं सब विषयों के जानकार हैं इसलिये आप लोगों के समक्ष यह जैन दृष्टि से किया गया संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा।

राजा साहब को सम्बोधित करते हुए आपने कहा राजन्! आपके इन सुयोग्य विद्वानों ने न्याय-दर्शन के अनुसार जो ईश्वर में कर्तृत्व की स्थापना करने का यत्न किया है वह प्रेरकरूप में पर्यवसित होता है और हमारे साधु ने उसे ज्ञातारूप में स्वीकार करने का सदाग्रह किया है। तात्पर्य कि वह सर्व पदार्थों का ज्ञाता है प्रेरक नहीं। अब आपको जो उचित लगे उसे स्वीकारें इसमें किसी प्रकार के हठ या दुराग्रह को कोई स्थान नहीं। विचारशील पुरुषों में मत भेद तो हो सकता है किन्तु मत विरोध को उनके हृदय में कोई स्थान नहीं होता। आज के इस शास्त्रीय प्रसग को सद्भावपूर्ण उदार मनोवृत्ति से पर्यालोचन करने का यत्न करना यही मेरी आप लोगों से नम्र सूचना है।

महाराज श्री आनन्दविजयजी के इस कथन को सुनकर लीवड़ी दरवार ने हाथ जोड़ते हुए कहा—महाराज ! आपश्री ने आज हम लोगों पर जो कृपा की है उसके लिये हम सव आपके वहुत २ कृतज्ञ हैं। आप जैसे महापुरुषों के दर्शन किसी पुण्य विशेष के उदय से ही प्राप्त होते हैं-मेरा और मेरी प्रजा का यह अहोभाग्य है जो कि आप जैसे सत्पुरुष यहां पधारे। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो फर्मावें।

राजा साहव के इतने सभाषण के वाद उनके साथ में आये हुए दोनों पडितों ने वड़ी नम्रता दिखाते हुए कहा—महाराज ! आज आपश्री के पुनीत दर्शनों से हम लोगों को जो अलभ्य लाभ हुआ है उसके वर्णन में हमारी जिव्हा असमर्थ है। आपके इस गम्भीर शास्त्रीय प्रवचन से हम लोगों को वहुत कुछ नवीन जानने को मिला है। क्षमा करना पहले तो हम लोग अपनी विद्वत्ता के आवेश में आकर यही समझते थे कि आप केवल जैन शास्त्रों के जानकार एक साधारण कोटि के साधु होंगे, परन्तु आप तो जैन जैनेतर सभी दर्शनों के पारगामी प्रमाणित हुए हैं। ईश्वर कर्तृत्व के विषय में आपने जो गम्भीर मार्मिक और तलस्पर्शी विचार हम लोगों को दिये है वे नितरां प्रशसनीय हैं और हम लोग उनपर अवश्य विचार करेंगे। आप जैसे परमत्यागी और परम मनीषी सत्पुरुषों के पुनीत दर्शन भी सद्भाग्य से ही प्राप्त होते हैं, आपके विद्वत्ता पूर्ण सौम्य व्यक्तित्व के आगे हम नत मस्तक है, आप जैसे महापुरुषों का अधिक से अधिक समागम मिलता रहे यही प्रभु से प्रार्थना है, और यदि हम लोगों से आपश्री का किसी प्रकार का अविनय हुआ हो तो उसके लिये हम आप से क्षमा चाहते हैं।

इतना निवेदन करने के वाद राजा साहव और साथ में आये पंडितों ने महाराज श्री को नमस्कार किया और उत्तर में सप्रेम धर्म लाभ प्राप्त करके वहां से विदा हुए महाराज श्री से कुछ और निवास करने तथा फिर भी इस नगर को अपने चरण कमलों से पावन करने की प्रार्थना करके।

अध्याय ७४

"खंभात और भरुच आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा"

एक मास के बाद लींबड़ी से विहार करके, वढ़वाण, धुंधुका और धौलेरा आदि नगरों में विचरते हुए आप खंभात बन्दर पधारे। यहां पर अनुमान एक हज़ार घर श्रावकों के और दो सौ के करीब जिन मंदिर हैं। इसके अलावा यहां पर प्राचीन पुस्तक भण्डार भी हैं जिनमें ताड़पत्रों पर लिखे हुए अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह है। आपने इन भंडारों का निरीक्षण किया और उपयोगी पुस्तकों की नवीन नकलें करवाई। इन दुर्लभ पुस्तकों की सहायता से अम्बाले में आरम्भ किये गये "अज्ञान तिमिरभास्कर"$ नाम के ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया। जिसे भावनगर की जैन ज्ञानहितेच्छु सभा ने छपवाकर प्रकाशित किया। और यहां पर विराजमान श्री स्थंभन पार्श्वनाथ प्रभु की अत्यन्त प्राचीन प्रतिमा के दर्शनों से अपने को कृतार्थ किया। खंभात से विहार करके जम्बूसर होते हुए "भरुच वन्दर" पधारे। यहां पर अनुमान अढ़ाई सौ घर श्रावकों के हैं और छै जिन मन्दिर हैं जो कि बडे रमणीक हैं। इसके अतिरिक्त यहां पर वीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत स्वामी की अत्यन्त प्राचीन भव्य प्रतिमा से सुशोभित विशाल जिन मन्दिर है जो कि अश्वाववोध विहार और समली विहार के नाम से प्रसिद्ध है* उसके दर्शनों का भी लाभ प्राप्त किया।

$ यह ग्रन्थ दो भागो मे विभक्त किया गया है। पहले भाग में वेदादि शास्त्रो में विधान किये यज्ञ यागादि का वर्णन है और दूसरे भाग में जैन मत का दिग्दर्शन कराया गया है।

* मुनि सुव्रत स्वामी का यह मंदिर एक समय "अश्वाववोध विहार" के नामसे विख्यात था जोकि समयान्तर मे 'समली विहार" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रमण भगवान महावीर के प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति (गौतम) जव अष्टापद

तीर्थ की यात्रा के लिये गये थे उस वक्त उन्होंने प्रभु की स्तुतिरूप "जगचिंतामणि चैत्यवन्दन" का उच्चारण किया था। उसमें "भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय" ऐसा पाठ आता है। इस पर से इस मन्दिर की प्राचीनता निर्बाध प्रमाणित होती है।

प्रस्तुत विषय का इतिवृत इस प्रकार है—

बीसवे तीर्थंकर श्री मुनि सुव्रत स्वामी को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब उन्होंने अपने ज्ञान से देखा कि नर्मदा नदी के कांठे पर बसे हुए भरुच में वहां के कतिपय ब्राह्मणों ने एक यज्ञ का आरम्भ किया, उसमें यज्ञ के हवन कुण्ड में आहुति देने के लिये एक सुन्दर घोड़े को बान्ध रक्खा है। वह घोड़ा मुनि सुव्रत स्वामी के पिछले जन्मों में किसी जन्म का मित्र था। उसको प्रतिबोध होना जानकर प्रभु वहां पधारे, देवों ने वहां पर समोसरण की रचना की। और जब प्रभु ने देशना देनी आरम्भ की तो उनकी योजन गामिनी वाणी जब उस घोडे के कान में पडी तो उसे जाति स्मरण ज्ञान होगया। वह बन्धन को तोडकर प्रभु के समोसरण की तर्फ दौडा। यह आश्चर्य देखकर लोग भी उसके पीछे दौडे। वह घोडा समोसरण में प्रभु को प्रदक्षिणा देकर अपने स्थान मे खडा होगया और बार २ प्रभु को देखकर आगे २ सरकता हुआ प्रभु के समीप में जाकर नत मस्तक हुआ अर्थात् उसने प्रभु को नमस्कार किया। प्रभु ने उसके मनके भाव को जानकर उसे अनशन व्रत करवा दिया। तब काल करके वह देवलोक में देवता बना; देवता के भव में आने के बाद अपने स्वभाव सिद्ध ज्ञान से उसने अपना पिछला भव जान लिया और प्रभु के समवसरण में उपस्थित देवों की पर्षदा मे आकर बैठा और प्रभु को वन्दना नमस्कार करके सबके समक्ष अपना चरित्र सुनाने लगा—मैं पिछले भव में घोडा था, यहां ब्राह्मणों ने मुझे यज्ञ में हवन करने के लिये बाध रक्खा था" परन्तु जब आपकी वाणी मेरे कान में पड़ी तो ऊहापोह करते हुए मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उससे मैंने आपको अपने किसी पूर्वले भव का मित्र जानकर आपके प्रति मेरा सद्भाव उत्पन्न हुआ, मैं यज्ञ स्तम्भ से छूटकर आपके समवसरण में पहुंचा आपने मेरा भाव जानकर मुझसे अनशन कराया तब मैं शरीर त्याग करके देवलोक मे देवता हुआ। अब अवधिज्ञान से आपको और अपने पूर्व भव को जानकर आपके दर्शनार्थ यहां पर आ हाजर हुआ हूँ। इस चमत्कार-पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर और अहिंसा प्रधान प्रभु की देशना के प्रभाव से बहुत से ब्राह्मणों ने हिंसा-प्रधान यज्ञ-यागादि अनुष्ठान का परित्याग करके जैन धर्म की गृहस्थ दीक्षा को अंगीकार किया और कितने एक साधु-धर्म मे दीक्षित होगये। उस समय उस देवता ने एक तरफ भगवान के समवसरण की रचना मन्दिर बनवाया और उसमें अपनी घोडे की मूर्ति इस रूप में बनवाई कि मानो यज्ञ भूमि मे से दौडा हुआ समवसरण में जा रहा है और एकाग्रचित्त से देख रहा है। तब से घोडे का निशान होने पर इस मन्दिर का नाम "अश्वावबोध विहार" विहार नाम मन्दिर का है।

प्रसिद्ध हुआ। तात्पर्य कि यह मन्दिर वह है जहां अश्व-घोड़े को अवबोध-ज्ञान प्राप्त हुआ था। कालान्तर में एकदा उक्त मन्दिर से कुछ दूरी पर एक बट का वृक्ष था और उस पर एक समली-चील्ह बैठी हुई थी, किसी पारधी-शिकारी ने उसके तीर मारा, तीर के लगने से वह तड़पती हुई उस मदिर के एक विभाग में आ गिरी। उस समय एक मुनि मन्दिर मे प्रभु दर्शन करके बाहर आ रहा था तब उसने तड़फती हुई उस समली को देखा, देखकर मुनि को उस पर दया आई तब उसने उसको नमस्कार मन्त्र सुनाया और अपने पात्र में से पानी लेकर उस पर छींटा दिया। समली, मुनि के इस दयापूर्ण व्यवहार से जरा सावधान होकर उसे देखने लगी, परन्तु विपाक्त तीर का घाव इतना प्रबल था कि मुनि के दिये हुए नमस्कार मन्त्र को सुनते सुनते ही उसका प्राणान्त होगया और मुनि के सुनाये हुए नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से वह मरकर सिंगल द्वीप में राजकुमारी के रूप में उत्पन्न हुई। कुछ कालान्तर में एक दिन भरुच के रहने वाला एक व्यापारी श्रावक व्यापार के निमित्त सिगल द्वीप में गया और महसूल मुआफ कराने की गर्ज से कुछ बहुमूल्य वस्तु भेंट लेकर वहां के राजा के पास गया। उस वक्त राजकुमारी सुदर्शना भी अपने पिता के पास बैठी हुई थी। दैव योग उस व्यापारी श्रावक को छींक आई, तब उसने "नमो अरिहंताण" कहा इन अक्षरों के कान मे पड़ते ही कुमारी सुदर्शना चमकी और कुछ ऊहापोह करती २ धरती पर गिर पड़ी। उसके गिरते ही वहां हाहाकार मच गया। शीतल और सुगन्धित जल के छिड़कने और हवा करने आदि विविध प्रकार के उपचारों से जब वह होश में आई तो कहने लगी कि मेरा वह उपकारी कहां गया ? उसे मेरे पास लाओ जल्दी लाओ ? परन्तु राजा की अनुमति से वहां उपस्थित लोगों ने तो उस की मुश्कें बांध कर उसे अलग बिठा रक्खा था। जब राजकुमारी ने इधर उधर देखा तो उसकी दृष्टि उस व्यापारी पर पड़ी जोकि मुश्कें बांधकर बिठा रक्खा था। उसे देखते ही उसने पुकारा कि अरे तुम लोगों ने यह क्या किया ? छोड़दो इसे यह तो मेरा महान उपकारी है। यह सुनकर राजकुमारी सुदर्शना के पिता बोले बेटी ! यह क्या माजरा है ? हम लोग कुछ भी समझ नहीं पाये।

राजकुमारी—पिताजी ! इसकी मुश्कें खोलकर इसे मेरे पास लाओ ? तब राजा ने उस व्यापारी की मुश्कें खुलवाकर उसे अपने पास बुलाया और वह नमस्कार करके राजा के पास बैठ गया। अपने पिता के पास बैठे हुए उस व्यापारी श्रावक को सम्बोधित करते हुए राजकुमारी बोली—पिताजी ! आप कहां के हो और कहां से आये हो ?

व्यापारी—बेटी ! मैं भरुच का रहने वाला हूँ और वहीं से व्यापार के निमित्त यहां आया हूँ।

यह सुनते ही राजकुमारी गद्‌गद् हो उठी और बोली-आप जब वापिस वहां जाओ तो मुझे भी साथ लेजाना। यह सुनकर राजा को बड़ा विस्मय हुआ। वह अपनी पुत्री से बोला बेटी ! तू तो अभी बालिका है तुमको भरुच का ज्ञान कैसे हुआ ? पिता के इस प्रश्न के उत्तर में कुमारी सुदर्शना ने अपने

पिछले भवका सारा वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि पिताजी ! जब इन सेठजी ने "नमो अरिहंताण" कहा तो उसके सुनते ही मुझे जाति स्मरण ज्ञान होगया। अब मैं भरुच मे जाकर उस मंदिर का जीर्णोद्धार कराऊंगी। यह सुनकर राजा ने कहा—बेटी ! बड़ी खुशी से तुम जब चाहो जा सकती हो। तुमने जाना होतो मुझे कह देना मैं तुम्हारा सब प्रबन्ध करा दूंगा। तुमने इन सेठजी के ही वहां ठहरना और इनके द्वारा ही जीर्णोद्धार का सारा काम करा लेना। क्यों सेठजी ! ठीक है न ?

सेठजी हाथ जोडकर—महाराज ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, राजकुमारी जैसी आज्ञा करेंगी उसी के अनुसार सब काम किया जावेगा।

कुछ दिनों बाद जब वह व्यापारी सेठ वापिस जाने को तैयार हुआ तो राजा ने मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिये जितने धन और सामग्री की आवश्यकता थी उसका प्रबन्ध करके कुमारी सुदर्शना को सेठ के साथ भरुच भेज दिया। राजकुमारी सुदर्शना ने भरुच पहुंच कर अपनी इच्छा के अनुसार मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और मन्दिर में अपने पिछले भव का सारा वृतान्त अंकित कराया तथा उक्त मन्दिर का "समली विहार" यह नाम भी निर्दिष्ट किया। तब से यह समली विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आज भी इस मन्दिर मे कुछ ऐसे चिन्ह दिखाई देते हैं जिनसे उक्त वृत्तान्त विश्वसनीय प्रमाणित होता है [देखो सुदर्शना चरित्र, मुनि सुव्रत स्वामी के चरित्र में] मुनि सुव्रत स्वामी के इस लोक प्रसिद्ध "अश्वावबोध विहार" अथवा "समली विहार" नाम के अति प्राचीन मन्दिर के अस्तित्व से जैन परपरा मे भरुच का नाम विशेप ख्याति को प्राप्त हुआ है। इसके आस पास तीन और तीर्थ स्थान यात्रा करने के योग्य है। (१) श्री झगडियाजी (२) कावी और (३) गन्धार। ये तीनों तीर्थ स्थान भी विशेष महत्व के हैं। इस प्रसंग में भरुच निवासी स्वर्गीय सेठ अनूपचन्द मलूकचन्द का उल्लेख करदेना भी समुचित ही प्रतीत होता है। सेठ अनूपचन्द एक अच्छे धर्मात्मा व्यक्ति थे। श्री हुकममुनि के सहवास में आने से उनकी धार्मिक आस्था में जो विकार उत्पन्न होगया था उसे श्री आनन्दविजयजी महाराज के सत्संग ने सुधार दिया। आपके सहयोग से जहां उन्होंने अपने धार्मिक विचारों को परिमार्जित किया वहां शास्त्रीय ज्ञान में भी पर्याप्त उन्नति की। उन्होंने "प्रश्नोत्तर रत्नचितामणि" नामकी एक पुस्तक भी लिखी है उसकी प्रस्तावना में महाराज श्री आनन्द विजयजी को अपना उपकारी बतलाते हुए उनके प्रति विशेप भक्तिभाव प्रदर्शित किया है। (लेखक)

अध्याय ७५

सूरत का चातुर्मास

—:※:—

भरुच से बिहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए शिष्य परिवार सहित महाराज श्री आनन्दविजयजी सूरत बन्दर पधारे। सूरत के श्रावक समुदाय ने जिस समारोह के साथ आप श्री का शहर में प्रवेश कराया वह जैन परम्परा के धार्मिक इतिहास में एक उल्लेखनीय स्थान रखता है। आपके इस प्रवेश महोत्सव को देखकर सूरत के पारसी तथा अन्य दर्शनी बड़े बड़े वृद्ध पुरुष कहने लगे कि किसी साधु महात्मा का ऐसा श्रद्धापूरित आदरणीय और समारोह के साथ होने वाला प्रवेश महोत्सव आज तक हमारे देखने में नहीं आया। श्रावक वर्ग की आग्रह भरी असीम प्रार्थना से आपने १६४२ का चतुर्मास यहीं पर किया। चातुर्मास की विनति के स्वीकार होते ही श्रावकों के हर्ष का पारावार न रहा। घर घर में खुशियां मनाई जाने लगीं सारे संघ में अपूर्व उत्साह बढ़ा। श्रावक वर्ग की अभिलाषा को देख चौमासे में श्री आचारांग सूत्र सटीक और भावनाधिकार में श्री धर्मश्रुत प्रकरण का प्रवचन आरंभ किया। आपके प्रवचनामृत का पान करते हुए सूरत के श्रावक श्राविका समुदाय ने जो अलभ्य लाभ प्राप्त किया वह सूरत के धार्मिक इतिहास में अपना विशेष महत्व रखता है। फलस्वरूप सूरत के इस चातुर्मास में आप श्री के धर्मोपदेश से भिन्न भिन्न धार्मिक कार्यों में लग भग ७५००० रुपये का सद्व्यय हुआ। इस के अतिरिक्त इस चातुर्मास में महाराज श्री ने "जैनमत वृक्ष" नाम के एक छोटे से ग्रन्थ की रचना की। तात्पर्य कि सूरत का यह चातुर्मास हर एक दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

अध्याय ७६

श्री हुक्ममुनि का प्रकरण

इस चतुर्मास में सबसे उल्लेखनीय वात श्री हुक्ममुनि की है। जिसके फैलाये हुए मिथ्या भ्रमजाल में फंसे हुए श्रावक श्राविका समुदाय को निकाल कर धर्ममार्ग पर चलाने का आपने महान् श्रेय उपार्जन किया।

उस समय सूरत में हुक्म मुनि नाम के एक जैनाभास साधु का वड़ा प्रभाव था। लोग उसके उपदेशों से अधिक प्रभावित होकर धार्मिक क्रियाकांड को त्याग चुके थे। उसकी कोरी अध्यात्मवाद की प्ररूपणा ने जैन परम्परा के जीवनोपयोगी धार्मिक क्रियाकलाप को वहुत आघात पहुँचाया। अधिक क्या कहें उसके संसर्ग में आने वाली जैन जनता प्राय: नास्तिक सी वन चुकी थी। श्री हुक्ममुनि ने अपने विचारों को स्थायी रूप देने के लिये एक पुस्तिका की रचना की जो कि "अध्यात्मसार" इस नाम से छपवा कर प्रकाशित कराई गई। इसका अवोध जैन जनता पर वहुत उलटा प्रभाव पड़ा। यथार्थ श्रद्धान के वदले उसके हृदय में विपरीत श्रद्धान ने स्थान ग्रहण कर लिया। यह देख धर्मप्राण महाराज श्री आनन्दविजयजी को धर्म की इस प्रकार होने वाली अवहेलना वहुत खटकी और श्रद्धालु श्रावकवर्ग का इस प्रकार धर्म से विमुख होना उन्हें असह्य हो उठा।

तव आपने अपने प्रतिदिन के प्रवचन में हुक्ममुनि के धर्मविरुद्ध विचारों का प्रतिवाद करना आरंभ किया और उसके वनाये हुए अध्यात्मसार ग्रन्थ में से १४ प्रश्न निकाले। उन प्रश्नों को एक श्रावक के द्वारा श्री हुक्ममुनि तक पहुँचाया और कहा कि आपका यह अध्यात्मसार ग्रन्थ जैनागमों से विरुद्ध अथच मन कल्पित है। उसमें से नमूने के तौर पर ये १४ प्रश्न निकाल कर भेजे हैं, या तो इन प्रश्नों का समुचित समाधान करो अन्यथा अपनी विपरीत मान्यता का परित्याग करो? परन्तु हुक्ममुनि की तर्फ से कोई भी सन्तोष जनक उत्तर न मिला तो आपने सूरत के समस्त जैन संघ को आमन्त्रित करके कहा कि श्री हुक्ममुनि

का मत जैन शास्त्रों से सरासर विरुद्ध है, उनकी लिखी पुस्तक में से मैंने ये १४ प्रश्न निकाल कर उनके पास भेजे थे, जिनके उनकी तरफ से ये उत्तर आये हैं, इनको देखने से मैं तो इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि उनसे मेरे किसी प्रश्न का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं बन पड़ा। अब आप लोग अपने निश्चय के लिये इन प्रश्नों के साथ हुक्ममुनिजी के उत्तरों को लिखकर निर्णयार्थ भारतवर्ष के अन्य जैन जैनेतर विद्वानों के पास भिजवाने का यत्न करो जिससे सत्यासत्य का यथार्थ निर्णय होसके। आपके इस कथन को मान देते हुए सूरत के जैन संघ ने आपके प्रश्न और हुक्ममुनि के उत्तर श्री जैन ऐसोसिएशन ऑफ इण्डिया-भारतवर्षीय जैन समाज़ के मत्री के पास बम्बई भेज दिये और साथ में लिखदिया कि इनको भारत वर्ष के प्रतिष्ठित जैन जैनेतर विद्वानों के पास निर्णयार्थ भेज दिया जावे। ऐसोसिएशन के प्रधान मंत्री ने सूरत संघ की सूचनानुसार भारतवर्ष के विख्यात जैन साधुओं जैन यतियों और जैन धर्म के ज्ञाता जैनेतर विद्वानों के पास उन प्रश्नोत्तरों को भेज दिया।

पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि बाहर के जैन जैनेतर सब विद्वानों ने आप ही के पक्ष में अपना निर्णय दिया। सबने अपने निर्णय में यही लिखा कि मुनि श्री आनन्दविजयजी का कथन जैन शास्त्र सम्मत है और श्री हुक्ममुनिजी का उसके-जैन शास्त्र के विपरीत है।

तब बाहर से आये हुए विद्वानों के निर्णय को लेकर ऐसोसिएशन के मंत्री ने सूरत में आकर समस्त श्रीसंघ को एकत्रित करके वि० सं० १६४२ मगसर शुदि १४ के दिन विद्वानों का दिया हुआ निर्णय सुनाते हुए कहा कि भारतीय जैन जैनेतर विद्वानों के निर्णयानुसार श्री हुक्ममुनिजी का कथन शास्त्र विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है और सभा में आये हुए हुक्ममुनि के पक्षवाले गृहस्थों से कहा कि बाहर से आये हुए विद्वानों के अभिप्रायानुसार श्री हुक्ममुनि जी का बनाया हुआ "अध्यात्मसार" ग्रन्थ अप्रामाणिक सिद्ध हुआ है। इस लिए हमारी तर्फ से आपलोगों द्वारा श्री हुक्ममुनि जी को सूचित किया जाता है कि उनका अध्यात्मसार ग्रन्थ जैनागमों के मन्तव्य के विरुद्ध होने के कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अब या तो वे इसमें सुधारा करें अर्थात् उसमें से आगम विरुद्ध लेखों को निकाल दें, अथवा अलग लेख द्वारा उन्हें अप्रमाणिक घोषित करें! जब तक वे हमारी इस सूचना पर ध्यान नहीं देते तब तक उनके इस ग्रन्थ को कोई भी जैन प्रामाणिक नहीं मान सकता। इतनी घोषणा के बाद सभा विसर्जित हुई और भाविक जैन गृहस्थों को हुक्ममुनि के मिथ्या मायाजाल से छुटकारा मिला, जिसका सर्वतोभावी श्रेय महाराज श्री आनन्दविजय जी को है।

अध्याय ७७

रायचन्द से राज विजय

—: ◎ :—

श्री हुक्ममुनि के प्रकरण को लेकर महाराज श्री आनन्दविजयजी को चौमासे के बाद भी सूरत में कुछ दिन और ठहरना पड़ा। इस अवसर में एक ढूंढक साधु जिसका नाम रायचन्द था उसने वि० स० १६३६ की फाल्गुन वदी १३ को पोरबन्दर में देवरिख नामा एक ढूंढक साधु के पास दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु आपके बनाये हुए "सम्यक्त्व शल्योद्धार" ग्रन्थ के स्वाध्याय से उसकी ढूंढक मत पर अनास्था हो गई। तब उसने वि० स० १६४२ आश्विन कृष्णा द्वादशी को ढूंढक मत और वेष का परित्याग करके मगसर वदि पचमी के रोज श्री आनन्दविजय-आत्मारामजी महाराज के पास शुद्ध सनातन जैनधर्म की साधु-दीक्षा को अगीकार किया। आपश्री ने दीक्षा देने के बाद उसका "राज विजय" यह नाम रक्खा और श्री हर्षविजयजी का शिष्य घोषित किया।

अध्याय ७८

बंबई से आमंत्रण

आपके आदर्श व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षण था। उसने पंजाब के अतिरिक्त गुजरात की जैनप्रजा को भी अपनी ओर इस तरह आकर्षित किया जैसे चुम्बक पाषाण लोहे को अपनी ओर खैंच लेता है। सूरत के चातुर्मास में उपस्थित होने वाले हुक्ममुनि प्रकरण ने तो आपके व्यक्तित्व को और भी ऊंचा उठा दिया और गुजरात की जैनप्रजा का आकर्षण और भी बढ़ा, फलस्वरूप बम्बई के श्रीसंघ ने आपको बम्बई पधारने की आग्रह भरी विनति की और आशा प्रकट की कि बम्बई के श्रीसंघ की इस विनीत प्रार्थना को आपश्री अवश्य स्वीकार करने की कृपा करेंगे तथा आप श्रीसंघ की आग्रह भरी विनति को अवश्य मान देने की कृपा करेंगे ? इस विश्वास से "बसई" के रेल्वे पुल पर से उतरने के लिए रेल्वे को हरजाने की रकम देने का भी श्रीसंघ ने निश्चय कर लिया। परन्तु क्षेत्र फर्सना न होने से इच्छा होते हुए भी आप न पधार सके। इस लिए सूरत से बम्बई की ओर विहार न करके बड़ौदे की तर्फ को विहार कर दिया और क्रमशः भरुच, मियांगाम और डभोई होते हुए बडौदे पधारे। यहां आते ही सूरत निवासी श्री कस्तूरीलाल को दीक्षा देकर "कुंवर विजय" नाम रक्खा और श्री वीर विजयजी का शिष्य घोषित किया।

अध्याय ७९

बड़ौदे के बदले मातर गांव

—०※०—

बड़ौदे आने के बाद आपको यह शुभ समाचार मिला कि पालीताणा दरबार से श्री शत्रुञ्जय तीर्थ सम्बन्धी जो तकरार चल रही थी (जिसके परिणाम स्वरूप बहुत समय से तीर्थयात्रा बन्द हो रही थी) उसका फैसला होगया। यह सुनकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई और कई एक श्रावकों की प्रेरणा से इस परम-पवित्र तीर्थ की छाया तले [पालीताणा में] चातुर्मास करने की आपकी इच्छा हुई, एतदर्थ आपने बडौदे से विहार कर दिया। वहां से छाणी, उमेटा बोरसद और पेटलाद आदि नगरों में विचरते हुए मातर गांव में पधारे। यहां पर पांचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ [जो कि गुजरात में सांचेदेव के नाम से विख्यात हैं] के दर्शनों का अलभ्य लाभ प्राप्त किया और इन्हीं देव के समक्ष पाटन शहर के रईस श्री लहरु भाई [जिनकी आयु अनुमान १८ वर्ष की थी] को आपने साधु दीक्षा से अलंकृत किया तथा श्री हंसविजयजी का शिष्य घोषित करते हुए "सम्पद् विजय" इस पुनीत नाम से सम्बोधित किया।

यद्यपि लहरुभाई की दीक्षा बडौदे में होनी निश्चित हुई थी। श्री हंसविजयजी के पूर्वाश्रम के पिता सेठ जगजीवनदासजी ने बडे समारोह से दीक्षा दिलाने का सारा प्रबन्ध भी कर लिया था परन्तु लहरुभाई की माता ने किसी असाधु पुरुष की प्रेरणा से तोफान करना शुरु कर दिया अर्थात् लहरुभाई को दीक्षा न देने का महाराज श्री आनन्दविजयजी से साग्रह अनुरोध किया ! परन्तु आपतो ऐसी दीक्षा को खुद ही पसन्द नहीं करते थे जिसमें किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो, या दीक्षित के किसी निकट सम्बन्धी को कोई आपत्ति हो, इस लिए आपने लहरुभाई की माता को सान्त्वना देते हुए कहा कि माता ! तुम अपने मनमें जरा जितना भी ख्याल न करो आत्माराम विना तेरी आज्ञा के इसे कभी दीक्षा नहीं देगा। इतने मे सौभाग्यवश सूरत के रहनेवाला दीक्षार्थी कस्तूरीलाल वहां आ पहुँचा, और उसने दीक्षा के लिए आपसे प्रार्थना की, बस फिर क्या था लहरु भाई के निमित्त की गई दीक्षासम्बन्धी तैयारी का लाभ कस्तूरीलाल को मिलगया और बड़ौदा के श्री सघ ने इस दीक्षा महोत्सव में बढ चढ़ कर भाग लिया।

कस्तूरीलाल के दीक्षा समारोह को देख कर लहरुभाई की माता के भाव वदल गये और वह पश्चाताप करती हुई महाराजश्री से दीक्षा न देने के बदले दीक्षा देने की प्रार्थना करने लगी, परन्तु अब पछताये क्या होत है जब चिड़ियां चुग गई खेत' इस लिए लहरुभाई की दीक्षा बड़ौदे के बदले मातर गांव में सम्पन्न हुई।

मातर से विहार करके खेड़ा होते हुए आप अहमदावाद पधारे। अहमबाद के जैनसंघ ने बड़े समारोह के साथ आपका सप्रेम स्वागत किया और नगर सेठ के द्वारा कुछ दिन ठहर कर यहां की भाविक जनता को उपदेशामृत पिलाने की प्रार्थना की, जिसे आपने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया और जितने दिन ठहरे उतने दिन नियत समय पर अपना धर्मोपदेश चालु रक्खा जिससे स्थानीय जैन जनता को बहुत लाभ मिला। §

§ नोट—पाठकों को इतना स्मरण रहे कि इस पुस्तक के पृ० २६६-७० में श्रमणभगवान् महावीरस्वामी के समय में साधु साध्वी के विचरने लायक क्षेत्रों की मर्यादा के सम्बन्ध में जो कौशांबी का वर्णन आया है उसकी चर्चा का समय यह था जब कि आप पालीताणा में चातुर्मास करने के निमित्त अहमदावाद पधारे सं० १६४२ में।

अध्याय ८०

साधुओं से परामर्श

महाराज ! यहां पर कई एक शहरों से पत्र आये हैं, उनमें लिखा है-'हमने सुना है कि अबके श्री आनन्दविजयजी-श्री आत्मारामजी महाराज का चातुर्मास पालीताणा में होगा, क्या यह सत्य है ? यदि महाराजश्री का विचार पालीताणा में चातुर्मास करने का होवे तो हमारा विचार भी वहीं पर चौमासा रहने का है इत्यादि" यह सूचना सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई और सेठ दलपतभाई भग्गुभाई ने देते हुए आपसे सविनय अर्ज की—महाराजजी साहब ! मूंडके का फैसला होगया है अर्थात् फी यात्री दो रुपये कर का जो झगड़ा पालीताणा दरबार से चल रहा था उसका निबटारा होगया है और यात्रा खुल गई है इसलिये यदि आपका चातुर्मास अबके पालीताणा में होवे तो बहुत अच्छी बात है। कहिये क्या विचार है ?

श्री आनन्दविजयजी—कुछ विचार तो है आगे ज्ञानी जाने यदि वहां की क्षेत्र फर्सना ज्ञानी ने देखी होगी तो वहीं पर चातुर्मास होगा अन्यथा कहीं पर तो करना ही है। अगर पालीताणा में होवे तब तो बडा पुण्य का उदय समझना चाहिये, तीर्थाधिराज की कार्तिकी पूर्णिमा की यात्रा हो जावेगी। वहां के चातुर्मास का यही सर्वोत्तम लाभ है। अस्तु, साधुओं के साथ विचार करेंगे। इतना वार्तालाप होने के बाद सेठजी वन्दना नमस्कार करके वहां से विदा हुए और महाराज श्री भी अपने स्थान में आगये। दोपहर के समय सब साधुओं को अपने पास बैठाकर आपने कहा—बोलो, श्री सिद्धगिरि में चातुर्मास करने के बारे में तुम लोगों का क्या विचार है ? लोग वहां पर चौमासा करने का आग्रह कर रहे हैं और स्वयं आने को लिख रहे हैं और यहां के सेठों की भी विनति है। अब तुम लोग दृढ़ निश्चय करलो ताकि उनको सूचित किया जावे। तुम लोगों को यह तो मालूम ही है कि पालीताणा इस समय सर्वेसर्वा यतियों का क्षेत्र बन रहा है। तुमने वहां जाकर देख ही लिया है। क्या कभी किसी गांव वाले ने आकर आहार पानी की विनति की है। कभी किसी ने आकर कहा है कि महाराज ! आहार पानी के लिये मेरे यहां

पधारो। अपने लोगों का निर्वाह तो यात्रियों पर ही निर्भर करता है । चौमासे में यात्री लोग तो आते नहीं इसलिये वहां आहार पानी का कष्ट तो अवश्य है । और साधुओं के पुण्य से यदि लिखने वाले भाग्यवान् आजावें तब तो कोई हरकत नहीं आती । यदि कोई न आवे तो आहार पानी के लिये क्या करना ? इत्यादि सारी परिस्थिति का विचार करके निश्चित उत्तर दो। अगर हर प्रकार के परिषह को सहन करने की हिम्मत है तो सीधे चलो श्री सिद्धाचलजी को अन्यथा और किसी क्षेत्र का विचार किया जावे ।

आपश्री के कथन को सुनकर सब साधुओं ने हाथ जोडकर कहा–कृपानाथ ! हम सबका विचार तो पालीताणा में चातुर्मास करने का सुनिश्चित है, कार्तिकी पूर्णिमा की पुण्ययात्रा का हम लोगों को फिर कब अवसर मिलेगा ? हमने तो पजाब में जाना है काल का कोई भरोसा नहीं, फिर कभी इधर आना होवे कि नहीं यह कौन जानता है ? इसलिये इस अवसर को हाथ से जाने नहीं देना चाहिये । अब रही आहार पानी की बात । सो आपश्री का पुण्य प्रबल है, आहार पानी की चिन्ता का तो अवसर ही नहीं आवेगा। यदि आवे भी तो तपस्या करेंगे, गांव में फिर कर जैन जैनेतर सब लोगों के घरों से जैसा भी रूखा सूखा शुद्ध आहार मिलेगा उससे निर्वाह करेंगे। अपने सब पंजाब से चलकर यहां तक आये हैं तो कोई गृहस्थों के सहारे पर तो नहीं आये । रास्ते में जैसा भी रूखा सूखा आहार मिलता रहा उसी को खाकर यहां आ पहुंचे हैं । फिर पालीताणा में आपश्री जैसे प्रभावशाली महापुरुषों के साथ में रहते हुए आहार पानी की क्या चिन्ता ? इसलिये कृपानाथ ! इच्छा न होते हुए भी आप हम लोगों के लिये वहां चातुर्मास ठहरने का अनुग्रह करें हम सब की यही आपके पुनीत चरणों में विनति है । इस प्रार्थना के उत्तर में महाराजश्री की तर्फ से बहुत अच्छा" इतना सुनते ही सब ने आदीश्वर भगवान के नामका जयकारा बुलाया और कल पालीताणा की ओर विहार करने की नगर सेठ को सूचना करदी ।

दूसरे दिन नगर सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई ने महाराज श्री से पूछा कि साहब जी ! विहार का कौनसा समय निश्चित किया है । गुरु महाराज ने उत्तर दिया कि विजयमूर्त में विहार का निश्चय किया है अर्थात् स्टैन्डर्ड टाइम ठीक साढ़े बारह बजे यहां से कदम उठाऊंगा । यह सुनकर सेठजी वन्दना नमस्कार करके घर को चले गये और व्याख्यान सभा में आई जनता भी अपने २ घरों को रवाना होगई ।

उस रोज विहार का निश्चय होने से व्याख्यान सभा जल्दी समाप्त करदी गई थी । आहार पानी से निवृत्त होकर बारह बजे के करीब सब साधु तैयार होगये और बहुत से लोग भी समय से पहले पहुँच गये, मगर नगर सेठ नहीं पहुँचे इधर घड़ीयाल ने जब साढ़े बारह का टकोरा दिया तो गुरु महाराज ने कदम उठाया और चलने लगे । तब कई एक श्रावकों ने विनम्र भाव से आगे बढ़कर कहा कि महाराज ! सेठजी अभी नहीं आये । [उनके इस कथन का आशय यह था कि आप थोड़ी देर उनकी प्रतीक्षा करलें ।]

गुरु महाराज ने जवाव दिया कि तुम सब सेठ ही हो न ? भाई ! मैं तो अपने ठीक समय पर विहार करूंगा, इतना कहकर चल पड़े ।

महाराज श्री के विहार कर जाने पर कई एक आदमी दौड़कर नगर सेठ के घर पहुँचे तो उस समय नगरसेठ तैयार होकर पीनस में बैठ गये थे और पीनस उठाने को थी । इतने मे खबर देने वालों ने सेठजी से कहा कि सेठजी ! महाराजजी साहब ने विहार कर दिया उनको थोड़ा समय सुस्ताने को अर्ज किया, मगर जवाव में उन्होंने कहा कि मैं तो अपने नियत समय पर चल पड़ूगा" इतना कहते ही वे नदी की तर्फ रवाना हो गये । यह सुन सेठजी ने कहा तो फिर अपने को यहां से सीधा नदी का ही रास्ता लेना चाहिये ताकि महाराज श्री के वहा पहुंचने तक अपने भी पहुँच जावे । इतना कहते ही पीनस उठाने वालों को नदी की ओर चलने का आदेश दिया और वे चल पडे । इधर गुरुदेव नदी के पास पहुँचे उधर सेठजी की पीनस भी वहा आ पहुंची, पीनस से उतर कर सेठजी ने विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार की, उत्तर में गुरु-महाराज ने सप्रेम धर्मलाभ दिया ।

उस समय वहां पर उपस्थित कई एक मुख्य श्रावकों ने सेठजी से कहा कि हम लोगों ने आपके लिये गुरु महाराज को थोड़ी देर सुस्ताने की प्रार्थना करते हुए कहा था कि गुरुदेव ! अभी सेठजी नहीं आये उनके आने तक ठहरने की कृपा करें । तो आपकी ओर से उत्तर मिला कि "तुम सब सेठ ही हो न ? मैं तो अपने समय सर विहार कर दूंगा । नगर सेठ मुस्कराते हुए-तो गुरु महाराज ने जो कुछ फर्माया वह ठीक ही तो है, आपके लिये तो सभी सेठ हैं । वीतरागदेव के चरणचिन्हों पर चलने वाले परम त्यागी महापुरुषों की दृष्टि में तो छोटे वडे सभी समान होते हैं । और यदि व्यवहार से देखा जाय तब भी आपश्री का कथन यथार्थ है । जब कि मैने आपसे विहार का समय पूछा और आपने समय बतला दिया तब उस समय पर हाजर होना यह मेरा फर्ज था न कि मेरे लिये आपको ठहरना । मैं यदि नियत समय पर नहीं पहुंचा तो इसमें भूल मेरी है मैं तो उलटा क्षमा का पात्र हूँ । गुरुदेव अपने नियत समय पर चल पडे जोकि उन्हें चलना ही था । रागद्वेष से ऊंचे उठने वाले महापुरुषों का यही आदर्श है और होना चाहिये । यदि आप लोगों के कहने से गुरु महाराज, कृपा की दृष्टि से ठहर जाते तो आप लोगों में से ही ऐसा कहने वाले भी निकल पडते कि आखिर साधुओं को धनिकों का लिहाज करना ही पडता है । इसलिये गुरु महाराज ने जो कुछ किया वह उचित ही किया है । आप लोगों का ध्यान गुरु महाराज की निस्पृहता की ओर जाना चाहिये था जो कि साधुता की सच्ची कसौटी है जिस पर कि आप पूरे उतरे हैं । जैन समाज का यह अहोभाग्य है कि उसमें आप जैसे विद्या विनयसम्पन्न निस्पृही मुनिराज विचर रहे हैं । धनिकों की प्रतीक्षा धनलिप्सु किया करते हैं न कि धन के त्यागी भी । सच पूछो तो गुरु महाराज की इस निस्पृहता से मैं जितना प्रभावित हुआ हूँ उतना आपके रुकने पर शायद ही हो पाता ।

इतना कहने के बाद आपने गुरु महाराज के चरणों का स्पर्श करते हुए उनकी चरण धूलि से अपने मस्तक को सुशोभित किया और गुरु महाराज ने मगलीक सुनाते हुए सप्रेम आशीर्वादरूप धर्मलाभ दिया। उस समय का यह दृश्य कितना आकर्षक था यह कहते नहीं बनता। गुरुदेव की निस्पृहता और सेठजी की गम्भीरता और नम्रता की परख तो वेही कर सकेंगे, जिन्हें उन जैसा उदार हृदय उपलब्ध हुआ है। तदनन्तर गुरुमहाराज ने अपने शिष्यवर्ग सहित आगे को प्रस्थान किया और सेठजी अन्य पुरुषों के साथ पीछे को लौटे सिद्धगिरि की छाया में चार मास व्यतीत करने की शुभ भावना को लेकर।

अध्याय ८१

"चूड़ा ग्राम के श्रावकों को आश्वासन"

अहमदावाद से विहार करके क्रमशः सरखेज, मोरिया, वावला और कौठ आदि ग्रामों में विचरते हुए आप चूड़ा ग्राम में पधारे। चूड़ा के श्रावकों में कपासी परिवार मुख्य कहा जाता है, उनको उदास देखकर आप वोले भाई! हमारे यहां आने पर खुशी मनाने के वदले तुम लोग उदास क्यों दिखाई देते हो?

श्रावकवर्ग—गुरुदेव! खुशी जीवन में होती है मृत्यु में नहीं होती। सच पूछो तो हम लोग जीते ही मरे हुए हैं।

आप—तुम लोगों पर ऐसा कौनसा भयानक सकट आ पड़ा है जो ऐसे अपशब्द मुहसे कह रहे हो। कहो क्या वात है?

श्रावकवर्ग—महाराज! सौभाग्यवश आप जैसे महापुरुष पधारें और हम लोग अपनी इच्छा के अनुसार आपका स्वागत अर्थात् प्रवेश महोत्सव भी न कर पाये यह कितने दुःख की वात है? हम लोगों को खुशी तो तव होती जव कि आपश्री का प्रवेश महोत्सव वड़ी धूम धाम से कर पाते।

आप—गुरुजनों के आने पर उनके शिष्यवर्ग श्रावकों की यह तो इच्छा की वात है, वे उनका प्रवेश महोत्सव करे या न करें, परन्तु साधु को तो इसमें खुशी या दिलगीरी मनाने की आवश्यकता नहीं। वह तो सम्मान का भूखा नहीं होता। किसी कारणवश यदि आप लोग मेरा सामैया [वाजे गाजे के साथ प्रवेश कराना] नहीं कर पाये तो इसमें नाराज या उदास होने की कौनसी वात है।

श्रावक लोग—(वस्तु स्थिति का पूरा २ परिचय देते हुए) महाराज! आप श्री के सामैये की ही वात नहीं, हम लोग तो पर्व के दिनों में भगवान की सवारी—रथयात्रा का वरघोड़ा आदि भी वाजे गाजे

के साथ नहीं निकाल सकते। सारांश कि कोई भी धार्मिक उत्सव हम धूम धाम से नहीं मना सकते। मंदिर या उपाश्रय से किसी किसम का भी जलूस हम नहीं निकाल सकते। कारण कि यहां के ठाकुर साहब ने हमारे जलसे जलूसों पर प्रतिबन्ध लगा रक्खा है।

आप—ठाकुर साहब के लिये तो उनकी सारी प्रजा एक जैसी है, और होनी चाहिये, फिर आप लोगों के धार्मिक जलसे जलूसों पर पाबन्दी क्यों? और यह पाबन्दी शुरु से ही है या कि कुछ समय से?

श्रावकवर्ग—महाराज! पहले हमारे ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। हम लोग अपनी इच्छानुसार प्रभु की सवारी-रथयात्रा और साधु मुनिराजों का प्रवेश आदि धार्मिक कार्यों को बड़े समारोह के साथ मनाते रहे, परन्तु कुछ समय से ठाकुर साहब के यहां एक कारभारी आगया जो कि कट्टर ढूंढक पथी है। यहां के ढूंढियों ने उससे अनुचित लाभ उठाने का यत्न किया। मौका देखकर ये लोग कारभारी साहब के पास गये और उसे उलटा सीधा समझाकर कहा कि साहब! ये मन्दिरमार्गी हमको बहुत हैरान कर रहे हैं। जब कभी इनकी रथयात्रा वगैरह का वरघोड़ा निकलता है, ये लोग हमारे थानक के पास आकर घंटों तक गाते बजाते और नाचते कूदते रहते हैं। उससे हमारे सामायिक आदि धार्मिक कृत्य में बड़ा विघ्न आता है। हमने ठाकुर साहब से कई दफा पुकार भी की मगर वहां हमारी कोई सुनाई नहीं हुई।

कारभारी साहब—तुम अबके फिर अर्जी दो, मै फैसला लिख दूंगा और ठाकुर साहब से दस्तखत भी करवा दूंगा।

बस फिर क्या था उसके कहने से एक लम्बी चौड़ी अर्जी लिखकर देदी और अपने हक में फैसला करा लिया। कारभारी साहबने फैसले में लिखा है कि मन्दिराम्नाय वाले अपना वरघोड़ा तो निकाल सकते हैं, मगर ढूंढियों के थानक के पास खड़े नहीं हो सकते और थानक से २५ कदम एक पासे और २५ कदम दूसरे पासे इतने फासले में बाजा और गाना बजाना बन्द रक्खें ताकि थानक में सामायिक करने वाले लोगों को किसी प्रकार की अड़चन न आवे। मन्दिराम्नाय वालों का जलूस चुपचाप निकल जावे।

महाराज! इस हुक्म से हम बहुत तंग आगये हैं। हमारा छोटा सा गांव है, मन्दिर से २५ कदम पर उनका थानक है और थानक से २५ कदम पर गांव की सीमा आजाती है इतने क्षेत्र में ही जलूस ने घूमना है जितने में बाजे और गाने बजाने की मनाही की गई है। तब से लेकर हमने अपना सारा धार्मिक समारोह बन्द करदिया है और रात दिन इसी चिन्ता में घुल रहे हैं।

हम लोगों ने इस हुक्म के विरुद्ध कई एक अर्जीयें दी और ठाकुर साहब से पुकार भी की मगर कोई सुनवाई नहीं हुई। अब हम लोग इस हुक्म के विरुद्ध बम्बई हाईकोर्ट में अपील करना चाहते हैं। खबर नहीं वहां भी कोई सुनवाई होती है कि नहीं? हमारा यह आखरी कदम है देखें क्या बनता है?

महाराजजी साहब ने इनकी सारी कहानी को बड़े ध्यान से सुना और सबल शब्दों मे आश्वासन देते हुए बोले-तुम लोग किसी प्रकार की भी चिन्ता न करो शासन देव की कृपा से तुम्हारा सब काम ठीक हो जावेगा। अभी थोड़े ही दिन हुए दिल्ली में दिगम्बर जैनों की रथयात्रा के सम्बन्ध में जैनेत्तर लोगों का उनके साथ झगड़ा हुआ। दोनों का केस अदालत में गया, वहां से हुक्म हुआ कि बृटिश गवर्नमेन्ट के राज्य में सभी धर्मवाले अपने २ विश्वास और परम्परा के अनुसार अपने धार्मिक जलूस निकाल सकते है। उनमें दूसरे धर्मवालों को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। तब से वहां भगवान की सवारी बिना रोकटोक बड़ी धूमधाम और सजधज के साथ निकलती है। सारे शहर में घूम कर अपने स्थान पर पहुँचती है। तुम लोग उस फैसले की नकल मगवाकर दायर की जाने वाली अपील के साथ टांक दो।

श्रावक वर्ग—[हाथ जोड़कर] महाराज! हम एक छोटे से गामड़े के रहने वाले अजान लोग दिल्ली की कोर्ट तक कैसे पहुंच सकते हैं?

आप—तुम धीरज रक्खो हम उस नकल के लिए यहां से दिल्ली के श्रावकों पर पत्र लिखवा देते हैं वे वहा से हुक्म नकल लेकर तुम्हारे पास भेज देवेगे। तुम हौसला रक्खो। निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं, विश्वास रक्खो, शासन देव की कृपा से तुम्हारी अवश्य विजय होगी।

श्रावक वर्ग—गुरुदेव! अब हमारी सब चिन्तायें दूर होगई आपकी कृपा से हमारी अवश्य विजय होगी। आपश्री के मुखारविन्द से निकला हुआ विजय का शब्द हमारी विजय ही करेगा, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। कुछ दिन वहां रह कर शिष्य परिवार के साथ आपने पालीताणा की तर्फ विहार कर दिया और विचरते २ पालीताणे पहुंच गये।

अध्याय ८२

पालीताणे का प्रवेश और उपद्रव शान्ति

उन दिनों पालीताणे का रंग ढंग कुछ निराला ही था। एक मात्र यतियों का बोल बाला था, कोई श्रावक उनकी अनुमति के बगैर कुछ कर नहीं सकता था। किसी क्रियापात्र साधु को कोई पूछता तक नहीं था। इसलिए न तो कोई वहां आने वाले साधु का प्रवेश महोत्सव ही करता था और न कोई क्रियापात्र साधु वहां चातुर्मास ही कर पाता था, तात्पर्य कि यति लोगों का वहां इतना जोर था कि उनके सामने कोई गृहस्थ चूंचरां भी नहीं कर सकता था। तब समय के जानकार अहमदाबाद के नगर सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई और सेठ दलपतभाई भग्गूभाई ने वहां की विकट परिस्थिति का विचार करते हुए महाराज श्री आनन्दविजयजी आत्मारामजी के प्रवेशोत्सव में यतियों की तरफ से कोई उपद्रव न हो और महाराज श्री का प्रवेश भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही हो ऐसी धारणा से पालीताणा दरबार को लिखा कि—

"हमारे गुरुदेव पंजाबी साधु मुनि श्री आनन्द विजयजी-आत्मारामजी महाराज अपने शिष्य परिवार के साथ पालीताणा पधार रहे हैं, उनका सामैया-प्रवेश महोत्सव बड़े समारोह के साथ उनकी योग्यतानुसार होना चाहिये, ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है। सो आप इसका उचित प्रबन्ध कराने की मेहरबानी करें। ताकि वहां के यतियों और उनके चेलेचांटों की तर्फ से किसी प्रकार का उपद्रव न होने पावे। हमारी इस नम्र सूचना पर आप साहिब अवश्य ध्यान देंगे ऐसी हमें पूर्ण आशा है"। जिस समय नगर सेठ की तरफ से पालीताणा दरबार को यह संदेश मिला तो उन्होंने उसी समय आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी के उसवक्त के मुनीम श्री दुल्लभ भाई को बुलाया और कहा कि आपके सेठों का सन्देश आया है कि "हमारे गुरु पंजाबी साधु मुनि श्री आनन्दविजयजी-श्रीआत्मारामजी महाराज पालीताणा में अपने शिष्य परिवार के साथ पधार रहे हैं! उनका प्रवेश बडे समारोह के साथ होवे ऐसी हमारी हार्दिक भावना है।" सो इस कार्य को आप अपने हाथ में लो और जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता आपको होवे उसका राज्यकी

तर्फ से उचित प्रवन्ध हो जावेगा। देखना इस काम में कोई त्रुटि न रह जावे ! जिससे सेठों की तर्फ से मुझे कोई उपालम्भ न आवे। आप इस विषय के हर तरह से जानकार हैं इसलिये आपको बुलाया गया है ताकि आपके द्वारा मुनिजी के प्रवेश-महोत्सव का प्रवन्ध सुचारुरूप से सम्पन्न हो।

दुल्लभ भाई—सरकार! आपके इस हुक्म के पालन में मेरी तर्फ से किसी भी प्रकार की कोताही नहीं होगी, सब काम आपकी इच्छानुसार ही होगा, मगर इसमें एक अड़चन सी नजर आती है। यदि इसका प्रवन्ध होजावे तो फिर किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहेगी।

राजासाहव—वह क्या अड़चन है मुनीमजी!

दुल्लभ भाई—सरकार! यहां के रहने वाले श्रावक लोगों पर यतियों का अधिक प्रभाव है। वे उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते और यति लोगों को हमारे क्रियापात्र सवेगी साधु एक आंख भी नहीं भाते! ये लोग साधुओं के मान को अपना अपमान समझते हैं। मन्दिर के पास में ही यतियों का उपाश्रय है। उसमें वीरकारिप नाम का एक यति रहता है, वह साधुओं का अधिक विद्वेषी है और उसका यहां के लोगों पर काफी प्रभाव है, कभी उसके चेलेचांटे उसके इशारे पर कुछ गड़बड़ करें ऐसा संभव है। कारण कि यति लोग नहीं चाहते कि उनके उपाश्रय के आगे से किसी सवेगी साधु का जलूस निकले। परन्तु मन्दिर जी को जाने के लिये रास्ता वही है। यहां पर आने वाले यात्री-फिर वे गृहस्थ हों या साधु-सबसे पहले श्री मन्दिरजी मे आते है और दर्शन करने के वाद किसी धर्मशाला मे ठहरते हैं। बस यही एक अड़चन सी नजर आती है हजूर।

राजासाहव—इसके लिये तो आप वे फिकर रहें, यह अडचन तो विलकुल मामूली है। इसके लिये पुलिस अफसर को बुलाकर कह दिया जावेगा, वह पुलिस के द्वारा सारा वन्दोवस्त कर देवेगा। आप अपना काम तत्परता मे करें। वहुत अच्छा सरकार! इतना कहकर दुल्लभभाई अपने स्थान पर आगये, प्रवेश महोत्सव की तैयारी करने का सद्विचार लेकर।

अपने स्थान पर आकर मुनीमजी ने विचारा कि यदि प्रेमपूर्वक समझाने से यति जी मान जावें और किसी प्रकार का उपद्रव न करें तो अच्छी वात है। इससे महाराज श्री का प्रवेश भी निर्विघ्नता से हो जावेगा और यतिजी के मान में भी फर्क न आयेगा। ऐसा विचार करने के वाद मुनीम दुल्लभ भाई वीरका जी यति के पास आये और सप्रेम उनसे बोले, महाराज! मैं आपको एक सन्देश देने आया हूँ—कल यहां पालीताणे में पजाव के सुप्रसिद्ध साधु मुनि श्री आनन्दविजय-आत्मारामजी महाराज अपने शिष्य परिवार के साथ पधार रहे हैं, उनका सामैया करना है अर्थात् वाजे गाजे के साथ प्रवेश कराना है। यदि आप भी उसमें सम्मिलित हों तो बडी खुशी की वात है। इससे आपस में सद्भाव वढेगा और सघ में शान्ति का वातावरण प्रसरेगा, कहो आपका क्या विचार है?

मुनीमजी की इस बात को सुनते ही यति जी तो आग बबूला हो उठे और उत्तेजित होकर कहने लगे—मुनीमजी ! क्या कह रहे हो,यहां पजाब के एक संवेगी साधु का सामैया होगा ? हरगिज नहीं। यदि ऐसा किया गया तो याद रखना कइयों के सिर फूटेंगे। सामैया करने वालों को कहना कि तैयार होकर आवें। यह अनोखी बात मैं नहीं होने दूंगा।

मुनीमजी—(जरा उत्तेजित होकर) यतिजी महाराज ! जरा होश संभालो और शांति से बात करो। आपको पता है यह सामैया किस की तरफ से हो रहा है। अहमदावाद के सेठों की प्रेरणा से पालीताणा दरबार की तरफ से हो रहा है। सरकार ने खुद इसका प्रबन्ध करना स्वीकार किया है और सामैये में गड़बड़ करने वालों को कड़ी से कड़ी सजा देने का पुलिस अफसर को आदेश दे दिया है। मैं मित्रता के नाते आपको समझाने आया हूँ। कहीं अपनी गुँडा पार्टी के नाज़ में आप कोई छेड़खानी न कर बैठे, अन्यथा जेल की हवा खाने को तैयार रहिये। सामैया तो होगा और होगा। मुनीमजी के इस ओजस्वी भाषण ने तो यति वीरकाजी के पांव से मिट्टी निकालदी और ठंडे पड़ गये। जब मुनीमजी उठने लगे तो उनका हाथ पकड़ कर बैठाते हुए यतिजी बोले कि भाई दुल्लभजी ! आपने बहुत अच्छा किया जो मुझे सारी परिस्थिति से सूचित कर दिया, अन्यथा न जाने मुझ से क्या अनर्थ हो जाता, जिसका परिणाम अत्यन्त बुरा निकलता, अब मैं जो कुछ भी करूंगा सोच विचार कर करूंगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल क्या देखते हैं, पुलिस के नौजवान हाथ में डडे और हथकड़ियां लिये हुए चारों तरफ गश्त कर रहे हैं। इधर सामैये का जलूस बैड बाजों के साथ भगवान के जयकारे बुलाता हुआ नगर के दरवाजे पर पहुँच गया। तब एक पुलिस अफसर ने बहुत से नौजवानों को साथ लेकर [जिनके पास दंडे और हथकड़ियें थीं] वीरका जी यति के उपाश्रय को चारों ओर से आकर घेर लिया। यह देख यतिजी बड़े हैरान हुए और पुलिस आफीसर श्री भीमाजी से लड़खड़ाती हुई जबान से बोले सरकार ! क्या बात है ? आप पुलिस को साथ लेकर कैसे आये हैं ?

भीमाजी—महाराज ! आपकी सेवा के लिए हाजर हुए हैं, सो जैसी सेवा कराने की आपकी इच्छा हो, वैसी करने को तैयार हैं।

यति वीरका जी—मैं आपके कथन का मतलब नहीं समझ पाया, हजूर !

श्री भीमाजी— आपको पता ही होगा हमारे इस पालीताणा नगर में आज पंजाब के विख्यात जैन मुनिराज श्री आत्मारामजी अपने शिष्य समुदाय के साथ पधार रहे हैं। उनका स्वागत प्रवेश महोत्सव पालीताणा दरबार की ओर से किया जा रहा है और जलूस दरवाजे पर पहुँच गया है। सरकार को खबर मिली है कि वीरका जी यति कुछ तौफान करने पर आमादा हो रहे हैं। तब सरकार ने आपकी हिफाजत

के लिए हमें यहां पर उपस्थित रहने की आज्ञा फरमाई है। अत. हम आपकी सेवा के लिये यहां पर हाजर हुए हैं। सो आपको इस बात का पूरा ध्यान रहे कि इस जलूस में आपने या आपके चेले चांटों ने किसी प्रकार की भी गड़बड़ करने की कोशिश की तो सरकारी हुकम के मुताबिक ऐसा दण्ड मिलेगा जो कि आयु भर न भूले। "हथकड़ियों की ओर इशारा करते हुए" ये सब जेवर गड़बड़ करने वालों को पहनाने की खातिर ही लाये गये हैं।

इतना सुनते ही यति जी तो ठंडे होगये और काम्पते हुए बोले—नहीं साहब ऐसा कभी नहीं होगा।

भीमदेव—तो आप भीतर अपने उपाश्रय में चले जावें यहां चबूतरे पर खड़े न रहें और ये भीतर कौन लोग हैं ? इनको निकालो बाहर। वरना सभी को हिरासत में ले लिया जावेगा। साथ के सिपाहियों को हुक्म देते हुए-इन गुंडों को बाहर निकालदो मालूम होता है ये सब गड़बड़ करने के इरादे से ही यहां पर इकट्ठे हुए हैं। बाहर लेजाकर इनकी खूब मरम्मत करो, तभी ये बाज आयेंगे।

पुलिस अफसर भीमदेव की इस सिंह गर्जना ने सबके छक्के छुड़ा दिये। वे अन्दर खड़े २ थर २ काम्पने लगे। "चलो निकलो बाहर, आओ" ऐसा सिपाहियों के कहने से बाहर आये तो उनके साथ एक सफेद पोष व्यक्ति को देख कर हंसते हुए पुलिस अफसर ने कहा —वाह सेठजी वाह ! आप भी इन गुण्डों मे शामिल होगये ? नहीं साहब ! मैं तो सामैया देखने के लिए आया था, जरा झेंपते हुए उसने उत्तर दिया। तब आईये मेरे साथ यहा खडे होकर जलूस की रौनक देखिये। ऐसा कहकर उसे पुलिस की निगरानी मे चबूतरे पर खड़ा कर दिया और भीतर बैठे हुए अन्य आदमी जब बाहर निकल कर भागने लगे तो पुलिस को कहा कि इनमें से कोई भी जाने न पावे, तब पुलिस के सिपाहियों ने उनको जो कि उपद्रव करने के इरादे से यतिजी के उपाश्रय में छिपे बैठे थे, अपनी हिफाजत में लेलिया।

इधर जलूस में शामिल होने वाले विदेशी श्रावक श्रीयुत गोकलभाई, कल्याणजी भाई, सखाराम भाई, अनूपचन्द और पोपट भाई वगैरह आपस में कुछ बातें करने लगे, उनकी बातों से महाराजजी साहब को कुछ सन्देह सा हुआ और पूछने लगे कि भाई क्या बात है ? तब एक श्रावक ने मुख पर कुछ उदासी लाते हुए कहा—महाराज ! कुछ गडबड़ सुनने में आती है। यतिजी के उपाश्रय के पास पुलिस का पहरा लगा हुआ है। यदि ऐसा है तो दूसरे रास्ते से चले चलो, अपने फिर आकर मन्दिरजी मे दर्शन कर जावेंगे, महाराज श्री ने बडी शांति से उत्तर दिया। इतने मे पुलिस अफसर भीमदेव ने आकर जलूस को चलने के लिए कहते हुए उन सेठों से कहा 'चलिये साहब देरी होती है।' जब उन्होने महाराज श्री के विचार को भीमदेव के पास प्रकट किया, तो वह महाराज श्री के पास पहुँचा और हाथ जोड कर अर्ज करी कि महाराज साहब ! किसी बात की गड़बड़ नहीं है आप इसी रास्ते से पधारो। अन्यथा मुझे दरबार साहब को उत्तर देना कठिन हो जावेगा,आप दयालु हैं कम से कम मेरे ऊपर तो दया करें। इसी रास्ते से पधारो सरकार !

इतना सुनते ही महाराज श्री चलपड़े और जलूस मन्दिर जी के समीप आ पहुँचा,बैंड बाजे के साथ जयकारों की आवाज से आकाश गूंज रहा था। मन्दिर के पास जलूस ठहर गया और महाराज श्री मन्दिरजी में दर्शन के लिये चलेगये दर्शन् करके जब वापिस लौटे तो पुलिस अफसर श्री भीमदेव ने कहा कि महाराज! थोड़ी देर आप यहां ठहरने की कृपा करें ये सब लोग आपके दर्शनों की अभिलाषा से खड़े हैं। इतना कहने के बाद [यतिजी से] आओ यतिजी ! महाराज जी साहब के दर्शन करो, आपको दर्शन देने के लिये ही आपने मेरी अर्ज को मनजूर किया है। यतिजी बाहर आये और हाथ जोड़कर महाराज श्री को नमस्कार किया, उत्तर में महाराज श्री ने सुखसाता पूछी और कहा—कि हमारे आने से आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? नहीं महाराज ! यह तो मेरा और नगर का अहोभाग्य है जो आप जैसे महान पुरुष पधारे हैं। आपका तो नाम ही आनन्द गर्भित है फिर आप जहां पधारें वहां कष्ट का क्या काम ? यतिजी ने बड़ी नम्रता दिखाते हुए उक्त शब्दों का प्रयोग किया [सच है डरती हर हर करती !] वहां से जलूस आगे बढा और नरसी केशवजी की धर्मशाला में [जहां पर महाराज श्री ने ठहरना था] समाप्त हुआ। महाराज श्री ने धर्मशाला के मुनीम से ठहरने की आज्ञा लेकर वहां उतारा कर दिया। इस प्रकार महाराज श्री के पुण्य प्रभाव से पालीताणा में संवेगी साधुओं के आने पर उत्पन्न होने वाले उपद्रव की सदा के लिये शांति हो गई। आते ही आप श्री के परिवार में एक और साधु की वृद्धि हुई। सूरत निवासी श्री माणिकचन्द को दीक्षा देकर माणिकविजय नाम रक्खा और श्री प्रेमविजयजी का शिष्य घोषित किया।

अध्याय ८३

"पालीताणे का चातुर्मास"

महाराज श्री आनन्दविजयजी जिस समय [वि० स० १६४३ में] चातुर्मास के लिये पालीताणा में पधारे उस समय आपके साथ चौवीस साधु थे। अबके आपका चातुर्मास तीर्थराज श्री सिद्धगिरि की छायातले पालीताणा में होगा, इस समाचार के मिलते ही सूरत के सेठ कल्याण भाई शकरदास वगैरह, भरुच निवासी सेठ अनूपचंद मलूकचंद वगैरह वड़ौदे के झवेरी श्री गोकुलभाई दुल्लभभाई, खंभात के रहने वाले श्री पोपटलाल अमरचंद वगैरह, और मालेगांव धुलिया-[जिला खानदेश] निवासी सेठ सखाराम दुल्लभदास वगैरह, वहुत से शहरों के अनुमान पांच सौ श्रावक श्राविकाए अपने समस्त सांसारिक कामों को छोड़कर स्थावर और जगम दोनों प्रकार के तीर्थों की सेवा भक्ति के निमित्त यहां पालीताणा में चौमासा आकर रहे। श्रावकों की उत्साहभरी प्रेरणा से इस चातुर्मास मे आपने श्री भगवती सूत्र का वाचना आरम्भ किया और भावनाधिकार में श्री उपदेशपद स्टीक सुनाना शुरु किया। चातुर्मास वड़े आनन्द से व्यतीत होने लगा, चातुर्मास में आये हुए यात्री लोग वडे आनन्द से धर्मसाधना मे रम ले रहे थे। पर्युषणा पर्व के दिनों में तो लोगों के उत्साह का समुद्र उमड़ आया। स्वप्नों की बोलियो मे हर एक ने वढ़ चढ कर भागलिया। अकेली लक्ष्मीदेवी के स्वप्ने की बोली दस हज़ार तक गई जिसे एक सूरती सद्‌गृहस्थ ने लिया। इससे महाराजश्री के साथ चातुर्मास करने आये हुए यात्रियों में कितना उत्साह था, यह सहज ही में ज्ञात हो जाता है।

जिस दिन कल्पसूत्र का वरघोड़ा-जलूस निकलना था उस दिन वीरकाजी यतिजी ने कुछ विघ्न उपस्थित करने का यत्न किया परन्तु विचारशील श्रावकों ने समयोचित नीति से काम लेते हुए उस विघ्न को भी शान्त कर दिया।

वीरकाजी यति का कहना था कि यहां पर किसी संवेगी साधु का कल्पसूत्र नहीं फिरा किन्तु हमारा ही फिरता है, इसलिये हमारा ही फिरना चाहिये इस पर श्रावकों ने कहा कि यतिजी महाराज ! आप अपना कल्पसूत्र भी साथ में फिरायें, उसकी बोली अलग बोली जावेगी और उस बोली की जो रकम होगी वह सब आप को मिलेगी। इस पर वह खुश होगये और कल्पसूत्र का जलूस बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ महाराज श्री आनन्दविजयजी के प्रवचन में उपस्थित होने वाले सद्गृहस्थों ने धर्म का आशातीत लाभ उठाया। आपके प्रवचन में इतना माधुर्य और आकर्षण था कि श्रोतालोग पाषाणप्रतिमा की तरह बड़े शान्त भाव से आपके उपदेशामृत का पालन करते और सब की दृष्टि इधर उधर न जाकर आप श्री के देदीप्यमान चेहरे पर ही टिकी रहती। सारांश कि पालीताणा में आये हुए यात्री लोगों ने इस जगम तीर्थ के सानिध्य में आकर मानव जीवन का अपूर्व लाभ उठाया।
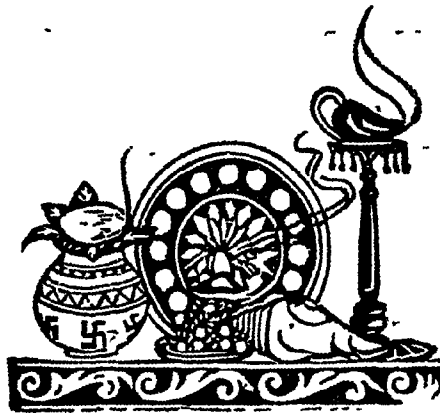
अध्याय ८४

"पूर्णिमा की यात्रा"

कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को चातुर्मास समाप्त हुआ और दूसरे रोज पूर्णिमा को तीर्थाधिराज श्री सिद्धाचलजी की यात्रा आरम्भ होगई। आपश्री ने अपने शिष्यवर्ग पंजावी मंडली के साथ ऊपर चढ़कर वड़े आनन्द से यात्रा की। ऊपर पर्वत की चोटी पर विराजमान श्री ऋषभदेव भगवान के चरणों में भावपूर्ण श्रद्धा पुष्पांजलि भेट करते हुए अपने हृदय के भावों को जिन शब्दों में व्यक्त किया उसका थोड़ासा नमूना पाठकों को आपके निम्न लिखित स्तवन से देखने को मिलेगा—

जिनन्दा तोरे चरण कमल की रे।

हूँ चाहुँ सेवा प्यारी, तो नासे कर्म कठारी, भव भ्रान्ति मिटगई सारी,
जिनन्दा तोरे चरण कमल की रे ॥ १ ॥

विमल गिरि राजे रे, महिमा अति गाजे रे, बाजे जग डंका तेरा,
तूं सच्चा साहब मेरा, हूँ बालक चेरा तेरा, जिनंदा तोरे च० ॥२॥

करुणाकर स्वामी रे, तूं अन्तरजामी रे, नामी जग पूनमचन्दा,
तूं अजर अमर सुखकन्दा, तूं नाभिराय कुलनन्दा, जिनंदा तोरे च० ॥३॥

इण गिरि सिद्धा रे, मुनि अनन्त प्रसिद्धा रे, प्रभु पुंडरीक गणधारी,
पुंडरीक गिरि नाम कहारी, ए सहु महिमा है थारी, जिनंदा तोरे च० ॥४॥

तारक जग दीठारे, पाप-पंक सहु नीठारे, इठा सो मनमें भारी,
में कीनी सेवा थारी, तूं भास रह्यो शुभचारी, जिनंदा तोरे च० ।५॥

अब मोहे तारो रे, विरुद तिहारो रे, तीरथ जिनवर दो मेटी,
हूँ जन्म जरा दुःख मेटी, हूँ पायो गुणनी पेटी, जिनन्दा तो० ॥६॥

द्राविड़ वारीखिल्ला रे, दस कोड़ि मुनि मिल्लारे, हुए मुक्ति रमणि भरतारा,
कार्तिक पूनम दिन सारा, जिन शासन जय जय कारा, जिनंदा तो० ॥७॥

संवत शिखि[3] चारा[4] रे, निधि[9] इन्दु[1] उदारा रे,
आतम को आनन्दकारी, जिन शासन की बलिहारी,
पाम्यो भव जलधि पारी, जिनंदा तोरे चरण कमल की रे ॥ ८ ॥

स्तवन के इन सीधे और सरल शब्दों में हृदय का कितना गहरा भाव ओत-प्रोत है इसको सहृदय पाठक ही समझ सकते हैं।

चरित्र नायक का यह फोटो सम्वत् १९३५ में दिल्लिमे लिया गया था
(यह ग्रुप सबसे पहला है)

श्री संघ के साथ

पालीताणा सम्वत् १९४३
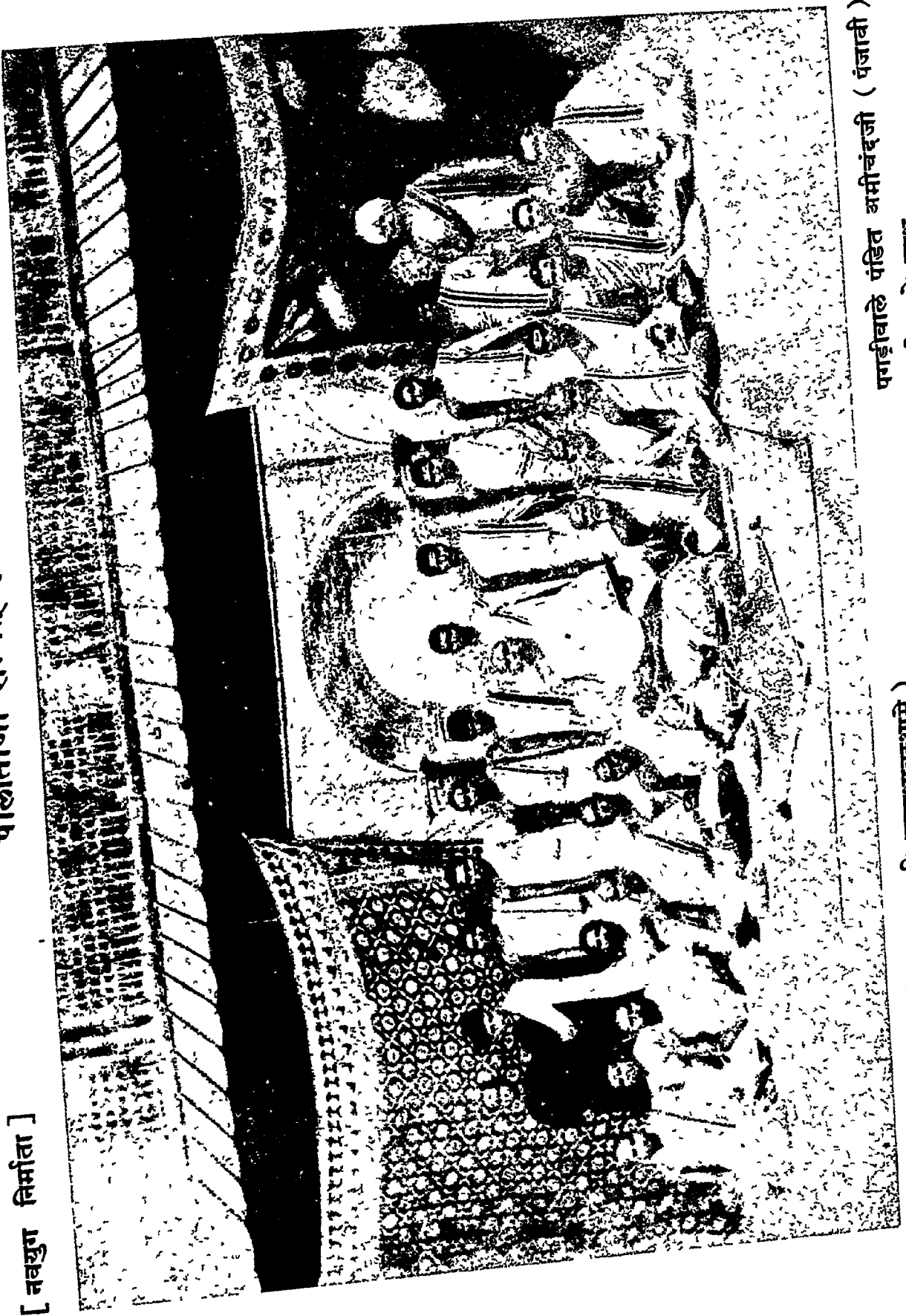
पगड़ीवाले पंडित अमीचंदजी (पंजावी)

टोपीवाले छगनलाल (विजयवल्लभसूरि गृहस्थावस्थामे)

न्यायाम्भोनिधि श्रीमद् विजयानंदसूरि (आत्मारामजी म०) शिष्य परिवारके साथ

[जैनानंद प्रीं, प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेट

अध्याय ८५

"आचार्य पदवी का पुण्य जागा

—०※०—

इस वर्ष कार्तिकी पूर्णिमा की यात्रा के लिये यात्री लोग बहुत बड़ी सख्या में आये। गुजरात काठियावाड़, कच्छ, मारवाड, यू.पी., पजाव और पूर्व आदि देशों के मुख्य २ शहरों से बहुत बड़ी सख्या मे साधारण और सम्पन्न जैन गृहस्थों ने तीर्थ यात्रा का लाभ उठाया। लगभग ३५००० स्त्री पुरुषों का समुदाय कार्तिक की पूर्णिमा पर एकत्रित हुआ था इस वर्ष कलकत्ता के रईस राय बहादुर बाबू बद्रीदासजी भी स्थावर और जगम दोनों प्रकार के तीर्थों की यात्रा का लाभ प्राप्त करने के लिये पालीताणे पधारे थे। इतनी बड़ी संख्या में यात्रियों के सम्मिलित होने का एक कारण यह भी था कि कई वर्षों से यात्रीकरके निमित्त पालीताणा दरबार से जैन सघ का झगड़ा चल रहा था। पालीताणा दरबार फी यात्री दो रुपया मांग रहे थे जिसे जैन सघ ने देना स्वीकार नहीं किया था और प्रोटैस्ट की तौर पर-रोष दिखलाने की खातिर यात्रा बन्द कर रक्खी थी। इस वर्ष दरबार के साथ जैन सघ के आगेवानों का समझौता § हो जाने से यात्रा खुल गई थी।

तब श्री सिद्धाचल तीर्थराज की यात्रा के लिये आये हुए समस्त प्रान्तों के सभावित सद्गृहस्थों ने महाराज श्री आनन्दविजयजी की महती योग्यता को ध्यान में लेते हुए उन्हें सूरि पद से अलकृत करने का निश्चय किया, तदनुसार वि० सं० १९४३ की मार्गशीर्ष कृष्णा पचमी [गुजराती कार्तिक वदि पंचमी] के दिन पालीताणा में विद्यमान सेठ नरसी केशवजी की धर्मशाला मे चतुर्विध सघ ने एक मत होकर आप श्री को [आपकी इच्छा न होने पर भी] सूरि पद से विभूषित करने का महान श्रेय प्राप्त किया, और वर्षों से रिक्त

---

§ इस समझौते मे जैन सघ की ओर से दरबार को १५००० रुपया वार्षिक देना स्वीकार हुआ था और दरबार की तर्फ से आने वाले यात्री लोगों को हर प्रकार की सुविधा देना निश्चित हुआ था और चालीस वर्ष का ऐग्रीमेंट हुआ था।

पड़े हुए आचार्य पदवी के सिंहासन को पुनः सुशोभित होने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में आचार्य पदवी का प्रसुप्त पुण्य फिर से जाग उठा।

सूरि पद प्रदान करने के अनन्तर श्री संघ ने आपको श्री विजयानन्द सूरि इस नाम से सम्बोधित करते हुए आपश्री के वरद करकमलों में शासन की बागडोर संभलादी।

आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होने के बाद शासन सेवा के उत्तरदायित्व को आपश्री ने किस प्रकार और किस योग्यता से निभाया। यह आपकी पुण्य श्लोक जीवन गाथा [जिसमें आपके कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है] का स्वाध्याय करने वाले पाठकों को भली भांति विदित है।

बहुत समय के बाद [लग भग दो सदी] सम्पन्न होने वाले आचार्य पदवी के इस प्रतिष्ठा महोत्सव में उपस्थित सद्गृहस्थों में भरुच के रईस सेठ अनूपचन्द मलूकचन्द भी थे। उन्होंने अपने "प्रश्नोत्तर रत्न चिन्तामणि" ग्रन्थ में प्रसंगवश आपश्री की इस आचार्य पदवी का जिकर इन शब्दों में किया है यथा—

"गुणवंत को आचार्य पदवी देनी। अभी १६४३ के कार्तिक वदि पचमी के रोज मुनि महाराज श्री आत्मारामजी महाराज को श्री सिद्धाचलजी के ऊपर बहुत देश के श्रावक साधुओं ने मिल एक मता करके गुणवान जानकर उन्होंको सूरि पद दिया गया था, मैं भी वहा हाजर था §।"

आपश्री की आचार्य पदवी के समय वहां पर उपस्थित जनता के अन्दर जो उत्साह देखने में आया वह अपनी कक्षा का एक ही था। जिन लोगों ने इस समारोह को देखा उनमें इस जीवन गाथा का लेखक भी था जो कि उस समय अन्य स्वरूप में था। भारतवर्ष के गण्यमान्य जैन गृहस्थों ने आपश्री को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करते समय अपनी सद्भावना को जिन महत्व पूर्ण शब्दों में व्यक्त किया था वे आज भी कानों में गूंज रहे हैं। इस प्रकार समस्त भारतवर्ष के मूर्ति पूजक श्वेताम्बर जैन समाज की तर्फ से आपको अर्पण की गई आचार्य पदवी आपके सहयोग को प्राप्त करके उत्तरोत्तर अधिक से अधिक फली फूली जिसका सम्पूर्ण श्रेय पालीताणा में उपस्थित जैन सद्गृहस्थों की दीर्घदृष्टि और विचारशीलता को ही प्राप्त है।

---

§ पृष्ठ १६४ आवृत्ति दूसरी।

३२ श्री प्रद्युम्न सूरि
३३ ,, मानदेव सूरि
३४ ,, विमलचन्द्र सूरि
३५ ,, उद्योतन सूरि
३६ ,, सर्वदेव सूरि §
३७ ,, देव सूरि
३८ ,, सर्वदेव सूरि
३९ ,, यशोभद्र सूरि तथा
,, नेमिचन्द्र सूरि
४० ,, मुनिचन्द्र सूरि
४१ ,, अजितदेव सूरि
४२ ,, विजयसिंह सूरि
४३ ,, सोमप्रभ सूरि तथा
,, मणिरत्न सूरि
४४ ,, जगच्चन्द्र सूरि †
४५ ,, देवेन्द्र सूरि

४६ श्री धर्मघोष सूरि
४७ ,, सोमप्रभ सूरि
४८ ,, सोमतिलक सूरि
४९ ,, देवसुन्दर सूरि
५० ,, सोमसुन्दर सूरि
५१ ,, मुनिसुन्दर सूरि
५२ ,, रत्नशेखर सूरि
५३ ,, लक्ष्मीसागर सूरि
५४ ,, सुमतिसाधु सूरि
५५ ,, हेमविमल सूरि
५६ ,, आनन्दविमल सूरि
५७ ,, विजयदान सूरि
५८ ,, हीरविजय सूरि
५९ ,, सेन सूरि
६० ,, विजयदेव सूरि
६१ ,, विजयसिंह सूरि

६२ श्री सत्यविजय गणि
६३ ,, कर्पूरविजय गणि
६४ ,, क्षमाविजय गणि
६५ ,, जिनविजय गणि
६६ ,, उत्तमविजय गणि
६७ ,, पद्मविजय गणि
६८ ,, रूपविजय गणि
६९ ,, कीर्तिविजय गणि
७० ,, कस्तूरविजय गणि
७१ ,, मणिविजय गणि
७२ ,, बुद्धिविजय गणि
[,, बूटेरायजी]
७३ ,, विजयानन्द सूरि ❀
[,, आत्मारामजी]

श्री सिद्धाचल की छत्रछाया में सम्पन्न होने वाले पालीताणा के चातुर्मास में तीर्थाधिराज को भावपूजा रूप पुष्प भेंट करने के लिये आपने अष्टप्रकारी पूजा की रचना की जो कि नितान्त आकर्षक है उक्त पूजा का अन्तिम पद इस प्रकार है—

पूजन करो रे आनन्दी, जिनन्द पद पूजन करो रे आनन्दी ॥ अंचली ॥
अष्ट प्रकारी जन हितकारी, पूजन सुर तरु कन्दी ॥ १ ॥ जि०
श्रावक द्रव्य भाव को अर्चन, मुनिजन भाव सुरंगी ॥ २ ॥ जि०
गणधर सुरगुरु सुरपति सगरे, जिनगुण कोन कहंदी ॥ ३ ॥ जि०

§ इनसे निर्ग्रन्थगच्छ का पांचवां नाम वड़गच्छ पड़ा।

† इनसे वड़गच्छ का तपगच्छ नाम पड़ा।

❀ इस सूची से यह निश्चय होता है कि श्री विजयसिंह सूरि के बाद श्री विजयानन्द सूरि से पहले कोई आचार्य नहीं हुआ, किन्तु श्री सत्यविजयजी से लेकर श्री बुद्धिविजयजी तक सबको गणि-पन्यास पदवी ही रही है।

मैं मतिमन्द ही बाल रमण ज्यों, निज गुण कथन करंदी ॥ ४ ॥ जि०
तपगच्छ मुनि यति विजयसिंह वर, सत्यविजय गणि नन्दी ॥ ५ ॥ जि०
कर्पूर क्षमा जिनोत्तम सद्गुरु, पद्म रूप सुखकन्दी ॥ ६ ॥ जि०
कीर्ति विजय कस्तूर सुहंकर, मणि विजय पदवन्दी ॥ ७ ॥ जि०
श्री गुरु बुद्धि विजय महाराजा, कुमति कुपंथ निकन्दी ॥ ८ ॥ जि०
शिखी[3] युग[4] अंक[9] इन्दु[1] शुभ वर्षे, पालीताणा सुरंगी ॥ ९ ॥ जि०
विमलाचल मंडन पद भेटी, तन मन अधिक उमंगी ॥ १० ॥ जि०
आत्माराम आनन्द रस पीनो, जिन पूजन शिव संगी ॥ ११ ॥ जि०

अध्याय ८७

"फिर चूड़ा गांव में"

—०※०—

चातुर्मास के बाद दर्शनों के निमित्त थोड़े दिन ठहर, अपने शिष्य परिवार के साथ आपने पालीताणा से आनन्दपूर्वक विहार किया और ग्रामानुग्राम विचरते हुए शिहोर और वला आदि में होते हुए आप चूड़ा ग्राम में पधारे। चूड़ा श्रीसंघ आपश्री के आगमन की खबर पाते ही गद्‌गद् हो उठा। उसने बड़े समारोह के साथ आपश्री का नगर प्रवेश कराया। आपश्री ने मंगलाचरण सुनाने के बाद थोड़ासा धर्मोपदेश सुनाया जिससे श्रोता लोगों के हृदय में आनन्द का समुद्र ठाठें मारने लगा। व्याख्यान समाप्त होते ही श्री संघ के आगेवानों ने हाथ जोड़कर कहा—गुरुदेव! आपश्री के प्रताप से हमारा बेड़ा पार होगया। रथयात्रा आदि निकालने के सम्बन्ध में हमारा जो केस चलरहा था उसका फैसला बम्बई हाईकोर्ट ने हमारे हक में दे दिया। फिर बोले—महाराज! आपश्री को याद ही होगा आपने दिल्ली की कोर्ट का फैसला मंगवा कर अपील के साथ दर्ज करने को कहते हुए यह भी फर्माया था कि अधिक चिन्ता करने की कोई बात नहीं, शासनदेव की कृपा से सब अच्छा हो जावेगा, सो आपश्री के मुखारविन्द से निकला हुआ अमोघ आशीर्वाद सफल हुआ और आज हम इस योग्य होगये हैं कि किसी भी धार्मिक पर्व को अपनी इच्छा के अनुसार मना सकते हैं, उसमें किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं रहा। यह सब कुछ आप जैसे महापुरुष के प्रभाव को ही आभारी है। तदनन्तर वहां के मुखी श्रावकों ने श्रीसंघ की ओर से विनति करते हुए कहा—गुरुदेव! श्री संघ की यह तीव्र इच्छा है कि हमारे परम सौभाग्य से आपश्री दोबारा यहां पधारे हैं और हम लोगों ने यहां पर अठाई महोत्सव और रथयात्रा निकालने का आयोजन किया है तब तक आपश्री यहां पर ही विराजने की कृपा करें। इसके उत्तर में गुरु महाराज ने फर्माया कि यदि श्रीसंघ की यही इच्छा है

तो मुझे आठ दिन रहने में कोई हरकत नहीं आप लोग अपना उत्साह पूरा कर लो। यह सुनते ही सबने हर्षनाद करते हुए आदीश्वर भगवान और गुरु महाराज के नाम का जयकारा बुलाया तथा पूरे उत्साह के साथ अठाई महोत्सव आदि की तैयारी में लग गये। तदनन्तर अठाई महोत्सव का आरम्भ करदिया गया और उसकी समाप्ति पर बड़ी सजधज के साथ रथयात्रा भगवान की सवारी निकालने का दिन निश्चित करलिया गया। तदनुसार ठाकुर साहब से रथयात्रा के लिये परवानगी मांगी और साथ ही आपको रथयात्रा के महोत्सव में पधारने के वास्ते प्रार्थना भी की गई।

रथयात्रा का वरघोडा निकालने की आज्ञा देते हुए ठाकुर साहब ने फर्माया कि बहुत दिनों के बाद आप लोगों को इस प्रकार से उत्सव मनाने का अवसर प्राप्त हुआ है इसकी मुझे बड़ी खुशी है मैं आप लोगों के उत्सव में बड़ी प्रसन्नता से सम्मिलित होने की कोशिश करूंगा और यदि किसी आवश्यक कार्यवश मैं न आसका तो कुंवर साहब और दीवान साहब तो अपने लवाजमें सहित अवश्य वरघोड़े में पधारेंगे। निश्चित किये गये दिन में भगवान की सवारी का वरघोड़ा बड़ी धूम धाम से निकला और दीवान साहब के साथ कुंवर साहब भी पधारे। भगवान की सवारी का जुलूस बड़ी धूम धाम के साथ मन्दिर से चला और जब थानक के पास पहुँचा तो हमारे इन भाइयों ने-[जो कि पहले से थानक उपाश्रय में एकत्रित होकर बैठे हुए थे] अन्दर से जुलूस पर ककड़-पत्थर-फैंकने शुरु कर दिये। दैवयोग एक ककड़ जुलूस में पधारे हुए कुंवर साहब को जाकर लगा, बस फिर क्या था इशारा पाते ही पुलिस के सिपाही उपाश्रय में जा घुसे और ककड़ फैंकने एवं गड़बड़ करने वालों की पहले तो अच्छी तरह से आरती उतारी और मेथीपाक खिलाया फिर उनमें से जो मुखिया थे उन पर फौजदारी केस बनाकर उनका चालान करदिया गया।

रथयात्रा की सवारी आनन्दपूर्वक अपने नियत स्थान पर वापिस पहुँच गई। और साधर्मी वात्सल्य के साथ महोत्सव का काम समाप्त हुआ। दूसरे दिन ठाकुर साहब मन्दिर मे प्रभु दर्शन के लिये पधारे और वहां से गुरु महाराज के दर्शन को आये। गुरु महराज का दर्शन करते ही ठाकुर साहब बडे प्रभावित हुए और नमस्कार करके बोले—महाराज! आप मेरे इस नगर में जब पहले पधारे थे तो उस वक्त मैं आपका दर्शन नहीं करसका। आज मेरे अहोभाग्य हैं जो मै आपके दर्शन कर पाया हूँ। आप जैसे परमत्यागी और तपस्वी महात्माओं के दर्शन भी पूर्व जन्म के किसी सुकृत का ही फलरूप हैं। आपश्री के यहां पधारने से आज यह सारा नगर उत्सव रूप बन रहा है यह आपके तपोमय जीवन को ही आभारी है। मुझे आपश्री के दर्शन करके बहुत आनन्द मिला।

ठाकुर साहब के इस कथन के अनन्तर स्मित मुख से धर्मलाभ देते हुए गुरुदेव ने फर्माया कि आप सरीखे सज्जन राजपुरुषों की मीठी नजर से सबका भला होता है। यदि आप जैसे सरक्षकों की मेहर-बानी न हो तो किसी का भी अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। मै ने सुना है कि कुवर साहब के कुछ चोट

लगी है, कुछ बेसमझ लोगों की अदूरदर्शिता से उनकी इस हरकत को कोई भी बुद्धिमान अच्छा नहीं कह सकता। परन्तु मेरी समझ के अनुसार उनको इतनी ही सजा काफी है, अब उन लोगों को अधिक सजा देनी उचित नहीं। यदि वे आगे के लिये क्षमा मांगलें तो उन्हें मुक्त कर देना चाहिये। आप तो अपनी सज्जनता का ही ध्यान रक्खे।

ठाकुर साहब—महाराज! आपका फर्माना तो उचित ही है परन्तु इन लोगों ने जो हरकत की है उससे मुझे बहुत कष्ट पहुँचा है, कुंवर साहब के मामूली सी चोट आई है उसका तो मुझे ध्यान तक भी नहीं परन्तु इन लोगों ने सवारी में कंकर फैंकने में भगवान की अवज्ञा की है जो कि मुझे असह्य हो उठी उसी के फलस्वरूप इनकी यह गिरफ्तारी हुई है। तिस पर भी आप जैसे फर्माते हैं, आपकी आज्ञा का पालन किया जावेगा। इतना कहने के बाद ठाकुर साहब नमस्कार कर वहां से विदा हुए और अपने महल में पहुँचते ही दीवान साहब को बुलाकर जेल दारोगा के नाम हुकम भिजवा कर उन्हें वहां से मुक्त कर दिया। परन्तु ये लोग फिर भी शरारत करने से बाज नहीं आये। मन्दिराम्नाय वालों की तर्फ से जब भी कोई महोत्सव मनाया जाता तो ये लोग किसी न किसी प्रकार से उसमें विघ्न डालने की कोशिश करते ही रहते। कभी स्वय न करके चार गुंडों को बुलाकर उनके द्वारा गड़बड़ कराते, तब इधर से भी ईंट का जवाब पत्थर से देने का यत्न किया जाता और ये लोग भी कुछ गुंडों को पैसे देकर उनके जल्से जलूस मे गड़बड़ करने का यत्न करते। कई वर्षों तक ऐसा चलता रहा। अन्त में जब दोनों को अकल आई तो दोनों ने आपस में मेल जोल कर लिया और अपनी भूल सुधार ली। इस बात का अनुभव उस वक्त हुआ जब–[वि० सं० २००१ मे] पालनपुर का चातुर्मास समाप्त करके पालीताणा की तर्फ जाते हुए चूड़ा गांव मे हमारा जाना हुआ। वहां के श्रावकों ने साधुओं का प्रवेश बड़े समारोह के साथ किया और उसमें वहां के ढूंढक श्रावकों ने पूरा पूरा सहयोग दिया। मंगलाचरण रूप थोड़ासा उपदेश देने के अनन्तर उनसे पूछा कि कहो भाई! अब तो तुम्हारा आपस में कोई विरोध नहीं रहा ?

दोनों पक्ष का श्रावकवर्ग हाथ जोड़कर—नहीं महाराज! अब कोई विरोध नहीं है। अब तो हम हर एक कार्य में एक दूसरे का हाथ बटाते हैं। आपस के विरोध से हमने बहुत हानि उठाई। अब हम समझ गये हैं। आशा है आप जैसे सत्पुरुषों की कृपा से हमारा यह मेल सदा बना रहेगा। हमने कहा कि भाई! आप लोगों ने परस्पर सहयोग देने का जो मार्ग अखत्यार किया इसी में आप सबकी भलाई है। यदि आप लोगों का परस्पर प्रेम रहेगा तो कोई दूसरा आपके किसी भी सांसारिक और धार्मिक कार्य में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं कर सकेगा इसलिये आपस में सदा प्रेम बनाये रखने का यत्न करना। अपने देश की यह कहावत तो प्रसिद्ध ही है-"जहां सम्प तहां जम्प" अर्थात् जहां पर प्रेम और संघठन होता है वहां पर ही विजय होती है। इतना सुनकर सब भाई आनन्द से वीरप्रभु के नाम का जयकारा बुलाकर और प्रभावना लेकर अपने २ स्थान को चले गये।

अठाई महोत्सव सानन्द समाप्त होने पर आचार्य श्री ने विहार कर दिया। वहां से वोटाद,लींबड़ी और वढ़वाण होते हुए आप लखतर में पधारे। लखतर राज्य के दीवान श्री फूलचन्द कमलसी थे और वे श्रावक थे। उनके द्वारा आचार्य श्री के पधारने का पता जब वहां के दरबार को लगा तो वे भी दीवान साहब को साथ लेकर आपश्री के दर्शनों को पधारे। आते ही आपने महाराज श्री को हाथ जोड़ नमस्कार किया और उत्तर में आचार्य श्री की ओर से धर्म लाभ मिला। लखतर के दरबार अच्छे विचारशील पुरुष थे, आचार्य श्री के साथ धर्म सम्बन्धी वार्तालाप में आपको बहुत रस मिला। और आचार्य श्री के सारगर्भित मार्मिक उपदेश से आप बहुत प्रभावित हुए। कुछ दिन और ठहरने की आपने आचार्य श्री से प्रार्थना की परन्तु आपने राधनपुर पधारने का विचार कर रक्खा था इसलिये आप अधिक दिन नहीं ठहरे।
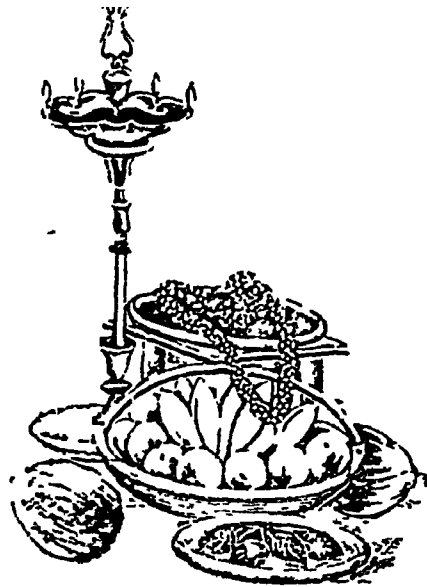
अध्याय ८८

"राधनपुर में प्रवेश"

लखतर से विहार करके वीरमगाम, रामपुरा होते हुए आपने भोयणी ग्राम मे आकर श्री मल्लिनाथ प्रभु के दर्शन किये। वहां से विहार कर मांडल, दशारा और पंचासर होते हुए संखेश्वर ग्राम में आये यहां पर विराजमान श्री संखेश्वर पार्श्वनाथ के दर्शन करके चडावल, समली और गोचीनार होते हुए शहर राधनपुर में पधारे। यहां पर अनुमान १५०० घर श्रावकों के और २५ जिनमन्दिर हैं। आपश्री के पधारने की खबर पाते ही वहां की जैन जनता में खुशी की लहर दौड़ गई और सबने मिलकर बड़ी धूम धाम से आपश्री का प्रवेश कराया। यहां पर बड़ोदे शहर के रहने वाले युवक छगनलाल को उसके आग्रह और श्रावकवर्ग की पूर्ण अनुमति से विक्रम सम्वत् १९४४ की वैसाख शुक्ला त्रयोदशी बुधवार के दिन साधुधर्म में दीक्षित करके "श्री वल्लभविजय" यह नाम रक्खा।

अध्याय ८६

"छगन की दीक्षा का पूर्व इतिवृत्त"

बड़ोदा के रईस वीसा श्रीमाली श्री दीपचन्द के-खीमचन्द, छगनलाल, मगनलाल ये तीन पुत्र और उनकी दो बहनें-यमुना और रुकमणि थीं। तीनों भाइयों में छगनलाल का हृदय वैराग्य की ओर अग्रसर रहता था। और बचपन से ही धार्मिक भावना जागृत थी। सं० १६४१ की बात है जब महाराज श्री आनन्द-विजय-श्री आत्मारामजी का चौमासा अहमदाबाद में था और श्री चन्द्रविजय नाम के साधु ने बडोदे में चातुर्मास किया था। उनके पास छगनलाल, वाडीलाल, साकलचन्द, मगनलाल, जग्गूभाई (नागर ब्राह्मण) और हीराभाई [प्रसिद्ध नाम गूबा] पढ़ने जाया करते थे। इनमें हीराभाई पुखता और विवाहित था शेष सभी छोटी आयु के और अविवाहित थे। पढते २ एक दिन सबके मनमें दीक्षा की भावना उत्पन्न हुई। सबने मिलकर विचार किया कि दीक्षा ग्रहण की जाय। बस फिर क्या था बालकों के भोले मनमें सागर तरग की सी लहर उठी और सबने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। और दिन भी निश्चित होगया, घर से प्रस्थान करने के लिये। परन्तु कहने और करने में बडा अन्तर है, उनमें सबसे बडे हीराभाई के मनमें अपनी स्त्री और माता के प्रति मोह जाग उठा। उससे उसके दीक्षा सम्बन्धी विचार में शिथिलता आगई। स्त्री के व्यामोह ने उस अकेले के मनको ही शिथिल नहीं किया अपितु दूसरों के लिये भी प्रतिबन्ध उपस्थित कर दिया। उसने अपने बाकी के मित्रों के सगे सम्बन्धियों को भी उनके विचार से सूचित करदिया। परिणाम स्वरूप उन्होंने बालकों पर कड़ी निगरानी शुरू करदी और वे डरगये। इसलिये कोई जा न सका। इसी बीच साधु श्री चन्द्रविजयजी का स्वर्गवास होगया। इस कुदरती विघ्न ने उनकी रही सही विचारधारा को भी समाप्त करदिया।

जब १६४२ का सूरत का चातुर्मास पूरा करके महाराज श्री बड़ोदा पधारे तो उनकी तेजोमयी दिव्य मूर्ति के दर्शन कर और सत्यामृत प्रवाहरूप उनके प्रवचन को सुनकर छगनलाल के मनमें सुप्त भावना

दुगने बल से जाग्रत हो उठी और अन्य सब साथी तो शिथिल होगये केवल छगनलाल ही अपनी धुन का पक्का रहा।

कुछ दिनों बाद महाराज श्री ने बड़ोदे से छाणी को विहार करदिया। विहार होने पर पीछे आकर कुछ श्रावकों ने अर्ज की कि महाराज! कलकत्ते वाले बाबू बद्रीदासजी आपश्री के दर्शनों के वास्ते आये हैं यदि आप एक दिन और ठहरने की कृपा करें तो वे दर्शन कर लेवें। महाराज श्री ने उत्तर दिया कि भाई! जो भाग्यशाली दर्शन के लिये आया है वह कहीं न कहीं तो आ पहुंचेगा यदि विहार से पहले मुझे खबर मिलजाती तो ठहरने का भी विचार करलिया जाता। इतना कहकर विहार करदिया और छाणी पधार गये। इधर बाबू बद्रीदासजी भी स्टेशन से सीधे छाणी आ पहुँचे। महाराज श्री के पुनीत दर्शन करके आनन्द प्राप्त किया। विधि पुरस्सर वन्दना नमस्कार करने और सुखसाता पूछने तथा बदले में अमोघ आशीर्वाद रूप धर्मलाभ प्राप्त करने के अनन्तर बोले कि आपश्री के प्रताप से मुझे यहां के श्री जिनमन्दिर के दर्शन का भी लाभ प्राप्त होगया, यदि आपश्री का बड़ोदे में दर्शन करता तो यहां के प्रभु दर्शन से तो वंचित ही रहता। इसलिये यह भी आप श्री की अपार दया दृष्टि का ही शुभ परिणाम है। इस दृश्य का वहां पास में बैठेहुए छगनलाल पर बड़ा प्रभाव पड़ा वह मन ही मन कहने लगा देखो गुरु महाराज की कितनी निस्पृहता और बाबूजी में भी कितना विवेक और नम्रता! धन्य हैं ऐसे गुरुदेव और धन्य हैं ऐसे विवेकी श्रावक! इससे छगनलाल के वैराग्य को और उत्तेजना और दृढ़ता प्राप्त हुई।

जिस समय महाराज श्री ने बड़ोदे से छाणी को विहार किया उस समय खीमचन्द भाई भी आपके साथ छाणी तक आये और छगनलाल भी साथ में आया। छगनलाल का विचार तो महाराज श्री के साथ ही जाने का था परन्तु बड़े भाई श्री खीमचन्द के वहां उपस्थित होने से उनकी आज्ञानुसार उनके साथ वापिस घर को ही लौटना पड़ा मनकी भावको मनमें ही दबाकर।

छगनलाल का यह सद्भाग्य समझिये कि एक साधु के बीमार होजाने के कारण थोड़े दिनों के लिये कुछ साधु बड़ोदे में ठहर गये थे जिनमें श्री हर्षविजयजी सबसे बड़े थे और वे ही व्याख्यान वांचा करते थे। उनका व्याख्यान बड़ा रसिक और आकर्षक होता था। सुनने वालों के हृदय पर उसका बड़ा गहरा असर पड़ता था। खीमचन्द भाई तो आपके व्याख्यान पर मुग्ध हो रहे थे। घर के अधिक से अधिक आवश्यक काम छोड़कर भी वे व्याख्यान में अवश्य आते थे। और उनके साथ में आनेवाले छगनलाल के हृदय पर श्री हर्षविजयजी महाराज के प्रवचन का जो प्रभाव पड़ा उसका तो कहना ही क्या? उसका हृदय तो पहले ही वैराग्य के रंग में रंगा जा चुका था और उसमें जो कुछ भी कमी थी वह अब पूरी होगई।

कुछ दिनों बाद साधु महाराज का स्वास्थ ठीक होगया और श्री हर्षविजयजी महाराज ने बड़ोदे से विहार करदिया। तब खीमचन्द भाई ने छगनलाल को कहा कि तू घरमें रह जा, और मैं छाणी तक

महाराजजी के साथ जाकर पीछे आजाऊंगा। भला छगनलाल को यह बात कैसे मान्य होती। उसको तो पहले ही रग चढ़ा हुआ था। श्री हर्षविजयजी के हसमुख और प्रभावशाली चेहरे ने तो न जाने उसपर कैसा जादू कासा असर किया; वह तो मनसे उन्हीं का हो चुका था और उसने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय करलिया था कि कुछ भी हो अपना दीक्षा गुरु तो इन्हीं को बनाऊगा। वह मनमें सोचता है कि मैं तो इनके साथ जाना चाहता हूँ.-[मैं ने इनके चरणों में निवेदित होने का संकल्प जो करलिया है-] और भाई साहब मुझे घरमें रहने को कहते हैं, यह कैसी बात ? मैं भी आपके साथ ही जाना चाहता हूँ आप रोकेंगे तो मुझे बहुत दुःख होगा, छगनलाल ने बड़ी नम्रता से भाई को उत्तर दिया। अन्ततोगत्वा छगनलाल भी खीमचन्द भाई के साथ छाणी गया। हां उसने साथ में रहते हुए भी अपने मन की तीव्र वैराग्य भावना को भाई पर प्रगट होने नहीं दिया।

खीमचन्द भाई तो छाणी से वापिस लौट आये और छगनलाल ने अगले पड़ाव तक साथ जाने की किसी न किसी प्रकार भाई से अनुमति प्राप्त करली और महाराजजी के साथ हो लिया। मन बड़ा प्रसन्न था, मुनि महाराजों का सहवास प्राप्त होगा, और महाराज श्री से बात चीत करने का खुला अवसर मिलेगा। इस तरह महाराज श्री हर्षविजय तथा अन्य साधु मुनिराजों के सत्सग से वैराग्य का रग उत्तरोत्तर गहरा होता गया और छगनलाल अब दीक्षा प्राप्त करने का अवसर ढूंढने लगा।

भाई खीमचन्दजी तो उसे घर के कार्य व्यवहार में डालना चाहते थे। उन्होंने प्रेम से भय से आग्रह से हर तरह समझाया और कई प्रकार की रुकावटे भी डाली परन्तु छगनलाल के मनमें तो वैराग्य की भावना पत्थर की लकीर जैसी दृढ़ और अमिट हो चुकी थी। श्री हर्षविजयजी महाराज की हसमुख प्रकृति, उनकी वाणी का लालित्य और अपरिमित विद्या बुद्धि ने युवक छगनलाल पर सचमुच जादू का सा प्रभाव किया और उसने उन्हे गुरु धारण करने की भावना को निश्चय का रूप दे दिया। अतः छाणी से आगे जाकर भी छगनलाल वापिस नहीं लौटा किन्तु साधुओं के साथ ही साथ अहमदाबाद तक चला आया।

वहां प्रवेश के समय खीमचन्द भाई भी आगये। उन्होंने छगनलाल को भी वहीं देखा और उसका हाथ पकड वापिस बडौदे ले आये। वह बेचारा क्या करता, तब वह भागने का अवसर ढूंढने लगा, एक दिन अवसर मिलगया और वे गाड़ी में सवार होकर अहमदाबाद चला आया। उसे आया देख सभी साधु प्रसन्न हुए और बालक छगनलाल के दृढ़ निश्चय ने उन्हें चकित भी करदिया। दो दिन बाद खीमचन्द भाई भी वहां आ पहुंचे और अब के उन्होंने व्यवहार कुशलता दिखाते हुए एक चाल चली, महाराज श्री से बोले महाराज! मैं इस बालक को आपके सुपुर्द करता हूँ, अभी यह बच्चा है, दीक्षा के योग्य नहीं है। और छगनलाल को बुलाकर कहा—देख! महाराज श्री की आज्ञा मे रहना और मन लगाकर विद्या अध्ययन करना। इतना कहकर महाराज श्री को वन्दना नमस्कार करके वहां से विदा हुए। इस समय छगनलाल की खुशी का

पारावार न था, और साधु भी खीमचन्द भाई की चतुराई को न भांप कर प्रसन्न हो रहे थे। १५ दिन बाद साधुओं ने पालीताणा की ओर विहार किया और छगनलाल भी अपना जरूरी सामान उठाकर साथ हो लिये।

"न जाण्युं जानकीनाथे सवारे शुं थवानुं"

सभी साधु महाराज और उनके संग २ चलता हुआ आत्मतोष-विभोर-खुशी में मस्त-छगनलाल वावला गाँव में पहुँचे ही थे कि इतने में खीमचन्द भाई अपने बड़े बहनोई नानालाल और पटेल भाई भगवानदास को साथ ले गाड़ी से उतरे और दबादब उपाश्रय में आ पहुँचे। उन्हें देखते ही छगनलाल की सब खुशी काफूर हो गई, ऊपर का सांस ऊपर और नीचे का नीचे रहगया। आते ही आव देखा न ताव, छगनलाल का हाथ पकड़कर उसे घसीटते हुए लेजाने लगे। उसके इस व्यवहार से सब साधु हैरान से होगये। तब साधुओं ने कहा अरे खीमचन्द भाई! अहमदावाद में क्या कह रहे थे और अब क्या कर रहे हो? जवाब में खीमचन्द ने कहा महाराज! वोह खीमचन्द और था मैं और हूँ। उस समय तो मैं ने बनिया बुद्धि चलाई थी, अहमदावाद शहर था कहीं कोई छिपालेता तो फिर मैं क्या करता? मगर यहां वोह बात नहीं है। उन्ही भगवानदास का वहां सुसराल होने से उसके पक्ष के लोग इकट्ठे होगये इसलिये वहां के श्रावकों में से कोई कुछ कर न सका और खीमचन्द भाई भगवानदास की मदद से छगनलाल को जबरदस्ती गाड़ी में बैठाकर बड़ोदे ले आये। बड़ोदे आने के बाद कितने एक दिन तो कड़े पहरे में रहना पड़ा। फिर कुछ दिनों बाद बन्धन ढीले करदिये गये। परन्तु इस व्यवहार से छगनलाल के मन को बहुत आघात पहुंचा। उसको वहां से घसीट कर लाना तो वैसा ही था जैसे जल में से मछली को घसीट कर बाहर लाया जाता है। उसके मनकी तड़प को वही जानता था।

कुछ दिनों बाद खीमचन्द भाई के मासी के बेटे हीराभाई जौहरी-जो कि बड़े समझदार व्यक्ति थे-ने खीमचन्द भाई से कहा कि तुम उसे नाहक मे क्यों तंग कर रहे हो? यह अपनी धुन का पक्का है यह झुकने वाला नहीं। हीराभाई का खीमचन्द पर बहुत प्रभाव था यह उससे उतना ही डरता था जितना कि इससे छगनलाल। तब खीमचन्द भाई कुछ ढीले से होकर वहां से चले गये। इतने में श्री गोकुलभाई-जो कि बड़ोदे के मुखिया और धर्मात्मा श्रावक थे-पालीताणा मे चौमासा रहने के लिये श्री हीराभाई से अनुमति मांगने आये। उस वक्त छगनलाल भी पास में बैठा हुआ था, उसने श्री हीराभाई से प्रार्थना की कि आप मुझे भी गोकुलभाई के साथ पालीताणा भिजवा देवें। हीराभाई समझ गये कि अब इसने घर मे नहीं रहना। बोले कि खीमचन्द भाई आवेगा उसको कह कर तेरा प्रबन्ध करा दिया जावेगा? गोकुल भाई चले गये खीमचन्द भाई आगये। हीरा भाई ने खीमचन्द भाई से कहा कि छगन, गोकुल भाई के साथ पालीताणे जाता है इसका टिकिट वगैरह का सारा प्रबन्ध कर देना? खीमचन्द भाई को अनिच्छया भी हीरा भाई की बात माननी पड़ी और प्रबन्ध कर देने का वचन दे दिया परन्तु साथ में इतना प्रतिबन्ध लगा दिया

कि चौमासे बाद गोकुल भाई इसको साथ पीछे ले आवे तब हीरा भाई ने मुस्कराते हुए कि हां, यह आवेगा तो गोकुल भाई इसे जरूर ले आवेगा, तब खीमचन्द भाई ने छगनलाल से कहा कि यदि तूं बडौदे वापिस आना स्वीकार करे तो आज्ञा देता हूँ ? छगनलाल ने परिस्थिति को देखते हुए खीमचन्द भाई की यह शर्त मान ली और गोकुल भाई के साथ पालीताणे चला आया और उसने पालीताणा में गुरु महाराज का प्रवेश महोत्सव देख लिया। कार्तिकी पूर्णिमा पर यमुना बहन यात्रा के लिये पालीताणा आई तो उसने बिना पूछताछ किये उत्सव चलता देख कर खीमचन्द भाई को सूचना दे दी कि यहां पचमी को छगन की दीक्षा होगी, तब खीमचन्द भाई ने पालीताणा दरबार को तार दिया कि दीक्षा रोको, परन्तु वहा तो दीक्षा का स्वप्न भी किसी को नहीं था। वह तो धुलिया निवासी श्री सखारामजी के बारह व्रत उच्चारण के हेतु धूमधाम थी जिसे देख कर यमुना बहन ने बडौदे लिख दिया। वहां चौमासा पूरा कर छगनलाल गुरु महाराज के साथ राधनपुर चले गये।

राधनपुर के श्री सघ में गुरु महाराज के पधारने पर बड़ा उत्साह दिखाई देता था वे किसी बडे महोत्सव के लिये विचार कर रहे थे। तब गुरुदेव के साथ में आये हुए दीक्षार्थी छगनलाल को देख कर दीक्षा के निमित्त उत्सव मनाने का विचार निश्चित होने लगा। महाराज श्री के समक्ष दीक्षा का प्रस्ताव रखा गया परन्तु बडे भाई की आज्ञा के बिना महाराजजी कैसे दीक्षा दे सकते थे तब सेठ मोतीलाल मूलजी, चुनीलाल वीरचन्द और श्री भग्गूभाई आदि सघ के आगेवानों के परामर्श से छगनलाल के बडे भाई को पत्र लिखा—"आप जल्दी पधारो एकम व दूज को मेरी दीक्षा होगी। पत्र मिलते ही बूआ को साथ लेकर खीमचन्द भाई राधनपुर पहुंचे। जब खीमचन्द भाई बडौदे से चलने लगे तो हीरा भाई ने कहा कि देखो वहां जाकर किसी प्रकार का तोफान नहीं करना"— उसे (छगनलाल को) प्रेम पूर्वक समझाना किसी प्रकार का बलात्कार न करना, यदि वह आने को राजी होवे तो साथ ले आना, नहीं तो उसे खुशी खुशी दीक्षा की रजा दे आना। उसका मन अब ससार से विरक्त हो चुका है, तुमने दो तीन बार उसे लाकर देख लिया, तुम उसे गृहस्थ के बन्धन में डालना चाहते हो और यह बन्धन से मुक्त होना चाहता है, फिर तुम्हारे और उसके विचारों में मेल कैसे खावे ? इसलिए जो कुछ भी करना सोच समझ कर करना। सेठ हीरा भाई की इस हित शिक्षा का यह फल हुआ कि खीमचन्द भाई ने राधनपुर मे आकर किसी प्रकार का विवादजनक व्यवहार नहीं किया। वे जिसके यहां आकर ठहरे थे उनके समीप में ही सेठ मोहनलाल टोकरसी (जो कि बडे प्रतिष्ठित खानदान के थे) को पता लगा कि छगनलाल के बडे भाई आये हैं, तब उन्होंने खीमचन्द भाई को अपने घर बुलाया और उनका उचित आदर सत्कार करने के अनन्तर उससे शान्तिपूर्वक वार्त्तालाप किया और धीरज दी। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें, छगनलाल को आपकी आज्ञा के बिना कभी दीक्षा नहीं दिलाई जावेगी। कहो तो उन्हें अभी यहा बुला लिया जावे ? नहीं तो थोडी देर बाद वे यहीं पर जीमने के लिए आवेंगे, उस वक्त बातचीत कर लेनी, और आप भी आज यहां पर ही जीमने की कृपा

करें ! इतना वार्तालाप करने के बाद उन्होंने एक आदमी को उपाश्रय भेज कर छगनलाल को बुला लिया। आते ही छगनलाल ने भाई के चरणों में झुककर प्रणाम किया और भाई ने आशीर्वाद दिया। कुछ क्षणों तक तो दोनों ओर मौन का साम्राज्य रहा, फिर खीमचन्द भाई बोले—तुमने वडौदे से चलते समय मेरे साथ वायदा किया था कि मैं पालीताणा से चौमासे बाद वापिस वडौदे आजाऊंगा सो तुम क्यों नहीं आये ?

छगनलाल—इसलिए कि मेरे को अब घर से मोह नहीं रहा, अब रही वडौदे आने की बात, सो वडौदे आऊंगा, जरूर आऊंगा, मगर इस वेष में नहीं। मेरा और आपका भला तो इसी में है कि आप अपने घर जावें और मैं यहां अपने घर—गुरु चरणों में रहूँ। आप मेरी इस नम्र प्रार्थना को अवश्य स्वीकार करने की कृपा करें !

खीमचन्द भाई—तेरा यदि ऐसा ही विचार है तो मैं तुमको रोकता नहीं, तुम दो वर्ष बाद दीक्षा ले लेना।

छगनलाल—(कुछ ओजस्वी शब्दों में) बडी खुशी से, दो नहीं पांच वर्षों बाद दीक्षा ले लूंगा, मगर एक शर्त पर, आप मुझे पूरे प्रमाण के साथ यह लिख कर दे दें कि तू पांच वर्ष तक नहीं मरेगा !

यह सुन कर खीमचन्द भाई तो अवाक् से रह गये। तब पास में बैठी हुई उनकी बूआ ने खीमचन्द भाई से कहा कि यह अब तुम्हारे वश में नहीं रह सकता, अब इसमें उत्तर देने का साहस आ गया है। अब तो तुम्हें यही मुनासिब है कि खुशी २ इसके मन की करो।

तब खीमचन्द भाई ने उसे साधु के कर्तव्य पालन, धर्म निरत रहने, और कुल का नाम उज्ज्वल करने की बात कही जिसे छगनलाल ने सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा—भाई साहब आप इसकी बिलकुल चिन्ता न करें! ऐसे गुरुदेव की छत्र छाया में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो धर्म का पालन भी बराबर होगा, आप मुझे प्रसन्न हृदय से आशीर्वाद देदेवें ताकि मैं अपने देव दुर्लभ मानवभव को सफल कर सकूं, इतना कहने के साथ ही वे अपने भाई और बूआ के चरणों में गिर पड़े। भाई और बूआ ने सजल नेत्रों से उसे उठा कर गले लगाया और शुभ आशीर्वाद दिया। इतने में सेठ मोहनलाल ने कहा कि भोजन का समय होगया आप भोजन कर लें! सबने साथ बैठ कर भोजन किया, छगनलाल तो भोजन करते ही उपाश्रय में चला आया और आकर महाराजजी को घर मे हुई सारी बात चीत संक्षेप से कह सुनाई। खीमचन्द भाई भी भोजन करने के बाद सेठ मोहनलाल के साथ उपाश्रय में गुरु महाराज के पास आये और विधिपूर्वक बन्दना नमस्कार करने के अनन्तर बोले—महाराज! छगन की दीक्षा इतनी जल्दी कैसे होगी? एकम तो परसों को है सिर्फ कल का दिन बीच में है इतने स्वल्प समय में कैसे प्रबन्ध हो सकेगा, कृपया

कोई और महूर्त निकालें जिससे सारा काम अच्छी तरह से हो सके। खीमचन्द भाई की वात सुन कर हँसते २ महाराज श्री वोले—अरे खीमचन्द भाई, यह तुम क्या कह रहे हो ? छगन की दीक्षा और वह भी परसों एकम को ? यहां तो इस वात का किसी को ख्याल तक भी नहीं, फिर एकम का तो वैसे ही क्षय है, तुमको यह ध्यान कैसे आया ? मुझे तो यह स्वप्न जैसा ही प्रतीत हो रहा है। तब खीमचन्द भाई ने वह पत्र निकाल कर आचार्य श्री के आगे रख दिया जिसमें लिखा था "आप जल्दी आओ एकम को मेरी दीक्षा है" पत्र को देख कर महाराज श्री ने छगनलाल को बुलाया और पूछा अरे ! यह पत्र तूने लिखा है ?

छगनलाल—(डरता हुआ) जी हां मैंने लिखा था।

तुमने झूठ मूठ लिख कर इनको इतनी दूर आने की तकलीफ क्यों दी ? महाराज श्री ने जरा उत्तेजित होकर पूछा।

छगनलाल—(साहस पूर्वक) कृपानाथ ! अपराध क्षमा हो, मैंने ये सब कुछ अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये किया है। मैं शीघ्र से शीघ्र साधुरूप ले आपश्री के चरणों में निवेदित होना चाहता हूँ,मैं उस समय की वडी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब कि राधनपुर की जनता के समक्ष मुनि वेष से सुसज्जित मेरे मस्तक पर आप श्री के वरद हस्त से वासक्षेप पड रहा हो। परन्तु इसके लिये जब आप श्री से प्राथना की जाती है तो आप भाई की आज्ञा का प्रतिवन्ध लगा देते हो, और भाई चाहते नहीं कि मैं ससार का त्याग करके साधु मार्ग को अपनाऊ ? जब परिस्थिति यह है तो भाई को ऐसी क्या गर्ज पड़ी है जो वह मुझे साधु वनने की आज्ञा देवे। इस सारी परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए मुझे अपनी कार्य सिद्धि का यही एक मात्र उपाय सूझा सो अब भाई सहाव आगये है आप इनसे वातचीत करके अन्तिम निर्णय कर लेवे। यही मेरी आपसे और (खीमचन्द भाई की तरफ इशारा करके) इनसे प्रार्थना है। मैंने सेठ मोहनलाल के घर में इनके सन्मुख अपने विचारों को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिये हैं अब उन पर ध्यान देने की कृपा करना इनका फर्ज है गुरुदेव !

तब खीमचन्द भाई को सम्बोधित करते हुए आचार्य श्री वोले—भाई खीमचन्द कहो अब तुम्हारी क्या मरजी है, तुमने इसके विचारों को सुन लिया, और हमने जो तुम्हारे साथ वायदा किया था कि तुम्हारी आज्ञा के विना हम दीक्षा नहीं देंगे सो उस पर हम दृढ हैं, जब तक तुम प्रसन्न होकर आज्ञा नहीं दोगे तब तक हम इसे दीक्षा नहीं देंगे ? इसलिये तुम्हारा जो कुछ विचार हो उसे विना संकोच कहो।

खीमचन्द भाई—हाथ जोड़ कर–महाराज ! मोह के वशीभूत होकर मैंने इसे घर मे रखने का भरसक प्रयत्न किया, यह मुझे पुत्र से भी अधिक प्यारा है। जिस भावना से मैंने छुटपन से इसका पालन पोपण किया वही भावना इसे घर में रखने के लिये मुझे वाधित करती रही। उसी प्रेम या मोह का प्रेरा

हुआ मैं इसका पत्र पहुंचते ही यहां भागा चला आया हूँ मैंने जन्म भर कभी ऊंट की सवारी नहीं की परन्तु इसके लिये मुझे ४० कोस का लम्बा सफर ऊंट पर तय करना पड़ा जिसकी विकटता का अनुभव मेरे को ही है। सो महाराज मेरी तो यही अभिलाषा थी कि छगन जीवन भर मेरी आंखों से ओझल न हो और बुढापे में मेरे काम आवे। परन्तु यहां आने पर सेठ मोहनलाल के घर में इसके साथ वार्तालाप करने पर और यहां पर दिये गये भाषण को सुनने के बाद मेरे भावों में बिल्कुल परिवर्तन आगया। मेरे आत्मा पर मोह जन्य अज्ञान का जो पर्दा पड़ा हुआ था वह हट गया, अब तो मेरा मन किसी दूसरी ही विचारधारा में प्रवाहित हो रहा है। बड़े २ राजा महाराजा, यहां तक कि चक्रवर्ती आदि ने अपनी बड़ी से बड़ी सांसारिक ऋद्धि का भी परित्याग करके जिस मुनि धर्म को अपनाया उस मुनि धर्म को मेरा पुत्र समान भाई अपनाने को तैयार हो इससे बढकर मेरा सद्भाग्य क्या हो सकता है। अतः आज मैं आप श्री के समक्ष सच्चे हृदय से बडी प्रसन्नता पूर्वक इसको मुनि धर्म मे दीक्षित होने की अनुमति देता हूँ और शासन देव से प्रार्थना करता हूँ कि जिस पुनीत भावना से यह मुनि धर्म का अनुसरण कर रहा है उसमे उत्तरोत्तर प्रगति हो। अब आप कृपा करके इसकी दीक्षा का मुहूर्त निकालने का यत्न करें। मेरी तर्फ से हर प्रकार की आज्ञा है और मैं भी यथाशक्ति इसके दीक्षा समारम्भ में सहयोग देने का यत्न करूंगा। भाई खीमचन्द के इन उद्गारों को सुन कर आचार्य श्री बड़े प्रसन्न हुए और मुक्त कंठ से सराहना की। तदनन्तर अगले दिन वहां के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी को बुलाया और साथ में पं० अमीचन्द जी जो कि उस समय साधुओं को पढाते थे, बैठे। मुहूर्त का निश्चय किया गया जो कि वैशाख सुदी त्रयोदशी बुधवार का था। खीमचन्द भाई ने महाराज श्री से अर्ज की कि गुरुदेव! यदि कोई समीप का अर्थात् दो चार दिन के अन्तर का मुहूर्त निकल आता तो मैं ठहर सकता था अब इतने दिन तो ठहरना मेरे लिये बहुत मुश्किल है कारण कि इस दशमी को मेरा दुकान के लायसैन्स की तारीख है इसलिए छगन की दीक्षा क समय यदि मैं शरीर से हाजिर नहीं होसका तो मन से अवश्य उपस्थित रहूँगा। इतना कह कर सेठ मोहनलाल आदि से दीक्षा सम्बन्धी व्यय के बारे में बातचीत करके राधनपुर से विदा हुए।

प्रसन्न चित्त से भाई की आज्ञा मिल जाने से छगनलाल का मन बल्लियों उछलने लगा, आज उसकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था। वह मन ही मन अपने सद्भाग्य की भूरि २ सराहना करता और उसे गुरुदेव की अनन्य कृपा समझ कर उनके चरणों में बार २ प्रणाम करता। छगनलाल की दीक्षा के मुहूर्त का समाचार मिलने पर राधनपुर के श्री सघ में भी खुशी की लहर दौड़ गई। घर २ में मगल गीत गाये जाने लगे इस निमित्त श्री मन्दिरजी में पूजा प्रभावना आदि का आरम्भ होगया और छगनलाल को घर घर में निमन्त्रित किया जाने लगा वह प्रत्येक घर से सत्कृत होकर वापिस लौटता।

मुहूर्त के दिन दीक्षार्थी छगनलाल का वरघोड़ा बडी धूमधाम से निकाला गया जो कि शनैः २

बाजारों में होता हुआ मंडप में पहुँचा, जहां कि दीक्षा विधि सम्पादन के लिए व्यवस्था की गई थी। गुरुदेव, श्री विजयानन्दजी सूरि श्री आत्मारामजी महाराज भी अपने शिष्य परिवार के साथ मंडप में पधारे और छगनलाल को शास्त्रोक्त विधि विधान के साथ साधु धर्म में दीक्षित किया। साधु वेष से सुसज्जित छगनलाल के चरणों में झुके हुए मस्तक पर अपने वरद दक्षिण कर कमल से वासक्षेप डालते हुए आचार्य श्री ने फर्माया-यद्यपि साधुओं का विचार इसका रत्नविजय नाम रखने का है परन्तु मेरी इच्छा तो इसका नाम वल्लभ विजय रखने की है, इसी नाम से मुझे प्यार है और इस नाम तथा नाम वाले में मैं पंजाब की सरक्षता का सफल स्वप्न देख रहा हूँ इसलिए सबके समक्ष साधु वेष में उपस्थित हुआ यह छगन आज से वल्लभ विजय के नाम से सम्बोधित होगा, श्री हर्षविजय जी इसके दीक्षा गुरु होंगे और यह मेरी देखरेख में अपना भावी साधु जीवन व्यतीत करेगा।

आचार्य श्री के इतने फर्माने के बाद वहां पर उपस्थित हुई सारी जनता ने जयकारों के साथ पूरा २ स्वागत किया।

उत्सव की समाप्ति पर महाराजजी के पास आये हुए राधनपुर संघ के आगेवानों ने कहा कि महाराज, क्या कहें आप श्री के पुण्य प्रताप से आज का दीक्षा महोत्सव तो अपनी कक्षा का एक ही हुआ है, बड़े लोगों का कहना है कि राधनपुर में दीक्षा महोत्सव तो बहुत हुए हैं परन्तु ऐसी धूमधाम का महोत्सव तो इस नगर में गत पचास वर्षों से नहीं हो पाया। महाराज श्री ने फर्माया कि यह सब राधनपुर के श्री संघ के उत्साह और प्रेम का ही परिणाम है।

अध्याय ६०

"पाटण में एक मास"

राधनपुर से विहार कर करके आचार्य श्री विजयानन्द सूरि शिष्य परिवार के साथ अणजामपुर और ऊंधरा आदि ग्रामों में होते हुए पाटण नगर में पधारे। पाटण के श्री सत्र ने आप श्री का बड़े उत्साह से स्वागत किया और आप श्री का पधारना अपने लिये अहो भाग्य समझा।

पाटण में अनुमान २५०० घर श्रावकों के और ५०० जिन मन्दिर हैं यहां पर विराजमान श्री पंचासरा पार्श्वनाथ के दर्शन किये। पार्श्वनाथ प्रभु का यह मन्दिर बडा ही भव्य है, श्री वनराज चावड़ा ने यहां प्रभु की यह प्रतिमा श्री शीलगुण सूरि द्वारा प्रतिष्ठा करा कर विराजमान करी थी। इस मन्दिर में श्री वनराज चावड़ा की मूर्ति भी है। इसके अतिरिक्त पाटण के कई एक पुराने पुस्तक भण्डार भी हैं, जिनका आपने अच्छी तरह से निरीक्षण किया और बहुत सी उपयोगी पुस्तकों की नकले करवाई। यहां पर अनुमान एक मास रह कर राधनपुर के श्री संघ की आग्रह भरी विनती से आप फिर राधनपुर पधारे और १९४४ का चतुर्मास यहीं पर सानन्द व्यतीत किया।

अध्याय ६१

"चतुर्थ स्तुति निर्णय की रचना"

राधनपुर पधारने के वाद आषाढ़ शुक्ला दशमी गुरुवार के दिन एक लड़के को श्री शांतिविजय के नाम की दीक्षा दी और भक्तिविजय नाम रक्खा।

इस चातुर्मास में आचार्य श्री के वदले प्रतिदिन का व्याख्यान श्री हर्षविजयजी महाराज ही करते रहे। व्याख्यान में "श्री सूत्र कृतांग" और "धर्मरत्न प्रकरण" वांचते रहे। महाराज श्री की आंखों में यद्यपि मोतिया उतर रहा था तो भी श्रावक समुदाय के विशेष आग्रह से आपने "चतुर्थ स्तुति निर्णय" नाम के निवन्ध की रचना की। §

§ यह पुस्तक छपकर प्रसिद्ध हो चुका है। इसमें श्री राजेन्द्र सूरि और धनविजयजी के स्तुति सम्बन्धी विचारों की समालोचना की गई है।

अध्याय ६२

"राधनपुर श्रीसंघ के संगठन की एक झलक"

-:०:-

उस समय का राधनपुर का श्रीसंघ कितना क्रियापात्र धर्मचुस्त और संगठित था उसका एक उदाहरण यहां पर उपस्थित किया जाता है।

राधनपुर के समीप श्री संखेश्वरजी तीर्थ पर हर साल चैत्र के महीने मेला भरता है। आस पास और दूर नेड़े के यात्री लोग काफी संख्या में वहां उपस्थित होते हैं। एक वक्त वहां के नवाब की तरफ से मेले मे जानेवाले यात्रियों पर टैक्स लगाने की घोषणा की गई। उस समय राधनपुर में सेठ श्रीचन्द भाई मोहनलाल टोकरसी, तथा मोटा परिवार के लोग और खासकर गौड़ीदास भाई आदि श्रावक धर्म चुस्त और प्रभावशाली व्यक्ति थे। इनमें श्रीचन्द भाई नगर सेठ थे, ये सब महानुभाव धर्म के हर एक काम में अच्छा सहयोग देते और जो काम करते सब मिलकर सम्मति से करते, इसलिये जनता पर इनका खासा प्रभाव पडता था। जब तीर्थ क्षेत्र पर जानेवाले यात्रियों पर कर लगाये जाने की बात नगर सेठ श्रीचन्द भाई के कान में पहुँची तो उसने एक घोषणा पत्र द्वारा राधनपुर तथा आस पास के ग्रामों में सूचना करादी कि श्री संखेश्वर तीर्थ की यात्रा के लिये जाने वाले लोगों पर नवाब साहब की तर्फ से कर लगाये जाने की घोषणा की गई है जो कि सर्वथा अनुचित है इसलिये इस वर्ष वहां किसी को यात्रा के लिये जाना नहीं चाहिये। इस सूचना से उस वर्ष वहां कुछ इने गिने आदमियों के सिवा कोई नहीं गया। तब नवाब साहब ने सेठ श्रीचन्द को बुलाकर कुछ उत्तेजना भरे शब्दों में बोलते हुए कहा—

सेठ साहब! क्या आपके पास कोई ऐसी सत्ता है, जिसके आधार पर आपने राधनपुर तथा आस-पास के ग्रामों में यह घोषणा करादी है कि इस वर्ष कोई यात्री यात्रा के लिये श्री संखेश्वरजी में न जावे?

सेठ श्रीचन्द—श्रीमानजी! मुझे श्रीसंघ की तरफ से संघपति तरीके की जो सत्ता प्राप्त है उसके आधार पर मैं ने अपने भाइयों को सूचित करना अपना कर्तव्य समझा, राज्य की तर्फ से होनेवाले किसी

अनुचित व्यवहार का सम्मिलित रूप से विरोध करना अथवा उसके लिये रोप प्रकट करना प्रजा का कर्तव्य है और होना चाहिये। आपके बड़ों ने हमारे धर्म स्थानों का पूरा २ सरक्षण किया और हमारे अहिंसा प्रधान धर्म को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया। आपके पूर्वजों की ओर से दिये गये फर्मान के कारण यहां के तालाव से कोई भी व्यक्ति मछली नहीं पकड़ सकता, एक व्यक्ति ने इसके विरुद्ध काम किया-अर्थात् मछली पकड़ी, उसके फलस्वरूप उसे पकड़कर कई दिनों तक पिजरापोल में कैद मे रक्खा गया। सो,हजूर हम जो कुछ करते हैं उसमें धर्म को सन्मुख रखते हुए आप और आपके पूर्वजों के सम्मान और प्रेम को किसी प्रकार की वाधा न पहुँचे, इस भावना से करते हैं। श्री सखेश्वर तीर्थ पर बहुत प्राचीन समय से मेला भरता आया है, आजतक राज्य की तरफ से किसी यात्री पर किसी प्रकार का कर नही लगाया गया बल्कि यात्रियों की सुविधा के लिये राज्य की ओर से सब प्रकार का उचित प्रवन्ध रहता था। परन्तु अब आपके समय मे वहां यात्री-कर की घोपणा की जावे यह उचित है कि नहीं इसका विचार हजूर स्वयं कर सकते हैं। हम लोगों को यह अनुचित प्रतीत हुआ इसलिये हमने यात्रा वन्द रखनी ही उचित समझी और उसके लिये मुझे अपने शहर और आसपास के ग्रामों में सूचना देनी पड़ी राज्य की ओर से लगाये जानेवाला यह यात्री-कर उचित नहीं ऐसी मेरी सम्मति है, आगे आप मालिक है।

नवाव साहव—तो क्या कभी जरूरत पडे तो आप अपने सघ की हमें भी मदद दिला सकते हैं?

श्रीचन्द—वडी खुशी से, कोई भी धार्मिक कार्य हो उसमें मैं और मेरा सघ हर प्रकार से सहयोग देने को तैयार हूं। किसी भी दीन, दुःखी और अनाथ की सहायता करना हमारा परम धर्म है। आप, इस प्रकार के धार्मिक कार्यों मे जब चाहो हमारा सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इतना सुनने के बाद नवाव साहब ने यात्री-कर का विचार त्याग दिया और सत्कार पूर्वक नगर सेठ को विदा करके जब आप रणवास में पधारे तो वेगम साहिबा ने कहा कि क्या अब आपकी नीयत खैरायत-[दान का धन]-खाने की होगई है? लोग तो खैरायत करें-दान पुण्य करें और आप उसमें से हिस्सा मांगें? यह कितनी लज्जा की वात है? क्या खुदा ने आपको खैरायत करने के वदले खैरायत खाने को पैदा किया है? आपको कुछ विचार करना चाहिये।

वेगम साहिबा के इन शब्दों को सुनकर नवाव साहव वहुत लज्जित हुए और कहने लगे अव तो हमने उसे वन्द करा दिया है। यह राधनपुर के श्री सघ के पारस्परिक सगठन का सजीव उदाहरण है। इसके अतिरिक्त उन दिनों वहां १२ तिथि [दूज, पचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस] कोई श्रावक लीलोत्तरी-सब्जी नहीं खाता था। रात्रि भोजन का प्रायः सवको त्याग था, चौमासे के दिनों मे कोई तेली तेल नहीं पीलता था, श्रावक लोग गाडी में वैठकर किसी गांव में नहीं जाते थे। उस समय वहां पर यह कहावत प्रसिद्ध थी-कि राधनपुर में जैन और दीन ये दो ही धर्म हैं तात्पर्य कि वहां अधिक वस्ती जैनों और मुसलमानों की ही थी। परन्तु दोनों मे वडा प्रेम था, एक दूसरे को मन से सहायता देते थे। उस

समय आजकल की तरह बाहर देशावर में जाने आने की प्रवृत्ति नहीं थी। और साधुओं में भी वहां–राधनपुर में प्रायः कोई विरला ही जाता था और वर्षावास करता था। आचार्य श्री और उनके शिष्य समुदाय के वहां पधारने और उनकी ज्ञानाभ्यास और क्रियाशीलता में सतत प्रवृत्ति का वहां के श्रीसंघ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप वहां के धार्मिक वातावरण को आशातीत शुद्धि और प्रगति मिली।

अध्याय ६३

"स्वप्नों की बोली का निर्णय"

—ઽઽઽઽ—

पर्युषणा पर्व के आराधन मे १४ स्वप्नों के उतारने की आवश्यकता प्रतीत होने से वहां के श्रीसंघ ने साधारण खाते से स्वप्ने बनाने और उनकी उपज को साधारण खाते में लेजाने का ठराव-प्रस्ताव पास करके गुरुदेव से पूछा कि महाराज! इसमें कोई हरकत तो नहीं, अर्थात् कोई शास्त्रीय बाधा तो नहीं है? तब आचार्य श्री ने फर्माया कि इसमें हरकत की कौनसी बात है। सघ की चीज है, संघ ठराव करता है और संघ ने ही उसपर अमल करना है, फिर इसमें किसी प्रकार की हरकत का प्रश्न ही नहीं रहता। आचार्य श्री के फर्माने के बाद सर्व श्रीसंघ ने एक मत होकर पास किया कि स्वप्नों की बोली से जो उपज हो उसे साधारण खाते में जमा किया जावे। इस ठराव को संघ के चौपड़े मे दर्ज करदिया गया। श्रीसघ ने जो ठराव पास करके अपने चौपड़े में लिखा, उसका हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है—

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सम्वत् १९४३ (हिन्दी १९४४) भादवा वदि १ तथा २ शनिवार

श्री विगतवार खाता

श्रावण वदि अमावस्या के दिन श्री महावीर स्वामी-जिनेश्वर के जन्म वाले दिन दूसरे व्याख्यान में जन्म वाचन के पूर्व चान्दी के १४ स्वप्ने, सागर गच्छीय श्रीसंघ के उपाश्रय में श्री मुनि महाराज श्री आत्मारामजी पधारे तब सर्व प्रथम उतारे गये। इन स्वप्नों के उतारने के समय बोली गई घी की बोली की उपज-आमदनी को साधारण खाते में लेजाने का ठराव श्रीसघ करता है और घी, मण एक के अढाइ रुपया के हिसाब से लेने का निश्चय करता है, यह साधारण खाते में जमा करना (पाना पांच)।

पाना ३०४ श्री विगतकार खाते घी मण सवासोलां और दो सेर तंवोली शेरी की धर्मशाला में भाद्वा सुदि ४ सम्बच्छरी प्रतिक्रमण में बोला गया यह श्री पर्यूषणा खाते में जमा किया †। तब से स्वप्नों की बोली का रुपया साधारण खाते में जमा होने लगा।

उस समय चार थुई और तीन थुई का कुछ विवाद था, वहां के श्री संघ में तो चार (थुई) स्तुति की ही प्रवृति थी कोई कोई तीन थुई (स्तुति) भी करते थे। जोकि कड़वा मीठा कहलाते थे। आचार्य श्री के चतुर्थ स्तुति निर्णय के निर्माण से तीन स्तुति करने वालों में खलबली का होना स्वभाविक था। इसलिए किसी सिरफिरे ने आचार्य श्री के परोक्ष मे इसी विषय को लेकर आचार्य श्री का कुछ अवरण वाद करना आरम्भ किया जो कि राधनपुर के श्री संघ को बहुत अखरा, फलस्वरूप सघपति श्री सेठ श्रीचन्द ने उसे संघ बाहर करने का निश्चय किया, जब यह खबर आचार्य श्री के कर्णगोचर गइ तो उन्होने नगर सेठ श्रीचन्दभाई को बुला कर कहा कि अमुक व्यक्ति के लिए आपने सघ बाहर करने का जो निश्चय किया है वह अनुचित है उसे छोडदेना चाहिये। निन्दा करने वाले को निन्दा का फल मिलेगा और स्तुति करने वाला स्तुति के फल का भागी होगा। साधु के लिए तो दोनों ही बराबर हैं इस लिए हमारे निमित्त से किसी के मन को आघात पहुंचे ऐसा काम हमें हरगिज पसन्द नहीं। आप लोग इस संघ सत्ता का यहां उपयोग न करें। हम उस व्यक्ति को संघ बाहर करना न्यायोचित नहीं समझते, यदि आप लोग उसे सघ बाहर करेंगे तो हमारी आत्मा को बहुत कष्ट पहुंचे गा। क्या आप ससार में यह प्रसिद्ध करना चाहते हैं कि आत्माराम के चतुर्मास में उसके विरुद्ध बोलने वाले को संघ बाहर किया गया। यह तो उस निन्दा करने वाले से भी अधिक अवांछनीय कार्य है। इसलिए मेहरबानी करके इस अनुचित कार्य का विचार अपने मन से निकालदो।

---

† उक्त ठराव की चौपडे मे से लीगई अक्षरश: नकल इस प्रकार है—

राधनपुर श्री सागर गच्छ—

सवम्त् १६४१ थी सम्वत् १६४४ नु धनी चोपड़ो पानु ३०३

श्री वतराग देव नमां, संवत् १६४३ ना भादव सुद १ तथा २ न वटशनउ

श्री विगत खाता

वावता शरवण वद०" ना दवस श्री माहवर समजिन जन्म ना दिवस वीजे वखाण मध जन्म वचण पल रुपना चउद सपनानु सागर सगन असर मन महाराज आत्माराम अवत वर पसवत उत्तर तबर श्री संघ मलता सपन छउन चढ़व करत छओ श्री सछरण खतन करवछ म घओ मण १ न० ६० २।।) लण ढख करत त्त श्री साधारण खाते जमा। पाना ५। पानु ३०४ श्री विगत खाते घी मण सवासोल ने कै सेर तंबोली सेरी नी धर्मशाला भादरवा सुद ४ ना संवच्छरी पडिकमण मधे वोलाणं ते पजूषण ना खाते जमा।

स्वमतानुराग के उन्माद में अविवेकी पुरुष बहुत कुछ कर जाते हैं परन्तु विचारशील व्यक्ति अपने न्यायोचित मार्ग का कभी उल्लंघन नहीं करते। (यह है सत्पुरुषों की क्षमा शीलता)

महाराज श्री के इस प्रवचन से संघपति और उसके साथी बहुत प्रभावित हुए और हाथ जोड कर कहने लगे कृपा नाथ! उसके वचनों से सघ में कुछ उत्तेजना फैली, उसी के फलस्वरूप उसको सघ बाहर करने का विचार हुआ था जिसे आपश्री की आज्ञा से अब त्याग दिया है। आपश्री की प्रसन्नता ही हम सब के कल्याण का हेतु है।

इस प्रकार राधनपुर का चातुर्मास सम्पूर्ण करके आपने अहमदाबाद की तरफ विहार किया। राधनपुर से चलकर श्री सखेश्वर पार्श्वनाथ के दर्शन किये और भोयणी में श्री मल्लीनाथ स्वामी के दर्शनों का लाभ प्राप्त किया, बाद में कड़ी शहर होकर अहमदाबाद पधारे।

मोतिये का आपरेशन

जैसा कि पहले बतलाया गया है आप श्री के नेत्रों में मोतिया उतर रहा था, उसकी चिकित्सा के निमित्त आपका अहमदाबाद में पधारना हुआ था। यहां पर जूनागढ़ के सुप्रसिद्ध डाक्टर त्रिभुवनदास मोतीचन्द शाह ने आपके नेत्रों का आपरेशन किया और मोतिया निकाल दिया। डाक्टर त्रिभुवनदास आप श्री के अनन्य भक्तों में से एक थे। पहले वे ढूढकमत के अनुगामी थे, बाद मे आप श्री के सम्पर्क में आने और सदुपदेश प्राप्त करने से आपने शुद्ध सनातन जैन धर्म को अपनाने का श्रेय प्राप्त किया।

यहां पर गोपाल नामके एक श्रावक—[जो कि शाहपुर-अहमदाबाद का रहने वाला था] को श्री प्रेम विजय जी के नाम की दीक्षा देकर ज्ञानविजय नाम रक्खा।

अध्याय ६४

"गुरु चरणों में अनन्यानुराग"

-:米:-

आचार्य श्री जब कभी अहमदाबाद में पधारे तब सेठ दलपतभाई भग्गुभाई के बेड़े में ही ठहरते रहे। सेठ दलपतभाई धनाढ्य होते हुए भी धन के घमंड से रहित थे। और बड़े सादे तथा शान्त स्वभाव के सद्गृहस्थ थे।※ एक दिन दोपहर के वक्त सेठ दलपतभाई आचार्य श्री के पास ही जमीन पर लेटे हुए थे उस समय सेठजी की तलाश करते हुए दो संभावित गृहस्थ पता चलने पर वहीं पर आ पहुँचे। सेठजी को गुरु चरणों के पास जमीन पर लेटे हुए देख के मन में बड़े चकित हुए और वहीं सेठजी के पास जमीन पर बैठ गये और सेठजी से बातें करते हुए कहने लगे कि आप इस तरह खाली जमीन पर क्यों लेट रहे हैं? तब सेठजी ने आचार्य श्री की ओर अंगुली निर्देश करते हुए कहा कि ये दिव्यमूर्ति हमारे गुरु महाराज हैं इनके चरणों की धूली को प्राप्त करने के लिये मैं इनके चरणों में लेट रहा हूँ। इनकी चरण धूली में भी वही करामात है जो कि आपके विश्वास के मुताबिक भगवान् राम की चरणधूली में थी। उनकी चरणधूली ने ऋषि शाप से शिला बनी हुई अहल्या का उद्धार किया जब कि इनकी चरणधूली मुझ जैसे अनेकानेक पामरों का उद्धार कर रही है, इसीलिये मैं इनके श्री चरणों में लेट रहा हूँ।

इतना कहने के बाद सेठजी ने आचार्य श्री को सम्बोधित करते हुए कहा—गुरुदेव! ये दोनों सद्गृहस्थ मेरे घनिष्ठ मित्र हैं, दोनों दाक्षिणात्य ब्राह्मण और दोनों ही यहां की कोर्ट के जज हैं। ये लोग यहां मेरे को मिलने के लिये पधारे थे। सौभाग्यवश आपश्री के दर्शनों का भी इन्हें लाभ प्राप्त होगया। यदि आपश्री के वचनामृत पान करने का भी इन्हें पुण्य अवसर प्राप्त होतो बड़े सौभाग्य की बात है।

※ सेठ लालभाई सरदार आपके ही सुपुत्र थे और इस समय विद्यमान सेठ कस्तूरभाई, स्वर्गीय लालभाई के सुपुत्र हैं। इससे स्वर्गीय सेठ दलपतभाई का खानदान कितना प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है यह सहज ही में जाना जा सकता है। जो व्यक्ति जितने ऊंचे खानदान का होता है वह उतना ही नम्र और विवेकशील होता है।

सेठजी के इस कथन से वे दोनों सद्गृहस्थ बड़े प्रभावित हुए उन्होंने बड़ी श्रद्धा से नतमस्तक होकर आचार्यश्री के चरणों में प्रणाम किया और उत्तर में आशीर्वादात्मक धर्मलाभ देते हुए सेठजी की प्रार्थना को ध्यान में रखकर और आगन्तुक सद्गृहस्थों की धर्माभिरुचि को देखकर आपश्री ने मानव जीवन की दुर्लभता और उसके कर्तव्य का निर्देश करते हुए बड़े मार्मिक शब्दों में धर्म का लक्षण और उसके व्यापक स्वरूप का निरूपण किया। आपश्री के धर्म प्रवचन को सुनकर उन दोनों सद्गृहस्थों ने अपने सद्भाग्य की भूरि २ सराहना करते हुए आचार्यश्री के चरणों में कृतज्ञता पूर्ण शब्दों में प्रणाम करते हुए सेठजी को बहुत धन्यवाद दिया और कहा कि निस्सन्देह आप बड़े पुण्यशाली हैं, जिन्हें ऐसे त्यागशील तपस्वी और परम मनीषी सद्गुरु का पुण्य सहवास प्राप्त हुआ है। भगवान करे कि हमें भी आप जैसा हृदय और ऐसे सद्गुरु का अधिक नहीं तो कभी २ सहयोग अवश्य प्राप्त हो। इतना कहकर वे आचार्यश्री को नमस्कार और उत्तर में धर्मलाभ प्राप्त करके वहां से विदा हुए।

मैसाणा का चातुर्मास

अहमदाबाद से विहार करके आप मैसाणा पधारे और श्री संघ की आग्रह भरी विनति से सम्वत् १९४५ का चातुर्मास आपने मैसाणा में किया। मैसाणा में लगभग ५०० घर जैनों के और उनके दश देव मंदिर हैं। आपका मोतिये का ऑपरेशन अभी ताजा था, डाक्टर ने पुस्तक बांचने को मना कर रक्खा था। इसलिये प्रतिदिन का व्याख्यान आपकी जगह आपके प्रशिष्य श्री हर्षविजयजी महाराज वाचते रहे। व्याख्यान में श्री भगवती सूत्र सटीक और धर्मरत्न प्रकरण का वाचन चलता रहा। इस चौमासे में समयानुसार होने वाले धर्म कार्यों में से सबसे अधिक महत्व का कार्य यह हुआ कि प्राचीन जैन पुस्तकों के पुनरुद्धार के लिये दो हजार रुपया एकत्रित हुआ और इस कार्य को सतत चालू रखने का प्रबन्ध भी हुआ।

अध्याय ६५

"हार्नेल महोदय और आचार्य श्री"

मैसाणा के इस चातुर्मास में कलकत्ता की रोयल एशियाटिक सोसाइटी के मानद् मंत्री डाक्टर ए० ऐफ० रोडेल्फ हार्नेल महोदय संस्कृत और प्राकृत भाषा के अच्छे विद्वान थे, उन्होंने जैनागम उपासक दशा का सम्पादन किया है, उस सम्बन्ध में हार्नेल महोदय ने अहमदाबाद निवासी शाह मगनलाल दलपतराम की मारफत आचार्यश्री से कई एक प्रश्न पूछे। उनका जवाब आपने इतना सन्तोषजनक दिया कि हार्नेल साहब को बड़ी प्रसन्नता हुई। प्रश्नों का उत्तर प्राप्त होजाने के बाद हार्नेल महोदय ने शाह मगनलाल दलपतराम को जो पत्र लिखा उसकी नकल नीचे दी जाती है —

CALCUTTA
4th Sept. 1888.

My Dear Sir,

I am very much obliged to you for your kind letter of the 4th instance also to Muni Atmaramji for his very full replies. Please convey to the latter the expression of my thanks for the great trouble, he has taken to reply so promptly and so fully to my questions. His answers are very satisfactory.

भावार्थ—मैं आपके पत्र के लिए कृतज्ञ हूँ। मैं मुनि श्री आत्मारामजी का इनके सम्पूर्ण उत्तरों के लिये आभारी हूँ। कृपया मेरा धन्यवाद उन्हें पहुंचा देवें। उन्होंने कष्ट उठाकर शीघ्र ही सम्पूर्ण उत्तर दिये हैं, जो कि अतिसन्तोपजनक हैं। इसके अतिरिक्त उपासक दशा की भूमिका में वे लिखते हैं —

In a third appendix I have put together some additional information that I have been able together since publishing the several facsimile For some

of this information I am indebted to Muni Atmaram ji (Ananda Vijaya ji) the well known and highly respected Sadhu of the Jain community throughout India and author of (among others) two very useful works in Hindi, the Jain Tattvadarsha's mentioned in note 276 and the Ajnanatimira Bhaskara.

I have been placed in communication with him through the kindness of Mr Magana Lal Dalapataram. My only regret is that I have not the advantage of his invaluable assistance from the very beginning of my work.

भावार्थ—तीसरे परिशिष्ट में मैंने कुछ अधिक सूचनायें प्रकट की हैं। जिनको मैं कई प्रतियां प्रकाशित होने के पश्चात् एकत्र कर सका हूँ। इस विज्ञप्ति के लिये मुनि महाराज श्री आत्माराम जी (आनन्द विजयजी) जो सकल भारतवर्ष में जैनों के प्रसिद्ध तथा माननीय आचार्य हैं, का आभारी हूँ। श्री जी कई एक पुस्तकों के लेखक हैं। जिनमें से जैन तत्वादर्श (जिसका जिक्र नोट २७६ में है) और अज्ञान तिमिर भास्कर दो लाभकारी पुस्तकें हैं। मेरा पत्र व्यवहार आपसे सेठ मगनलाल दलपतरामजी द्वारा हुआ। मुझे केवल इतना ही शोक है कि मैं पुस्तक के आरम्भ ही से आपकी सहायता का लाभ न उठासका। हार्नेल महोदय ने उपासक दशासूत्र की जो प्रति आचार्य श्री को भेट की है, उसके मुख पृष्ठ पर कृतज्ञता सूचक सस्कृत के चार श्लोक लिखे हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

"दुराग्रहध्वान्तविभेदभानो !, हितोपदेशामृतसिन्धुचित्त ! ।
सन्देहसन्दोहनिरासकारिन् !, जिनोक्तधर्म्मस्य धुरंधरोऽसि ॥१॥
अज्ञानतिमिरभास्करमज्ञाननिवृत्तये सहृदयानाम् ।
आर्हत्तत्वादर्श ग्रंथमपरमपि भवानकृत् ॥२॥
आनन्दविजय श्रीमन्नात्मारामममहामुने ! ।
मदीय निखिलप्रश्नव्याख्यातः शास्त्रपारग ! ॥३॥
कृतज्ञता चिन्हमिदं ग्रन्थसंस्करणं कृतीन् ।
यत्नसम्पादितं तुभ्यं श्रद्धयोत्सृज्यते मया ॥४॥" §

§ साहित्य रसिक संस्कृत के विद्वानो को हार्नेल महोदय के इन चार श्लोको में उनकी हृदयस्पर्शी विद्वत्ता का जो अपूर्व आभास होता है, उसके महत्व को वे ही जान सकते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् की इस प्रकार की सस्कृत रचना निस्सन्देह अभिनन्दनीय है।

भावार्थ—दुराग्रह रूप अन्धकार को नाश करने में आप सूर्य के समान हैं, आपका चित हितोपदेश रूप अमृत का सिन्धु है। आप समस्त प्रकार के भ्रम और सन्देहों को दूर करने वाले हैं, इसलिये जिनेन्द्र देव के उपदिष्ट धर्म के आप कर्णधार हैं। आपने सहृदय सज्जनों के हृदयगत अन्धकार को दूर करने के लिये ही अज्ञान तिमिर भास्कर और जैन तत्त्वादर्श इन दो ग्रन्थों की रचना की है।

हे श्री आनन्दविजय आत्मारामजी मुनिराज! हे सर्व शास्त्रों के पारगामी! आपने मेरे समस्त प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर मुझे बहुत प्रसन्न किया, अतः मैं यत्नपूर्वक सम्पादन किये हुए इस ग्रन्थ को कृतज्ञता प्रकट करने की खातिर पूर्ण श्रद्धायुक्त हृदय से आपको भेट करता हूँ।

पाश्चात्य विद्वानों में गुणानुराग कितनी ऊंची कक्षा तक पहुंचा हुआ है यह हार्नेल महोदय के इन उद्गारों से भलीभांति व्यक्त हो रहा है।

अध्याय ६६

"श्री जैन प्रश्नोत्तर रत्नावली की रचना"

—⁂—

अहमदावाद निवासी सेठ श्री गिरधरलाल हीराभाई-[जो कि उस समय पालनपुर राज्य में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त थे-] की प्रेरणा से, छोटी आयु के बालकों को धर्म का परिचय मिले-एतदर्थ श्री जैन प्रश्नोत्तर रत्नावली नाम की एक छोटी सी पुस्तक की रचना $ शुरु की जो कि पालनपुर में समाप्त करके श्री गिरधरलाल को दे दी गई।

मैसाणा से विहार करके श्री तारगाजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए आप पालनपुर में पधारे। यहां पर ही आपने सभावित सात व्यक्तियों को जैनधर्म की साधु दीक्षा से अलकृत किया और उनके निम्न-लिखित नाम निर्दिष्ट किये—

१—मान विजयजी (अहमदावाद निवासी मगनलाल) प्रेम विजयजी के शिष्य।

२—जस विजयजी (काठियावाडी जयचन्द) शिष्य श्री कमल विजयजी।

३—मोती विजयजी (घोघा वाला मगनलाल) शिष्य श्री हर्ष विजयजी।

४—राम विजयजी (ढूंढिया साधु पजावी रामलाल) श्री हर्ष विजयजी के शिष्य।

५—शुभ विजयजी-श्री हर्ष विजयजी के शिष्य।

६—लब्धि विजयजी-श्री हीर विजयजी के शिष्य।

७—चन्द्र विजयजी § – श्री हर्ष विजयजी के शिष्य।

$ उसी समय यह पुस्तक श्री गिरधरलाल हीराभाई की तरफ से छपकर प्रकाशित कराई गई, इसकी कई आवृत्तियें छप चुकी हैं, श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से यह मिलती है।

§ श्री चन्द्रविजय की दीक्षा पालनपुर में श्री हर्षविजयजी महाराज के नाम से हुई थी। कुछ समय बाद सिरोही मे चन्द्रविजयजी का संसारी भाई आया उसकी गरीब हालत देखकर सिरोही के दीवान सूरत के रईस श्रावक श्री मेलापचन्द

इस प्रकार लगभग पांच वर्ष तक गुजरात देश में भ्रमण करके आचार्य श्री ने धर्म का जो उद्योत किया वह उन्हीं के असाधारण व्यक्तित्व को आभारी है।

अनेकों भव्यजीवों को प्रव्रज्यारूप नौका में वैठाकर संसार समुद्र से पार लंघाने का प्रयत्न किया, हजारों भव्यजीवों ने आपके सदुपदेश से नानाविध व्रत नियम और प्रत्याख्यानादि अंगीकार किये। इसके अतिरिक्त सैंकड़ों प्राचीन सद्ग्रन्थों को भंडारों से निकलवाकर उनकी नकलें कराईं और उनका वाचन तथा सशोधन किया, जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं—

शब्दाम्भोनिधि–गन्धहस्तीमहाभाष्य, वृत्ति विशेपावश्यक, वादार्णव सम्मतितर्क, प्रमाणप्रमेयमार्तण्ड, खंडनखंडखाद्य–वीरस्तव, गुरुतत्वविनिर्णय, नयोपदेशामृततरंगिणिवृत्ति, पचाशक सूत्रवृत्ति, अलंकार चूड़ामणि, काव्यप्रकाश, धर्मसग्रहणी, मूलशुद्धि, दर्शनशुद्धि, जीवानुशासनवृत्ति, नवपदप्रकरण, शास्त्रवार्ता-समुच्चय, ज्योतिर्विदाभरण, और अंगविद्या इत्यादि।

ने उसे पांच सौ रुपये देकर विदा किया। जब यह वात आचार्य श्री को मालूम हुई तो उन्होंने चन्द्रविजय को डांटा और कहा कि आगे को ऐसा काम कभी नहीं करना, यह साधु धर्म और आचार के सरासर विरुद्ध कार्य है। कुछ समय वाद पाली मे वह–चन्द्रविजय का भाई–अपनी माता को साथ लेकर आया, तव महाराज श्री ने चन्द्रविजय को कहा कि तूं वार २ लिख कर अपने सम्वन्धियो को बुलाता है, यह तुमारे लिये ठीक नहीं है। सिरोही में तेरे कहने से दीवान मिलापचंद ने तेरे भाई को पांच सौ रुपये दिये अव फिर तुमने अपनी माता और भाई को बुलाया है जो कि सर्वथा अनुचित और साधु के आचार के विरुद्ध है। यहां रुपये देने वाला कोई नहीं है, पहले जो सिरोही में दिये गये उनका तो मुझे पता नहीं लगा, परन्तु अब तो मैं सब कुछ जान गया हूँ। तुमने जो यह धधा शुरु किया है वह सर्वथा अयोग्य है, हमारे साथ रहकर ऐसा नहीं हो सकेगा। याद रखना अव यदि किसी से तुमने रुपये दिलाने की कोशिश की तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये अच्छा न होगा। महाराज श्री की इस योग्य चेतावनी से न मालूम चन्द्रविजय के मन में क्या आया वह उसी रात्रि को अपना साधु वेष उतार और उपाश्रय मे फैंक कर गृहस्थ का वेष पहन अपने भाई और माता के साथ रवाना हो गया। फिर कालान्तर में–सं० १९४७ मे उसने श्री वीर विजयजी के पास आकर फिर दीक्षा ग्रहण की और चन्द्रविजय के स्थान में अव दानविजय नाम नियत हुआ। कालान्तर मे श्री दानविजयजी पन्यास होकर स० १९८१ में आचार्य श्री विजयकमलसूरि के पट्टधर शिष्य श्री लब्धिविजयजी के साथ छाणी ग्राम में आचार्य पदवी से अलकृत हुए और प्यारडी जाते हुए रास्ते मे स्वर्गवास हो गये। आचार्य दानसूरि के शिष्य प्रेमसूरि और उनके शिष्य रामचन्द्रसूरि ने दो तिथि का पंथ चलाकर जैन परम्परा में एक नया विभाग उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त किया। "विचित्रा गतिः कर्मणाम्"

——卐——

अध्याय १७

"गुजरात से पुनः पंजाब की ओर"

-:ॐ:-

पालनपुर से विहार करके आबूजी सिरोही तथा पचतीर्थी होकर आप पाली शहर में पधारे। यहां आपने मुनि वल्लभविजय, लब्धिविजय, शुभविजय, मानविजय, मोतीविजय और ज्ञानविजयजी इन छै नवीन साधुओं को योगोद्वहन कराकर पुनः संस्कार रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र प्रदान किया। आचार्य पदवी को अलकृत करने के बाद गुरुदेव ने सर्वप्रथम यहीं पर योगोद्वहन कराया। इससे पूर्व तो श्री मुक्तिविजय-मूलचन्दजी गणि महाराज के पास ही सब साधुओं का योगोद्वहन कराया जाता था। इनके स्वर्गवास होजाने के बाद आपने यह योगोद्वहन कराया।

पाली से विहार करके आचार्य श्री जोधपुर में पधारे और सम्वत १९४६ का चातुर्मास आपने जोधपुर में किया। श्रावकों की अत्यधिक अभिलाषा से प्रतिदिन के व्याख्यान में श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित योगशास्त्र वाचते रहे। यहीं पर आपको डाक्टर ए ऐफ. रुडोल्फ हार्नल साहब के जरिये यूरोप में छपा हुआ ऋग्वेद का पुस्तक ब्रिटिश सरकार के आबू के एजेंट टु दी गवर्नर जनरल की मार्फत भेंट स्वरूप मिला। जोधपुर का चातुर्मास सम्पूर्ण करके वहां से विहार करते हुए आप अजमेर पधारे। यहा आपके पधारने पर समवसरण की रचना हुई और धर्म की अच्छी प्रभावना हुई। अजमेर से विहार करके जयपुर और अलवर होते हुए आप दिल्ली में पधारे।

अध्याय ६८

"शिष्य रत्न का वियोग"

दिल्ली आने के बाद आपको एक बड़े भारी अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग का सामना हुआ। आपके स्थानकवासी समय के सहचारी और पूर्ण सहयोग देने वाले आपके प्रशिष्य रत्न श्री हर्षविजयजी महाराज का सदा के लिये वियोग हो गया। सं० १६४६ चैत्र कृष्णा दशमी के रोज उनका स्वर्गवास हो गया। भावी भाव की अमिटता का सतत चिन्तन और अनुभव करने वाले आपश्री के मानस पर कुछ प्रभाव तो हुआ, परन्तु उतना ही जितना जल में खैंची गई लकीर से जल में विभिन्नता का अनुभव होता है।

दिल्ली से विहार करके बडौत, बिनौली और शाहाबाद होकर आप अम्बाले में पधारे।

अध्याय ६६

"एक पंडित से भेट"

शाहावाद से जव आप शिष्य वर्ग के साथ अम्वाला की ओर प्रस्थान कर रहे थे, तो रास्ते में एक घुड़सवार पंडित से आपकी भेंट होगई। पंडित ने आपको देखकर आपकी- मुख-मुद्रा से प्रभावित होते हुए घोड़े से उतर कर आपको नमस्कार किया और आपने उत्तर में धर्मलाभ कहा।

महाराज ! आप वृद्ध हैं, शरीर भी आपका स्थूल है आप थक गये होंगे ? अतः आप मेरे इस घोड़े पर सवार होजाइये ? मै आपके साथ पैदल चलूँगा, पंडितजी ने सहज नम्रता से प्रार्थना की।

नहीं पंडितजी ! हम घोड़े पर नही चढ़ेंगे, कारण कि हम किसी प्रकार की सवारी नहीं करते, हम सदा पैदल ही भ्रमण करते हैं और पैदल ही सब जगह जाते आते हैं।

पडितजी—तो क्या महाराज ! आप रेल की सवारी भी नहीं करते ?

आचार्य श्री —नही पडितजी ! कभी नहीं करते।

पडितजी—महाराज ! घोड़ा, घोड़ागाड़ी या वैलगाड़ी आदि की सवारी न करने का तो कुछ कारण हो सकता है, क्योंकि आप साधु हैं, किसी को कष्ट पहुंचाना आपका धर्म नहीं। परन्तु रेल की सवारी में तो कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती।

आचार्य श्री—पंडितजी ! रेल की सवारी तो साधु के लिये और भी अधिक हानिकारक है। रेल में सवार होने के लिये सबसे पहले टिकट की जरूरत पड़ती है. टिकट विना पैसे के मिलता नही, और हम पैसा पास रखते नहीं। फिर रेल की सवारी कैसे करे ? अगर पैसा पास रखें तो फिर साधु कैसे ? साधु और गृहस्थ की दो ही बातों में पहिचान होती है, दौलत और औरत ये दो चिन्ह गृहस्थ के हैं, इन दोनों का जिसने मन वचन और काया से परित्याग कर दिया है. वह साधु है। गृहस्थ अमुक घर का मालिक होता है जबकि साधु का कोई नियत स्थान नहीं होता। इसीलिये शास्त्रों में उसे अनगार अथच

अकिंचन कहा है। जो लोग साधु वेष धारण करके पास में द्रव्य रखते और अपनी रिहायश के लिये मकान वगैरह बनाते एवं अन्य कई प्रकार का परिग्रह पास रखते हैं, वे साधु भले ही कहावें परन्तु शास्त्र उनके लिये ऐसी आज्ञा नहीं देता। यति या सन्यासी के लिये द्रव्य या किसी प्रकार की अन्य स्थावर सम्पत्ति को अपने अधिकार में रखने की जैन या वैदिक परम्परा के किसी भी शास्त्र में आज्ञा दी हो ऐसा हमारे देखने में तो आया नहीं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं आपने भगवद्गीता देखी ही होगी उसमें सन्यासी के लिये—"त्यक्तसर्वपरिग्रहः"+ "सर्वारम्भपरित्यागी"× और "अनिकेतः स्थिरमतिः"※ ऐसे विशेषण दिये हैं इनका अर्थ स्पष्ट है. अर्थात् जो किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, सर्व प्रकार के आरम्भ का जिसने परित्याग कर दिया है और जो अनिकेत. घर से रहित अर्थात् जिसने कोई मकान वगैरह नहीं बनाया, वह यति या सन्यासी है। इसलिये पंडितजी हम लोग न तो कोई सवारी करते हैं, न पैसा पास रखते हैं, और न ही हमारा कोई घर है। हम लोग भिक्षा मांगकर उदरपूर्ति करते और गृहस्थों के मकान में उनकी आज्ञा से कुछ समय के लिये ठहर जाते हैं। आपने रेल की सवारी का जिकर किया सो यदि हम रेल की सवारी करने लग जावें तो हमारी साधुवृत्ति ही सर्वथा लुप्त हो जाती है। रेल की सवारी के लिये सर्व प्रथम हमको पैसा पास में रखना होगा, उसके लिये गृहस्थों की गुलामी करनी होगी। फिर रेल में स्त्री पुरुष सभी बैठते हैं और हम स्त्री का स्पर्श नहीं करते। रेल में आग और पानी का उपयोग होता है, हम लोग उनमें एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्व मानते हैं। साधु के लिये सर्व प्रकार की जीव हिंसा का परित्याग है, तात्पर्य की यदि कुछ थोड़ी सी गम्भीर दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो रेल यात्रा में हमारे जैसे त्याग प्रधान वृत्ति का आचरण करने वाले साधु के लिये सिवाय अनर्थ सम्पादन के और कुछ भी लाभ नहीं। अतः पैदल चलना, शरीर स्थिति के निमित्त भिक्षा वृत्ति द्वारा उदरपूर्ति करना, चातुर्मास के अतिरिक्त कहीं पर अधिक न ठहरना और आत्म चिन्तन में मग्न रहते हुए संसारी जीवों को धर्म का उपदेश देना, यही हमारी साधु वृत्ति की मर्यादा है।

पंडितजी—महाराज! आप धन्य हैं आप जैसे त्यागी और तपस्वियों के सहारे ही यह पृथिवी स्थिर है। हमारे मत के साधुओं की तो बात ही मत पूछिये, लाखों रुपये बैंकों मे जमा हैं बड़े २ आलीशान मकान और कोठियां बनी हुई हैं, हजारों रुपये का फर्नीचर लगा हुआ है, बिजली और बिजली के पखे चल रहे हैं, हर प्रकार की भोग विलास की सामग्री उपस्थित रहती है, नौकर चाकर सेवा के लिये तैयार रहते हैं, फिर भी ये सन्यासी, त्यागी अथच महापुरुष कहलाते हैं और कथा व्याख्यानादि मे त्याग वैराग्य एवं ससार के विषय भोगों से उपराम रहने के सिवा और कोई उपदेश नहीं देते। फिर बोले—महाराज! यदि आपको जल्दी न हो तो मैं आपको अपने गांव का एक आंखों देखा वृत्तान्त सुनाऊ?

+ ४।२१ × १२।१६ ※ १२।१६

महाराजश्री—सुनाओ भाई! हम थोड़ी देर और विश्राम कर लेते हैं।

पंडितजी—महाराज! लगभग आठ साल हुए मेरे गाव में एक सन्तों की मडली आई। सब मिलकर १८ साधु थे, एक महन्त और १७ बाकी के साधु। वे गरीबदास पथ के अनुयायी थे। लोग उन्हें गरीबदासिये कहकर पुकारते। महन्त संस्कृत तो नहीं जानता था, परन्तु वेदान्त के 'विचार सागर' और 'वृत्ति प्रभाकर' आदि भाषा ग्रन्थों का अच्छा जानकार था और कथा करने का ढंग अच्छा था। ग्राम मे आकर वे बाहर एक पुरानी कोठी मे ठहर गये, आने के दूसरे दिन महन्तजी ने भाषा के 'आत्म पुराण' की कथा शुरु करदी। ग्राम के स्त्री पुरुष कथा सुनने जाते और उनमे से एक आदमी उन्हें अपने घर में भोजन करने का निमन्त्रण दे आता, भोजन के समय सब साधुओं को साथ लेकर महन्तजी गृहस्थ के घर में पधारते। जब डेरे से चलते तो एक साधु सबसे आगे नरसिंघा बजाता हुआ चलता उसके पीछे महन्त और पीछे सब साधु चलते। गृहस्थ अपनी यथाशक्ति पूरी हलवा आदि बनाता और सबको प्रेम पूर्वक जिमाता। अन्त में चलते समय एक कपड़ा और कुछ रुपये महन्तजी की भेट करता। जिसे महन्तजी के साथ का साधु उठा लेता। इसी प्रकार प्रतिदिन किसी न किसी गृहस्थ के घर उनको निमंत्रण होता, जिस गृहस्थ के घर उन्हें दिन को निमन्त्रण होता वही गृहस्थ रात का भोजन उनके डेरे पर पहुंचा देता, वे वहां पर ही उसका भोग लगा लेते।

जैसा कि मैंने पहले अर्ज किया महन्तजी संस्कृत के तो विद्वान् नहीं थे, परन्तु उनका कथा कहने का ढंग अच्छा था, कथा बड़ी रोचक और सबके समझ मे आजावे ऐसे अनेक कल्पित दृष्टान्तों से भरी रहती। मैं भी कभी २ उनकी कथा में जाया करता था परन्तु मेरी घरवाली तो महल्ले की स्त्रियों के साथ रोज ही नियम से कथा सुनने जाती। एक दिन मेरी घरवाली ने मुझसे कहा कि पंडितजी! सुना है परसों को मडली चली जावेगी। मैने कहा—तो फिर इसमें कौनसी बात है? जो आता है उसको एक न एक दिन जाना ही पड़ता है, मंडली आई और चली जावेगी। आप तो उपहास्य में साधुओं की बात उड़ाये देते है, मैंने तो किसी और आशय से कहा था, उसने बड़ी गभीरता से कहा। तब मैंने कहा कहो क्या चाहती हो? यही कि एक दिन अपने भी मंडली को भोजन करा देते, उसने बड़ी उत्सुकता से उत्तर दिया। तब मैंने उसके भोलेपन पर तरस खाते हुए कहा कि मेरा विचार तो नहीं है, मैं तो इनकी अपेक्षा किसी गरीब गुरबे को खिला देना अच्छा समझता हूँ, परन्तु तुम्हारी इच्छा को रोकना भी नहीं चाहता मगर एक शर्त है तुम जैसा भोजन नित्य प्रति अपने घर में बनाती हो वैसा ही बनाकर खिलाओ। हलवा पूरी वगैरह का काम मुश्किल है। इसके सिवा एक शर्त और है-किसी प्रकार की भेट नहीं देनी होगी, हमारे शास्त्रों मे तो लिखा है कि जो कोई व्यक्ति सन्यासी को धन देता है वह नरक मे जाता है। इसलिये भोजन की तो मैं मनाही नही करता मगर भेट पूजा मुझसे नही बन पडेगी। दूसरे दिन सादा भोजन

जिसको पूरी कड़ाह् से उतारे हुए साधुओं ने बड़ी रुचि से खाया—देकर विदा किया, मगर मुझसे चोरी मेरे घर वाली ने एक दमड़ा उनकी झोली में डाल ही दिया। ऐसी भावुकता को वार २ नमस्कार।

मंडली कल जाने वाली थी कि इतने में बाहर से महन्तजी के नाम किसी का पत्र आया, पत्र में लिखा था कि महाराज! जिस बैंक में आपका वीस हजार रुपया जमा था वह टूट गया। अब रुपया मिलने की कोई आशा नहीं, अगर मिला भी तो दो तीन साल के बाद रुपये में सिर्फ दो आने मिलने की संभावना है।

पत्र को पढ़ते ही महन्तजी तो वहां गद्दी पर ही लेट गये। दूसरे साधु झट दौड़े आये, किसी ने पानी छिड़का, किसी ने पंखा किया, आखिर को एक वैद्य को बुलाया गया, बहुत से स्त्री पुरुष जमा होगये, वैद्य ने आकर देखा तो नाड़ी शान्त हो चुकी थी और स्वामीजी के प्राण पखेरू उनके शरीर को त्याग चुके थे। अन्त में दूसरे दिन चलने के समय महन्तजी का दाहसंस्कार वहीं पर किया गया। महन्तजी गद्दी पर ऐसे लेटे कि फिर उठ न सके गांव में काफी दिनों तक इस बात की चर्चा चलती रही।

इतना सुनाने के वाद पंडितजी ने कहा—महाराज! यह भी मेरे किसी पुण्य का उदय था, जो मार्ग में मुझे आप जैसे त्यागशील तपस्वी और विद्वान् महापुरुष के दर्शन होगये। महाराज! मैं अधिक पढ़ा लिखा तो नहीं मगर नीति का एक श्लोक मुझे इस वक्त याद आता है जिसमें लिखा है—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चंदनं न वने वने ॥१॥

इसलिये ससार में आप जैसे महापुरुष विरले ही देखने में आते हैं। इतना वार्तालाप होने के वाद सब चल पड़े चलते वक्त महाराजश्री ने फर्माया कि पंडितजी! यह सब ममत्व की ही करामात है। इसलिये सर्व प्रथम साधु को सांसारिक पदार्थों पर से ममता का परित्याग करना चाहिये। अन्यथा संसारी और साधु में सिवाय भेष के और कोई अन्तर नहीं। जब वहां से सब साधुओं ने प्रस्थान किया तो पंडितजी महाराजश्री के साथ घोड़े की लगाम थामे पैदल ही चलते रहे। रास्ते में जहां उनके ग्राम को मार्ग फटता था वहां से वह गुरुदेव तथा अन्य साधुओं को प्रणाम करके अपने ग्राम को हो लिये।

अध्याय १००

"महाशय लेखराम का समागम"

—:❀:—

शाहाबाद से विहार करके महाराज श्री अम्बाले में पधारे। अम्बाला के श्रीसंघ ने आपश्री का भव्य स्वागत किया और कई वर्षों के बाद पंजाब में आचार्य देव पधार रहे हैं, इसलिये पंजाब के दूसरे शहरों ने भी आपके स्वागत में बढ़चढ़ कर भाग लिया। अभी आचार्यश्री को अम्बाला पधारे एक दो दिन ही हुए थे कि गणेशी और गोविन्दलाल नाम के दो ढूँढ़क साधु अपने टोले के दूसरे साधुओं से लड़ झगड़ कर आचार्यश्री के पास आये और दोनों ने शुद्ध सनातन जैन धर्म की मुनि दीक्षा अंगीकार कराने की आचार्यश्री से आग्रहभरी विनति की। महाराजश्री ने उनको सिर से पैर तक देखा और कुछ क्षण चुप रहने के बाद उनसे कहा कि यदि तुम्हारा भाव संवेग मत की दीक्षा ग्रहण करने का है तो कम से कम ६ मास तक तुम इसी वेष में हमारे साथ रहो और हमारी परम्परा में साधु की जो क्रिया है उसका अभ्यास करो। पीछे किसी योग्य समय पर तुमको दीक्षा भी देदी जावेगी। महाराजश्री के कथन को सुनकर वे दोनों कुछ निराश से होगये, अन्त में कई एक श्रावकों और साधुओं के आग्रह से इच्छा न रहते हुए भी आचार्यश्री ने उन्हें दीक्षा देदी, परन्तु यह कह दिया कि यह दीक्षा तुम लोगों के आग्रह से दी जा रही है मेरी अभी इच्छा नहीं थी।

कुछ दिनों बाद दोनों ही भ्रष्ट होगये, वेष छोड़कर चले गये तब आग्रह करने वाले साधु और श्रावकों को आचार्यश्री का कथन याद आया, सच है—"बड़े पुरुषों के कथन और आमले के भक्षण का पीछे ही स्वाद आता है" अस्तु. महाराजश्री को पधारे अभी लगभग एक सप्ताह गुजरा होगा कि आर्य समाज के सुप्रसिद्ध कार्यकर्ता पंडित लेखरामजी–[जिनको बाद में एक ज़नूनी मुसलमान ने मार डाला था] उनके दर्शनार्थ पधारे। महाराजश्री के नाम से पंडित लेखराम और पंडित लेखरामजी के नाम से महाराजश्री पहले परिचित थे। परन्तु आज से पहले दोनों महानुभावों का आपस में साक्षात्कार नहीं हुआ था। इसलिये जैन धर्म और आर्यसमाज के इन दोनों महारथियों का आज का यह मिलाप

अपने अन्दर एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। पं० लेखरामजी ने आते ही महाराज श्री को नमस्ते कही और उत्तर में आचार्य श्री ने धर्म लाभ दिया। उपाश्रय में उपस्थित श्रावकों ने पंडितजी को आसन दिया वे महाराजजी साहब के सन्मुख आसन पर बैठ गये। स्वामीजी! आपका नाम तो बहुत दिनों से सुन रखा था और कई एक मित्रों से आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा तथा आचार-सम्पत्ति की प्रशंसा भी सुनी थी, काफी अरसे से आपके दर्शनों की मनमें इच्छा बनी हुई थी सो आज ईश्वर की कृपा से आपका दर्शन प्राप्त हुआ जो कि मेरे लिये बड़े गौरव की बात है। पडितजी ने यह सहज शिष्टाचार के नाते आचार्यश्री से कहा।

आचार्य श्री—पंडितजी! मुझे भी आपके साक्षात्कार की बहुत दिनों से उत्कंठा थी, आपका नाम और ख्याती बहुत दिनों से सुन रक्खी थी। सनातनधर्म और विशेषकर इस्लाम मत के मौलवियों के साथ होने वाले आपके शास्त्रार्थों ने तो आर्य जगत मे आपके नाम को विशेष प्रसिद्ध कर दिया। ऐसे सज्जन पुरुष के मिलाप को मै भी सद्भाग्य प्रेरित ही अनुभव करता हूँ।

इतना शिष्टाचार रूप संभाषण होजाने के बाद पडित लेखरामजी ने आचार्यश्री से कहा-स्वामीजी! कुछ पूछने की इच्छा है यदि आज्ञा हो तो पूछूँ।

आचार्य श्री—आप स्वयं पंडित हैं और साथ में शास्त्रार्थ महारथी भी हैं, इसलिये आप जो कुछ पूछेंगे वह महत्वपूर्ण सारगर्भित और लाभप्रद ही होगा इस दृष्टि को सम्मुख रखते हुए मेरी तरफ से आपको खुली छुट्टी है, आपको जो पूछना हो पूछे। मैं अपनी शक्ति के अनुसार उसका यथार्थ उत्तर देने का भरसक प्रयत्न करूंगा, परन्तु मेरा वह उत्तर आपके लिये सन्तोषजनक होगा कि नहीं, यह मैं नहीं जानता।

पंडितजी—महाराज! आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामीदयानन्द सरस्वतीजी ने जैनमत को अनीश्वरवादी और नास्तिक कहा है, इस विषय में आपका क्या विचार है यह मैं जानना चाहता हूँ। क्षमा करना यह प्रश्न मैंने किसी वाद विवाद की भावना से नहीं, किन्तु तथ्य गवेषणा की दृष्टि से किया है। मैंने जैन दर्शन का अभ्यास नहीं किया और न ही मुझे इस मत के ग्रन्थों के अवलोकन का समय ही मिला। श्री स्वामीजी ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह कहां तक ठीक है उसका यथार्थ निर्णय तो वही कर सकता है, जिसको दोनों तरफ का पूरा ज्ञान हो। अभी तक तो मैं श्रद्धा की दृष्टि से कहिये, अथवा स्वमतानुराग समझिये-स्वामीजी के कथन को ही ठीक समझता रहा हूँ परन्तु आप जैसे जैनधर्म के ज्ञाता पुरुष का आज सहयोग प्राप्त हुआ है, इससे यदि उक्त विषय का स्पष्टीकरण हो जावे तो बहुत अच्छा है।

आचार्य श्री—पंडितजी! आपके स्वामीजी ने जैनधर्म के सम्बन्ध में क्या कहा? क्या नहीं कहा? इस विषय को तो अलग रखिये उस पर विचार करने का न तो यह अवसर है और न ही उस पर विचार

करना इस समय उचित प्रतीत होता है। जो व्यक्ति-[फिर वह किसी मतका प्रवर्तक हो अथवा सुधारक हो] अपने मनमें स्वमतानुराग के साथ परमत-विद्वेष की भावना रखता है, उसके कथन में सत्य का अश वहुत कम होता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है —

"आग्रहीवत निनीषति युक्तिं तत्रयत्रमतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्यतु युक्तिस्तत्रयत्रमतिरेति निवेशम्॥

अर्थात् आग्रही —अमुक वात ही सत्य है ऐसी दृढ़ धारणा वाला पुरुष तो अपनी मान्यता की ओर युक्ति को खैंचकर लेजाने की कोशिश करता है और जो पक्षपात से रहित है, वह युक्तियुक्त को ही स्वीकार करने का यत्न करता है। इसलिये स्वामीजी के कथन की चर्चा न करते हुए केवल वस्तु तत्त्व की यथार्थता की ओर ही लक्ष्य देने का यत्न करे। कौनसा मत या सम्प्रदाय ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी एवं आस्तिक या नास्तिक है, इस विचार से पहले आस्तिक नास्तिक शब्द की शास्त्रीय परिभाषा और उसके परमार्थ को समझने की आवश्यकता है। अनीश्वरवाद या ईश्वरवाद तो आस्तिक नास्तिक शब्द के परमार्थ में ही गर्भित हो जाता है। "अस्तिनास्ति दिष्टमतिः" इस पाणिय सूत्र और उस पर के महाभाष्य के अनुसार आस्तिक नास्तिक शब्द का सर्व सम्मत व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ होता है—अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः अर्थात् परलोक-आत्मा और उसके आवागमन को मानता है वह आस्तिक और इन दोनों से जो इनकार करता है वह नास्तिक है। आस्तिक नास्तिक शब्द की इस परिभाषा के अनुसार जो शरीर व्यतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को मानता है वह आस्तिक है और जो केवल शरीर को ही आत्मा मानकर उसके अतिरिक्त किसी अन्य चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है। यह इन दोनों शब्दों का परमार्थ है। संक्षेप में अनात्मवादी नास्तिक और आत्मवादी को आस्तिक कहते हैं। तब जो आत्मवादी है वह निश्चय से ही परमात्मा या ईश्वर को मानने वाला होगा। कारण कि आत्मवाद यह परमात्मवाद या ईश्वरवाद की मूलभित्ति है। और अनात्मवाद यह अनीश्वरवाद की आधारशिला है। इसलिये आत्मवाद में ईश्वरवाद और अनात्मवाद मे अनीश्वरवाद गर्भित होजाते हैं। अनीश्वरवादी कभी आत्मवादी नहीं होता और आत्मवादी कभी अनीश्वरवादी नहीं होता। क्योंकि आत्मा की समस्त शक्तियों का पूर्ण विकास ही तो परमात्म तत्त्व या ईश्वरत्व है। जैन दर्शन आत्मा और उसके आवागम को मानता है और आत्मा के स्वरूप का निर्वचन, वह सोपाधिक और निरुपाधिक रूप से इस प्रकार करता है—कर्मजन्य उपाधि विशिष्ट आत्मा ससारी अथवा जीव कहलाता है इसलिये वह वद्ध है, और कर्मजन्य उपाधि से रहित अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करने वाला सर्वज्ञ सर्वदर्शी सिद्ध बुद्ध और मुक्त आत्मा की परमात्मा सज्ञा है। "कर्मवद्धो भवेद्जीवः कर्म मुक्तस्तुईश्वरः" § इस अभियुक्तोक्ति के अनुमार आत्मा और परमात्मा के

§ कहीं पर "कर्ममुक्तो भवेच्छिव." ऐसा पाठ भी है।

स्वरूप का जैन दर्शन ने विवरण किया है।

तब जो दर्शन आत्मवाद की प्ररूपणा में अग्रसर है वह आस्तिक है फिर चाहे वह वेदोपजीवी हो या वेदबाह्य हो। ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता हो अथवा उसका निषेधक हो। इसी प्रकार वह आत्मा से सर्वथा स्वतन्त्र एक ईश्वर को मानने वाला हो अथवा पूर्ण विकास को प्राप्त हुए आत्मा का ही परमात्म पद से निर्देश करने वाला हो तथा एकात्मवादी या अनेकात्मवाद का समर्थक हो, सभी आस्तिक हैं। सभी ईश्वरवादी व परमात्मवादी हैं। और जो आत्मा के अस्तित्व से इनकारी है अर्थात् केवल शरीर को ही आत्मा मानकर उसमें व्यक्त होने वाली चेतन सत्ता को शरीर का ही धर्म मानता है वह नास्तिक है, अनात्मवादी अथच अनीश्वरवादी है। अनीश्वरवाद का अर्थ होता है—"नास्ति ईश्वरः इति वादः अनीश्वर वादः" अर्थात् ईश्वर नहीं है ऐसी धारणा का नाम अनीश्वरवाद है परन्तु इस अर्थ से न्याय और वैशेषिक सम्मत एकेश्वरवाद और उसके सृष्टि कर्तृत्व का निषेध फलित होता है न कि ईश्वरतत्व या परमात्म तत्त्व का भी।

कर्मकाण्ड प्रधान पूर्व मीमांसा दर्शन और ज्ञान प्रधान सांख्यदर्शन दोनों आत्मवाद के समर्थक और एकेश्वरवाद तथा उसके सृष्टि कर्तृत्ववाद के पूर्ण विरोधी हैं। सांख्यदर्शन ईश्वर निरपेक्ष केवल प्रधान प्रकृति को ही सृष्टि का निर्माता मानता है और उसके मत में विवेक ख्याति प्राप्त अर्थात् प्रकृति के गुणों से सर्वथा रहित हुआ मुक्त आत्मा ही परमात्मा है उससे भिन्न वह और किसी स्वतन्त्र ईश्वर की कल्पना को अपने दर्शन में स्थान नहीं देता। महाभारतकार भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं यथा—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु निर्मुक्तः परमात्मेत्यभिधीयते ॥

अब लो, मीमांसा दर्शन की बात ! कर्मकाण्डप्रधान वेदमत के पूर्णप्रचारक स्वनाम धन्य श्री कुमारिल भट्ट ने ईश्वर के अस्तित्व और उसके सृष्टिकर्तृत्व का जिन तीव्र शब्दों में प्रतिवाद किया है, उतना तो जैन दर्शन के समर्थ विद्वानों ने भी सृष्टिकर्तृत्ववाद की आलोचना करते हुए नहीं किया। कुमारिल भट्ट ने वेदों के अपौरुषेयत्व का समर्थन करते हुए सृष्टि को प्रवाह से नित्य मानकर ईश्वरादि को सृष्टिकर्ता मानने वालों की बड़े तीव्र शब्दों में *आलोचना की है। परन्तु किसी ने भी आज तक सांख्य और मीमांसा दर्शन को नास्तिक नहीं कहा इससे प्रतीत होता है, कि अनीश्वरवाद शब्द से फलित होने वाला एकेश्वरवाद

* श्लोक वार्तिक में सृष्टि कर्तृत्ववाद की आलोचना करते हुए वे (महामति कुमारिल भट्ट) लिखते हैं—

यदा सर्वमिदं नासीत्, कावस्था तत्र गम्यताम्।
प्रजापतेः क्वचास्थान, किं रूप च प्रतीयताम् ॥

या ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववाद का निषेध नास्तिकता में हेतु नहीं, नास्तिकता का समर्थक तो अनात्मवाद है। ये दोनों दर्शन अनात्मवाद के विरोधी और आत्मवाद के समर्थक हैं इसलिये आस्तिक है और होने चाहियें। अब वेदान्त दर्शन को लीजिये, यह ब्रह्म की परमार्थ सत्ता से अतिरिक्त और किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता को ही नहीं मानता। उसके मत मे तो जीवत्व और ईश्वरत्व ये दोनों ही मायाकल्पित हैं। "मायाभासेन जीवेशौ करोति" अर्थात् सत्वगुण प्रधान माया विशिष्ट चेतन का नाम ईश्वर और तमोगुण प्रधान अविद्याजन्य उपाधिविशिष्ट का नाम जीव है। यह दर्शन भी न्यायदर्शन-सम्मत ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्ववाद का विरोधी है। और स्वय ब्रह्म को ही जगत का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बतलाता है। आप कभी ब्रह्म सूत्र के शांकर भाष्य को देखें तो उसके द्वितीय अध्याय मे सृष्टि की उत्पत्ति के लिए भिन्न भिन्न रूप से निरूपण करने वाली श्रुतियों का उल्लेख करके उनके परस्पर विरोध का निर्देश करते हुए यह लिखा है कि वास्तव में तो जगत् कल्पना मात्र ही है इसलिये किसी ने किसी प्रकार से उत्पत्ति की कल्पना करली और किसी ने अन्य प्रकार से करली। इत्यादि। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जो लोग एकेश्वरवादी या एकात्मवादी हैं उनमें भी

ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति।
उपलब्धेर्विना चैतत कथमध्यवसीयताम् ॥
प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सम्प्रतीयते।
शरीरादेर्विनाचास्य कथमिच्छापि सर्जने ॥
शरीराद्यथ तस्य स्यात् † तस्योत्पत्तिर्न तत्कृता।
तद्वदन्यप्रसंगोपि नित्य यदि तदिष्यते ॥
पृथिव्याद्यावनुत्पन्ने किम्मय तत § पुनर्भवेत्।
प्राणिनोप्रायदु खाच × सिसृक्षाऽस्य न विद्यते ॥
साधन चास्य धर्मादि तदा किंचिन्न विद्यते।
नच निस्साधनः कर्ता कश्चित् सृजति किंचन ॥
नाधारेण विना सृष्टि ¶ रूर्णनाभेरपीष्यते।
प्राणिनां भक्षणाच्चापि तस्य लाला प्रवर्तते ॥
अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य* जायते।
सृजेच्च शुभमेवैक-मनुकम्पा प्रयोजितः ॥
तथा चापेक्षमाणस्य $ स्वातन्त्र्य प्रतिहन्यते।
जगच्चासृजतस्तस्य किंनामेष्ट न सिध्यति? ॥
क्रीडार्थायां प्रवृत्तौच विहन्येत कृतार्थता। इत्यादि०

---

† ईश्वर शरीरस्य, § तत्-ईश्वर शरीरम्, × दु ख बहुला, ¶ ऊर्णनाभेः * अस्य-ईश्वरस्य, $ जीवकर्मापेक्षायाम्।

एक मत नहीं। उनका सृष्टि कर्तृत्व भी विभिन्न प्रकार का ही है और आत्मा के स्वरूप के विषय में भी सबके भिन्न २ विचार हैं। आपके स्वामीजी के विचार तो सभी दर्शनों से भिन्न हैं। वे प्रकृति जीव और ईश्वर इन तीन पदार्थों को अनादि और सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं। उनके मत में प्रकृति सत्, जीव सत-चित् और ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। बिचारे जीव को तो कभी आनन्द की उपलब्धि होनी ही नहीं क्योंकि उसका मूल स्वरूप आनन्द से सदा शून्य है! अस्तु। न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन ईश्वर और जीवात्मा को सर्वथा भिन्न मानता हुआ भी दोनों को व्यापक मानता है [विभवान महान् आकाशस्तथाचात्मा "तदभावादणु मनः" [७।२] जब कि आपके स्वामीजी आत्मा को अणु मानते हैं, सांख्य वेदान्त और पूर्व मीमांसा आदि दर्शन आत्मा को विभु मानते हैं, वेदान्त एकात्मवादी है और सांख्यादि अनेकात्मवाद की स्थापना करते हैं परन्तु आत्मा को व्यापक सभी ने स्वीकार किया है। जैन दर्शन अनेकात्मवादी है उसके मत में प्रति शरीर भिन्न २ आत्मा है शक्ति रूप से सब समान और व्यक्ति रूप से सब पृथक २ हैं। जैनमत में आत्मा न तो व्यापक है और न अणु किन्तु असंख्यात प्रदेशी संकोच विकास-शाली मध्यम परिणाम वाला है वह हस्ती के शरीर में हस्ती के आकार जितना और मशक (मच्छर) के शरीर में मशक जितना हो जाता है "अणोरणीयान् महतो महीयान्" अर्थात् यह आत्मा अणु से भी अणु और बडे से भी बडा है। यह श्रुति सम्भवतः इसी सिद्धान्त की समर्थक है। जैन दर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रत्येकात्मा ज्ञानादि अनन्त शक्तियों का भंडार है, परन्तु उसकी ये शक्तियें कर्मों के आवरण से आवृत्त होरही हैं। उनमें से जो आत्मा इस देव दुर्लभ मानव-भव को प्राप्त करके अध्यात्म मार्ग का अनुसरण करता हुआ उपयुक्त साधनों के द्वारा आत्म शक्तियों को आवृत करने वाले कर्मों की निर्जरा करता हुआ अपनी आन्तरिक शक्तियों को पूर्ण विकास में ले आता है वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी पूर्ण आत्मा, परमात्मा या ईश्वर कहलाता है। उसी परमात्मपद की प्राप्ति के लिये जैन दर्शन ने परमात्मा के साकार और निराकार रूप की उपासना का विधान किया है। जैनधर्म में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यों ने जो स्तुति की है उस पर से जैन दर्शन में अभिमत परमात्मा का स्वरूप और भी स्फुट होजाता है।

यथा—त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्था ॥१॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२॥

सरखाओ इनको नीचे लिखे वेद मन्त्रों से—

> वेदाहमेतं पुरुषंमहान्त-
> मादित्य वरणं तमसः परस्तात् ।
> तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ॥

मेरे इस सारे विवेचन का संक्षिप्त सार इतना ही है कि जैनदर्शन आत्मवादी है इसलिए वह आस्तिक है, तथा वह ईश्वरवाद का समर्थक अथच उपासक है। परन्तु एकेश्वरवाद और उसके सृष्टि कर्तृत्ववाद को वह स्वीकार नहीं करता, यदि इस दृष्टि से आप उसे अनीश्वरवादी कहें तो उसे यह अभिमत ही है। आपके प्रश्न का यह मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार यथार्थ उत्तर दे दिया है। इससे आपके मन को संतोष मिला है या कि नहीं यह तो आप ही जान सकते हैं।

पंडित लेखरामजी—स्वामीजी ! मैं सच कहता हूँ आज आपके दर्शन और सम्भाषण से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है मैं तो प्रथम यही समझता था कि आप केवल जैन दर्शन के ही ज्ञाता होंगे परन्तु आप तो वैदिक दर्शनों तथा वेदों के भी विशेषज्ञ प्रमाणित हुए हैं। मैंने आपके सम्भाषण को बड़ी श्रद्धा और सावधानता से सुना है। और उसका मेरे हृदय पर काफी प्रभाव हुआ है। अच्छा अब फिर कभी दर्शन करूंगा, नमस्ते ! उत्तर में आचार्यश्री ने धर्मलाभ कहा और पंडितजी वहां से चल दिये आचार्यश्री की विवेचन शैली की मन में भूरि २ प्रशंसा करते हुए।
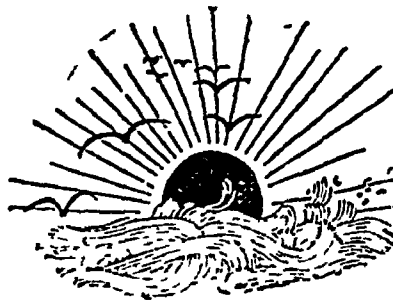
अध्याय १०१

"ब्राह्मण युवक गुरु चरणों में"

अम्बाला से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए आचार्यश्री शहर लुधियाने में पधारे। यहां पर आपके पास सनातनधर्मी आर्यसमाजी आदि कई एक अन्य मतावलंबी लोग आते और तरह २ के प्रश्न पूछते। आपश्री बड़ी शान्ति और मर्यादा से उनके प्रश्नों का ऐसा समाधान पूर्ण उत्तर देते, जिससे वे सन्तुष्ट और निरुत्तर हो जाते। उन प्रश्नकर्ताओं में एक पढ़ा लिखा युवक ब्राह्मण भी साथ में होता, उसका नाम था कृष्णचन्द्र। वह अच्छा समझदार लड़का था और वोलने तथा वातचीत करने में वड़ा होशियार था। वह आर्यसमाजी विचारों में रंगा हुआ और आर्यसमाज के नवीन प्रचारकों में से एक था।

वह जैसा सुन्दर था वैसा ही वोलने में भी वड़ा पटु था। जिस वक्त वह आर्य समाज के प्लेटफार्म पर व्याख्यान देता उस वक्त लोग वड़े चाव से उसका भाषण सुनते। वह प्रश्न करने वालों के साथ प्रतिदिन आता और उनके प्रश्नों तथा महाराजश्री के उत्तरों को चुपचाप वैठा सुनता रहता। प्रश्नोत्तरों के सिलसिले में प्रथम दिन के सिवा उसने फिर भाग नहीं लिया। ससार में सभी जीव एक जैसे नहीं होते। यदि संसार में दुराग्रही या दुर्लभवोधी जीवों की संख्या अधिक है तो सरलात्मा और सुलभवोधी जीवों की भी कमी नहीं है। प्रश्नकर्ताओं के प्रश्नों को ध्यानपूर्वक सुन कर आचार्यश्री के द्वारा उनका युक्तियुक्त, सचोट और हृदय-स्पर्शी उत्तर सुनकर युवक कृष्णचन्द्र के हृदय में भारी परिवर्तन होना शुरू होगया। वह वर्तमान आर्य-समाज के जिन मन्तव्यों को सर्वथा सत्य समझता था, उसे वे विल्कुल अज्ञानमूलक अतएव मिथ्या भान होने लगे। आचार्यश्री के प्रवचनों ने उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार की हलचल पैदा करदी! वह एक दिन मन ही मन सोचने लगा कि मैंने अपने वाप दादा के माने हुए सनातन धर्म को इसलिए त्यागा कि उसके मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं और स्वामी दयानन्दजी के मन्तव्यों को इसलिए अपनाया कि वे युक्तियुक्त हैं, परन्तु अव तो वे सनातन धर्म के सिद्धान्तों से भी वहुत नीची कोटि के प्रतीत होते हैं। फिर मेरे जैसे सत्यगवेषक के लिए उन्हें पकड़े रहना कैसे उचित हो सकता है? आज, कितने दिनों से जिस महापुरुष के

सम्पर्क में आने पर मुझे जिन बातों का पता चला है वे मेरे लिये बिलकुल नवीन हैं और मैंने इस प्रकार के महापुरुष का आज से पहले कभी दर्शन नहीं किया। इनकी प्रभावशाली आकर्षक मुद्रा, शान्त प्रकृति और वचन गांभीर्य बिना किसी प्रकार की प्रेरणा से श्रोता को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। इनके त्याग और तपस्वी जीवन के साथ इनकी ज्ञान सम्पत्ति की तरफ ध्यान देते हुए तो मन इनके चरणों में झुक जाने की सबल प्रेरणा दे रहा है। ऐसे पुण्यशाली महापुरुष का मिलना निस्सन्देह पुण्यातिरेक से ही प्राप्त होता है। मैंने अनेक विद्वान साधुओं और पंडितों के भाषण सुने, उनमें आर्यसमाज की प्रशंसा और अन्य सब मतों की निन्दा के सिवा और कुछ नहीं सुना। परन्तु आपका प्रवचन इन सब दोषों से अछूता पाया, उसमें न तो किसी मत की निन्दा और न ही किसी मत विशेष के लिये किसी प्रकार के आग्रह की प्रेरणा दिखाई दी। इन सब बातों के अतिरिक्त आपकी विषयविवेचन की शैली में जिस प्रकार का तलस्पर्शी स्पष्टीकरण देखने में आया वह तो आपकी प्रतिभा को ही आभारी है। इसलिये क्यों न ऐसे महापुरुष की चरणोंपासना में मुझे लग जाना चाहिये।

एक दिन एकान्त में आचार्यश्री से कृष्णचन्द्र बोला—महाराज! एक प्रार्थना करना चाहता हूँ यदि आप स्वीकार करें।

आचार्यश्री—कहो क्या कहना चाहते हो?

कृष्णचन्द्र—आपके चरणों की उपासना चाहता हूँ, आप मुझे मंत्र दीक्षा देकर अपने चरणों का उपासक बना लीजिये!

आचार्यश्री—तुम अभी कुछ दिन तक देवगुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने का यत्न करो, तथा अपने मन में रहे हुए बाकी संशयों को परस्पर के विचार विनिमय के द्वारा ठीक करलो, फिर तुमको मंत्र दीक्षा भी दे दी जावेगी।

कृष्णचन्द्र—गुरुदेव! अब तो मन में इतना धैर्य नहीं रहा, आपश्री के उपदेशामृत से धुलकर निर्मल हुए मन पर अंकित हुए वीतराग धर्म के रेखा-चित्रों को सम्यक्त्व के गूढ़े रंगों से भर देने की कृपा करें।

पंडित कृष्णचन्द्र की आग्रह भरी प्रार्थना से परम दयालु आचार्यश्री ने उसको श्रावक धर्म के नियमों को समझाते हुए सर्व मंत्र शिरोमणि पंचपरमेष्ठि नमस्कार मंत्र का उपदेश देकर सच्चा श्रमणोपासक बनाया। गुरुजनों के सदुपदेश से धर्म के रंग में रंगे हुए पंडित कृष्णचन्द्रजी ने जीवन पर्यन्त जैनधर्म का सम्यक्तया पालन किया और प्रचार किया। वे पटियाला रियासत में वकालत का धंधा करते रहे और वहां के प्रसिद्ध वकीलों की श्रेणी में अग्रणी रहे एवं उन्होंने आर्यसमाज के समय के कतिपय सहचारी मित्रों को जैन-धर्म में प्रविष्ट कराने का श्रेय भी प्राप्त किया।

एक दिन आर्यसमाज और सनातनधर्म के अवतार तत्व पर विचार विनिमय के प्रसंग में पंडित कृष्णचन्द्रजी ने आचार्यश्री से पूछा कि महाराज! आर्यसमाज के जन्मदाता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सनातन धर्म के माने हुए अवतारवाद का प्रतिषेध करते हुए ईश्वर को सर्वथा निरंजन और निराकार बतलाया है परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि सृष्टि के आद में ईश्वर ने अंगीरा प्रभृति चार ऋषियों को ऋग् यजुः साम अथर्व इन चार वेदों का उपदेश दिया। अब इसमें विचार करने की इतनी बात है कि जब ईश्वर अशरीरी अथच निराकार है तो उसने उपदेश कैसे दिया? उपदेश तो शरीरसापेक्ष है। बिना शरीर के न कोई उपदेश दे सकता है और न कोई सुन सकता है और सृष्टि के आद में चार ऋषियों का उत्पन्न होना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वे ऋषि शरीरधारी थे, बिना मैथुनी सृष्टि के वे कैसे उत्पन्न हुए? कदाचित् दुर्जनतोष न्याय से उनका उत्पन्न होना मान भी लिया जाय तो इसमें भी क्या प्रमाण है कि ऋषियों का यह वेदादिज्ञान ईश्वर का ज्ञान है? स्वामीजी के मन्तव्यानुसार एक मात्र ईश्वर ही सर्वज्ञ है उसके बिना और कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, तब इन अल्पज्ञ ऋषियों को सर्वज्ञ ईश्वर का कैसे ज्ञान हुआ? एवं ये वेद ईश्वर का ज्ञान हैं या इन ऋषियों के मस्तिष्क की उपज है इसका निर्णय भी कैसे हो सकता है? महाराज! मुझे तो यह सब कुछ अब बिना सिर पैर का केवल कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है।

आचार्यश्री—भाई कृष्णचन्द्र! असल बात तो यह है कि जबतक मनुष्य को दूसरे मतमतान्तर का भलीभांति ज्ञान न हो तबतक उसके हृदय में जिस किसी ने जो विचार भर दिये वह उन्हीं पर दृढ़ हो जाता है और उन्हीं को सर्वज्ञ का कथन समझने का आग्रह करने लगजाता है। स्वामी दयानन्द ने मतमतान्तरों का खंडन करते हुए उनके विचारों को समझने की तो बिलकुल कोशिश नहीं की, किन्तु मन में जो कुछ आया लिख दिया। परन्तु उन्हें लिखते समय यह भान नहीं रहा कि इस संसार में हमारे लिखे पर विचार करने वाले मनुष्य भी हैं और होंगे। पंडित भीमसेन शर्मा और पंडित ज्वालाप्रसादजी एक वक्त कट्टर आर्यसमाजी थे दोनों ही स्वामी दयानन्दजी के अनुगामी थे। परन्तु बाद में इन दोनों ने आर्यसमाज का परित्याग करके सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के लिये भरसक प्रयत्न किया और स्वामी दयानन्द के आक्षेपों का भाषणों और लेखों द्वारा युक्तियुक्त निराकरण किया। इसलिये विचारशील पुरुष को हर एक विषय की पूरी पूरी जांच करके उसे अपनाने का प्रयास करना चाहिये।

युवक कृष्णचन्द्र प्रतिदिन महाराज श्री के पास आकर घंटा दो घंटे बैठते और जैन सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करते। महाराजश्री उसे हर एक बात को शंका समाधान पूर्वक स्पष्ट रूप से समझाने का यत्न करते। महाराजश्री लुधियाने में एक मास तक रहे, इतने समय में उन्होंने कृष्णचन्द्र को जैनधर्म के हर एक विषय से अवगत कर दिया।

विहार करने से दो रोज पहले आपने कृष्णचन्द्र को कहा कि आओ आज तुमको जैनधर्म का एक रहस्यपूर्ण सिद्धान्त समझावें—जैन दर्शन समन्वय दृष्टि प्रधान दर्शन है। वह एकान्त दृष्टि प्रधान दर्शनों में रही हुई न्यूनता को पूर्ण करता है और विभिन्न दर्शनों के पारस्परिक विरोध को शान्त करके उन्हें अपने में समन्वित करलेता है। पदार्थ की हर एक अवस्था का सम्यग् अवलोकन करने वाली व्यापक दृष्टि-अनेकान्त दृष्टि में सभी एकान्त दृष्टियें गर्भित हो जाती हैं। जैसे भिन्न २ मार्ग से प्रवाहित होनेवाली नदियें समुद्र में मिलजाती हैं.इसी प्रकार समुद्रतुल्य अनेकान्त दृष्टि प्रधान जैनदर्शन में अविरोधी रूप से सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है। इस विषय को समझने के लिये शास्त्रकारों ने एक हस्ती और उसको देखने वाले छै अन्धों का वडा मनोरंजक दृष्टान्त दिया है। किसी स्थान में छै अन्धे एक हाथी के स्वरूप का निश्चय करने के लिये एकत्रित हुए। सबसे पहले एक ने हाथी की पूछ को देखा और कहा कि हाथी एक बडे मोटे रस्से जैसा है. दूसरे ने उसकी पीठ पर हाथ फेर कर कहा नहीं हाथी तो एक चौतड़े जैसा है, तीसरे ने पांव को देखा और कहा कि हाथी तो चक्की के पुड़ जैसा है, चौथा हाथी के कानों का स्पर्श करते हुए बोला तुम सब भूलते हो हाथी तो छाज जैसा है, अब पांचवां उठा उसने हाथी की टांगों को देखकर कहा समझ में नहीं आया तुम इतना झूठ क्यों बोलते हो हाथी तो थमले जैसा है, अब छठे की बारी आई उसने केवल सूंड को देखा और कहने लगा कि भाई मानो या न मानो हाथी तो किसी मोटेआदमी की टांग जैसा है।

इस प्रकार हाथी के केवल किसी एक अवयव को देखकर उसे ही हाथी मानने का आग्रह करने वाले इन छै अन्धों में हाथी के स्वरूप को लेकर विवाद होना आरम्भ होगया, हर एक अपने देखे हुए हाथी के अवयव को हाथी का सच्चा स्वरूप समझने और दूसरे के देखे हुए को झूठा कहने लगा और उनके इस विवाद ने कलह का उग्र रूप धारण कर लिया। दैवयोग से वहां पर एक आंखोंवाला व्यक्ति भी खड़ा था, पहले तो वह कौतूहल वश उनकी हस्ती सम्बन्धी कल्पना को देखता रहा। परन्तु जब इस विषय को लेकर उनमें विवाद और कलह उत्पन्न हुआ तब उसे दया आई और उन सबको बुलाकर उसने कहा कि तुम नाहक में क्यों झगड़ रहे हो, आओ मैं तुम्हें हस्ती के स्वरूप का निश्चय कराऊं। तब उसने उन छओं अन्धों को हाथी के पास लेजाकर प्रत्येक को हाथी के हर एक अवयव का स्पर्श कराते हुए पहले से पूछा-बताओ कि हाथी केवल मोटे रस्से जैसा ही है कि बडे चौतडे जैसा चक्की के पुड़ जैसा छाज जैसा थमले और मोटेताजे पुरुष की टांग जैसा भी है? केवल मोटे रस्से जैसा ही नहीं किन्तु बड़े चौतडे, चक्की के पुड़, छाज, थमले और मोटे पुरुष की टांग जैसा भी है? इसी प्रकार बारी २ सब को हाथी के प्रत्येक अवयव का स्पर्श कराते हुए पूछने पर सबने पहले की तरह ही उत्तर दिया। तब उसने कहा कि फिर तुम झगड़ते किस लिये हो? पूंछ की अपेक्षा हाथी मोटे रस्से जैसा भी है, और पीठ की अपेक्षा चौतडे और दूसरे अवयवों जैसा भी है तुम लोगों ने पृथक २ रूप से हाथी के केवल एक ही अवयव को देखा और उसे ही हाथी मानलिया, इसमें तुम्हारा दोष नहीं यह दोष तो तुम्हारी एकांशग्राहिनी मन्द दृष्टि का है जिसने हाथी के अन्य अवयवों की ओर

देखने से तुम्हें वंचित रक्खा। तुमारे पृथक् २ रूप से अनुभव में आये हुए हाथी के अधूरे ज्ञानों को यदि आपस में मिला दिया जाय तो तुम्हारा झगड़ा भी निबट जाता और तुम्हें हाथी के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता। इसी प्रकार केवल एकांशावगाहिनी एकान्तदृष्टि से अवलोकन किये गये पदार्थ के आंशिक स्वरूप को सर्वांश रूप में सत्य मानने वाले दर्शनों में परस्पर विरोधी भावना को जन्म मिलता है, एक कहता है मैंने पदार्थ का जो स्वरूप निश्चित किया है वही सत्य है। दूसरे का कथन है कि नहीं ऐसा नहीं, पदार्थ का स्वरूप जैसा मैंने देखा है वही इदमित्थ है। परन्तु वास्तव मे विचार किया जावे तो उनके कथन में आंशिक सत्यता तो है मगर वह सर्वांश सत्य नहीं। कारण कि वस्तु में अनेक धर्म हैं उनमें से किसी एक धर्म को दृष्टि में रखकर वस्तु के स्वरूप का निर्वचन अपेक्षा कृत सत्य है, निरपेक्ष सत्य नहीं। इसलिये जैन दर्शन ने अपनी अनेकांशावगाहिनी व्यापक दृष्टि से पदार्थ के स्वरूप का जो निर्वचन किया, उसी को लक्ष्य में रखकर पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करना चाहिये। पदार्थ के स्वरूप को देखते हुए वह केवल न तो सत् है और न ही असत्, एवं न केवल नित्य अथच अनित्य किन्तु सदसत् और नित्यानित्य उभयस्वरूप है। उसमें अपेक्षाकृत दोनों धर्मों का अस्तित्व है। इसी सिद्धान्त को लेकर जैन दर्शन ने पदार्थ मात्र को उत्पन्न होने वाला नाश होने वाला और स्थिर रहने वाला मानने का आग्रह किया है। उदाहरणार्थ एक सुवर्ण पिंड को ले लीजिये उसे गलाकर प्रथम कड़ा बनाया फिर कड़े को तोड़कर उसके कुण्डल बनालिये, तब प्रथम कटक रूप में सुवर्ण की उत्पत्ति हुई तदनन्तर कुण्डल बनाते समय कटक का विनाश हुआ परन्तु इस उत्पत्ति और विनाश के सिलसिले में सुवर्ण द्रव्य कायम ही रहा। फलितार्थ यह हुआ कि कटक और कुण्डल ये दोनों सुवर्ण रूप द्रव्य के पर्याय तो उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले हैं और सुवर्ण अविनाशी द्रव्य है, इससे स्वर्ण में होने वाले विभिन्न पर्यायों परिवर्तनों को देखते हुए तो उसे अनित्य मानेंगे और उन परिवर्तनों के आधार स्वरूप स्वर्ण द्रव्य को नित्य कहेंगे। अतः पर्याय दृष्टि से वस्तु अनित्य और द्रव्य दृष्टि से नित्य होने से वह अपेक्षाकृत नित्यानित्य उभय स्वरूप ही मानी जायगी। इसी प्रकार कटक कुण्डलादि आपस में न तो सर्वथा एक दूसरे भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न किन्तु कथंचित् भिन्न अथच अभिन्न उभयरूप हैं।

जैसा कि हमने पहले बतलाया कि जैन दर्शन समन्वय दृष्टि प्रधान दर्शन है वह किसी दर्शन के मन्तव्य को ठुकराता नहीं किन्तु अधिक रूप में वह उसे अपने समीप लाकर उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है और एक सच्चे न्यायाधीश की भांति अन्य दर्शनों के आपसी विरोध को मिटाने का कोशिश करता है।

न्याय दर्शन भेदवादी है, वह कार्य और कारण का आपस में अत्यन्त भेद मानता है जब कि सांख्य और वेदान्त दोनों अभेदवादी हैं, अर्थात् ये दोनों कार्य कारण को सर्वथा अभिन्न मानते हैं,

इसी प्रकार गुण गुणी, धर्म धर्मी और वाच्य वाचक के विषय में भी इनका मतभेद है, नैयायिक इनको सर्वथा भिन्न मानते हैं जब कि सांख्य और वेदान्त मत में सर्वथा अभिन्न स्वीकार किया गया है। इसी विषय को लेकर वे दर्शन एक दूसरे के विरोधी बने हुए हैं।

इनके विरोध को शान्त करके इनको एक दूसरे के समीप लाने का श्रेय जैन दर्शन को है। कार्य कारण, गुण गुणी और वाच्य वाचक आदि में भेद अथच अभेद की मान्यता में रहे हुए सत्यांश को दृष्टि में रखते हुए इन दोनों को समाहित करके अपनी समन्वय-प्रधान उदार-दृष्टि में गर्भित करलेता है। उसकी व्यापक दृष्टि में कार्य कारण, गुण गुणी और वाच्य वाचक का आपस में भेद भी है और अभेद भी। अगर इनको सर्वथा भिन्न माना जाय तो इनका सम्बन्ध ही नहीं बन सकता है और सर्वथा अभिन्न मानने पर कार्यकारण व्यवहार लुप्त हो जावेगा इसलिये ये न तो एकान्त भिन्न हैं और न अभिन्न किन्तु कथंचित् भिन्न अथच अभिन्न हैं। इस प्रकार वस्तुतत्त्व के स्वरूप का सापेक्ष दृष्टि से किया गया अविरोधी निर्णय ही वस्तु स्वरूप के अनुरूप होने से उपादेय है। यही अनेकान्त दृष्टिप्रधान जैनदर्शन का रहस्य है।

कृष्णचन्द्—(हाथ जोड़कर) महाराज! आज तो आपने मेरे ऊपर बड़ी ही कृपा की है! अब मुझे जैनधर्म के पुनीत सिद्धान्तों में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रहा। आपश्री मुझे यह आशीर्वाद देवें जिससे मैं इस लोकोत्तर धर्म को आचरण में लाने के लिये प्रयत्नशील बनूँ।

कुछ क्षण चुप रहने के बाद फिर कहा—गुरुदेव! मैंने आपके सम्पर्क में आने से पहले मूर्तिपूजकों—वास्तव में देवपूजकों या आदर्श पूजकों को पानी पी पी कर कोसा। उन्हें जड़ पूजक, पत्थर पूजक, बुद्धिहीन, महामूर्ख और स्वार्थी आदि न जाने किन किन अपशब्दों से सम्बोधित किया और उनके इस आचार को अनाचार और सरासर दम्भ एवं सर्वथाशास्त्र विरुद्ध कहकर भोले लोगों को देवपूजा के विरुद्ध उकसाने और बगावत करने की प्रेरणा दी। परन्तु आज आपश्री के सम्पर्क में आने के बाद मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में मैंने जो सद्बोध प्राप्त किया और उसके रहस्य को समझा उससे मुझे अपने पिछले कर्तव्य पर बहुत ग्लानि आती है। बहुत पश्चाताप होता है। कृपया आप कोई प्रायश्चित्त बतलावें जिससे मेरा यह पाप धुल जावे।

आचार्यश्री—तुम जो पश्चाताप कर रहे हो यही इसका प्रायश्चित्त है, आगे को स्वयं श्रद्धापूर्वक देवपूजा करो और जनता को इसके रहस्य और महत्त्व को समझाने का प्रयास करो। बस यही तुम्हारे लिये समुचित प्रायश्चित्त है।

कृष्णचन्द्—बहुत अच्छा गुरुदेव! आपकी आज्ञा का यथाशक्ति अवश्य पालन किया जावेगा, मगर सेवक को याद रखना भूलना नहीं, यही विनीत प्रार्थना है। इतना कहकर पंडित कृष्णचन्द्र ने गुरु चरणों का स्पर्श करते हुए वन्दना की और गुरु महाराज ने अपने वरद हस्त को उसके सिर पर फेरते हुए सप्रेम धर्म लाभ दिया, जिसे प्राप्त कर वह वहाँ से विदा हुआ। एक मास के बाद लुधियाने से विहार करके आचार्यश्री मालेरकोटला में पधारे और स० १९४७ का चातुर्मास वहीं पर बिताया।

अध्याय १०२

"ला० गोंदामलजी क्षत्रिय का धर्मानुराग"

चातुर्मास में आप विशेषावश्यक सूत्र (गणधर वाद) और धर्मरत्न प्रकरण सटीक का व्याख्यान करते रहे। ला० गोन्दामल क्षत्रिय और भक्त जीवामल आदि कई एक भव्य जीवों को धर्म में लगाया।

एक दिन ला० गोन्दामल ने आचार्यश्री से कहा—महाराज! मै यहां हमेशा से ही ढूंढक साधुओं की कथा में जाता रहा और उनके मुख से वार बार यही सुनता रहा कि संवेगी साधु हमारी बहुत निन्दा करते हैं, परन्तु जब से आप यहां पधारे हैं मै प्रतिदिन आपकी कथा सुनता हूँ. मैंने तो एक शब्द भी उनके विरुद्ध आपके मुखारविन्द से नहीं सुना। फिर मैं कैसे मानलूं कि संवेगी साधु ढूंढियों की निन्दा करते हैं। यह सुनकर महाराजश्री ने फर्माया कि भाई गोन्दामल! हमारे जैन शास्त्रों में तो ढूंढक मत का कहीं नाम तक भी नहीं, यह तो सोलवीं सदी में लौकाशाह और अठारवीं सदी में होने वाले लवजी का चलाया हुआ पथ है, पहले ने, मूर्ति का उत्थापन किया जब कि दूसरे ने मुंह पर पट्टी बान्धनी सिखाई, तब इन दोनों से बहुत प्राचीन समय के बने हुए जैन शास्त्रों में इनका नाम ही नहीं तो फिर इनकी निन्दा या स्तुति का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस पर से ला० गोन्दामल की शुद्ध सनातन जैनधर्म पर और भी अधिक आस्था बढ़ी और उसने आचार्यश्री से श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये तथा सम्वत्सरी का सबको अपने घर में पारणा कराया और श्री मन्दिरजी में पूजा तथा अंगरचना आदि का प्रबन्ध बड़े ठाठ से कराया, स्वयं प्रतिदिन प्रभु की सप्रेम पूजा करने लगा।

ला० गोन्दामलजी का यह धर्मानुराग पूज्य सोहनलालजी ढूंढक साधु को बहुत अखरा और मनमें काफी ठेस भी लगी। तब पूज्य सोहनलाल ने अपने किसी भक्त को ला० गोन्दामल के पास बुला भेजा, उसने ला० गोन्दामल से आकर कहा लालाजी! आपको पूज्यजी साहब याद करते हैं!

ला० गोन्दामल—भाई ! मेरा अब उनके पास जाने का कोई काम नहीं रहा, मैंने ढूंढ़क साधुओं के मुख से जैन धर्म और उसके धर्म गुरुओं की भरपेट निन्दा को बहुत वर्षों तक सुना, अब तो मैं सत्य सनातन जैन धर्म में रंग गया हूँ जिसका सारा श्रेय आचार्यश्री विजयानन्दसूरि श्री आत्मारामजी महाराज को है जिन्होंने मुझे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लगाया, अब तो ये कान प्रभु वीतराग देव के गुणानुवाद को ही सुनने के आदि हो गये हैं उनसे अब धर्म और धर्मगुरुओं की निन्दा नहीं सुनी जाती।

अध्याय १०३

"मुन्शी अब्दुल रहमान से प्रश्नोत्तर"

मालेरकोटला के चातुर्मास में एक दिन मुन्शी अब्दुल रहमान नाम का एक मुसलमान अपने दो तीन साथिओं को लेकर आचार्यश्री के पास आया और सलाम करके बैठ गया। तब आचार्यश्री ने उनकी ओर दृष्टि डालते हुए बड़े मीठे शब्दों में फर्माया-मियां साहब! मालूम देता है कि आप कुछ पूछने के लिये यहां पधारे है!

अब्दुल रहमान – महाराज! आपके पास तो कोई अजीब किस्म का जादू मालूम देता है, आपने तो आते ही हम लोगों के मनको भांप लिया। हम तीनों ही रास्ते में यह सलाह करते आरहे थे कि सबसे पहले हम यह सवाल पूछेंगे, उसका जवाब यदि उन्होंने यह दिया तो फिर हम उन पर यह सवाल करेंगे वगैरह २। मगर यहा आकर जब हमने आपका दीदार किया-आपके दर्शन किये तो अपनी वे सारी बातें भूल गये इससे तो मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि आपके पास ऐसा कोई जादू जरूर है जिससे आपके पास आने वाला व्यक्ति अपने आप ही मोहित अथच प्रभावित हो जाता है। तब महाराजश्री बोले-भाई! हमने तो वीतराग देव के सच्चे धर्म को अपनाया है, उससे बढ़कर और क्या जादू हो सकता है, इसे आप जो चाहें कहलें!

मुन्शीजी—कुछ मुस्कराते हुए—महाराज! आप वीतराग किसको कहते हैं?

आचार्यश्री—खुदा को।

मियां साहब—खुदा तो परमेश्वर का नाम है और हमने सुन रक्खा है कि आप परमेश्वर को मानते ही नहीं।

आचार्यश्री—किसी के कहने या सुनने मात्र से क्या होता है ? आप लोगों ने हमारा मन्दिर तो देखा ही होगा उसमें जिसकी मूर्ति विराजमान है वही हमारा वीतराग देव ईश्वर-परमेश्वर परमात्मा या खुदा है। जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं ऐसे निर्दोष सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा के हम उपासक हैं।

मुन्शी साहब—तो क्या आप बुतपरस्त हैं ?

आचार्यश्री—नहीं हक परस्त–खुदा परस्त ? यदि इसका नाम आपके मत मे बुतपरस्ती है तो दुनिया का कोई भी मजहब-मत या सम्प्रदाय इस बुतपरस्त से नहीं बच सका।

मुन्शी साहब—आप तो यह अजीबसी बात कह रहे हैं ! सर्व प्रथम हम मुसलमान बुतपरस्त नहीं, आर्य समाज बुत परस्ती के विरुद्ध है और आपका दूसरा फिरका भी बुत परस्ती से इनकारी है।

आचार्यश्री—यूँ इनकार करना अलग बात है इनकार तो सब करते हैं मगर अमल-आचरण इनका इससे भिन्न है, जिससे इन सब की बुतपरस्ती -[जो कि हमारे विचार के मुताबिक हक परस्ती ही है] प्रमाणित होती है।

सबसे प्रथम आप लोग अपने तरफ ध्यान दें। आप लोग मस्जिद को पवित्र और खुदा का घर कहते व मानते हो, ज़रा विचारो तो सही मस्जिद और दूसरे मकान में लगी हुई ईंटों में क्या फर्क है ? आप एक को मुतबर्रक-पवित्र और दूसरे को साधारण मान रहे हो ऐसा क्यों ? इसके सिवा दीवार में मेहराब (कमान) की शकल बनाकर उसके सामने नमाज पढ़ते हो इसका क्या मतलब ? क्या मेहराब में खुदा बैठा है, आप वहां किसका तसव्वर-ध्यान करते हो ? जब कि आप खुदा को हर जगह और हर दिशा में हाजरो-नाज़र समझते हो तो केवल मगरिब पश्चिम को मुंह करके नमाज पढ़ने का क्या मतलब ? क्या पूर्व और दक्षिण दिशा में खुदा नहीं है ? दर असल बात यह है, कि जिस मक्का शरीफ को आप अपना पवित्र धाम समझते हो वह मगरिब-पश्चिम में है उसी की ओर मुंह करके आप नमाज़ अदा करते हो, वह भी तो एक बुत ही है बुत नाम शकल का है फिर वह इनसान की शकल में हो या ईंट पत्थर के आकार में हो। बुत दोनों ही माने जाते हैं।

मक्के शरीफ की यात्रा करने वाले यात्री लोग वहां के जिस संगेअस्वद को जाकर बोसा देते हैं वह भी तो एक प्रकार का बुत ही है ! आपके शिया पक्ष के मुसलमानों के ताजिये क्या हैं, लकड़ी और कागज के साथ अमुक शक्ल के बनाये गये बुत ही तो हैं जिन्हें बड़ी सजधज से निकाला जाता है और अगर कोई भूल से भी उन पर कंकड़ फैंकदे तो उसकी जान लेने को तैयार हो जाते हैं फिर उनके आगे जो लोग छाती पीटते हैं वे क्या समझकर पीटते हैं ? लकड़ी और कागज़ के बने हुए ये ताजिये तो उनका

रोना धोना या पीटना सुनते नहीं फिर वे उनके आगे दिखावा क्यों करते हैं ? क्या यह बुत परस्ती नहीं ? इसके सिवा दुल दुल के नाम से जो घोड़ा सजाकर निकाला जाता है और हजारों लोग उसके पीछे चलते हैं उसे उस वक्त बड़ा मुतवर्रक पूज्य-समझा जाता है ऐसा क्यों ? क्या वह घोड़ा अन्य दूसरे घोड़ों से कोई खास खूबी रखता है। वास्तव में वह घोड़ा उन पूज्य पुरुषों के घोड़े का प्रतीक है जिन्हें आप लोग अपने मजहबी पेशवा समझते और मानते हैं। और लीजिये ! आप कुरान शरीफ को खुदा का कलाम मानते और उसकी अधिक से अधिक इज्जत करते हैं उसे जमीन पर नहीं रखते नापाक-अपवित्र हाथों से उसका स्पर्श नहीं करते, क्या वह कागज और स्याही के सिवा और कोई चीज है, फिर आप लोगों के मनमें उसकी इज्जत क्यों ? इसीलिये कि वह खुदा का कलाम है-ईश्वर की वाणी है, मगर वास्तव में वह एक प्रकार की शकल रखने वाला बुत ही तो है ? यथार्थ बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति बुतपरस्त नहीं, बुत का पुजारी नहीं किन्तु जिसका वह बुत है उसका पुजारी है-बुत तो उसकी पूजा के लिये एक निमित्त है-इसलिये जो लोग मूर्ति की उपासना करते हैं वे भी मूर्ति की नहीं अपितु मूर्ति के द्वारा मूर्ति वाले की पूजा या उपासना करते हैं। कोई भी व्यक्ति फिर वह हिन्दू हो या मुसलमान सनातनी हो या समाजी जैन हो या और कोई सबके सब आदर्श की उपासना करते हैं बुत की नहीं। सब की उपासना का ढंग अलग २ है, किसी ने मंदिर बनाकर उसमें प्रभु की मूर्ति विराजमान करके प्रभु की उपासना का मार्ग स्वीकार किया और किसी ने बड़ी भारी मस्जिद और गिरजा को ही परमेश्वर की उपासना के लिये निर्माण कर लिया। मुसलमान और ईसाई लोग मस्जिद और गिरजे में जाकर प्रभु की उपासना करते हैं जब कि अन्य हिन्दु और जैन लोग मंदिर में बैठकर प्रभु की भक्ति करते हैं। फिर एक को बुतपरस्त कहना और दूसरे को खुदापरस्त मानना हमारी समझ में तो सरासर बे इन्साफी है।

अब रही हमारे दूसरे फिर्के वालों की बात, सो इसको जन्मे तो अभी बहुत ही थोड़ा समय हुआ है। इसके जन्म से तो सदियों पहले जैन परम्परा में मूर्ति की उपासना प्रचलित थी, सोलवीं सदी से पहले तो इसका नामोनिशान भी नहीं था। फिर गुरु के आसन को पांव लग जाने से "गुरु की आशातना हुई" मानने वाला पंथ मूर्तिवाद का विरोध करे इससे अधिक उपहास्यजनक बात और क्या हो सकती है ? इसी प्रकार आर्य समाजी भी कहने को तो मूर्ति के विरोधी हैं मगर स्वामी दयानन्द की मूर्ति का कोई अपमान करदे तो मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। यही दशा अन्य मूर्ति विरोधी समुदाय की है।

मुन्शीसाहब—वाह महाराज ! आपने तो हमें लाजवाब कर दिया। आपने हम लोगों के सामने जो दलीलें पेश की हैं उनसे तो यही साबित होता है कि जिनको हम लोग बुतपरस्त कहते हैं वे भी हकपरस्त या खुदापरस्त ही हैं।

तदनन्तर मुन्शी अबदुल रहमान (इनको मुन्शी और हकीमजी भी कहने में आता था) ने

आचार्यश्री को सम्बोधित करते हुए कहा—महाराज ! आपकी शान्ति और गम्भीरता ने तो हम सबको अपना गर्वीदा (अनुचर) बना लिया है आपको गुस्सा तो यत्न करने पर भी नहीं आता, यही वली लोगों (महापुरुषों) की पहचान है। मुझे आपके तीन असूल नियम तो बहुत पसन्द आये मगर चौथा असूल कुछ जरूर खटकता है।

[१] आप रात्रि को भोजन नहीं करते यह असूल तो हिकमत के लिहाज से बहुत अच्छा है, रात्रि को भोजन न करने वाले को हैजे की शिकायत बहुत कम होती है।

[२] आप गर्म पानी पीते हैं, यह और भी अच्छा असूल है, गर्म पानी पीने वाले को पानी की लाग नहीं होती।

[३] आप हमेशा छाया में सोते हैं इससे आसमानी हवा से बचाव रहता है और कई तरह की बिमारियों के आक्रमण से छुटकारा मिलता है इससे प्रतीत होता है कि आपके मजहबी पेशवा बड़े भारी हकीम होने चाहिये ?

आचार्यश्री—इसमें क्या शक है, सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर से क्या कोई बात छिपी हुई है ? इस दृष्टि से इनको बड़े दर्जे के वैद्य कहने में भी कोई हर्कत नहीं। दुनिया के हकीम तो मात्र शारीरिक व्याधि की चिकित्सा करते हैं और सर्वज्ञ तो भव रोग के कारणभूत शुभाशुभ कर्म को भी जानते हैं। परन्तु हमारा वह चौथा असूल कौनसा है जो कि आपको पसन्द नहीं आया ?

मुन्शीजी—महाराज ! जरा कहते हुए सकोच होता है मगर आप पूछते हैं इसलिये कहे देता हूँ, है तो बडी धृष्टता।

कहो बड़ी खुशी से कहो इसमें सकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं, आचार्यश्री ने बड़े मधुर शब्दों में उत्तर दिया।

मुन्शीजी—महाराज ! आप वली पुरुष हैं, बड़े आलम फाजिल है, और आपका लोगों पर प्रभाव बड़ा है, फिर इतने बड़े सन्त होते हुए आप दर दर से भीख मांग कर लाते और खाते हैं यह असूल आपका मुझे बिलकुल पसन्द नहीं आया। कहो ठीक है न ?

आचार्यश्री—मुन्शीजी ! आपको हमारी यह शास्त्र-सम्मत भिक्षावृत्ति पसन्द नहीं आई इसमें आपका कोई कसूर नहीं, आपको हम साधुओं के नियमों का पूरा २ ज्ञान नहीं इसलिये आप ऐसा कह रहे हैं वरना यह असूल तो बाकी के असूलों से भी उत्तम असूल है। इस पर भी यदि आपको हमारी भिक्षावृत्ति अच्छी नहीं लगती तो हम उसे छोड़ देते हैं मगर आप हमको कोई ऐसा रास्ता बतलावे कि जिससे हमारे नियमों के अन्दर कोई बाधा न पहुँचे और मांगना भी न पड़े ? आप पहले हमारे नियमों को सुन लीजिये ताकि उनका सरक्षण करते हुए आपको कोई निर्दोष मार्ग मिल जावे।

हमारे असूल या नियम ये हैं—

[१] किसी भी जीव को तकलीफ न देना, यहां तक कि हरी सब्जी और हरे वृक्ष तक को भी स्पर्श नहीं करना।

[२] झूठ नहीं बोलना।

[३] चोरी नहीं करना।

[४] सदा ब्रह्मचर्य का पालन करना, यहां तक कि स्त्री के कपड़े तक का स्पर्श भी नहीं करना।

[५] किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं करना।

हमारे यह पांच असूल हैं, इनमें किसी प्रकार की बाधा न आते हुए यदि हमको मांगने की जरूरत न पड़े तो हम इस भिक्षावृत्ति को छोड़ देंगे।

मुन्शीजी—(बहुत सोच विचार करने के बाद) आप जंगल में जाकर वहां से सूखी लकड़ी चुन कर ले आवें उन्हें बेचकर अपना निर्वाह करें। इसमें आपके नियमों मे कोई बाधा नहीं आयगी।

आचार्यश्री—(हंसते हुए)-मुन्शीजी ! आप तो बहुत दूर चलेगये, जंगल की सूखी लकड़ियों का भी कोई मालिक है कि नहीं ?

मुन्शीजी—मालिक तो अवश्य होता है, या तो जिसकी जमीन में हो वह मालिक अथवा सरकार मालिक है।

आचार्यश्री—कोई भी मालिक हो उसके पूछे बगैर तो हम उन्हें उठा नहीं सकते, अगर उठावें तो वह चोरी है, चोरी का हमें सर्वथा त्याग है।

मुन्शीजी—आप जमीन के मालिक से मांग लेवें।

आचार्यश्री—मुन्शीजी ! आपने सोच विचार करने के बाद उपाय तो खूब बतलाया परन्तु मांगना तो हमारे सिर पर से न टला ?

और सुनो ! आपके इस उपाय को काम में लावें तो हमारा कोई भी असूल-नियम कायम नहीं रहता। लकड़ियों के पैसे ही तो वसूल करने होंगे, मगर पैसे को हम छूते नहीं, फिर कल्पना करो एक आदमी चार आने देता है और दूसरा पांच आने दे रहा है तो चार की बजाय पांच आने वाले को देने का लोभ मन में जागृत होगा, और संग्रह की वृत्ति बढ़ेगी, मगर हम खाने पीने की कोई वस्तु भी रात को अपने पास नहीं रखते। कहां तक गिनावें, हम निर्दोष भिक्षा लेते हैं, आपके उपाय का अनुसरण करने से तो हमें वह मिल ही नहीं सकती, हमारे लिये बनाई गई वस्तु को हम ग्रहण नहीं करते, स्वयं अग्नि नहीं जलाते,

और न ही इस प्रकार की कोई क्रिया करते हैं, जिसमे आरम्भ समारम्भ हो, तथा एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा हो। इसलिये आपका बतलाया हुआ उपाय हमारी साधु मर्यादा से बिलकुल विपरीत है।

मुन्शीजी—महाराज! अब मुझे पता चला कि आपकी यह भिक्षावृत्ति भीख मागना नहीं किन्तु परोपकार परायण साधुजनों का यह उचित शास्त्रीय आचार है। आपका यह लोकोपकारी जीवन निस्सन्देह अभिनन्दनीय है। अच्छा अब समय अधिक हो गया, हम लोगों ने आपश्री के पास से बहुत कुछ सीखा है, अब फिर दर्शन करेंगे, सलाम।

इसके बाद मुन्शी अब्दुलरहमान आचार्यश्री के व्याख्यानों में भी आते रहे वे चिकित्सा का धंधा करते थे और आचार्यश्री के सदुपदेश से उन्होंने आजीवन मांस और मदिरा का परित्याग कर दिया, इसके सिवा उन्होंने अपने सैकड़ों बीमारों को मांस मदिरा का परित्याग कराया। सत्य है "सतां संगोहि भेषजम्"।

अध्याय १०४

"रायकोट में कुछ दिन"

मालेरकोटला के चातुर्मास के बाद आप रायकोट पधारे। रायकोट में जीव पंथी और अजीव पंथी, दो प्रकार के स्थानकवासी–ढूंढिया–ओसवालों के घर हैं। तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और अग्रवाल वैश्यों के भी काफी घर हैं। जब आचार्यश्री रायकोट में पधारे तो वहां के ढूंढियों ने आपको उतरने के लिये स्थान नहीं दिया, तब अमृतसर के श्रावक ला० जसवन्तराय दुग्गड़ के लिहाज से उसके श्वसुर ने अपनी दुकान पर उतारा दिया। आपका नाम तो विख्यात ही था अतः आपके आगमन की खबर पाकर जैनेतर–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग आपके पास अधिक संख्या में आते और आपश्री के सदुपदेश को बड़े प्रेम से सुनते। जो कोई भी आपके सदुपदेश को सुनता वह दूसरे दिन अपने अन्य मित्रों को भी साथ लेकर आता। इस प्रकार आपके प्रवचन में जैनेतर जनता की बहुत सख्या बढ़गई। यह देखकर वहां के ढूंढकों की ईर्षा बढी और उन्होंने आने वाले श्रोताओं में से कई एक को आपके विरुद्ध ऊधा सीधा समझाना शुरु कर दिया और कहा कि ये श्री रामचन्द्रजी महाराज को नहीं मानते और सनातन धर्म की निन्दा करते हैं इत्यादि २। तब इनके बहकावे मे आकर एक ने सबके सामने महाराजश्री से कहा—क्या महाराज! आप श्री रामचन्द्रजी को नहीं मानते ?

भाई! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारा नहीं लगता, तुम्हारे इस प्रश्न के अन्दर तो तुम्हारी जबान में कोई दूसरा ही बोल रहा है। कहो ठीक है न ? महाराजश्री ने बड़ी निर्भयता से पूछा।

प्रश्नकर्ता—हां महाराज! बात तो ऐसी ही है परन्तु आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने की कृपा तो अवश्य करें।

आचार्यश्री—जैनधर्म श्री रामचन्द्रजी को मोक्ष प्राप्त सिद्ध आत्मा अथव परमात्मा के नाम से मानता और पूजता है। अरिहत–जीवनमुक्त सिद्ध–विदेहमुक्त ये दोनों ही साकार और निराकार परमात्मा

के नाम से कहे व माने जाते हैं। उनकी भावपूजा के लिये निर्माण की गई मूर्ति को हम अपने पास रखते हैं। जहां कहीं मन्दिर न होवे वहां हम उसका दर्शन करते हुए भगवान का स्मरण करते हैं-[एक साधु को इशारा किया और वह सिद्धचक्र ले आया] देखो यह सिद्धचक्र इसमें परमात्मा के साकार और निराकार दोनों स्वरूपों के प्रतीक हैं, इसमें अरिहन्त तो साकार ईश्वर है और जो विदेह मुक्त सिद्ध है वह निराकार निरंजन परमात्मा है। इस तरह "ॐ नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं" इस मंत्र के द्वारा हम प्रतिदिन इसको नमस्कार करते और इनके गुणों का स्तवन करते हैं। तब श्री रामचन्द्रजी को हम निराकार निरंजन सिद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा के रूप में मानते हुए उसका प्रतिदिन भावपूजन करते हैं परन्तु तुमको जिस भाग्यशाली ने उलटा सीधा समझाकर हमारे विरुद्ध खड़ा करने की कोशिश की है तुम उससे जाकर पूछो और कहो कि पुजेरे साधु तो श्री रामचन्द्रजी को निराकार निरंजन सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म सिद्ध परमात्मा के नाम से मानते और नमस्कार करते हैं, परन्तु तुम-स्थानकवासी मानते हो कि नहीं? यदि मानते हो तो उसका कोई सबूत दिखाओ?

आचार्य श्री के इस कथन को सुनकर वहां बैठे एक क्षत्रिय सद्गृहस्थ ने कहा महाराज! जबकि ये लोग मूर्ति की उपासना से ही बहिष्कृत हैं अर्थात् मूर्ति को मानते ही नहीं तो ये सबूत क्या देंगे? पहले तो हम लोग इन्हीं को ही जैन धर्म के प्रतीक समझते और मानते रहे परन्तु अब हमें पता चला है कि जैन धर्म का वास्तविक प्रतिनिधित्व किस में है। इतने में वहां पर एक स्थानकवासी भाई भी बैठा हुआ था और वह झुंझलाकर उठा और कहने लगा कि यह आत्मारामजी तो क्षत्रिय हैं और इनका मुख्य शिष्य ब्राह्मण है। एक क्षत्रिय और दूसरा ब्राह्मण दोनो ने मिलकर ब्राह्मण और क्षत्रियों को जो अच्छा लगे ऐसा धर्म निकाल लिया। [वाह क्या अच्छी सूझ है] इस पर आचार्य श्री ने कहा-कि भाई तुम्हारा कथन बहुत ठीक है-भगवान महावीर स्वामी क्षत्रिय और उनके मुख्य शिष्य गौतम स्वामी ब्राह्मण थे उन्होंने जो धर्म बतलाया और जिसकी संसार में प्ररूपणा की उसे हमने स्वीकार कर लिया और लौंका तथा लवजी के चलाये हुए मनगढंत इस ढूंढक पथ को त्याग दिया। क्योंकि यह श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा से बहिष्कृत है। यह सुनकर वहां बैठा हुआ एक स्थानकवासी भावड़ा कुछ चमक कर बोलने लगा तो वहां पर उपस्थित ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य लोगों ने उसे डपटते हुए कहा कि खबरदार मुँह संभाल कर बोलना हम अपने सामने इन गुरुजनों का अपमान नहीं सहेंगे। शायद तुम यह समझते होंगे कि इनका कोई सहायक इस वक्त नहीं है! हम सब इन्हीं के हैं। इतना सुनते ही वह चुप हो गया और महाराज श्री ने सबको शांत करते हुए कहा कि भाई इसमें इस व्यक्ति का कोई कसूर नहीं यह तो दृष्टिराग का प्रभाव है। एक दिन वह भी था कि जब ये लोग इस शरीर के [जब कि यह ढूंढक वेश में था] पांव की धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाते नहीं थकते थे। इसलिए ऐसा हो ही जाता है, आप लोग शांति रक्खें हम तो

साधु हैं मान अपमान दोनों ही हमारे लिए हेय हैं। *अन्त में मांगलिक सुनाकर सबको विदा किया।

रायकोट से विहार करके जगरावां होते हुए आप जीरा पधारे। जीरा आपकी जन्मभूमि कही जाती है। यहां से ही आपने त्यागमय जीवन का आरंभ किया था और उसमें संशोधन करने के बाद आपने यहां की जनता को सन्मार्ग पर लगाने का यत्न भी किया, इस लिए जीरा निवासियों ने आपका सदैव भव्य स्वागत किया। आपके शिष्य प्रवर श्री विद्योत विजयजी ने अपने सदुपदेश द्वारा जिन मन्दिर का प्रारम्भ कराया हुआ था। आपश्री के पधारने पर उसके लिए लोगों ने और भी उत्साह दिखलाया।

*समय की बलिहारी है आज उसी रायकोट में बना हुआ एक गगनचुम्बी विशाल जिनमन्दिर लोगों को अपनी ओर बलात् आकर्षण कर रहा है और वहां के ओसवाल भावडे बडे उत्साह से वहां सेवा पूजा कर रहे हैं और अपने मानव जीवन को सफल बना रहे हैं।

अध्याय १०५

"पट्टी में चातुर्मास"

—:※:—

जीरा से आपने पट्टी की तरफ विहार किया। पट्टी में श्रावकों के घर कमती होने के कारण वहां अधिक दिन ठहरने का आपका भाव नहीं था किन्तु पट्टी होते हुए अमृतसर जाने का विचार था। एक दिन मालेरकोटला में पजाब के चौमासा करने लायक क्षेत्रों की गिनती की बात चल पड़ी तो गिनती करते वक्त पट्टी का नाम उनमें नहीं आया तब मैंने -[मुनि वल्लभविजय ने] आचार्यश्री से पूछा कि-गुरुदेव! आपश्री ने पट्टी का नाम क्यों नहीं लिया? मेरे पूछने का अभिप्राय यह था कि जिन पंडित अमीचन्दजी के पास मैं पढ़ा करता था वे पट्टी के रहने वाले थे। गुरुदेव ने उत्तर दिया—कि बीवा! पट्टी में पंडित अमीचन्द ला० घसीटामल आदि चार पांच श्रावकों के ही घर हैं जो कि चातुर्मास ठहरने के लिये पर्याप्त नहीं। अब जब कि जीरा से विहार करके आप पट्टी पधारे तो वहां का रंग ही पलटा हुआ देखा। आपका आगमन सुनकर वहां के सैंकड़ों श्रावक बाजे गाजे के साथ करीबन तीन चार मील आगे सरहाली ग्राम मे स्वागत के लिये सामने आये। और बड़े समारोह के साथ गुरुदेव का नगर में प्रवेश कराया गया। आते ही आपने मंगलाचरण के अनन्तर सक्षेप में धर्मोपदेश दिया। उपदेश की समाप्ति होते ही सब श्रावक वर्ग उठकर खड़ा होगया और सबने हाथ जोड़कर चौमासे की विनति की और बड़े आग्रह भरे परन्तु विनीत शब्दों में कहा कि कृपानाथ! अब का चौमासा यहीं पर करने की स्वीकृति देने का अनुग्रह करो आचार्यश्री उनकी इस प्रार्थना को सुनकर बहुत चकित होते हुए बोले भाइयो! अभी तो चौमासा में बहुत दिन हैं पहले चौमासे को गुजरे अभी दो महिने के लगभग हुए हैं इसलिये अगले चौमासे का अभी से वचन देना यह तो साधु की शास्त्रीय मर्यादा के प्रतिकूल है। अभी तो पौष का महीना चल रहा है, और अमृतसर के जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा वैशाख में कराने का निश्चय किया गया है। प्रतिष्ठा के बाद चौमासे के दिन भी नजदीक आजावेंगे उस वक्त जैसा ज्ञानी ने देखा होगा वैसा विचार कर लिया जावेगा।

श्रावकवर्ग—महाराज ! यह तो हम भी जानते हैं कि अभी चौमासे में काफी देर है और तब तक आपश्री यहीं पर विराजे रहें यह तो किसी खास कारण के सिवा सम्भव ही नहीं। कारण कि बिना किसी खास कारण के मर्यादा से अधिक दिन एक ही स्थान पर ठहरने की साधु के लिये भगवान की आज्ञा भी नहीं है। हमारी प्रार्थना का मतलब तो यह है कि चातुर्मास से पहले का समय तो आप खुशी से इधर उधर के क्षेत्रों में विचरें परन्तु चौमासा यहां पर करने की हमारी प्रार्थना को आप अवश्य स्वीकार करने की कृपा करें।

आचार्यश्री—अच्छा भाई ! जब चौमासा करने का समय आवेगा उस वक्त तुम्हारी विनति को सबसे पहले मान दिया जावेगा। तुम्हारी विनति के रहते हुए अन्य क्षेत्र की विनति तुमको पता दिये बिना स्वीकार नहीं की जावेगी। बस फिर क्या था सबके मन उत्साह से भरपूर हो गये सबने मिलकर भगवान के नाम का जयकारा बुलाया और प्रभावना लेकर हर्ष पूरित हृदय से अपने अपने घरों को चल दिये।

आहार पानी के वक्त जब सब साधु एकत्रित हुए उस वक्त आचार्यश्री ने साधुओं को सम्बोधित करते हुए फर्माया कि यह नया क्षेत्र है, यहां कुछ कष्ट तो जरूर होगा परन्तु क्षेत्र बन जावेगा, यदि तुम्हारी सब की सम्मति हो तो चौमासा यहां पर करने का निश्चय किया जावे ! सब साधुओं ने हाथ जोड़कर कहा कि गुरुदेव जैसी आपकी इच्छा और आज्ञा हो हम सबको शिरोधार्य है। कष्ट की तो हमें रत्ती भर भी चिन्ता नहीं, इसलिये खुशी से आप यहां पर चातुर्मास करने का विचार निश्चित करलें ! तब, समय आने पर पट्टी में ही चातुर्मास करना यह सुनिश्चित हो गया।

एक मास तक आचार्यश्री पट्टी में विराजे और आपके प्रतिदिन के धर्म प्रवचनों से वहां के श्रावकों पर धर्म का अच्छा रग चढ़ गया। और लोगों का आपकी ओर अधिक आकर्षण बढ़ा। §

पट्टी से विहार करके कसूर होते हुए आप अमृतसर पधारे। यहां के विशाल गगन चुम्बी मन्दिर में-[जो कि उस वक्त तैयार हो चुका था] भगवान अरनाथ स्वामी की भव्य प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने का शुभ मुहूर्त सं० १९४८ की वैसाख शुक्ला षष्ठी गुरुवार के दिन का निश्चित हुआ। शास्त्र-विधि के अनुसार प्रतिष्ठा कराने के लिये बड़ोदे से श्रीयुत गोकुलभाई दुल्लभदास जौहरी और श्रीयुत नानाभाई हरजीवनदास गान्धी को बुलाया गया। उन्होंने प्रतिष्ठा का कार्य शास्त्र-विधि के अनुसार बड़ी अच्छी तरह से सम्पन्न किया। इस प्रतिष्ठा-महोत्सव में बाहर से आने वाले भाइयों ने भी बड़ा अच्छा भाग लिया। अमृतसर के इतिहास में यह प्रतिष्ठा-महोत्सव भी अपना असाधारण स्थान रखता है।

---

§ पहले तो पट्टी में मात्र पाच सात घर ही श्रावकों के थे परन्तु आपके सदुपदेश से इस वक्त पट्टी मे अनुमान अस्सी घर श्रावको के हैं जो कि शुद्ध सनातन जैनधर्म के पूरे २ अनुरागी हैं।

प्रतिष्ठा का कार्य निर्विघ्नतया समाप्त हो जाने के बाद आपने पट्टी के श्रावक समुदाय को चातुर्मास के लिये सर्व प्रथम होने वाली विनति का ध्यान रखते हुए उधर को विहार किया और आप जंडियालागुरु में पधारे। यहां पर कुछ दिन निवास करने के बाद आपने पट्टी को विहार किया और पट्टी के श्रावक समुदाय की भावना को फलीभूत करने के लिये सं० १६४८ का चातुर्मास आपने पट्टी में किया। इस चातुर्मास में पट्टी की जैन प्रजा आपश्री के धार्मिक प्रवचनों से बहुत उपकृत हुई और उसके धार्मिक अनुराग में आशातीत प्रगति आई। सत्य है—

विनागुरुभ्यो गुणनीरधीभ्यो, जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि।
आकर्ण दीर्घोज्वललोचनोऽपि, दीपंविना पश्यति नान्धकारे॥

अर्थात् जैसे विशाल और उज्वल नेत्र रखने वाला व्यक्ति भी अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु को दीपक आदि के प्रकाश के बिना नहीं देख सकता, इसी प्रकार सद्गुणों के समुद्ररूप गुरुजनों के बिना बुद्धिमान पुरुष भी धर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं कर पाता।

पट्टी के चौमासे में आपने साधुओं की प्रार्थना से चतुर्थ स्तुति निर्णय का द्वितीय भाग और जीरा श्रीसंघ की प्रार्थना से नवपद पूजा की रचना की। पूजा के अन्तिम पद्य-कलश-में आप इस प्रकार लिखते हैं—

(जगला ताल कहरवा)

भविवन्दो जिनन्द मत करणीने॥ अंचली॥
इम नवपद मंडल गुण वरणी, चार न्यास दुःख हरणीने॥ १॥
सम्यक् सातनये सब जाणी, आदरिकुमति विसरणीने॥ २॥
श्री तपगच्छ नभोमणि मुनिपति, विजयसिंह सूरि चरणीने॥ ३॥
सत्यकपूर क्षमा जिन उत्तम, पद्मरूप अघहरणीने॥ ४॥
कीर्तिविजय कस्तूर सुगंधी, मणितिमिर जगहरणीने॥ ५॥
श्री गुरु बुद्धिविजय महाराजा, विजयानन्द जिनसरणीने॥ ६॥
जीरागांव तिहां संघ जयंकर, सुखसंपत उदय करणीने॥ ७॥
तिनके कथन से रचना कीनी, सुगमरीत अघ हरणीने॥ ८॥
वसु[८] युग[४] अंक[९] इन्दु[१] शुभ वर्षे, पट्टीनगर सुखधरणीने॥ ९॥
रहि चौमासा यह गुणगाया, आतम शिववधू परणीने॥ १०॥

व्याख्यान में श्री उत्तराध्ययन सूत्र-[कमल संयमी टीकावाला] और भावनाधिकार में श्री रत्नशेखर सूरिकृत श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति अर्थ दीपिका वांचते रहे। पट्टी का यह चातुर्मास, पंजाब में होने वाले आपके अन्य चातुर्मासों में विशेष उल्लेखनीय स्थान रखता है।

अध्याय १०६

"ज़ीरा में प्रतिष्ठा महोत्सव"

—:&:—

चातुर्मास की समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी के दिन अहमदाबाद (गुजरात) के पास में होने वाले बलाद नामाग्राम के वास्तव्य श्री डायाभाई को मुनि श्री वल्लभविजय के नाम से साधु धर्म की दीक्षा दी और श्री विवेक विजय नाम रखकर दूसरे ही दिन पट्टी से जीरा की तरफ विहार कर दिया। जीरा में पधारने पर वहां की जनता ने आपका कितना भव्य स्वागत किया और प्रवेश के समय उसके मन में कितना उत्साह था, इसका निश्चय उस समय पर गाये गये एक पंजाबी भाषा के भजन पर से बखूबी हो जाता है। यथा—

चलो जी महाराज आये प्यारे, मात रूपादेवी जाए ॥ अंचली ॥
भाग उन्हांदे तेज भये जब सूरि पदवी पाई।
नगर प ी में किया चौमासा, लोक सबी तर जाई ॥१॥
मुनि इगयारां संग उन्हांदे, एकसे एक सवाए।
मेहरबान जब होए सबी तो, जीरे नगर उठ धाए ॥२॥
सुनी बात जब सब सेवक ने, मनमें खुशी मनाई।
लगे शहर में बाजे वज्जण, ध्वजा निशान सजाई ॥३॥
धूम धाम से चले लैण को महमा कही न जाए।
एक दूसरा चले अगाड़ी, आगे ही कदम उठाए ॥४॥
तीन कोस पर मिले सबी जा, चरणीं सीस नमाए।
सीस उठाके दर्शन पाए, धन्य रूपदेवी जाए ॥५॥
सबी संघ होकर आनन्दी, तरफ शहर दी आए।

नगर बीच परवेश ही कीना, आन बैठक उत्तराए ॥६॥
चौकी ऊपर आन ही बैठे, मंगलीक आख सुनाए।
भरी सभा में दीनानाथ और खुशीराम गुण गाए ॥७॥

जीरा में तैयार हुए नवीन जिन मन्दिर की प्रतिष्ठा के निमित्त ही आचार्यश्री का पधारना हुआ था, प्रतिष्ठा का शुभ मुहूर्त मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी [मौन एकादशी] का निश्चित था। इस रोज अंजनशलाका के लिये बाहर से आये हुए कई एक जिन बिम्बों की अंजनशलाका [मन्त्र पूर्वक संस्कार] करके नवीन मंदिर में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ की विशाल भव्यप्रतिमा को विधिपूर्वक गादी पर प्रतिष्ठित किया गया।

इस शुभ अवसर पर भरुच निवासी सेठ अनूपचन्द मलूकचन्द भी एक स्फटिक रत्न के जिनबिम्ब की अंजनशलाका कराने और दर्शन करने के लिये अपने परिवार सहित आये हुए थे, इसी प्रकार प्रतिष्ठा के इस मौके पर अन्य नगरों के भी बहुत से गण्यमान्य व्यक्ति सम्मिलित हुए और प्रतिष्ठा का कार्य बड़े समारोह के साथ सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ।

अध्याय १०७

आर्यसमाज के नेता ला. देवराज
और
मुन्शीरामजी से वार्तालाप

जीरा के देवमन्दिर की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पूर्ण कराकर आप जीरा से नकोदर होते हुए जालन्धर में पधारे। वहां पर एक दिन आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता ला० देवराज और ला० मुन्शीरामजी [जो कि बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए] आपके दर्शनार्थ आये। शिष्टाचार के अनन्तर कुछ प्रासंगिक वार्तालाप के शुरू होते ही ला० देवराजजी ने आपसे पूछा कि स्वामीजी ! जगत में एक परमेश्वर के होते हुए इतने मतमतान्तर क्यों बढ़ गये ?

आचार्यश्री—स्मित मुख से फर्माते हुए बोले-आप स्वयं विज्ञ हैं खुद ही विचारें आप दोनों साहब स्वामी दयानन्दजी के परम भक्त और उनके मत के सर्वेसर्वा समर्थक हैं, फिर भी आप दोनों के विचारों में विभिन्नता है, एक मास पार्टी के नेता दूसरे घास पार्टी के मुखिया हैं। एक मांस भक्षण को शास्त्र विहित मानते हैं दूसरे उसको शास्त्र विरुद्ध बतलाते हैं, क्या ये दो विभिन्न विचार आपको स्वामीजी की ओर से मिले हैं या आप लोगों ने अपनी बुद्धि से कल्पना करलिये हैं ? स्वामीजी अथवा वेदों का कथन तो सबके लिये एक जैसा ही होगा, फिर यह विचार भेद क्यों ? ईश्वर दो या अनेक इसमें उसका क्या दखल है—वह तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी और पूर्ण काम है, वह तो प्रकाश देने वाले दीपक की भांति केवल साक्षी रूप है फिर इन बुद्धि गत विचार भेदों में [जोकि मानव बुद्धि की कल्पना रूप हैं] ईश्वर को बीच में लाने की क्या आवश्यकता ? हां अगर ईश्वर को इस सृष्टि का रचयिता अथच कर्ता धर्ता स्वीकार करना हो तब तो ईश्वर ही इन सारे मत भेदों का उत्तरदायी ठहरता है, कारण कि कर्तृत्व में इच्छा और प्रयत्न

दोनों की अपेक्षा रहती है और जहां इच्छा और प्रयत्न हों वहां प्रेरकता का होना भी अवश्यंभावी है, इस दृष्टि से संसार में जो कुछ भी शुभाशुभ हो रहा है उसका सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही आवेगा, उसकी प्रेरणा के विना संसार के किसी भी पदार्थ में प्रवृति या निवृत्ति रूप क्रियाशीलता नहीं आ सकती। इसलिये आपके विचारानुसार तो इन मतमतान्तरों के भेद का वही एक कारण हो सकता है। अतः उसी से पूछना चाहिये कि आपने ऐसा विचित्र माया-जाल क्यों पसार रक्खा है, जिससे मामूली से मतभेद पर भी एक दूसरे से लड़ने झगड़ने और मरने मारने पर तैयार हो जाता है।

ला० मुन्शीराम—महाराज! इसमें कुछ अन्तर है, ईश्वर सृष्टि को जीवों के कर्मानुसार पैदाकरता है, जीवों के जैसे २ शुभाशुभ कर्म होते हैं उनके अनुसार ही ईश्वर उस २ योनि में उत्पन्न करता है। सब जीव अपने २ कर्मों के अनुसार सुख या दुःख भोगते हैं। ईश्वर तो जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है। अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा। जीव कर्म के करने मे स्वतन्त्र और उसके फल भोगने में वह परतंत्र अथवा ईश्वराधीन है। इसलिये हमारे मतभेद या मतमतान्तरों के सम्बन्ध में ईश्वर पर कोई दोप नहीं आ सकता।

आचार्यश्री—मैंने तो पहले ही कहा था कि आपस के विचार भेद से ही मतमतान्तरों को जन्म मिला है, इसमें ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं। इसलिये ईश्वर एक हो या अनेक वह तो साक्षीरूप है। हमारे मतभेद में वह किसी प्रकार की भी प्रेरणा नहीं देता। परन्तु यदि उसे सृष्टि का कर्त्ता धर्ता माना जाय तो वह प्रेरक बन जाता है, कारण कि कर्तृत्व का अर्थ है "चिकीर्षाकृतिमत्त्व" अर्थात् करने की इच्छा और तदनुसार व्यापार-प्रवृत्ति तब जहां इच्छा और प्रयत्न होंगे वहां प्रेरणा भी अवश्य होगी। "दृष्टानुसारिणी अदृष्ट कल्पना भवति" अर्थात दृष्ट के अनुसार अदृष्ट की कल्पना होती है इस न्याय से, घड़े को बनाने की इच्छा रखने वाला कुम्हार प्रथम मृत्तिका को अमुक आकार में लाने के लिये जो प्रयत्न करता है उसके बुद्धि और प्रयत्नानुसार वह मृत्तिका अमुक आकार को धारण करती हुई घड़े के रूप में परिवर्तित होती है। इस परिवर्तन में जैसे कुम्हार की आन्तरिक प्रेरणा काम करती है उसी प्रकार प्रकृति या परमाणुओं को हरकत में लाकर सृष्टि के तमाम स्थूल सूक्ष्म पदार्थों की रचना में ईश्वर की प्रेरणा ही तो काम करेगी, अन्यथा इनमे क्रिया या परिणति का सम्भव ही नहीं हो सकता। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता या रचयिता मानने वालों की सबसे प्रबल युक्ति यही है कि जड़ पदार्थ में रचना का स्वयं बोध नहीं। इसलिये उनकी बातरतीब रचना में किसी चेतन का हाथ जरूर है, वही इसको अमुक आकार से अमुक आकार में लाता है। परन्तु इस युक्ति में जो रचयिता पर प्रेरक होने का दोप आता है, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। स्रष्टा सदा ही प्रेरक होता है तब प्रेर्य के सम्बन्ध में जिन गुण दोषों की कल्पना की जाती है उनका उत्तरदायित्व तो प्रेरक पर है न कि प्रेर्य पर भी, वह तो परतन्त्र होने से परवश है। अतः शुभाशुभ करने या उसका सुख

दुःख फल भोगने आदि किसी भी अंश में स्वतंत्र नहीं ठहरता। जैसे घड़े के अच्छे या बुरे बनने का उत्तरदायित्व घट पर नहीं किन्तु कुम्हार पर है उसी प्रकार सृष्टि के गुण दोषयुक्त पदार्थों की रचना और उससे उत्पन्न होने वाले परिणाम आदि का उत्तरदायित्व भी रचयिता पर ही आता है। इसलिये सृष्टि के प्रत्येक व्यवहार की जिम्मेदारी स्रष्टा पर आती है। इसी आशय से जैन दर्शन ने ईश्वर परमात्मा को कर्ता या स्रष्टा न मानकर केवल ज्ञाता या साक्षीरूप स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा के कापिल दर्शन और जैमनी के कर्मकाण्ड प्रधान मीमांसादर्शन के प्रामाणिक आचार्यों (कुमारिल भट्ट आदि) ने ईश्वर कर्तृत्व-वाद का इसी दृष्टि से प्रतिषेध किया है।

इसके अतिरिक्त आपने जो कुछ फर्माया है उसका तात्पर्य तो यह प्रतीत होता है कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल भुगताने के लिये ईश्वर इस सृष्टि की रचना करता है, कर्म स्वयं जड़ हैं वे अपने आप फल दे नहीं सकते परन्तु ईश्वर को उनका फल भुगताना जरूरी है। इसलिये वह सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है। वह जीवों के जैसे कर्म होते हैं उसके अनुसार फल देता है। इसमें उसके ऊपर कोई दोष नहीं आता। जैसे किसी के अच्छे बुरे कर्तव्य के अनुसार दंड देने या मुक्त करने में किसी न्यायाधीश पर कोई आरोप नहीं आता उसी प्रकार कर्मानुसार फल देने में ईश्वर भी किसी प्रकार के दोष का भागी नहीं होता।

परन्तु इस सारे युक्तिवाद पर यदि कुछ गम्भीरता से विचार किया जावे, और वस्तु स्वरूप के अनुरूप तटस्थ मनोवृत्ति से विवेचन किया जावे तो ये ऊपर की सभी बातें सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती।

सबसे पहले तो ईश्वर के स्वरूप पर ध्यान देने की आवश्यकता है, आपके मत में प्रकृति, जीव और ईश्वर ये तीन पदार्थ स्वतंत्र माने हैं, इनमें एक-प्रकृति-जड़ और दो-जीव ईश्वर-चेतन हैं, इनमें भी प्रकृति सत्, जीव सत् चित् और ईश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप है, इसके सिवा ईश्वर को सर्वज्ञ सर्व व्यापक निराकार सृष्टि का कर्ता और जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला भी स्वीकार किया है। क्यों ऐसा ही है न?

ला० मुन्शीरामजी—हां महाराज! स्वामीजी ने ऐसा ही माना है और हम भी ऐसा ही विश्वास रखते हैं!

आचार्यश्री—यह तो सब ठीक परन्तु ईश्वर के सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सर्व व्यापक निराकार निरंजन आदि स्वरूप भूत गुणों के साथ उसके सृष्टिकर्तृत्व और फलप्रदातृत्व इन दो गुणों का साहचर्य भी सम्भव है कि नहीं, अर्थात् इनका बाकी के गुणों के साथ मेल भी रखता है कि नहीं, इस बात का विचार भी करना होगा। जो पदार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप होगा, वह पूर्ण काम ही होगा, पूर्ण काम में इच्छा की कभी सम्भावना भी नहीं की जा सकती और जो सर्व व्यापक अथच निराकार है, वह निष्क्रिय ही होगा। क्रिया या

प्रयत्न एकदेशी पदार्थ मे ही होते हैं, सर्व व्यापक या सर्वदेशी में नहीं। परन्तु स्रष्टा के लिये इच्छा और प्रयत्न दोनों ही अपेक्षित हैं। विना इच्छा और प्रयत्न-क्रियाशीलता के किसी वस्तु का सर्जन हो नहीं सकता। और ईश्वर के जो स्वाभाविक गुण वर्णन किये गये हैं उनको देखते हुए तो उसमें इच्छा और क्रिया दोनों ही सम्भव नहीं। पूर्ण काम होने से उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं, और सर्व व्यापक और निराकार होने से वह क्रिया प्रयत्न शून्य है। इसके अतिरिक्त जो पदार्थ सर्वथा निराकार है, कभी साकार होता ही नहीं वह सर्जक कैसे हो सकेगा यह भी एक विचारणी तथ्य है, लोक में कभी किसी अशरीरी को कोई वस्तु बनाते नहीं देखा, जो भी कार्य हम देखते हैं वह शरीर वाले का ही किया हुआ देखा जाता है फिर सर्वथा शरीर रहित ईश्वर को सृष्टि का विधाता कैसे माना जाय? जबकि इसके लिये कोई अबाधित प्रमाण न हो। कारण कि अशरीरी में इच्छा और प्रयत्न दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते* यदि दुर्जनतोष न्याय से उसमें इच्छा और प्रयत्न मान भी लिये जायें तो फिर यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि रचना में हेतुभूत ईश्वर के इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं या कि अनित्य? यदि इनको नित्य माना जाय तो सृष्टि के हेतुभूत ईश्वर के इच्छा प्रयत्न सदा रचना ही करते रहेंगे, प्रलय कभी न होगी एवं प्रलय के कारणभूत ईश्वर की इच्छा प्रयत्न से सदा प्रलय ही संभव होगी, उत्पत्ति नहीं। § परन्तु ईश्वर को सृष्टि-कर्ता मानने वाले सृष्टि और प्रलय दोनों को स्वीकार करते और इन दोनों का कारण भी ईश्वर को ही मानते हैं, और यदि इनको अनित्य स्वीकार किया जाय तो वे उत्पत्ति और विनाश वाले होंगे, तब उनकी उत्पत्ति विनाश का कोई कारण भी ढूंढना होगा? परन्तु कारण हमेशा कार्य से पहले होता है, ईश्वर में इच्छा उत्पन्न करने वाला कारण यदि ईश्वर से पहले नहीं तो उसके समकालीन तो अवश्य होना चाहिये। आपके मतानुसार ईश्वर के समकालीन दो पदार्थ हैं, एक प्रकृति दूसरा जीव क्योंकि ये भी ईश्वर की तरह सत अर्थात् नित्य हैं।

परन्तु इनमें प्रकृति जड़ है, और जीव अल्पज्ञ है. तब ये दोनों सर्वज्ञ सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर में इच्छा और प्रयत्न को उत्पन्न कर सकते हैं या कि नहीं? इसका विचार आप स्वय एकान्त मे बैठकर करें। और यदि यह भी मान लिया जाय कि ईश्वर जीवों के शुभाशुभ कर्मों से प्रेरित हुआ उनके कर्म फल को भुक्ताने के लिये सृष्टि की रचना करता है, तो इसमे इस शका को भी

*ईश्वरोपि प्रयतत इतिचेत्? न अशरीरस्य प्रयत्नासंभवात्। सर्वगताअपि ह्यात्मानः शरीर प्रदेशे एव प्रयत्नमारभन्ते न बहिः, अतः शरीरापेक्षः प्रयत्नः। [शास्त्रदीपिकायां पार्थ सारमिश्रः १-५]

§ ईश्वरेच्छायानित्यत्वे सृष्टि कारणी भूतेच्छाया अपि नित्यत्वात्, सदा सृष्टि स्थिति प्रसंगात् प्रलयो न स्यादेव, एवं प्रलयकारणी भूतेच्छाया नित्यत्वात् प्रलय एव तिष्ठेन्न सृष्टिरित्यपि दोषोऽनुसन्धेयः"
[शास्त्रदीपिका टीकायां सुदर्शनाचार्यः पंचनदीयः] पा० १ सू० ५

स्थान है कि स्वयं फल भुक्ताने में सर्वथा असमर्थ इन जड़ रूप कर्मों में ईश्वर को प्रेरणा देने की शक्ति भी है कि नहीं ? यदि है, तो सर्वज्ञ सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार निर्विकार में कभी न सम्भव होने वाले इच्छा प्रयत्न को भी उत्पन्न कर देने की शक्ति होतो उनमें स्वय फल भुक्ताने की शक्ति को स्वीकार कर लेने में आपत्ति क्यों ? इसके सिवा ईश्वर को आप सर्व स्वतंत्र और सर्व नियंता मानते हैं तो कर्मों द्वारा प्रेरित किये जाने से उसकी स्वतन्त्रता और सर्व नियंतृत्व को कोई बाधा तो नहीं पहुँचेगी ? प्रेर्य कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। इतनी बड़ी शक्ति को जड़ कर्मों की श्रृंखला में बांध देने की कल्पना तो केवल भोले जीवों को सन्तुष्ट भले कर सके।

मुन्शीरामजी—आप भी तो कर्म और कर्मों के फल को मानते हैं। आपके मत में उसकी कैसे व्यवस्था है ?

आचार्यश्री—मानते हैं अवश्य मानते हैं, यह जीव अनेक प्रकार के निमित्तों द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्मों को स्वयं बांधता है और स्वयं ही निमित्तों द्वारा उनके फल को भोगता है। जैन दर्शन में कर्म का जो स्वरूप वर्णन किया है, उससे यदि आपका परिचय होता तो आपको कर्मों के बन्ध और फलोन्मुख होकर फल देने आदि के विषय में कर्मों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की कल्पना को अवकाश ही न मिलता ! परन्तु अब समय अधिक होगया यह विषय बड़ा गम्भीर है, इसलिये इसको आप किसी दूसरी मुलाकात के लिये रहने दीजिये। बहुत अच्छा महाराज कहते हुए दोनों ने नमस्ते कही और उत्तर में मिले हुए धर्म लाभ को प्राप्त कर उठते हुए लाला मुन्शीरामजी ने कहा—महाराज ! आज आप से वार्तालाप करके बहुत प्रसन्नता हुई। आपकी विषय प्रतिपादन शैली नितरां प्रशंसनीय है, और आपकी प्रकृति में जो सौजन्य और शान्त भाव देखने में आया उसका हम दोनों पर आपकी विद्वत्ता से भी अधिक प्रभाव पड़ा है। आपने आज ईश्वर कर्तृत्व के विषय का जो दार्शनिक विवेचन किया है उसपर हम विश्वास करें या न करें, परन्तु कोई भी दार्शनिक विद्वान् उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा। अच्छा महाराज नमस्ते ! फिर कभी दर्शन करने का यत्न करेंगे, इतना कहकर वे वहां से चलदिये।

अध्याय १०८

"होशयारपुर में प्रतिष्ठा समारोह"

जालन्धर से विहार करके आप होशयारपुर पधारे। यहां पर भी एक भव्य विशाल जिन मन्दिर तैयार हुआ था, जिसके बनाने का श्रेय यहां के धर्मात्मा श्रावक ला० गुज्जरमलजी को था। यह मन्दिर सारे पंजाब में अपनी श्रेणी का एक ही है। इसके ऊपर का सारा भाग सुनहरी है-उस पर सोना चढ़ा हुआ है, उसकी विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करने के शुभ मुहूर्त का निश्चय करना था, जो माघ शुक्ला पंचमी (वसन्त पचमी) का निश्चित हुआ तदनुसार उसी दिन शास्त्र विधि के अनुसार बड़े भव्य समारोह के साथ भगवान् श्री वासुपूज्य स्वामी की विशाल और परम सुन्दर प्रतिमा को मन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया।

प्रतिष्ठा का कार्य सम्पूर्ण होने के बाद आपने इधर उधर के ग्रामों मे भ्रमण करने और धर्मोपदेश देने के अनन्तर वि० सं० १९४९ का चातुर्मास होशयारपुर मे ही किया। चौमासे में श्री मानविजय उपाध्याय विरचित धर्मसग्रह और श्री संघतिलक सूरि विरचित तत्त्वकौमुदी नामा सम्यक्त्व-सप्तति की वृत्ति का व्याख्यान करते रहे। चातुर्मास के बाद जम्बू प्रान्त के ब्राह्मण कर्मचन्द और बड़ोदे के रईस लल्लुभाई को जैनधर्म की साधु दीक्षा देकर उनके क्रमशः कर्पूरविजय और लाभविजय नाम रक्खे और इनको अनुक्रम से श्री उद्योतविजय और श्री कान्तिविजयजी के शिष्य घोषित किया।

अध्याय १०८

"चिकागो-अमेरिका से आमन्त्रण"

—:※:—

होशयारपुर के चातुर्मास के बाद जालन्धर होते हुए आचार्यश्री वैरोवाल पधारे। यहां आपको बम्बई की "जैन एसोसिएशन आफ इंडिया" की मारफत अमेरिका के चिकागो शहर में होने वाली सार्व-धर्म परिषद् में सम्मिलित होने के लिये परिषद् के प्रधान मन्त्री का पत्र मिला। जो कि इस प्रकार है—

World's Congress Auxillary Committee on Religions Congress,
Rev. John Henry Barrows D. D.
Chairman
CHICAGO; U S A
Nov. 16, 1892.
2330 Michigan Ave.

Mr. Atmaramji,
Bombay (India)
Please address me:

William Pipe,
2330 Michigan Ave, Chicago,
United States of America.

Dear Sir,

There will be mailed to you in the course of a week an appointment as a member of the Advisory Council of the Parliament of the Religions to be held in Chicago in 1893. In the meantime the Chairman instructs me to ask you if you will kindly forward to me at your earliest convenience two photographs of your-self and a short sketch of your life. These are to be used in preparing the illustrated accounts of representatives of the great faiths of the world.

Will you therefore give this matter your earnest consideration and forward to me as soon as possible, what is requested ? Some other Pictures and explanatory literature that would illustrate any feature of Hinduism would be much appreicated. With fraternal greeting.

I am,
Faithfully and Sincerely Yours
William Pipe.

भावार्थ—ईस्वी सन् १८९३ को चिकागो में सर्व धर्मों की जो धर्म परिषद् होगी उसका मेम्बर-सभ्य बनने के लिये आपको एक सप्ताह के भीतर लिखा जावेगा, परन्तु इस समय सभापति की आज्ञा से लिखा जाता है कि आप अपने दो चित्र-फोटो और अपना संक्षिप्त जीवन चरित्र शीघ्र भेजने की कृपा करे। इनसे ससार के प्रसिद्ध मतों के प्रतिनिधियों के चरित्र तैयार किये जाने हैं, इसलिये आप अपने दो चित्र और जीवन चरित्र जितना जल्दी हो सके उतनी जल्दी भेजदे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई और हिन्दुओं के धार्मिक विचारों से सम्बन्ध रखने वाला कोई सविस्तार निबन्ध तैयार करके भेजेंगे तो वह भी स्वीकार किया जावेगा।

इस पत्र का उत्तर आचार्यश्री की सम्मति से बम्बई की उक्त सस्था के अधिकारियों ने श्रीयुत वीरचन्द राघवजी गांधी बार-एट-ला से लिखाकर भेजा जिसका सारांश यह था—

आपका पत्र श्री मुनि महाराज को पहुंचा, आपने जो कार्य प्रारम्भ किया है उसमे मुनि महाराज अतीव आनन्द प्रदर्शित करते हैं पर साथ में इतना खेद भी प्रकट करते हैं, कि वृद्धावस्था और शास्त्रीय प्रतिबन्ध तथा अन्य कई एक अनिवार्य लौकिक कारणों से आपकी इस परिषद् में सम्मिलित होने के लिये विवश हैं अर्थात् आपके आमत्रण को स्वीकार करके उसे सफल नहीं बना सकते। तथापि आपके लिखे मुताबिक मुनि महाराज के दो चित्र-फोटो और मुनि महाराज का सक्षिप्त जीवन चरित्र तथा अन्य कितनी एक उपयोगी फोटो आदि आपको भेजी जाती हैं इनकी पहुंच देने की कृपा करनी।

इस पत्र के उत्तर में वहां से ३ अप्रेल सन् १८९३ को लिखा हुआ जो पत्र आया उसकी नकल निम्नलिखित है—

Chicago, U.S.A. April 3rd, 1893.

Muni Atmaramjee,
9 Bank Street, Fort,
Presidency Mills Co. Ltd,

Reverend Sir,

I am very much delighted to receive your acceptance of your

appointment together with the photographs and the biography of your remarkable life. Is it not possible for you to attend the Parliament in person? It would give us great pleasure to meet you. At any rate, will you not be able to prepare a paper which will convey to the accidental mind, a clear account of the Jain faith which you so honourably represent? It will give us great pleasure and promote the ends of the Parliament if you able to render this service.

I send you several copies of my second report.

Hoping to hear from you soon and favourably, I remain, with fraternal regards.

Yours cordially,
John Henry Barrows
Chairman
Committee of Religions Congress

भावार्थ—यह अतीव हर्ष की बात है कि आपने इस सभा के सभ्य पद को स्वीकार कर लिया है आपके फोटो तथा आपका अलौकिक जीवन चरित्र पहुंच गया। क्या आपका यहां पधार कर सभा को सुशोभित करना सम्भव हो सकता है? आपके दर्शनों से हमको अतीव आनन्द प्राप्त होगा। जिस जैनमत का आप इतना महत्व बतला रहे हैं, क्या आप किसी प्रकार से एक ऐसा लेख तैयार कर सकेंगे कि जिसमें जैनमत का इतिहास और उपदेश का समावेश हो। आपका ऐसा निबन्ध आने से हमको बड़ा भारी हर्ष होगा और हमारे समाज की उन्नति का कारण होगा। हम अपनी दूसरी रिपोर्ट की कितनी एक नकलें आपकी सेवा में भेजते हैं "इत्यादि"

इस पत्र का उत्तर आचार्यश्रीने शाह मगनलाल दलपतराम की मार्फत भेजा जिसका सारांश इस प्रकार था—

"मुनि महाराज को आपका पत्र पहुंचा, आपकी इच्छानुसार मुनि महाराज ने एक निबन्ध लिखना प्रारम्भ कर दिया है" मगर उनका परिषद् में संमिलित होना संभव नहीं हो सकता इत्यादि।

गुरुदेव का स्वयं संमिलित न होना परिषद् वालों को कितना अखरा यह उनके भेजे हुए १२ जून १८९३ के पत्र से पता चलता है। जो कि आचार्यश्री को शाह मगनलाल दलपतराम की मार्फत मिला। उसकी नकल निम्नलिखित है—

Chicago, U. S. A. June 12th, 1893

My Dear Sir,

I am desired by the Rev. Dr. Barrows to make an immediate acknowledgment of your favour of May. 13. In is eminently to be desired that there should be present at the Parliament of Religions a learned representative of the Jain community.

We indeed are sorry that there is no prospect of having the Muni Atmaramjee with us and trust the community over which he presides will depute some one to represent. It is, I trust, needless for me to say that your delegate will be received by us in Chicago with every distinction and during his stay here will receive of our hospitability in as great a measure as we are able to record it. If you therefore decide to send a representative will you kindly cable the fact to me ? The paper which learned Muni is preparing will indeed be very welcome and will be given a place in the programme in keeping with the high rank of its author. Although we here in Chicago, are a long distance from you, the name of Muni Atmaramji is frequently alluded to in religious discussions. For the purpose of illustrating the Volumes which are to record the proceedings of the Parliament of Religions, I am in want of a few pictures to illustrate the rites and ceremonies of the Jain faith. May I ask you, to procure these for me (at any expense) and send it at your earliest convenience

I am

Very yours,

William Pipe

Private Secretary.

भावार्थ—रेवरेण्ड डाक्टर बैरोस साहिब की इच्छानुसार मैं आपके पत्र ता० १३ मई की पहुँच लिखता हूँ, इस धर्म परिषद् में जैनों की ओर से एक विद्वान् प्रतिनिधि का होना बड़ा आवश्यक है। हमें दुःख है कि इस परिषद् में मुनि आत्मारामजी के स्वयं पधारने की कोई आशा नहीं, तो भी हम विश्वास करते है कि जिस सम्प्रदाय के आप नायक हैं वह अवश्य ही किसी न किसी विद्वान् को प्रतिनिधि रूप में भेजेगी। और यह कहने की भी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं कि हम यहां चिकागो मे आपके प्रतिनिधि का पूर्णरूप से आतिथ्य-सत्कार करेंगे। अगर आप अपना प्रतिनिधि भेजने का फैसला करले, तो कृपया

उसकी हमें तार द्वारा सूचना देवें। जो निबन्ध मुनिजी तैयार कर रहे हैं वह यथार्थतया हमारे लिये बहुत आनन्द प्रद होगा और उसे प्रोग्राम में वैसा ही उच्चपद दिया जावेगा जैसा कि उसके लेखक का उच्चपद है। यद्यपि हम यहां चिकागो में आपसे बड़ी दूर पर हैं तो भी मुनि आत्मारामजी का नाम प्रायः धार्मिक विवादों में आता है। इस धार्मिक परिषद् की कार्रवाई की जो पुस्तकें प्रकाशित होंगी उनके लिये कुछ चित्रों की आवश्यकता है जिससे जैन धर्म की क्रिया विधि मालूम हो सके, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि वह शीघ्र ही भेजने की कृपा करें। उपर्युक्त पत्र के आने से आचार्यश्री ने उक्त धर्मपरिषद् में अपना एक प्रतिनिधि भेजना तो सुनिश्चित कर लिया परन्तु किसे भेजा जावे यह एक विकट समस्या थी। कारण कि उस समय जैन समाज में ऐसे विद्वान् गृहस्थ नहीं के बराबर थे जो विदेश में जाकर जैनधर्म के महत्व को समझा सकें। बहुत कुछ सोच विचार करने के बाद आपकी दृष्टि श्रीयुत वीरचन्द राघवजी गांधी पर गई। तब आपने बम्बई के श्रीसंघ को लिखा और अपना विचार पूर्ण निश्चय बतलाते हुए उस पर इस बात का ज़ोर दिया कि वह वीरचन्द राघवजी गांधी को वहां भेजने का पूरा २ प्रबन्ध करे। यद्यपि वहां कतिपय जैनों ने इसमें बाधा उपस्थित करने का यत्न किया परन्तु आचार्यश्री ने उन्हें बड़ी प्रौढ़ता से समझाया कि आप लोग जैनधर्म को उसके वास्तविक रूप में समझने का यत्न नहीं करते और नहीं देखते कि वह इस विषय में कितना उदार है। याद रखिये आज तो आप लोग धर्म की प्रभावना के लिये भेजे जाने वाले व्यक्ति की समुद्र यात्रा का विरोध कर रहे हैं परन्तु वह समय बहुत नजदीक है जब कि आपकी सन्तानें मौज शोक के लिये समुद्र यात्रा करेंगी और आप उससे सहमत होंगे। अन्ततः सबको आचार्यश्री की आज्ञा के सामने झुकना पड़ा।

तदन्तर आचार्यश्री ने श्रीयुत वीरचन्दजी गांधी को अमृतसर में अपने पास बुलाकर अनुमान एक मास तक रक्खा और जैनधर्म के बहुत से ज्ञातव्य विषयों से अच्छी तरह परिचित कराया और अपना लिखा हुआ निबन्ध [जो कि चिकागो प्रश्नोत्तर के नाम से प्रसिद्ध है] देकर अपने अमोघ आशीर्वाद के साथ उन्हें विदा किया। तब श्रीयुत् वीरचन्द राघवजी गांधी बम्बई आकर, आचार्यश्री के प्रतिनिधि की हैसियत से चिकागो की सार्वधर्म परिषद् में संमिलित होने के लिये अमेरिका को प्रस्थान कर गये। और बम्बई के श्री संघ ने उन्हें सानन्द बिदा किया।

वहां-चिकागो में परिषद् का अधिवेशन १७ दिन तक होता रहा। प्रथम दिवस में उद्घाटन क्रिया के बाद परिषद् में सम्मिलित हुए हर एक प्रतिनिधि ने संक्षेप में अपना २ परिचय दिया। श्रीयुत वीरचन्दजी गांधी ने अपना परिचय इस प्रकार दिया—

"I represent Jainism, a faith older an Buddhism, similar to it in ethics, but different from it in its psycholgy, and professed by a million and a half of India's most peaceful and law-sbiding citizens .. ..

I wiill at-present, only offer on behalf of community and their High Priest, Muui Atmaramji whom I especially represent here, our sincere thanks for the kind welcome you have given us. This spectacle of the learned leaders of thought and religion meeting together on a common platform and throwing light on religious problems, has been the dream of Atmaramji life. He has commissioned me to say to you that he offers his most cordial congratulations on his own behalf and on behalf of the Jain community for your having echieved the consumation of the grand ides of convening a parliament of Religions.

भावार्थ—मैं जैन धर्म का प्रतिनिधि हूँ, जैन धर्म बुद्ध धर्म से प्राचीन, चारित्र धर्म में उससे मिलता जुलता परन्तु अपने दार्शनिक विचारों में उससे भिन्न है। आजकल इस धर्म के अनुयायी भारतवर्ष में १५ लाख बड़े शान्त और नियम बद्ध जीवन वाले प्रजाजन हैं।

मै इस समय अपनी समाज की ओर से और उसके महान् गुरु मुनि आत्मारामजी की ओर से आप लोगो के इस आतिथ्य सत्कार का धन्यवाद करता हूँ। धार्मिक तथा दार्शनिक विद्वानों का एक ही प्लेटफार्म पर इकट्ठे होकर धार्मिक विपयों पर प्रकाश डालने का यह दृश्य मुनि श्री आत्मारामजी के जीवन का एक स्वप्न था। गुरुदेव ने मुझे यह आज्ञा दी है कि मैं वस्तुत. उनकी ओर से तथा समूची जैन समाज की ओर से सर्वधर्म परिपद् बुलाने के उच्च आदर्श तथा उसमें सफलता प्राप्त करने पर आपको धन्यवाद दूं।

आचार्यश्री के इस विद्वान प्रतिनिधि ने चिकागो की सर्वधर्म परिपद् मे बोलते हुए किस योग्यता से अपना पक्ष उपस्थित किया और उसका वहां की जनता पर कितना प्रभाव हुआ यह यह उस समय के एक अमरीकन पत्र के शब्दों से पता चलता है यथा—

A number of distinguished Hindu scholars, philosophers and religions teachers attended and addressed the Parliament some of them taking rank with the highest of any race for learning, eloquence and piety. But it is safe to say that no one of the oriental scholars was listended with greater interest than the young layman of the Jain community as he declared the ethics and philosophy of his people.

भावार्थ—अनेकों जगद् विख्यात हिन्दू विद्वान् दार्शनिक पंडित और धार्मिक नेता परिपद् मे समिलित हुए और उन्होंने व्याख्यान दिये। उनमें कुछ एक की गिनति तो विद्वत्ता, दया तथा चारित्र मे किसी भी जाति के बड़े से बड़े विद्वानों में होती है यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि पूर्वीय विद्वानों में

जिस रोचकता के साथ जैन नवयुवक श्रावक का व्याख्यान जो जैन दर्शन तथा चारित्र के सम्बन्ध में था, सुना गया और किसी का नहीं।

श्रीयुत वीरचन्दजी गांधी अमरीका में दो वर्ष रहे, इन दो वर्षों में उन्होंने अमरीका के प्रसिद्ध २ नगरों यथा वाशिंगटन बोस्टन न्यूयार्क आदि में कुल मिलाकर ५३५ व्याख्यान दिये। कई एक व्याख्यानों में जनता की उपस्थिति हजारों तक होती थी। अनेक स्थानों पर जैनधर्म की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। बहुतोंने आपके व्याख्यानों से प्रभावित होकर मांस खाना छोड़ दिया और अनेकों ने जैनधर्म का श्रद्धान अंगीकार किया। वहां पर प्रचार करने के बाद श्रीयुत वीरचन्द राघवजी गांधी इङ्गलैंड, फ्रांस, और जर्मनी आदि देशों मे जैन धर्म का प्रचार करते हुए जुलाई सन् १८९६ में वापिस भारत लौटे और बम्बई से सीधे अम्बाले में आकर आचार्यश्री को अपनी विदेश यात्रा का सारा वृतान्त सुनाया। तब इस कथन में जरा जितनी भी अतिशयोक्ति नहीं कि इस तरह विदेशों में जैनधर्म का जो प्रचार हुआ उसका सब श्रेय आचार्यश्री को प्राप्त है। अस्तु

उक्त धर्म परिषद् की १७ दिन की सारी कार्यवाही की पुस्तक के रूप में जो रिपोर्ट छपी है, उसमें आचार्यश्री का फोटो देकर उसके नीचे इस प्रकार लिखा है—

No man has so peduliarly soentified himself with the interests of the Jain community as "Muni Atmaramjee." He is one of the noble band sworn from the day of initiation to the end of life to work day and night for the high mission they have undertaken He is the high priest of the Jain commu and is recognised as the highest living "Authority" on Jain religion, and litereture by oriental scholar.

भावार्थ—जिस विशेषता से मुनि आत्मारामजी ने अपने को जैन धर्म में सयुक्त वा लीन किया है ऐसा किसी महात्मा ने नहीं किया। संयम ग्रहण करने के दिन से जीवन पर्यन्त जिन प्रशस्त महापुरुषों ने स्वीकृत धर्म में रत और सचेष्ट रखने का निश्चय वा नियम किया है उनमें से यह मुनिराज हैं, जैन धर्म के आप परम आचार्य हैं, तथा प्राच्य और पौरस्त्य विद्वान और जैनधर्म और जैन शास्त्रों के सम्बन्ध में सबसे उत्तम प्रमाण इस महर्षि को मानते हैं।

[नवयुग निर्माता]

चरित्र नायकने चिकागो (अमेरिका) की सर्व धर्मपरिषदमें अपनी तरफसे भेजा हुआ प्रतिनिधि

श्रीयुत् वीरचंद राघवजी गांधी बार-एट-लो

[जैनानंद प्री प्रेस, दरिया महाल, सूरत की तरफसे भेट

होशियारपुर (पंजाब) जैन सुवर्ण मन्दिर
जिसका शिखर सुवर्ण से मढा हुआ है
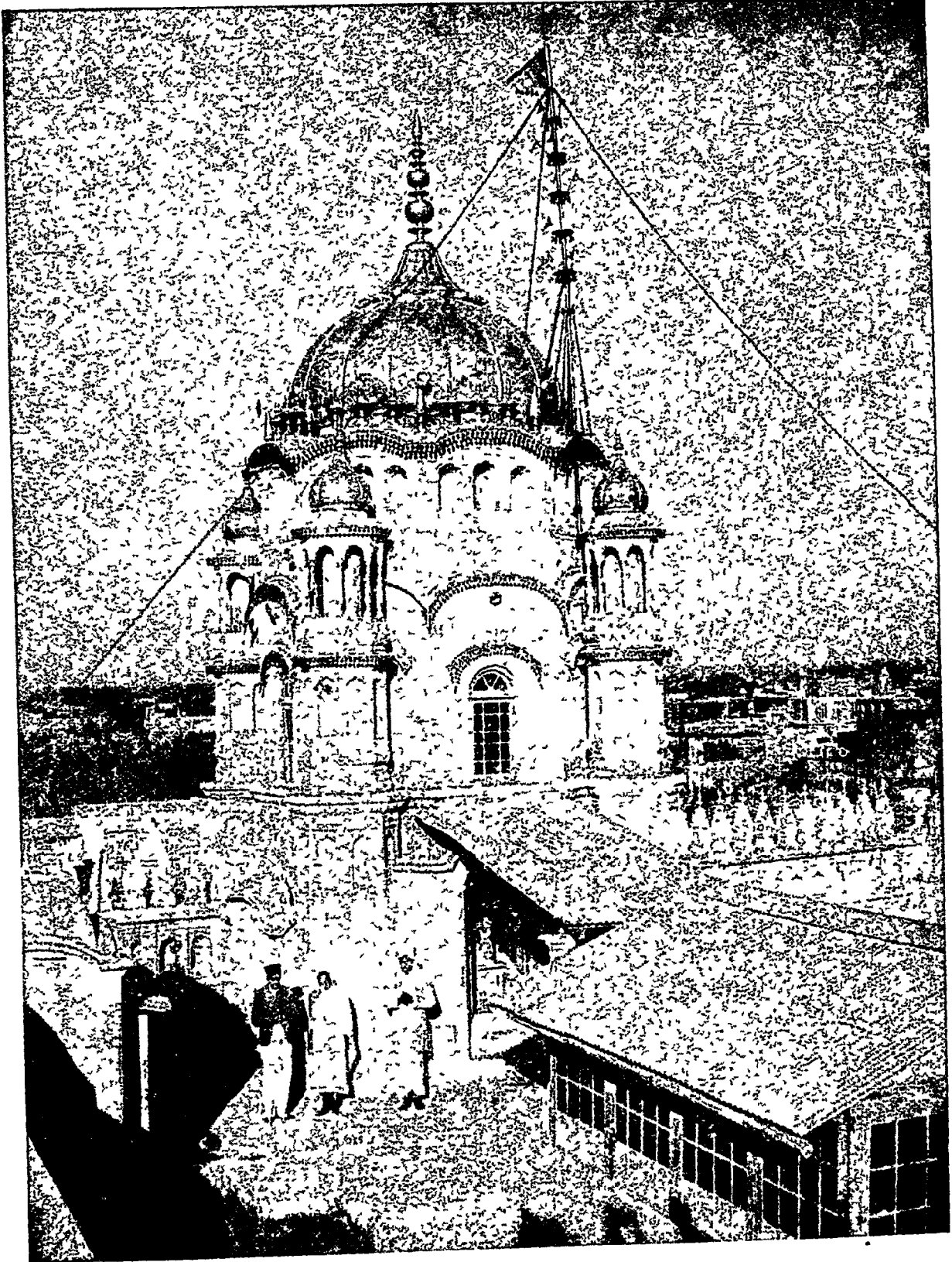
प्रतिष्ठा सम्वत् १९४८ माघ शुदि ५

[जैनानंद प्रीं प्रेस, दरिया महाल सूरत की तरफसे भेट

अध्याय ११०

"जंडयालागुरु में साधुओं का योगोद्वहन"

अमृतसर से विहार करके आचार्यश्री जडयालागुरु में पधारे और १६५० का चातुर्मास वहीं पर किया। चातुर्मास में श्री सुयगडांग सूत्र और श्री वासुपूज्य चरित्र का व्याख्यान करते रहे। तथा श्रावकों की प्रेरणा से आपने स्नात्र पूजा की रचना की। यहां घुटनों में कुछ दर्द हो जाने के कारण चौमासे के वाद भी आपको कुछ समय यहां पर ही ठहरना पड़ा। इस अवसर में श्री कमल विजय श्री वीर विजय और श्री कान्तिविजयजी महाराज अपने शिष्य परिवार के साथ गुजरांवाला में चौमासा पूरा करने के वाद आचार्यश्री के दर्शनार्थ जंडयाला में आये और आचार्यश्री से अपने नवीन साधुओं की बड़ी दीक्षा के निमित्त योगोद्वहन कराने के लिये प्रार्थना की। तव आचार्यश्री ने उक्त प्रार्थना को स्वीकार करते हुए, नवीन साधुओं को जडयाला में योगोद्वहन कराकर उनका छेदोपस्थापनीय सस्कार (वड़ी दीक्षा) पट्टी में जाकर कराया। जिन साधुओं को वड़ी दीक्षा से अलंकृत किया उनके गुरु सहित नाम इस प्रकार हैं—

मुनि श्री दान विजयजी—मुनि श्री वीरविजयजी महाराज के शिष्य।

मुनि श्री चतुर्विजयजी—
मुनि श्री लाभविजयजी— } मुनि श्री कांतिविजयजी महाराज के शिष्य।

मुनि श्री कर्पूरविजयजी—मुनि श्री उद्योतविजयजी महाराज के शिष्य।

मुनि श्री तीर्थविजयजी—मुनि श्री हसविजयजी महाराज के शिष्य।

मुनि श्री विवेकविजयजी—मुनि श्री वल्लभविजयजी महाराज के शिष्य।

छेदोपस्थापनीय संस्कार कराने अर्थात् नवीन साधुओं को योगोद्वहन कराकर बड़ी दीक्षा देने का यह आपके जीवन मे दूसरा मौका है, इससे पूर्व आपने श्री वल्लभविजय और श्री मोती विजयजी आदि नवीन साधुओं को पाली मे योगोद्वहन कराकर वड़ी दीक्षा दी थी।

पट्टी से बिहार करके आप जीरा में पधारे। पट्टी के श्रीसंघ की विनति को मान देते हुए आपश्री ने श्री वीरविजयजी और श्री कांतिविजयज को पट्टी में चौमासा करने की आज्ञा प्रदान की और स्वयं जीरा श्री संघ के विशेष आग्रह से १६५१ का चातुर्मास जीरा में किया। इस चातुर्मास में आपने कितनेक समय से आरम्भ किये हुए, स्व और परमत सम्बन्धी विवेचनीय विविध विषयों से भरपूर "तत्त्वनिर्णयप्रासाद" नाम के विशाल ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया—[जोकि आपश्री के स्वर्गवास के बाद प्रकाशित हुआ] यहां चातुर्मास के आरम्भ से कुछ समय पहले साध्वी श्री चन्दनश्री और छगनश्री बीकानेर से चलकर आचार्यश्री के दर्शनार्थ जीरा में पधारीं।

उनके पधारने से वहां के श्रावक और विशेष कर श्राविका समुदाय को बहुत हर्ष हुआ। आज से पहले उन्होंने प्राचीन जैन धर्म की वृत्ति रखने वाली सती साध्वी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया था। उनके साथ बीकानेर की एक बाई दीक्षा ग्रहण करने के लिये आई हुई थी, उसे आचार्यश्री ने दीक्षा देकर उसका गुणनिष्पन्न उद्योतश्री नाम रक्खा। इन साध्वियों के सम्पर्क में आने वाले श्राविका समुदाय को जो असीम हर्ष हुआ उसकी तो मात्र कल्पना ही की जा सकती है।

चौमासे के बाद बिहार करके आचार्यश्री पट्टी में पधारे और वि० सं० १६५१ माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन गुजरात से आये हुए स्फटिक रत्न के जिन बिम्बों तथा पंजाब के श्रावकों द्वारा लाये हुए जिन बिम्बों [जिन की संख्या ५० थी] की यहां अंजनशलाका करी, तथा पट्टी के नवीन जिन मन्दिर में श्री मनमोहन पार्श्वनाथ को प्रतिष्ठित किया, इस अंजनशलाका और प्रतिष्ठा का विधि पूर्वक सम्पादन भी बड़ोदे के गोकुलभाई दुल्लभदास आदि महानुभावों ने ही किया।

अध्याय १११

"अम्बाला का प्रतिष्ठा महोत्सव"

पट्टी में होने वाले प्रतिष्ठा महोत्सव के समय पंजाब के अन्य शहरों के भाई भी काफी संख्या में आये हुए थे, जिन में अम्वाले से आने वाले भाइयों में श्री नानकचन्द (केसरीबाजा), वसंतामल, उद्दममल, कपूरचन्द, भानामल और गंगारामजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जिस समय आचार्यश्री का विचार पट्टी से लाहौर की तरफ विहार करने का हुआ उस वक्त इन सबने हाथ जोड़कर आपसे अर्ज की कि महाराज ! आपश्री की कृपा से हमारे शहर में मन्दिर तैयार होगया है, आप लाहौर के बदले अम्वाले पधारने की कृपा करें। वहां के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराकर हमारे मनोरथ को भी पूरा करें, यही आपश्री के चरणों में हमारी आग्रह भरी प्रार्थना है। कृपानाथ ! काल का कोई भरोसा नहीं, हमारे जीते जीते वहां भी प्रतिष्ठा हो जावे यही अभिलाषा है। इसलिये हम अनाथों को भी सनाथ बनाओ। अम्वाला के श्रावक वर्ग की इस हार्दिक विनीत प्रार्थना ने आचार्यश्री के विचार को बदल दिया और उन्होंने लाहौर के बदले अम्वाले को विहार कर दिया। अम्वाला पहुँचने पर पूर्वोक्त डाक्टर त्रिभुवनदास मोतीचन्द शाह ने आपकी दूसरी आंख के मोतिये का ऑपरेशन किया और उससे आपके दूसरे द्रव्यनेत्र में फिर से प्रकाश आगया। परन्तु डाक्टर साहब के मना करने से आपने अम्वाला के इस चातुर्मास में [जो कि सं. १९५२ में किया] व्याख्यान वाचना बन्द रक्खा।

पर्युषणा पर्व के लगभग मि० वीरचन्द राघवजी गांधी अनुमान दो वर्ष के बाद अमेरिका आदि देशों का भ्रमण करके वापिस लौटने पर सर्व प्रथम आपके पास पहुँचे और चिकागो की सार्वधर्म परिषद् की १७ दिनकी सारी कार्यवाही कह सुनाई। उसे सुनकर आचार्यश्री बहुत प्रसन्न हुए और मि० वीरचन्द राघवजी गान्धी के इस धार्मिक प्रयास की अनुमोदना करते हुए आपने उनकी भूरि भूरि सराहना की एवं भविष्य में जिन शासन की प्रभावना के लिये सतत कटिबद्ध रहने की प्रेरणा देते हुए शुभाशीर्वाद दिया।

चातुर्मास की समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा के शुभ दिन में सम्पन्न होने वाले प्रतिष्ठा-महोत्सव के लिये अम्बाला श्रीसंघ की तरफ से तैयारियां होने लगीं। नगर के बाहर एक विशाल मंडप बान्धा गया, मैसाणा (गुजरात) से चान्दी का रथ और वड़ोदे से चान्दी का समोसरण मंगवाया गया, सब शहरों में प्रतिष्ठा महोत्सव पर पधारने के लिये आमंत्रण पत्रिकायें भेजी गईं। सिर्फ एक अड़चन थी सो गुरुदेव की कृपा से वह भी दूर हो गई, वह थी भगवान की सवारी को नगर में फिराने के लिये सरकारी आज्ञा का प्राप्त करना। सो वह भी मिलगई! हरएक व्यक्ति के मन में नया उत्साह और नई उमंगें थीं। गुलालवाड़ा (पडाल) इतना सजाया गया था कि देखने वाले मुग्ध हो जाते, प्रतिष्ठा महोत्सव में आचार्यश्री के प्रभाव से नगर की सारी जनता ने बड़े हर्ष से सहयोग दिया और इतनी धूमधाम हुई कि जिसकी कल्पना भी नहीं थी। निश्चित किये गये शुभ मुहूर्त पर भगवान श्री सुपार्श्वनाथ को पूरें विधि विधान के साथ मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया।

अध्याय ११२

"एक उल्लेखनीय घटना"

अम्वाला के इस प्रतिष्ठा महोत्सव में एक वड़ी ही विचित्र घटना का दृश्य उपस्थित हुआ। सुवह रथयात्रा-प्रभु की सवारी निकलने वाली थी उसके लिये सारी तैयारी की जा रही थी। शाम के वक्त अर्थात् चार वजे के करीव क्या देखते हैं, आकाश में चारों तरफ काले वादलों की घनघोर घटायें छा गईं। थोड़ी २ वूंदें भी गिरने लगीं।

इससे कुछ समय पहले आचार्यश्री कितने एक साधुओं को साथ लेकर वाहर स्थडिल पधारे और जव स्थडिल भूमि से वापिस उपाश्रय को आरहे थे तो रास्ते में उनसे आगे आगे तीन चार मुसलिम भाई आपस में वातें करते जारहे थे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि उनके पीछे कोई आ रहा है। परन्तु उनकी वाते आचार्यश्री को सुनाई दे रही थीं। एक वोला-कि आसमान पर छाये हुए ये काले वादल कभी वरस पड़े तो इन विचारे जैनियों के तो सारे करे कराये पर पानी फिर जायगा। इनका नुकसान तो होगा ही मगर इसके साथ ही इन्होंने जो इतनी वड़ी तैयारी की है वह भी धरी की धरी रह जावेगी और इनके हौसले पस्त हो जावेंगे। इतने में दूसरा वोला भाई तुम्हारी वात तो ठीक है मगर इनकी खुश किस्मती-(सद्‌भाग्य) से इनका पीर (गुरु) आत्माराम जो कि वड़ा औलिया (पहुँचा हुआ) है-यहां पर हाजर है, इसलिये कोई तशवीश-चिन्ता की वात नहीं, तव आकाश को देखते हुए तीसरे के मुख से अचानक ही निकला कि-"या खुदा मेहर कर यह काम तो वावा आत्माराम का है, जो कि हिन्दू और मुसलमान को एकसी निगाह से देखता है, इसके नाम में तो कभी भी हर्जा नहीं होना चाहिये" इत्यादि।

इतना कहते हुए ये तो अपने दूसरे रस्ते को [जिधर उन्होंने जाना था] हो लिए और आचार्यश्री अपने मार्ग से चलते हुए साधुओं के साथ उपाश्रय में आये। आचार्यश्री के उपाश्रय में पधारने के वाद तुरन्त ही ला० गंगाराम, नानकचन्द और वसन्तामल आदि चार पांच मुख्य श्रावक वड़े घवराये हुए उपाश्रय

में आये और आचार्यश्री के चरणों को पकड़कर एकदम रोने लगे। यह देख परम कृपालु आचार्यश्री ने उन्हें चरणों से अलग करके आश्वासन देते हुए कहा-क्यों क्या हुआ ? इतने उदास और घबराये हुए क्यों हो ? तथा इस तरह बालकों की तरह रोने का क्या मतलब ? तब ला० गगारामजी बादलों की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए भर्राई हुई आवाज में बोले-गुरुदेव ! इन उमड़े हुए काले काले बादलों को देखकर हम सब हतोत्साह हो रहे हैं। अगर ये [जो कि इस समय तो छोटी छोटी बूंदें ही गिरा रहे हैं] बादल कहीं बरस पड़े तो फिर हमारा कोई ठिकाना है, कृपानाथ ! इस वक्त तो हमें एक मात्र आपश्री के चरणों का ही सहारा है। इतना कहते ही गिड़गिड़ा कर चरणों में गिर पड़े। इस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था।

तब आचार्यदेव उनको अपने चरणों पर से उठाते हुए हंसकर बोले इतना क्यों घबरा रहे हो, शासन देव की कृपा से सब ठीक हो जावेगा। जाओ अपने अपने काम में लगो ! हम तो क्या तुम्हारे लिये तो मुसलमान भी खुदा से अर्ज कर रहे हैं।

आचार्यश्री के इन वचनों से सबको धैर्य और सान्त्वना मिली। वे सब वहां से उठे और वन्दना नमस्कार करके प्रतिष्ठा सम्बन्धी भगवान् की सवारी के आयोजन में लग गये।

इधर रात भर बादलों की घटायें आती हैं और बिखर जाती हैं, इनको देखकर लोगों का मन भी कभी उत्साह से शून्य और कभी पूरित होता रहा। अन्त मे प्रातःकाल होते ही एक ऐसी विचित्र हवा चली कि उमड़े हुए बादलों का कहीं नामोनिशान भी नहीं रहा। धीरे २ सूर्य भगवान ने भी अपनी प्रकाश पूर्ण किरणों को फैलाना आरम्भ किया और लोगों के मुकलित और मुर्झाये हुए मन कमल एकदम खिल उठे। काफी दिन चढ़ने पर जुलूस की तैयारी का आरम्भ हुआ इतने में क्या हुआ कि आकाश में एक छोटीसी बदली उठी और वह सारे नगर में छिड़काव करके अदृश्य होगई। यह देख शहर की जनता के आश्चर्य का कुछ पारावार न रहा। हर एक स्त्री पुरुष के प्रसन्न मुख से यही निकलने लगा कि भगवान् का सवारी के लिये मार्ग का साफ और शुद्ध होना भी तो आवश्यक था जो कि इन्द्र महाराज ने कर दिया। इस घटना को जिन भाविक पुरुषों ने देखा उस वक्त तो उनका मन भी नगर की सड़को की मार्फिक धुलकर शुद्ध बन गया।

बड़ी सजधज से भगवान् की सवारी का जलूस निकला और नगर का शायद ही कोई ऐसा अभागा स्त्री पुरुष होगा जिसने रथ यात्रा के इस जुलूस को न देखा हो। मुहूर्त के समय प्रभु को गादी पर विराजमान किया गया और शांति स्नात्र आदि सारे विधि विधान के साथ प्रतिष्ठा का सारा काम सुचारु रूप से निर्विघ्नतया समाप्त होगया। देश काल के पूर्ण ज्ञाता और व्यवहार कुशल आचार्यश्री के इशारे पर प्रतिष्ठा-महोत्सव की खुशी में अम्बाला के श्री संघ ने बिना किसी भेद भाव के वहां के अन्य मतवालों के धर्म स्थानों-मन्दिर मसजिद और गुरुद्वारों का भी एक एक लड्डू और साथ में कुछ रकम

भेजकर व्यावहारिक सम्मान किया, जिससे वहां के श्री राघ पर अन्य लोगों के अनुराग में और भी वृद्धि हुई। समय के जानकार व्यवहार कुशल गुरुदेव की छत्र छाया तले व्यवहार कुशलता का काम होवें और उससे जनता में आकर्षण बढ़े यह तो स्वाभाविक ही था। अस्तु।

प्रतिष्ठा कार्य निर्विघ्न समाप्त होगया, बाहर से आई हुई जनता भी चली गई और गुरुदेव ने भी विहार कर दिया, परन्तु इसके बाद में वहां पर जो बनाव बना उसका भी पाठकों को दिग्दर्शन कराना कुछ उचित सा जान पड़ता है—

"यह तो सभी जानते हैं कि पंजाब में इन दिनों में भी वर्षा की बड़ी जरूरत रहती है और वर्षा होती भी जरूर है। परन्तु प्रतिष्ठा के बाद बादल आते और बिखर जाते बिना बरसे ही चले जाते, अम्बाले के आस पास के ग्रामों में वर्षा होती मगर अम्बाला शहर और उसकी सीमा तक में बिलकुल नहीं। बादल जरूर आते परन्तु बरसते नहीं। यह देख लोगों के मन में उदासी छाने लगी और वे तरह २ की कल्पनायें करने लगे। जहां कहीं पांच सात आदमी इकट्ठे होते, वहां इसी बात की चर्चा होने लगती। तब एक पुराने अनुभवी वृद्ध पुरुष ने कहा कि भाई तुम लोग मेरी बात पर विश्वास करो चाहे न करो, परन्तु वह जो बाहर जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा के मुहूर्त का झंडा गड़ा हुआ है, उसे जब तक वहां से उखाड़ा नहीं जाता तब तक वर्षा नहीं होगी। क्या तुम्हें याद नहीं कि प्रतिष्ठा के वक्त कैसे बादल चढ़कर आये थे, क्या उनके बरसने में कुछ सन्देह था? मगर नहीं, सारे के सारे बिना बरसे ही चले गये। तब एक युवक ने कहा—हां बाबाजी! बात तो ऐसे ही बनी थी। फिर अब क्या करना चाहिये?

वृद्ध पुरुष—मेरा तो यह विचार है कि तुम पांच सात आदमी मिलकर यहां के ला० नानकचन्द, केसरीवाला और ला० गंगारामजी आदि मुख्य २ जैनों से मिलो और कहो कि लालाजी! आपका प्रतिष्ठा-महोत्सव निर्विघ्नता पूर्वक बड़ी शान्ति से सम्पूर्ण होगया, शहर के लोगों ने भी उसमें यथा शक्ति पूरा २ सहयोग दिया, आपका सब कार्य पूर्ण होगया, कोई बाकी नहीं रहा और प्रतिष्ठा में आये हुए बाहर के लोग गये तथा गुरु महाराज भी विहार कर गये, तात्पर्य कि भगवान की कृपा से आपका प्रतिष्ठा सम्बन्धी सारा काम बड़ी अच्छी तरह से होगया। परन्तु अब तो आपके प्रतिष्ठा मुहूर्त के लिये गाड़े गये झंडे की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, इसलिये यदि आप उस झंडे को अब वहां से उखाड़ लेवे तो आपकी बड़ी मेहरबानी हो। लोगों का ऐसा कहना और मानना है कि जब तक वह झंडा वहां से उखाड़ा नहीं जावेगा, तब तक हमारे इस शहर में वर्षा नहीं होगी। यह तो आप भी देख रहे हैं कि हमारे आस पास में तो वर्षा हो रही है और अपनी हद में बिलकुल नहीं, बादल आते हैं और बिना बरसे चले जाते हैं। इत्यादि।

वृद्ध के इस कथन पर लोगों की कुछ आस्था जमी और पांच सात संभावित गृहस्थ मिलकर ला० गंगारामजी आदि श्रावकों के पास गये और ऊपर कहा गया सारा वृतान्त उनसे कहा। तब ला० गंगारामजी ने उनका सभ्यता भरे शब्दों में स्वागत करते हुए कहा कि बड़ी खुशी से आप लोगों के इस निवेदन को सम्मान दिया जावेगा। आप लोगों की सहानुभूति और सहयोग से हमारा यह धर्म कार्य हमारी आशा से भी बढ़कर सफलता से सम्पन्न हुआ है। अब हमें इस झंडे की कोई जरूरत नहीं। गुरु महाराज आजकल लुधियाने में बिराजमान हैं, मैं आज ही वहां जाता हूँ। वहां गुरु महाराज की सम्मति लेकर जिस विधि से झंडे को वहां से उखाड़ना योग्य होगा, उसके अनुसार उखाड़ लिया जावेगा। जहां तक बन पड़ेगा, इसका कल ही प्रबन्ध कर लिया जावेगा। इस विषय में आप बिलकुल बेफिक्र रहें। इतना वार्तालाप करने के बाद आये हुए सद् गृहस्थों ने तो अपने २ घरों का रास्ता लिया और ला० गंगारामजी लुधियाने पहुँचने के लिये रेल्वे स्टेशन को रवाना होगये।

लुधियाने पहुँचने पर लालाजी ने सारा वृतान्त गुरुदेव को कह सुनाया। आचार्यश्री ने ला० गंगारामजी के कथन को ध्यान पूर्वक सुना और हंसते हुए बोले-ये भोले लोग तो मन में यही समझ रहे होंगे कि महाराजश्री ने वर्षा को बांध रक्खा है। अस्तु, अब तो तुम्हें इस झंडे की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर किसलिये लोगों को वहम में रखना, अतः तुम तुमारा अवसर देख लो।

आचार्यश्री के इतने फर्माने पर ला० गंगारामजी अपने गृहस्थोचित कर्तव्य को समझ गये और आचार्यश्री को वन्दना करके वापिस अम्बाले आगये। आने पर अपने साथियों को इकट्ठा करके सारी बात समझादी और एक जानकार व्यक्ति को साथ लेकर ध्वजा को वहा से विसर्जित कर दिया। व्यष्टि अथवा समष्टि में सामूहिक रूप से उत्पन्न होने वाली मानसिक एकाग्रता में कितना बल होता है, इसे योगी अथच मैसमेरेजम के ज्ञाता लोग बखूबी समझते हैं। इसे गुरुदेव का जीवन चमत्कार समझो अथवा दैवी घटना कहो, ध्वजा का विसर्जन होते ही आकाश में बादल दिखाई देने लगे और आन की आन में इकट्ठे होकर इतने बरसे कि अम्बाले में चारों तरफ पानी ही पानी दिखाई देने लगा। लोगों की मुर्झाई हुई मानस लतायें एक दम हरी भरी हो उठीं अम्बाले की जनता पर इस घटना का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और गुरुदेव के प्रति उनकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ी।

अध्याय ११३

"लुधियाने में जिनमन्दिर का प्रारम्भ"

अम्वाले की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पूर्ण हो जाने के वाद आचार्यश्री लुधियाने पधारे। वहां पर किसी सांसारिक सम्वन्ध को लेकर बिरादरी में विरोध पड़ा हुआ था। आपश्री ने आते ही सवको बुलाया और समझा बुझाकर सवके मनको शान्त करदिया, जिससे विरोध दूर होकर सवका आपस में सन्तोष होगया।

संघ में मेल होजाने के वाद वहां मन्दिर का आरम्भ होगया। मन्दिर के वनाने में आरम्भिक श्रेय वहां के क्षत्रिय ला० रामदित्तामल को प्राप्त है जो कि आचार्यश्री के परम भक्त और उन्हीं के सदुपदेश से जैनधर्म के श्रद्धालु वने। सर्व प्रथम मन्दिर के लिये अपनी दो दुकानें उन्होंने ही दी थीं। वाद में दो दुकानें ला० खुशीराम आदि ने प्रदान की, वाद में श्रीसंघ ने मन्दिर का आरम्भ किया जो कि इस समय अपने अपूर्व सौन्दर्य का परिचय दे रहा है और इसमें विराजमान भगवान श्री कलिकुंड पार्श्वनाथ की दर्शनीय भव्य प्रतिमा तो अपने स्वरूप की एक ही है।

अध्याय ११४

"आपके प्रवचनों की कुछ रहस्यपूर्ण बातें"

लुधियाने में आपश्री के पधारने पर जितना हर्ष लुधियाने के जैन सघ को होता, उससे कहीं अधिक वहां के जैनेतर समुदाय को होता था। इसलिये आपके प्रतिदिन के प्रवचनों में जैनों की अपेक्षा अन्य मत के लोगों की अधिक संख्या होती। पंजाब में गुजरात की भांति पक्षपात और विचार संकोच बहुत कम है, वहां किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का विद्वान-फिर वह साधु हो या गृहस्थ-चलाजाय उसके भाषण या उपदेश को सभी मतमतान्तर के लोग सुनने को आते और शका समाधान करते। इसी प्रकार आचार्यश्री के प्रवचनों को लोग बड़ी श्रद्धा से सुनते और किसी को किसी विषय पर कोई सन्देह हो तो वह पूछता और आचार्यश्री उसका शांतिपूर्वक सन्तोषजनक उत्तर देते। एक दिन व्याख्यान में प्रसंगोपात्त आपश्री ने फर्माया कि संसार में जीवों की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है उसी के अनुसार वे वस्तु तत्त्व को ग्रहण करते हैं, इसलिये कभी कभी उनका ग्रहण किया हुआ सत्य भी असत्य होजाता है और असत्य, सत्य बनजाता है। जैसे एक ही तालाव का पिया गया पानी गाय में दूध होजाता है और सर्प में विष बनजाता है। इसी प्रकार विचारशील सम्यग्-दृष्टि पुरुष तो असद् वस्तु में भी आंशिक रूप से विद्यमान सदंश को अपनाता हुआ उसे सत्य ठहरालेता है और मिथ्या दृष्टि-विचार विधुर वस्तु के सतस्वरूप को भी मिथ्या समझता हुआ उसे असत्य प्रमाणित करता है § तात्पर्य कि सम्यगदृष्टि जीव मिथ्या श्रुत को भी अपने सद्विचारों में गर्भित करता हुआ उसे सम्यक् श्रुत बनालेता है और मिथ्या दृष्टि जीव अपने परिणामों के अनुसार सम्यक् श्रुत को भी मिथ्या बना डालता है।

---

§ श्री नन्दीसूत्र की निम्नलिखित गाथा का भी यही भावार्थ है—

"समदिट्ठि परिगहियाणि मिच्छासुत्ताणि समसुत्ताणि।
मिच्छादिट्ठि परिगहियाणि समसुत्ताणि मिच्छासुत्ताणि॥

यह सुनकर श्रोताओं मे से श्री रामदित्ता मल क्षत्रिय ने कहा कि-महाराज ! इस बात को किसी दृष्टान्त के द्वारा समझाने की कृपा करे। आचार्यश्री ने फर्माया कि भाई दृष्टान्त तो बहुत हैं, परन्तु तुम्हारे घर का और तुम्हारे लिये उपयोगी, ऐसा ही एक दृष्टान्त सुनाते हैं—

मनुस्मृति में एक श्लोक आता है—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

इसका अर्थ आम लोग यह करते हैं कि मांस भक्षण में, मदिरा पीने में और मैथुन सेवन में दोष नहीं क्योंकि सांसारिक जीवों की इन कामों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और इनसे निवृत्त होना महान् फलदायक है। अब इसमें विचार करने योग्य बात यह है कि जो काम निर्दोष है अर्थात् जिसके आचरण में कोई दोष नहीं है तो उसके त्याग करने में महाफल कैसे होगा ? जो काम दोष युक्त होगा उसके त्यागने में तो अच्छा फल हो सकता है,परन्तु जिसमें कोई दोष नहीं उसके त्याग का उपदेश कैसे उचित समझा जावे। यह कथन तो स्वयं ही अपने आपको मिथ्या ठहराता है। न्याय शास्त्र के अनुसार इसमें वदतो व्याघात दोष उपस्थित होता है। जैसे कोई कहे कि "मम मुखे जिह्वा नास्ति" अर्थात् मेरे मुख में जबान नहीं, "अथवा मम माता वन्ध्या" मेरी माता वन्ध्या है, जैसे यह कहना असगत है ऐसे ही जिसमें दोष नहीं उसके त्यागने को महान् फल का जनक बतलाना भी असगत है। परन्तु मनु जैसे महापुरुष का कथन इतना असगत हो यह भी कैसे माना जाय। इसलिये विचारशील पुरुष इस श्लोक मे रहे हुए रहस्य को ढूंढ निकालता है और इसे संगत बना देता है। अब जरा इसके परमार्थ की ओर ध्यान दीजिये ! उक्त श्लोक मे "मांस भक्षणे, मद्ये मैथुने" ये तीनों शब्द एकारान्त हैं और इनमें सातमी विभक्ति है, इन तीनों के आगे अकार है, जिसका व्याकरण के नियमानुसार लोप हो रहा है। जैसे कि-"न मांसभक्षणे अदोषः" इसमें एकार के आगे "अदोषः के अकार का लोप होकर "न मांसभक्षणेऽदोषः" ऐसा रूप बन जाता है तब इसका अर्थ होता है कि "कि मांस भक्षणेऽदोष. इति न किन्तु दोष एव" अर्थात् मांसभक्षण में दोष नहीं है ऐसा नहीं किन्तु दोष ही है, कारण कि इनमें जीवों की प्रवृत्ति अर्थात् हिंसा होती है इसलिये इससे निवृत्त होना अर्थात् इसका त्याग करना महान् फल के देने वाला है। इसी प्रकार मद्य और मैथुन के विषय में भी समझ लेना। इस प्रकार विचारशील पुरुष पदार्थ में रहे हुए परमार्थ को ढूंढ निकालता है।

मनुस्मृति के उक्त श्लोक के रहस्य पूर्ण अर्थ को सुनकर वहां पर उपस्थित श्रोता लोग बड़े प्रसन्न हुए और सभी आचार्यश्री की मुक्तकठ से प्रशंसा करने लगे।$

$ जैनाचार्यों ने—"ॐ भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" इस गायत्री मत्र का अर्थ भी बडा रहस्य पूर्ण किया है। इसके लिये देखो आचार्यश्री के रचे हुए "तत्व निर्णय प्रसाद" के ११ वें स्तम्भ का पृ० २८०।

आचार्यश्री के इस अर्थ को सुनकर श्रोताओं में से एक सूद बिरादरी के सज्जन ला० मोहकमचन्द ने बड़ी नम्रता से कहा कि महाराज ! यमुना नदी में नंगी स्नान करने वाली गोपियों के वस्त्र उठाकर लेजाने और नग्नरूप में जल से बाहर निकल कर उन्हें ग्रहण करने आदि का जो प्रसग भागवतादि पुराण ग्रन्थों मे सुना जाता है, उसका परमार्थ समझाने की भी आप अवश्य कृपा करें । साथ में अन्य श्रोताओं ने भी आचार्यश्री से इसके लिये प्रार्थना की ।

आचार्यश्री—भाइयो ! तुम लोगों की यदि यही इच्छा है तो मैंने इसका जो परमार्थ समझा है, उसे सुना देता हूँ । तुम लोगों को वह उचित लगे तो उसे ग्रहण कर लेना अन्यथा मेरा कथन मेरे ही पास रहने देना । आज से पूर्व तो कभी सभा में इसका अवसर आया नहीं परन्तु आज आप लोगों ने यह प्रसंग चला दिया है इसलिये कहेदेता हूँ । भगवान् की वंसी, कदम वृक्ष, यमुना नदी और गोपियां इन शब्दों का परमार्थ मेरे विचारानुसार तो इस प्रकार है-कदम वृक्ष तो देवाधिदेव का समवसरण है और वंसी भगवान् की वाणी है, गोपियां जगद्वासी जीव हैं और पांचों इन्द्रियों के विपय रूप यमुना नदी का जल है । एवं कदम वृक्ष पर बैठने और बंसी बजाने वाले गोपाल रूप वीतराग देव हैं । संसारवासी जीव ज्ञान और क्रियारूप वस्त्रों को त्यागके विपयरूप यमुना नदी के काले पानी में निर्लज्ज होकर स्नान कर रहे हैं । उन्हें भगवान् अपनी वाणीरूप वंसी को सुनाते हुए यह उपदेश दे रहे हैं कि-तुम विपयवासना रूप यमुना के जल से बाहर निकलो अर्थात् विपयों को त्यागो, इसी रूप में हाथ जोडो और नियम लो, तव तुम्हारे ज्ञान और क्रियारूप वस्त्र तुम्हें वापिस मिलेंगे । यह इसका परमार्थ है । महात्मा आनन्दघनजी फरमाते हैं—

गगन मंडल में गाय वियानी, धरती दुद्ध जमाया ।
माखण तो विरले ने पाया, छाछ जगत भरमाया ॥

अर्थात् आकाश मंडल में यानि पृथिवी से ऊंचे समवसरण में विराजमान होकर प्रभु ने यह उपदेश दिया कि गो, नाम वाणी का है, उसका वियाना यानि पृथिवी पर प्रकाश होना है, उस वाणीरूप विलोने से निकला हुआ तत्त्वरूप माखन तो किसी विरले को ही प्राप्त होता है-अर्थात् यथार्थ तत्त्व को समझने वाला तो कोई विरला ही होता है और छाछरूप असार एवं अतत्त्वरूप वस्तु में तो सारा जगत ही भरमा रहा है । शास्त्रों में भगवान् को महागोप की उपमा दी गई है, वे जगतवासी जीवों को अपनी वाणी के द्वारा सन्मार्ग पर लाने से गोप या महागोप कहे जाते हैं । गोप शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है परम संयमी अथच सत्यवक्ता-आप्त पुरुप । गोपति रक्षतीति गोपः गगो नाम वाणी और इन्द्रियों का है, उनके संरक्षक को गोप कहते हैं । इसलिये विचारशील पुरुप को हर एक पदार्थ में रहे हुए सत्यांश को खोजने का यत्न करना चाहिये, तभी यथार्थ रूप से वास्तविक तत्त्व को उपलब्ध कर सकता है । आज के प्रवचन में इतने

मात्र से ही आप लोग सन्तोष करें, बाकी फिर कभी सुनाया जावेगा।

आचार्यश्री के इस रहस्यपूर्ण वचनों को सुनकर सारे श्रोतागण वाह् वाह् कर उठे। सबके मुख से "धन्य है, धन्य है" ऐसी ध्वनि निकलने लगी। थोड़ी देर के बाद सभा विसर्जन हुई और सब लोग प्रसन्न-चित्त से अपने अपने घरों को प्रस्थित हुए।
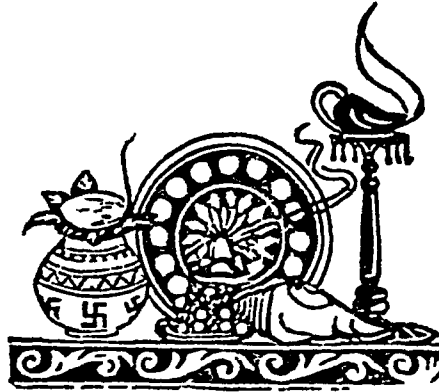
अध्याय ११५

"सनखतरे का प्रतिष्ठा महोत्सव"

लुधियाना की जैन जैनेतर सारी जनता ने आचार्यश्री को चातुर्मास रहने की प्रार्थना की और आचार्यश्री का चातुर्मास करने का विचार भी होगया परन्तु इस अवसर में सनखतरा [जिला स्यालकोट] के रईस ला० अनन्तराम, गोपीनाथ, प्रेमचन्द और ताराचन्द आदि श्रावकों ने आपश्री के चरणों में उपस्थित होकर अर्ज की कि महाराज ! अम्बाले की प्रतिष्ठा के समय आपश्री ने फर्माया था कि यदि सनखतरे का मन्दिर तैयार होगया हो और प्रतिष्ठा करने का विचार हो तो सं० १९५३ की वैशाख शुदि पूर्णिमा का मुहूर्त निकलता है, जोकि हर एक दृष्टि से शुद्ध है। इस पर लाला अनन्तरामजी ने कहा था कि मैं सनखतरे जाकर सब भाईयों से सलाह करके आपश्री को पता भेज दूंगा इत्यादि। सो कृपानाथ ! मन्दिर बिलकुल तैयार होगया है और आपश्री के फर्माये हुए मुहूर्त पर ही हम सब प्रतिष्ठा कराने का निश्चय कर चुके हैं। वह दिन हमारे लिए बड़ा ही अहोभाग्य का होगा जब कि आपश्री वहां पधार कर इस शुभ कार्य को अपने वरद हाथ से कराने की कृपा करेंगे। हम लोग इस विषय से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। प्रतिष्ठा के लिए क्या करना और क्या नहीं करना, यह हम कुछ भी नहीं जानते। इतना तो हमको पूर्ण विश्वास है कि आपश्री के वहां पधारने से हमारा सब कार्य अच्छी तरह से सम्पन्न होगा। इसलिये हम सबकी आपश्री के चरणों में यही प्रार्थना है कि आप प्रतिष्ठा के दिन से महीना दो महीना पहले ही सनखतरा में पधारने की कृपा करें। यही हमारी आपके श्री चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

सनखतरे के भाईयों की उक्त प्रार्थना को ध्यान में लेते हुए आचार्यश्री ने लुधियाने से विहार कर दिया और क्रमशः फगवाड़ा, जालन्धर, जडयाला और अमृतसर होते हुए आप नारोवाल में पधारे। यहां पर अनुमान १५ दिन रहकर प्रतिष्ठा के निमित्त आप सनखतरे में आये।

यहां का मंदिर देखकर आपको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। यह मंदिर सारे पंजाब में अपनी किसम का एक ही है। मंदिर को देखते ही शत्रुञ्जय तीर्थराज की श्री आदीश्वर भगवान् की भव्य टोंक का स्मरण हो जाता है, उसी ढव पर इस मन्दिर का निर्माण हुआ है। मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए तभी तो आचार्यश्री ने सेवक से कहा था, अरे वल्लभ! क्या हम शत्रुञ्जय पर चढ़ते हैं? तात्पर्य कि इस मन्दिर का नकशा भी सिद्धगिरि पर विराजमान श्री ऋषभ देव भगवान की टोंक जैसा ही है।

आचार्य श्री के पधारने पर सनखतरा के श्रावक समुदाय में एक नये ही उत्साह की लहर जाग उठी! वह आनन्द विभोर होकर पूरे उत्साह के साथ प्रतिष्ठा के कार्य में एक मन होकर जुट गया।

प्रतिष्ठा महोत्सव [सैकड़ों प्रतिमाओं की अंजनशलाका] में पधारने के लिये पंजाब, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़, मालवा और यू० पी० आदि देशों के प्रसिद्ध २ सभी नगरों में आमन्त्रणपत्र भेजे गये। उन आमन्त्रणपत्रों को वांच कर कपडवज के श्रावक शाह शंकरलाल वीरचन्द और अहमदावाद के श्रावक ठाकुरदासजी आचार्यश्री के हाथ से अंजनशलाका के लिए बहुत से नवीन जिनबिम्बों को लेकर सनखतरे आये। सनखतरे के श्रावक अभी उनकी रिहायश का प्रबन्ध कर ही रहे थे कि इतने में बम्बई के सेठ श्री तिलकचन्द माणिकचन्द जे. पी. की तरफ से भेजे गये-श्री मणिलाल छगनलाल भी कितने एक जिनबिम्ब लेकर आ पहुँचे और इनके साथ ही श्री शत्रुँजय तीर्थ पर के श्री मोतीशाह के कारखाने से अंजनशलाका के निमित्त नवीन जिनबिम्बों को लेकर वहा का माली और पुजारी भी आये। तथा वड़ोदेवाले गोकुलभाई, दुल्लभदास और छाणी के नगीनदास गड़बड़दास भी प्रतिष्ठा विधि के निमित्त आये और आते हुए वड़ोदा, अहमदावाद, मैसाणा, छाणी, वरतेज, जयपुर और दिल्ली आदि शहरों के श्रावकों के बनवाये हुए बहुत से रत्नमय और पाषाणमय जिनबिम्बों को अंजनशलाका के लिये साथ में लाये। कुल मिलाकर २७५ जिनबिम्ब अंजनशलाका के लिये लाये गये। इनको सनखतरा के मन्दिर में तीन वेदियों पर विराजमान किया गया और इनके मूलनायक तरीके श्री ऋषभदेवजी को प्रतिष्ठित किया गया था। मूलनायक सहित तीनों वेदियों में विराजमान दर्शनीय जिनबिम्बों को देखकर उस वक्त तीर्थराज श्री शत्रुँजय पर के सिद्धघरे की याद ताजा हो आई थी, आचार्यश्री की देख रेख नीचे श्री वर्द्धमानसूरि विरचित आचार दिनकर के अनुसार श्री गोकुल भाई और नगीनदासजी ने विधिपूर्वक सबका अंजनशलाका रूप सस्कार कराया। मुहूर्त के समय आचार्यश्री ने श्री धर्मनाथ को मन्दिर की वेदी पर प्रतिष्ठित कराया। इस प्रकार बाहर से आये हुए जिनबिम्बों की अंजनशलाका और मंदिर में श्री धर्मनाथ प्रभु को प्रतिष्ठित कराकर सनखतरा के श्रीसंघ के मनोरथ को आचार्यश्री ने पूर्ण किया। अंजन शलाक के निमित बाहर से आये जिन बिम्बों मे से कितने

एक तो श्री शत्रुंजय तीर्थ पर कपड़वंज की सेठानी माणिक बाई के बनवाये हुए नवीन जिनमन्दिर में प्रतिष्ठित किये गये तथा अपने २ शहर के मन्दिरों में प्रतिष्ठित करने के लिए जो जिनबिम्ब लाये गये थे, उन्हें वहां पर प्रतिष्ठित किया गया और मोतीशाह सेठ वाले जिनबिम्बों को शत्रुंजय तीर्थ पर मोतीशाह की टूंक में विराजमान किया गया। उनमें श्री नेमिनाथ भगवान की लाजवर्द रत्न की एक मूर्ति अंजनशलाका और प्रतिष्ठा की यादगार कायम रखने के लिए वहीं सनखतरे के मन्दिर में स्थापन की गई।

अध्याय ११६

"लाला नत्थूमलजी का रहस्यगर्भित प्रश्न"

सनखतरे के मन्दिर की प्रतिष्ठा का सारा कार्य सुचारु रूप से सम्पूर्ण होजाने के बाद प्रतिष्ठा महोत्सव पर आये हुए होशयारपुर के सुप्रसिद्ध धर्मात्मा श्रावक ला० गुजरमल और नत्थूमलजी आचार्यश्री को वन्दना करके उनके चरणों का स्पर्श करते हुए वहीं पर बैठ गये। कुछ क्षण मौन रहने के बाद ला० नत्थूमल ने आचार्यश्री से पूछा गुरुदेव ! क्या किसी श्रद्धालु श्रावक ने किसी आचार्य देव की उनके जीवनकाल में ही उनकी मूर्ति बनाकर प्रतिष्ठित की है ?

आचार्यश्री — हां ! राजा कुमारपाल ने श्री हेमचन्द्राचार्य की मूर्ति उनके जीवन काल में ही प्रतिष्ठित की थी।

ला० नत्थूमल — तब तो गुरुदेव ! हमारा अभिलषित सिद्ध होगया ! आप इस युग के हेमचन्द्राचार्य हैं और मेरे यह मित्र ला० गुजरमलजी कुमारपाल। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने कुमारपाल को प्रतिबोध देकर धर्म का अनुरागी बनाया और आपश्री ने हम सबको धर्म पर दृढ़ किया। राजा कुमारपाल का आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि में अनन्यानुराग था और हम सब आपश्री के चरणों के अनन्य पुजारी हैं। गुरु चरणों के जिस गुणानुराग ने कुमारपाल को आचार्यश्री की मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठित करने की उज्ज्वल प्रेरणा दी। वही गुरु चरणों का प्रशस्तराग ला० गुजरमलजी को अपने सद् गुरुदेव की भव्य मूर्ति बनवाकर मन्दिर में प्रतिष्ठित करने की सबल प्रेरणा दे रहा है। और इस विषय मे आपश्री की क्या सम्मति है, यह पूछने का तो हमें इस वक्त अवकाश ही नहीं है। गुरुदेव ! जहां भक्तों को भगवान् की आज्ञा-शिरोधार्य करनी होती है वहां कभी २ भक्त भी भगवान् से अपना कहा करा लेते हैं। इतना कहने के अनन्तर पास में बैठे हुए जयपुर के कारीगर को इशारा किया और उसने उठकर आचार्यश्री के शरीर की ऊंचाई और बैठक का माप ले लिया।

तदनन्तर मूर्ति बनाने की आज्ञा देते हुए ला० गुज्जरमल ने उस कारीगर से कहा–देखो गुरुदेव की मूर्ति में कोई खामी न रहनी पावे वह अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक होनी चाहिये। और जहांतक बने जल्दी से जल्दी तैयार करने की कोशिश करना, इसके लिये तुम्हें मुँह मांगे पैसे और साथ में इनाम भी दिया जायगा। इतना कहने के बाद आचार्यश्री के चरणों का स्पर्श करते हुए ला० गुज्जरमल ने कहा कि गुरुदेव ! आज मेरी मनोकामना पूर्ण हुई। जिससे मैं अपने को बहुत भाग्यशाली ही मानता हूँ। आप जैसे महान् उपकारी सद्गुरु का पुण्य संयोग मुझे भव भव में प्राप्त होता रहे यही शासन देव से मेरी बार बार प्रार्थना है।

आचार्यश्री—अच्छा भाई ! तुम्हारी जैसी भावना। तुम्हारे जैसे सुलभ बोधी जीव भी संसार में विरले ही होते हैं।

आचार्यदेव की नितान्त सुन्दर और मनोनीत मूर्ति जयपुर से बनकर आगई और बड़े समारोह के साथ होशयारपुर के विशाल देवमन्दिर में उसे विधि पूर्वक प्रतिष्ठित किया गया परन्तु यह कहते हुए अत्यन्त खेद होता है कि मूर्ति बनकर आने और मन्दिर में उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने से पहले ही गुरुदेव स्वर्ग सिधार गये, उसकी प्रतिष्ठा का सारा भार मुझ किंकर पर छोड़कर।

गुरुदेव के स्वर्गवास से लगभग चार वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० १९५७ के वैसाख मास में उसे प्रतिष्ठित किया गया।

अध्याय ११७

"गुजरांवाला में वहां के लिये"

—⁂—

गुजरांवाले, में एक विशाल सरस्वती मन्दिर § विद्यालय की स्थापना करने की सद्भावना से आपने ज्येष्ट कृष्णा षष्ठी के दिन सनखतरे से विहार कर दिया। परन्तु विहार का यह दिन जैन ससार के लिये बड़ा ही मनहूस–अनिष्टप्रद सावित हुआ। यद्यपि चातुर्मास निकट था और गर्मी प्रतिदिन अधिक होती जा रही थी फिर भी चातुर्मास के आरम्भ होने से पहले २ आपका विचार पसरूर, स्यालकोट और जम्मू आदि नगरों को पावन करने के बाद गुजरांवाला पहुंचने का था। इसलिये सनखतरे से विहार करके किला सोभासिंह होते हुए आप पसरूर में पधारे। यद्यपि आपका इरादा यहां पर पांच सात दिन ठहर कर जनता को धर्मोपदेश करने का था परन्तु साधुयोग्य आहार पानी की सुविधा न होने से आपको उसी दिन करीवन चार वजे-विहार करना पड़ा।§ वहां से छछरांवाली, सतराह और सोरावाली होते हुए

---

§ जिस समय आचार्यश्री लुधियाने (१९५२) में विराजमान थे, उस वक्त आपके श्रद्धालु एक क्षत्रिय ने आपसे कहा कि महाराज! आप मन्दिर वनवा रहे हैं यह तो ठीक, परन्तु इनके श्रद्धालु पुजारी पैदा करने के लिये आपको सरस्वती मन्दिरों की स्थापना की ओर भी लक्ष्य देना चाहिये! इस पर आपश्री ने फर्माया—प्यारे! तुमारा कहना ठीक है, मैं भी इस वात को समझता हूँ परन्तु सर्व प्रथम इनकी—श्रावकों की—श्रद्धा को कायम रखने के लिये इन मन्दिरों की आवश्यकता थी सो यह काम तो प्राय. पूर्ण हो चुका और इसमें जो कमी होगी, वह भी धीरे २ पूरी हो जावेगी। अब मै सरस्वती मन्दिरों की स्थापना की ओर ही अधिक ध्यान देने का यत्न करूंगा। इसके लिये गुजरांवाला ही सारे पंजाव मे अधिक उपयोगी हो सकता है। मैं अब उसी तरफ विहार कर रहा हूँ, अगर जीवन ने साथ दिया तो वैसाख में सनखतरे की प्रतिष्ठा कराकर सीधा गुजरांवाला पहुंच सर्व प्रथम इसी काम को हाथ मे लेने का यत्न करूंगा। [मगर अफसोस! काल की क्रूरता ने आचार्यश्री की यह सद्भावना उनके जीतेजी फलीभूत होने नहीं दी]

§ पसरूर में उन दिनों शुद्ध सनातन जैनधर्म के अनुयायी एक भी श्रावक का घर नहीं था। सबके सब ढूंढक मतके ही कट्टर पुजारी थे। इसलिये वहां से साधु के ग्रहण योग्य प्रासुक उष्ण जल पीने के लिये उपलब्ध नहीं हुआ और

वड़ाला ग्राम में पधारे। रात्रि को आधी रात के वाद श्वासरोग का आक्रमण बढ़ा और प्रतिक्षण बढ़ता ही गया जिससे एक कदम चलना भी कठिन होगया। एक दिन का सफर बड़ी कठिनता से तीन दिन में पूरा किया [शरीर के पूरे सहयोग के विना अकेला मनोबल कितना सफल हो सकता है ?]

लगभग १६ वर्ष के बाद ज्येष्ठ सुदि २ के दिन आचार्यश्री का गुजरांवाला में पधारना हुआ। गुजरांवाला श्री संघ ने बड़े समारोह के साथ आपका भव्य स्वागत किया और बड़ी धूमधाम के साथ आपका नगर में प्रवेश कराया गया। उपाश्रय में पहुंचने के बाद आपने थोड़ी देर आराम किया और फिर अपने दैनिक कृत्य में लग गये। आपकी शारीरिक अवस्था की ओर ध्यान देते हुए श्रावकों के मन चिन्तित थे, सब सेवकों ने प्रार्थना की कि किसी निपुण वैद्य से इस रोग की चिकित्सा कराई जावे। परन्तु आपने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यद्यपि भीतर में रोग बढ़ रहा था, फिर भी आपके प्रसन्न वदन पर मुस्कराहट खिल रही थी, और आंखों में ज्योति टपकती थी। अपने कष्ट को कर्मजन्य समझकर बड़ी शांति से सहन कर रहे थे, और अपने दैनिक क्रिया कलाप में साधारणतया लीन रहते थे। गुजरांवाला में बहुत वर्षों के बाद आपका आगमन हुआ था, इसलिये आपके दर्शनाभिलाषी प्रतिदिन बहु संख्या में आते थे। दिन रात पंडितों और मौलवियों से वार्तालाप में व्यतीत होता था। ज्येष्ठ सुदि सप्तमी के दिन रात्रि के प्रतिक्रमण से निवृत्त होकर संथारा पोरसी करने के बाद आप लेट गये। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद उठ बैठे और ध्यान में मग्न हो गये। ध्यान समाप्त होते ही श्वास का वेग कुछ प्रबल हो उठा। समीप में सोये हुए साधुओं को जगाया और कहा कि आज मेरी तबीयत कुछ अधिक बिगड़ी हुई प्रतीत होती है। यह सुनकर सारा ही शिष्य परिवार चिन्ता के सागर में डूबने लगा। आपने सबको धैर्य दिया स्वयं स्थंडिल पधारे। और शुद्ध पवित्र होकर आसन पर बैठ गये। कुछ क्षणों के बाद ध्यानारूढ़ हुए आपने ॐ अर्हन्, ॐ अर्हन्, ॐ अर्हन् ऐसे तीन वार कहा और आंखें खोलकर सामने बैठे शिष्य परिवार को सम्बोधित करते हुए आप बोले—लो भाई! मेरा अब तुम लोगों से जुदा होने का समय निकट आ पहुँचा है, यदि मैंने मन वचन और काया से किसी के मन को आघात पहुँचाया

केवल खट्टी छाछ से निर्वाह करना पड़ा। पसरूर के ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अन्य लोगों को वहा के भावड़ो के इस असाधु व्यवहार से बहुत कष्ट हुआ। उन्होने इनको बहु फटकारा तब कई एक ने आकर आचार्यश्री से वहां ठहरने की विनति करते हुए कहा कि महाराज! आप इस वक्त विहार करना मुल्तवी करदें, हम लोगों से जो अवज्ञा हुई है, उसकी हम क्षमा मांगते हैं और आगे को ऐसा नहीं होगा, हमसे यह बड़ी भारी भूल हुई है जिसका हमें अधिक से अधिक पश्चाताप है। कम से कम आप आज तो विहार न करें, हम सबकी आपश्री के चरणों में यह आग्रह भरी विनति है, आप इसे अवश्य स्वीकार करे। भावी भाव अमिट होता है, आपश्री के परम कृपालु मन पर उन लोगों की प्रार्थना का तनिक भी असर नहीं हुआ और विना कुछ कहे सुने आपने विहार कर दिया।

हो तो उसके लिये मैं "मिच्छामि दुक्कडं" देता हूँ-क्षमा मांगता हूँ। तुम लोगों से मेरा अन्तिम निवेदन यही है कि मेरे अधूरे रहे काम को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करना और आपस में मेल मिलाप रखना। मुझे अरिहंत देव और सिद्ध भगवान् का, जिन्होंने कर्मरूप शत्रुओं का समूल नाश करके कैवल्य विभूति को प्राप्त किया है-कल्याणकारी शरणा है, मुझे मोक्ष देने वाले परम पवित्र जैनधर्म का शरणा है। इस प्रकार शरणा लेकर फिर ध्यानारूढ़ हो गये। कुछ क्षणों के बाद आँखें खोलीं और सामने बैठे हुए साधु और श्रावकों पर दृष्टि फैंकी और सेवक को पुकारा व कहा-वल्लभ! लुधियाने वाली बात याद है न?

हां गुरुदेव! अच्छी तरह से याद है? मैंने रुद्धकंठ से उत्तर दिया।

गुरुदेव-उसका पूरा पूरा ध्यान रखना। ज्ञान के बिना लोग धर्म को नहीं समझ पावेंगे।

बहुत अच्छा गुरुदेव!

परन्तु मैं इतना कहने ही पाया था कि-लो भाई अब हम चलते हैं और सबको खमाते हैं "ॐ अर्हन् बोलते हुए-सदा के लिये अन्तर्ध्यान हो गये !!! आपश्री का यह स्वर्गवास, केवल गुजरांवाला या पंजाब के जैन/ समाज के लिये ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष के जैन समाज के लिये अथच पूर्व और पश्चिम के शास्त्राभ्यासी और धर्म रसिकों के लिये भी कल्पना में न आसके ऐसी शोकप्रद घटना बन गई। जो कोई भी सुनता वह चकित और अवाक् सा रहजाता। अभी कल शाम को तो आप प्रसन्न वदन से सब के साथ बातें कर रहे थे। इतने में क्या हो गया? नहीं यह बात झूठी होगी। परन्तु आखीर में सबको इस कठोर सत्य के सामने झुकना पड़ा। शोक! महाशोक !! जैन समाज का सिरताज यहां के समाज को अनाथ करके स्वर्ग को सनाथ बनाने के लिये चला गया।

प्रातःकाल होते ही सारे शहर में हाहाकार मचगया। जिसने भी सुना वही उपाश्रय की ओर भागा चला आया। हिन्दु से लेकर मुसलमान तक शायद ही ऐसा कोई अभागा व्यक्ति शहर में रह गया होगा जिसने इस महातपस्वी महापुरुष के अन्तिम दर्शनों के लिये अपने आपको वहां उपस्थित न किया हो। जो कोई भी देखता वह यही कहता इन महात्मा ने तो समाधि धारण कर रक्खी है, देखो तो चेहरे पर किसी प्रकार का फर्क पड़ा है? वैसा ही तेज वैसी ही आभा है। इनको स्वर्गवास करगये कहना हमें तो भूल भरा प्रतीत होता है। सारांश कि एक बार तो देखने वाले को भ्रम अवश्य हो जाता।

स्कूल में छुट्टी होने के कारण एक मास्टर आपके दर्शन करने और कल शामकी अधूरी रही बात चीत को पूरी करने के लिए आपके पास आरहा था। इतने में उसके कानमें आपश्री के स्वर्गवास की आवाज पडी तो वहां खड़े का खड़ा ही रह गया! वह कहने लगा कि क्या यह खबर सत्य है या किसी दुश्मन की उड़ाई हुई झूठी है? कल शामको तो हमलोग उनसे काफी देर तक बातें करते रहे और आज आनेका

वायदा किया था तब इतने में क्या पत्थर पड़गये ! आकर देखा तो इस कठोर सत्य ने उसके हृदय को भी हिला दिया। सामने आकर दर्शन किये और मस्तक झुकाकर प्रणाम करने के अनन्तर रुंधे हुए कंठ से बोला महात्माजी ! आप हम लोगों को दगा देगये, अच्छा आपकी मर्जी। इतना कहते हुए उसकी आंखों से आंसू गिरने लगे।

आपश्री के वियोग में विह्वल हुए आपके सेवकजन फूट २ कर रोने लगे। आपके शिष्यवर्ग की दशा तो इतनी करुणाजनक थी कि उसका चित्रण इस लेखिनी की परिधि से बाहर है। आपके सेवकों की दशा भी अत्यन्त करुणाजनक थी। कोई कहता महाराज ! यह आपने क्या किया ? हम अनाथों को अब कौन संभालेगा ? कोई काल को उपालम्भ देता हुआ कहता–अरे दुष्ट काल ! हमने तेरा क्या बिगाड़ा था जो तूने हमारे सिर का ताज हमसे छीन लिया। तब एक सद्गृहस्थ ने गुरुदेव के समीप आकर कहा–गुरुदेव ! हमको आज पता चला कि आपके मुखारविन्द से निकलने वाले शब्दों में कोई न कोई रहस्य जरूर छिपा रहता था, हम लोग कई बार गुजरांवाला पधारने के लिये आपके चरणों में विनति करने को आये मगर आप नहीं पधारे। जब हमने दुबारा तिबारा विनति की तो आपश्री ने फर्माया कि "भाई ! तुम लोग क्यों चिन्ता करते हो आखीर में तो हमने बाबाजी के प्रियक्षेत्र गुजरांवाला में ही बैठना है।" मगर उस वक्त तो हम लोग आपके इन रहस्यपूर्ण शब्दों को समझ नहीं पाये परन्तु आज उनका परमार्थ समझ में आया। गुरुदेव ! आपने तो अपना कथन सत्य कर दिखाया मगर हम लोगों का .... इतना कहते ही वह रुद्धकंठ होकर चरणों में गिरपड़ा। सारांश कि जो कोई भी आता वह अपने हृदय की व्यथा को अपने शब्दों में व्यक्त करजाता मगर यह सब अरण्यरोदन के समान व्यर्थ ही था। कितना ही विलाप करो कितना ही माथा कूटो अन्त में बनता कुछ नहीं। बड़े बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि किसी को भी काल ने नहीं छोड़ा–किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

क्वगताः पृथिवीपालाः, ससैन्यबलवाहनाः।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमीरद्यापि तिष्ठति ॥ अस्तु

रातोंरात तार द्वारा आपके स्वर्गवास का दुःखद समाचार देश देशान्तर में भेज दिया गया, समाचार मिलते ही सब एकदम चकित से रह गये। परन्तु किसी को विश्वास नहीं आया, सब यही मानने लगे कि यह किसी विद्वेषी की करतूत है§ भिन्न २ शहरों से वापस तार आये कि जल्दी पता दो हमें विश्वास नहीं आता। तब दोबारा तार किये गये कि वास्तव में ही गुरुदेव हमसे सदा के लिये जुदे होगये। बस फिर क्या था सारे पंजाब में शोक की चादर बिछ गई। घर २ में मातम छा गया। चारों

§ पहले भी एक दो बार ऐसा झूठा समाचार किसी ने दे दिया था इसलिये किसी को विश्वास नहीं आता था।

और सबको अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। प्रातःकाल होते ही लाहौर, अमृतसर, जालन्धर, जंडयाला, होशयारपुर, लुधियाना, अम्बाला, जीरा और मालेरकोटला आदि शहरों का श्रावक समुदाय पहुँच गया। सबके चेहरे फीके पड़े हुए थे। सबकी आंखें अपने प्रिय गुरुदेव के वियोग में अश्रुधारा बहा रही थीं। सबके मुख से हा गुरुदेव! हा गुरुदेव!! के सिवा और कुछ नहीं निकलता था। अन्त में एक बड़ी अच्छी तरह से सजाये हुए देव विमान तुल्य विमान में प्रतिष्ठित करके गुरुदेव को अग्नि संस्कार के लिये लेजाया गया और चन्दन की चिता में विराजमान करके आपके शरीर को अग्नि के सपुर्द कर दिया गया।

अग्नि संस्कार से पहिले आपश्री के विमान को बड़ी धूमधाम से नगर में फिराया गया था। जिसके साथ में अनेक बैंडवाजे और अनेक भजन मंडलियां गुरुदेव के गुणानुवाद करती हुई आगे २ जा रही थीं। उस समय पर गाये जाने वाले भजनों में से कुछ एक नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

भजन (१)

हेजी तुम सुनियो आतम राम! सेवक सार लीजो जी! (अंचली)
आतमाराम आनन्द के दाता, तुम विन कौन भवोदधि त्राता।
हुँ अनाथ शरणी तुम आयो, अब मोहे हाथ दीजो जी ॥ १ ॥
तुम विन साधु सभा नवि सोहे, रयणीकर विन रयणी खोहे।
जिम तरणी विन दिन नही दीपे, निश्चय धार लीजो जी ॥ २ ॥
दीन अनाथ हुँ चेरो तेरो, ध्यान धरु मैं निसदिन तेरो।
अबतो काज करो गुरु मेरो, मोहे दीदार दीजो जी ॥ ३ ॥
करी सहाय भवोदधि तारो, सेवक जनको पार उतारो।
वार वार विनति यह मेरी, वल्लभ तार दीजो जी ॥ ४ ॥

भजन (२)

सतगुर जी मेरे दे गये आज दीदार, स्वामी जी मेरे दे गये आज दीदार।
श्री श्री आतमराम सुरीश्वर विजयानन्द सुखकार। (अंचलि)
गुरु हुए निर्वाण सब होगया हैरान टूट गया मनमान,
ज्ञान ध्यान कैसे आवेगा। अब उपजिया शोक अपार ॥ १ ॥ स्वामी जी मेरे० ॥
थे गंभीर धुन वानी, जिनराज की वखानी, गुरुराज की सुनानी,
ऐसे कौन सुनावेगा, अब किसका मुझे आधार ॥ २ ॥ स्वामीजी० ॥

धन्न धन्न सूरिराज होये जैन के जहाज, सुधारे धर्म के बहु काज,
अब कौन डंका लावेगा, श्री गुण ज्ञान भंडार ॥ ३ ॥ स्वामीजी० ॥
मुनि सार्थवाह प्यारे, जीव लाखों ही सुधारे, चंद दर्शनी दिदारे,
नहीं सोई पछतावेगा, अब होगई हाहाकार ॥ ४ ॥ स्वामीजी० ॥
जैसे सूरज उजारे, मत मिथ्यात निवारे, मिटे अन्धकार सारे,
कौन चांदना दिखावेगा, दास खुशी कैसे धार ॥ ५ ॥ स्वामीजी० ॥

भजन (३)

विना गुरुराज के देखे मेरा दिल बेकरारी है ॥ अंचली ॥
आनन्द करते जगत जनको वयण सतसत सुना करके ॥ १ ॥
तनुजस शान्त होया है किया जिस दर्श आ करके ॥ २ ॥
मानो सुर सूरि आये थे भुविनर देहधर करके ॥ ३ ॥
राज अरु रंक सम गिनते, निजातम रूप सम करके ॥ ४ ॥
महा उपकार जग करते फनाह तन को समझ करके ॥ ५ ॥
जीआ बल्लभ चाहता है नमन हो पांव पर करके ॥ ६ ॥ विना० ॥

जहां पर आचार्यश्री का अग्नि संस्कार किया गया वहां पर एक ऐसे भव्य और विशाल समाधि मन्दिर का निर्माण हुआ जो कि आज भी रास्ते चलने वाले मुसाफर मात्र को अपनी ओर आकर्षित करता हुआ मौन भाषा में एक नवयुग प्रवर्तक महान् तेजस्वी, शासन रसिक महापुरुष की पुण्यमयी यशोगाथा को सुना रहा है--उसकी अमर कीर्ति का सन्देश दे रहा है।*

* जिस समय आचार्य श्री विजयानन्द सूरि श्री आत्मारामजी महाराज स्वर्ग सिधारे उससे काफी समय पहले अष्टमी लग चुकी थी इसलिये आपश्री की निर्वाण तिथि अष्टमी है, अष्टमी को ही आपकी जयन्ती मनाई जाती है और मनाई जानी चाहिये। (ले०)

अध्याय ११८

"विरोधियों की सज्जनता का दिग्दर्शन"

जिस समय आचार्य देव के स्वर्गवास की खबर शहर में पहुंची उसी वक्त उनके प्रति चिरकाल से भभकती हुई विद्वेष की अन्तर्ज्वाला को शान्त करने के लिये कितने एक महानुभावों ने इस अवसर को बहुत अनुकूल समझा। उन्होंने ऐसे करुणामय अतिशोक जनक समय में अपनी सज्जनता का जिस रूप में परिचय दिया उसको देखते हुए तो कोई भी विचारशील पुरुष मानव के चोले में वसे हुए इनके दानव कृत्य की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता। परन्तु इस जघन्य प्रवृत्ति में इनको सर्वथा विफलता का मुंह देखना पड़ा और चारों शाने चित्त गिरे। आचार्य देव के तेजोमय पुण्यपुंज के सन्मुख ये सव हतप्रभ हो गये। और इनकी दुर्जनता आचार्यश्री की साधु सज्जनता में सदा के लिये डूबगई। इन लोगों ने किसी कल्पित नाम से वहां के डि. सी. को तार दिया और लिखा—यहां पर जैन साधु आत्मारामजी की मृत्यु स्वाभाविक नहीं किन्तु किसी ने इनको विष दे दिया है इसलिये जब तक इसका निर्णय न हो जावे तब तक इनके शरीर को अग्निदाह करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये।

परन्तु इन विरोधी सज्जनों का यह आखीरी वार भी खाली गया। महाराजश्री का देह संस्कार बड़े सम्मान और समारोह के साथ होगया। चन्दनमयी चिता से निकलती हुई ज्वालाओं ने चारों तरफ सुगन्ध-मय धूम को फैलाकर वहां के दूषित वातावरण को शुद्ध कर डाला, और धूम की उत्कट सुगन्ध से सत्रास को प्राप्त हुई विरोधी लोगों की सज्जनता तो सिरपर पांव रखकर वहां से भाग निकली। सत्य है—

कर्णेजपानां वचन प्रपंचा महात्मनः क्वापि न दूषयन्ति।
भुजंगमानां गरलप्रसंगान्नापेयतां यांति महासरांसि ॥

उपसंहार

महा पुरुषों की पुण्य श्लोक जीवन गाथायें मानव जगत के लिये पथ प्रदर्शक होती हैं, उनसे मानव-जीवन के नैतिक निर्माण को काफी सहायता मिलती है और जीवन मे उपस्थित होने वाली विकट समस्याओं को सुलझाने में वे अच्छे शिक्षक का काम देती हैं। इसी दृष्टि से यह प्रयास किया गया है।

परन्तु यह काम आज से बहुत पहले होजाना चाहिये था जो कि कई एक अनिवार्य प्रतिबन्धों से नहीं होसका। इसके सिवा आचार्यदेव के जीवन की बहुतसी घटनाओं का उल्लेख करना रहगया, जो कि पहले तो स्मृति पथ से ओझल रहीं, और अब मानस पट पर चित्रित होरही हैं। उनको भी संभवतः परिशिष्ट में स्थान दिया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि आप जैसी विभूतियें ससार में कभी कभी उत्पन्न होती हैं और बहुत कम मात्रा में होती हैं इसलिये पाठकों से साग्रह निवेदन है कि विश्व की इस महान विभूति की जीवन गाथा का उदार मनोवृत्ति से अवलोकन करने का यत्न करते हुए अपने मानवजीवन को प्रगति की ओर लेजाने का श्रेय भी प्राप्त करें।

गुरुचरणसेवी—

वल्लभ सूरि

परिशिष्ट १

श्रीविजयानन्दसूरीश्वरकृत

॥ उपदेशबावनी ॥

(सवैया एकतीसा)

श्री पार्श्वनाथाय नमो नमः

ॐ नीत पंच मीत समर समर चीत अजर अमर हीत नीत चीत धरीए,
सूरि उज्झा मुनि पुञ्जा जानत अरथ गुञ्जा मनमथ मथन कथनसुं न ठरीए ।
वार आठ पटतीस पणवीस सातवीस सत आठ गुण ईस माल वीच करीए,
एसो विभु ॐकार वावन वरण सार आतम आधार पार तार मोक्ष वरीए ॥ १ ॥

अथ देवस्तुति :—

नथन करन पन हनन करमघन धरत अनघ मन मथन मदनको,
अजर अमर अज अलख अमल जस अचल परम पद धरत सदनको ।
समर अमर वर गनधर नगवर थकत कथन कर भरम कदनको,
सरन परत तभ(स) नमत अनघ जस अतम परम पद रमन ददनको ॥ २ ॥
नमो नीत देव देव आतम अमर सेव इंद चद तार वृंद सेवे कर जोरके,
पांच अंतराय भीत रति ने अरति जीत हास शोक काम वीत(धीन ?) मिथ्यागिरि तोरके ।
निंद ने अत्याग राग द्वेष ने अज्ञान याग अष्टादश दोष हन निज गुण फोरके,
रूप ज्ञान मोक्ष जश वध ने वैराग सिरी इच्छा धर्म वीरज जतन ईश घोरके ॥ ३ ॥

अथ गुरुस्तुति :—

मगन भजन मग धरम सदन जग ठरत मदन अग भग तज सरके,
कटत करम वन हरत भरम जन भववन सघन हटत सब जरके ।
नमत अमरवर परत सरन तस करत सरन भर अघ मग टरके,
धरत अमल मन भरत अचर धन करत अतम जन पग लग परके ॥ ४ ॥
महामुनि पूर गुनी निज गुन लेत चुनी मार धार मार धुनि वुनी सुख सेजको,
ज्ञान ते निहार छार दाम धाम नार पार सातवीस गुण धार तारक से हजको ।
पुगल भरम छोर नाता ताता जोर तोर आतम धरम जोर भयो महातेजको,
जग भ्रमजाल मान ज्ञान ध्यान तार दान सत्ताके सरूप आन मोक्षमे रहेन(ज)को ॥ ५ ॥

अथ धर्मस्वरूपमाह—

सिद्धमत स्यादवाद कथन करत आद भंगके तरग साद सात रूप भये है,
अनेकंत माने सत कथंचित रूप ठंत मिथ्यामत सब हंत तत्त्व चीन लये है ।

नित्यानित्य एकानेक सासतीन वीतीरेक भेद ने अभेद टेक भव्याभव्य ठये है,
शुद्धाशुद्ध चेतन अचेतन मूरती रूप रूपातीत उपचार परमकुं लये है ॥ ६ ॥
सिद्ध मान ज्ञान शेष एकानेक परदेश द्रव्य खेत काल भाव तत्त्व नीरनीत है,
नय सात सत सात भंगके तरंग थात व्यय ध्रुव उतपात नाना रूप कीत है।
रसकुंप केरे रस लोहको कनक जैसे तैसे स्याद्‌वाद करी तत्त्वनकी रीत है,
मिथ्यामत नाश करे आतम अनघ धरे सिद्ध वधु वेग वरे परम पुनीत है ॥ ७ ॥
धरती भगत हीत जानत अमीत जीत मानत आनद चित्त भेदको दरसती,
आगम अनुप भूप ठानत अनंत रूप मिथ्याभ्रम मेटनकुं परम फरसती।
जिन मुख वैन ऐन तत्त्वज्ञान कामधेन कवि मति सुधि देन मेघ ज्युं वरसती,
गणनाथ चित(त्त) भाइ आतम उमंग धाइ संतकी सहाइ माइ सेवीए सरसती ॥ ८ ॥
अधिक रसीले झीले सुखमे उमंग कीले आतमसरूप ढीले राजत जीहानमें,
कमलवदन दीत सुन्दर रदल(न) सीत कनक वरन नीत मोहे मदपानमे।
रंग वदरंग लाल मुगता कनकजाल पाग धरी भाग लाल राचे ताल तानमें,
छीनक तमासा करी सुपनेसी रीत धरी ऐसे वीर लाय जैसे वादर विहानमें ॥ ६ ॥
आलम अजान मान जान सुख दुःख खान खान सुलतान रान अतकाल रोये,
रतन जरत ठान राजत दमक भान करत अधिक मान अत खाख होये है।
केसुकी कलीसी देह छीनक भंगुर जेह तीनहीको नेह एह दुखःबीज वोये है,
रंभा धन धान जोर आतम अहित भोर करम कठन जोर छारनमे सोये है ॥ १० ॥
इत उत डोले नीत छोरत विवेक रीत समर समर चित नीत ही धरतु(न) है,
रंग राग लाग मोहे करत कूफर धोहे रामा धन मन टोहे चितमे अचेतु(त) है।
आतम उधार ठाम समरे न नेमि नाम काम दगे(हे) आठ जाम भयो महाप्रेतु(त) है,
तजके धरम ठाम परके नरक धाम जरे नाना दुःख भरे नाम कौन लेतु(त) है ॥ ११ ॥
ईस जिन भजी नाथ हिरदे कमलपाथ नाम वार सुधारस पीके महमहेगो,
दयावान जगहीत सतगुरु सुर नीत चरणकमल मीत सेव सुख लहेगो।
आतमसरूप धार मायाभ्रम जार छार करम वी(वि)डार डार सदा जीत रहेगो,
दी(दे)ह खेह अंत भइ नरक निगोद लइ प्यारे मीत पुन कर फेर कौन कहेगो? ॥ १२ ॥
उदे भयो पुन पूर नरदेह भुरी नूर वाजत आनंदतूर मंगल कहाये है,
भववन सघन दगध कर अगन ज्युं सिद्धवधु लगन सुनत मन भाये है।
सरध्या(धा)न मूल मान आतम सुज्ञान जान जनम मरण दुःख दूर भग जाये है,
संजम खडग धार करम भरम फार नहि तार विषे पिछे हाथ पसताये है ॥ १३ ॥
ऊंच नीच रंक कंक कीट ने पतंग ढंग ढोर मोर नानाविध रूपको धरतु है,
श्रंगधार गजाकार वाज वाजी नराकार पृथ्वी तेज वात वार रचना रचतु है।

आतम अनंत रूप सत्ता भूप रोग धूप वडे (परे?) जग अंध कूप भरम भरतु है,
सत्ताको सरूप भुल करनहींडोरे जुल कुमताके वश जीआ नाटक करतु है ॥१४॥
रिधी सिद्धि ऐसे जरी खोदके[1] पतार धरी करथी न दान करी हरि हर लहेगो,
रसना रसक छोर वसन ज(अ)सन दोर अंतकाल छोर कोर ताप दिल दहेगो।
हिंसा कर मृषा धर छोर घोर काम पर छोर जोर कर पाप तेह साथ रहेगो,
जौंलो मित आत(दे) पान तौंलो कर कर दान वसेहु मसान फेर कोन देद(दे) करेगो ॥१५॥

रीत विपरीत करी जरता सरूप धरी करतो बुराइ लाइ ठाने मद मानकुं,
द्युत धुत (झूठ) मंस खात सुरापान जीवघात चोरी गोरी परजोरी वेश्यागीत गानकुं।
सत कर तुत उत जाने न धरमसून[2] माने न सरम भूत छोर अभेदानकुं,
मुत ने पुरीस खात गरभ परत जात नरक निगोद वसे तजके जहानकुं ॥१६॥

लिखन पठन दीन शीखत अनेक गिन क(को)उ नहि तात ([3]तत्त)चिन छीनकमें छिजे है,
उत्तम उतत संग छोरके त्रिविध रंग रंभा दंभा भोग लाग निश दिस भींजे है।
काल तो अनंत वली सुर वीर धीर दली ऐसे भी चलत ज्युं सींचान चिट लीजे है,
छोरके धरम द्वार आतम विचार डार छारनमे भइ छार फेर कहा किजे है ॥१७॥

लीलाधारी नरनारी खेभंग जोगकुं वारि ज्ञानकी लगन हारि करे राग ठमको,
योवन पतंग रंग छीनकमे होत भंग सजन सनेहि संग विजकेसा जमको।
पापको उपाय पाय अध पुर सुर थाय परपरा तेहे घाय चेरो भये जमको,
अरे मूढ चेतन अचेतन तुं कहा भयो आतम सुधार तुं भरोसो कहा दमको? ॥१८॥

एक नेक रीत कर तोप धर दोप हर कुफर गुमर हर कर संग ज्ञानीको,
खंति निरलोभ भज सरल कोमल रज सत धार भा(मा)र तज तज संग मानीको।
तप त्याग दान जाग शील मित पीत लाग आतम सोहाग भाग माग सुख दानीको,
देह स्नेह रूप एत(ते) सदा मीत थिर नही अंत हि विलाय जैसे बुदबुद पानीको ॥१९॥

ऐरावत नाथ इन्द वदन अनुप चंद रंभा आद नारवृन्द तु(धु?) जे द्रग जोयके,
खट पंड राजमान तेज भरे वर भान भामनिके रूप रंग दीसे सेज सोयके।
हलधर गदाधर धराधर नरवर खानपान गानतान लाग पाप वोयके,
आतम उधार तज त्रीनक इशाक भज अंत वेर हाय[4]टेर गये सव रोयके ॥२०॥

[5]ओडक वरस शत आयु मान मान सत सोवत विहात आध लेतहे विभावरी,
तत वाल खेल ख्याल अरध हरत प्रौढ आध व्याध रोग सोग सेव कांता भावरी।
उदग तरंग रंग योवन अनंग संग सुखकी लगन लगे भई मित(मति) वावरी,
मोह कोह दोह लोह जटक पटक खोह आतम अजान मान फेर कहां दावरी? ॥२१॥

---

१ आनद। २ धर्मसूत्र। ३ तत्त्वज्ञाता। ४ आवाज। ५ आखर।

औषध अनेक जरि मंत्र तंत्र लाख करी होत न बचाव घरि एक कहु प्रानको,
सार मार करी छार रूप रस धरे परे यम निशदिन खरे हरे मानी मानको।
बाल लाल माल नाल थाल पाल भाल साल ढाल जाल डाल चले छोर थानको,
आतम अजर कार सिंचत अमृत धार अमर अमर नाम लेत भगवानको ॥२२॥

अंध ज्ञान द्रगरित मानत अहित चित ग(ग)नत अधम रीत रूप निज हार रे,
अरव अनंत अंश ज्ञान चिन तेरो हंस केवल अखंड वंस बाके कर्म भार रे।
चुरा तुरा लुरा सुरा श्यामा श्वेत रूप भूरा अमर नरक कुरा नर हे न नार रे,
सत चित निराबाध रूप रंग विना लाध पूरण अखड भाग आतम संभार रे॥२३॥

अधिक अज्ञान करी पामर स्वरूप धरी मांगे भीख घरि घरि नाना दुःख लहीये,
गरे घरि रिध खरि करमत विज जरी भुल विन ज्ञान दिन हीन रहीये।
गुरु विभु वेन ऐन सुनत परत चेन करत जतन जैन फेन सब दहिये,
करमकलंक नासे आतम विमल भासे खोल द्रग देख लाल तोपे सर्व(ब) कहिये ॥२४॥

काची काया मायाके भरोसो भमीयो तुं बहु नाना दुःख पाया काया जात तोह छोरके,
सास खास सुल हुल नीर भरे पेट फुल कोढ मोढ राज खाज जुरा तुर छोरके।
मुरछा भरम रोग सदल डहल सोग सुत ने पुरीस रोक होक सहे जोरके,
इत्यादि अनेक खरी काया संग पीड परी सुन्दर मसान जरी परी प्यार तोरके ॥२५॥

खेती करे चिदानंद अघ बीज वोत वृन्द रसहे शींगार आद लाठी रूप लइ हे,
राग द्वेष तुव घोर कसाय बलद जोर शिरथी मिथ्यात भोर गर्दभी लगइ हे।
तो होय प्रमाद आयु चक्रकार कार घटी लायु शिर प्रति प्रष्ट हारा कर खइ हे,
नाना अवतार कलार चिदानंद वार धार इत उत प्रेरकार आतमकुं दइ हे ॥२६॥

गेरके विभाव दूर असि चार लाख नूर एहि द्रव्य वंजन प्रजाय नाम लयो हे,
मति आदि ज्ञान चार व्यंजन विभाव गुन परजाय नाम सुन शुद्ध ज्ञान टर्यो हे।
चरम शरीर पुन आतम किंचित न्यून व्यंजन सुभाव द्रव्य परजाय धर्यो हे,
चार हि व्यंजन सुभाव गुन शुद्ध परजाय थाय धाय मोक्ष वर्यो हे ॥२७॥

घरि घरि आउ घटे घरि काल मान घटे रूप रंग तान हटे मूढ कैसे सोइये ?.
जीया तुं तो जाने मेरो मात तात सुत चेरो तामे कौन प्यारो तेरो पान कि गोइये।
चाहत करण सुख पावत अनंत दुःख धरम विमुख रूख फेर चित रोइये,
आतम विचार कर करतो धरम वर जनम पदारथ अकारथ न खोइये ॥२८॥

नरको जनम वार वार न विचार कर रिदे शुद्ध ज्ञान धर परहर कामको,
पदम वदन घन पद मन अठ भन कनक वरन तन मनमथ वामको।
हरि हर भ्रम(ब्रह्म)वर अमर सरव भर मन मद पर छर धरे चित्त भामको,
शील फिल चरे जंबु जारके मदनतंबु निरारंग अंगकंबु आतम आरामको ॥२९॥

छरद करत फीर चाटत अनंत रीत जानत ना हित कित श्वानदशा धरके,
सुरी कुरी कुख परे नाना रूप पीर परे जात ही अगन जरे मरे दुःख करके।
कुगुरु कुदेव सेव जानत न तत्त भेव मान अहमेव मूढ कहे हम डरके,
मिथ्यामति आतमसरूप न पिछाने ताते डोलत जंजालमें अनंत काल भ(म)रके ॥३०॥

जोर नार गरभसें मद (मोह) लोभ ग्रसे राग रंग जंग लसें रसक जीहान रे,
मनकी तरंग फसे मान सनमान हसे खान पान धरमसें आतम अज्ञान रे।
सिद्धि रिद्धि चित लावे पुतने विभुत भावे पुगलकुं भोर धावे परो दु खखान रे,
करमको चेरो हुवो आस वांध झुर मुवो फेर मूढ कहेवे हम हुवो भ्रम(ब्रह्म) ज्ञान रे ॥३१॥

जननी रोआई जेति जनमा(म) जनम धार आंसुनसे पारावार भरीए महान रे,
आतम अज्ञान भरी चाटत छरद करी मनमे न थी(घी?)न परि भरे गंद खान रे।
तिशना तिहोरी यारी छोरत न एक घरी भमे जग जाल लाल भुले निज थान रे,
अंध मति मंद भयो तप तार छोर दयो फेर मूढ कहे हम हुवो ब्रह्मज्ञान रे ॥३२॥

जलके विमल गुण दल के करम फुन हलके अटल धुन अघ जोर कसीए,
टलके सुधार धार गलके मलिन भार छलके न पुरतान मोक्ष नार रसीए।
चलके सुज्ञान मग छलके समर ठग मलके भरम जगजालमें न फसीए,
थलके वसन हार खलके लगन टार टलके कनक नार आतभ दरसीए ॥३३॥

टहके सुमन जेम महके सुवास तेम जहके रतन हेम ममताकुं मारी हे,
दहके मदनवन करके नगन तन गहके केवलधन आस वा(ना ?)स डारी हे।
कहके सुज्ञानभान लहके अमर थान गहके अखर तान आतम उजारी हे,
चहके उवार दीन राजमति पारकीन ऐसे संत ईश प्रभु (वाल) ब्रह्मचारी हे ॥३४॥

ठोर ठोर ठानत विवाद पखपात मूढ जानत न मूर चूर सत मत वातकी,
कनक तरंग करी श्वेत पीत भान परि स्यादवाद हान करी निज गुण घातकी।
पर्यो ब्रह्मजाल गरे मिथ्यामत रीझ धरे रहत मगन मूढ जुरी भरे स्वातकी,
आतमसरूपघाती मिथ्यामतरूपकाति ऐसो ब्रह्मघाति है मिथ्याति महापातकी ॥३५॥

डर नर पाप करी देत गुरु शिख खरी मान लो ए हित धरी जनम विहातु है,
जोवन न नित रहे वाग गुल जाल महे आतम आनंद चहे रामा गीत गातु है।
वके परनिन्दा जेति तके पर रामा तेती थके पुन्य सेती फेर मूढ मुसकातु है,
अरे नर वोरे तोकुं कहु रे सचेत होरे पिंजरेकुं तोरे देख पंखी उड जातु है ॥३६॥

ढोरवत रीत धरी खान पान तान करी पुरन उदर च(भ)री भार नित वह्यो है,
पीत अनगल नीर करत न पर पीर रहत अधीर कहा शोध नही लह्यो है।
वाल विन पल तोल भक्षाभक्ष खात घोल हरत करत होल पाप राच रह्यो है,
शींग पुछ दाढी मुछ वात न विशेष कछु(कुछ) आनम निहार अछु(उछ) मोटा रूप कह्यो है ॥३७॥

नीके मधु पीके टीके शीखंड सुखंड लीके करत कलोल जीके नागवेर चाख रे,
अतर कपूर पूर अव(ग)र तगर भूर मृगमद घनसार भरे धरे खात(ख) रे।
सेव आरू आंब दारु पीसता बदाम चारु आतम चंगेरा पेरा चखत सुदाख रे,
मृदु तन नार फास सजक(के) जंजीर पास पकरी नरकवास अंत भई खाख रे ॥३८॥
तरु खग वास वसे रात भए कसमसे सूर उगे जात दसे दूर करी चीलना,
प्यारे तारे सारे चारे ऐसी रीत जात न्यारे कोउ न संभारे फेर मोह कहा कीलना।
जैसे हटवाले मोल मीलके बीछर जात तैसे जग आतम सजोग मान दीलना,
कौन वीर मीत तेरो जाको तु करत हेरो रयेन बस(से)रो तेरो फेर नहि मीलना ॥३६॥
थोरे सुख काज मूढ हारत अमर राज करत अकाज जाने लेयुं जग लुंटके,
कुटंबके काज करे आतम अकाज खरे लछी जोरी चोर हरे मरे शीर फुटके।
करम सनेह जोर ममता मगन भोर प्यारे चले छोर जोर रोवे शीर कुटके,
नरको जनम पाय वीरथा गमाय ताह भूले सुख राह छले रीते हाथ उठके ॥४०॥
देवता प्रयास करे नर भव कुल खरे सम्यक श्रद्धान धरे तन सुखकार रे,
करण अखंड पाय दीरघ सुहात आय सुगुरु संजोग थाय वाणी सुधा धार रे।
तत्त्व परतीत लाय संजम रतन पाय आतमसरूप धाय धीरज अपार रे,
करत सुप्यार लाल छोर जग भ्रमजाल मान मीत जित काल वृथा मत हार रे ॥४१॥
धरत सरूप खरे अधर प्रवाल जरे सुन्दर कपुर खरे रदन सोहान रे,
इन्दुवत वदन ज्युं रतिपति मदन ज्युं भये सुख मगन ज्युं प्रगट अज्ञान रे।
पीक धुन साद करे धाम दाम भुर भरे कामनीके काम जरे परे खान पान रे,
करता तु मान काहा(ह) आतम सुधार राह नहि भारे मान छोरे सोवना मसान रे ॥४२॥
नरवर हरि हर चक्रपति हलधर काम **हनुमान** वर भानतेज लसे है,
जगत उद्धार कार संघनाथ गणधार फुरन पुमान सार तेउ काल ग्रसे है।
हरिचंद मुंज राम पांडुसुत शीतधाम **नल** ठाम छर धाम नाना दुःख फसे है,
देढ दिन तेरी बाजी करतो निदान राजी आतम सुधार शिर काल खरो हसे है ॥४३॥
परके भरम भोर करके करम घोर गरके नरक जोर भरके मरदमे,
धरके कुटंब पूर जरके आतम नूर लरके लगन भूर परके दरदमें।
सरके कुटंब दूर जरके परे हजूर मरके वसन मूर खरके ललदमे,
भरके महान मद धरके नित्र न हद धरके पुरान रद मीलके गरदमें ॥४४॥
फटके सुज्ञान संग मटके मदन अंग भटके जगत कग कटके करदमें,
रटके तो नार नाम खटके कनक दाम गटके अभक्षचाम भटके विहदमें।
हटके धरम नाल डटके भरमजाल छटके कंगाल लाल रटके दरदमें,
झटके करत प्रान लटके नरक थान खटके व्यसन मिर(ल) आतम गरदमे ॥४५॥
द्रा(वा)रामती नाथ निके सकल जगत टीके हलधर भ्रात जीके सेवे बहु रान है,
हाटक प्रकार करी रतन कोशीश जरी शोभत अमरपुरी स(सा)जन महान रे।

पुन ही (वी ?) ते हाथ रीते संपत विपत लीते हाय साद रोद कीते जयों निज नाथ (थान ?) रे
सोग भरे छोर चरे वनमे विलाप करे आतम सीयानो काको करता गुमान रे ॥ ४६ ॥

भूल परी मीत तोय निज गुन सब खोय कीट ने पतग होय अप्पा वीसरतु है,
हीन दीन डीन चास दास वास खीन त्रास काश पास दुःख भीन ज्ञानते गीरतु है ।
दुःख भरे भूर मरे आपदाकी तान गरे नाना सुत मित करे फिर वीसरतु है,
आतम अखंड भूप करतो अनत रूप तीन लोक नाथ होके दीन क्युं फीरतुं है ? ॥ ४७ ॥

महाजोधा कर्म सोधा सत्ताको सरूप बोधा ठारत अगन क्रोधा जडमति धोया हुं,
अजर अमर सिद्ध पुरन अखंड रिद्ध तेरे विन कौन दीध सब जग जोया हुं ।
सुससे तु न्यारो भयो चार गति वास थयो दुःख कहुं(?) अनंत लयो आतम वीगोया हुँ,
करता भरमजाल फस्यो हुं बीहाल हाल तेरे विन मित मैं अनंत काल रोया हुं ॥ ४८ ॥

यम आठ कुमतासे प्रीत करी नाथ मेरे हरे सब गुन तेरे सत बात बोलुं हुँ,
महासुखकारी प्यारी नारी न्यारी छारी धारी मोह नृप दारी कारी दोष भरे तोरुं हुँ ।
हित करुं चित्त धरुं सुख के भंडार भरुं सम्यक सरूप धरु कर्म छार छोरुं हुं,
आतम पीयार कर कतां(कुमत ?) भरम हट तेरे विन नाथ हुं अनाथ भइ डोलुं हुँ ॥ ४९ ॥

रुल्यो हुं अनादि काल जगमें बीहाल हाल काट गत चार जाल ढाल मोहकीरको,
नर भव नीठ पायो दुषम अधेर छायो जग छोर धर्म धायो गायो नाम वीर को ।
कुगुरु कुसंग नो(तो)र सत मत जोर दोर मिथ्यामति करे सोर कौन देवे धीरको ?,
आतम गरीब खरो अब न विसारो धरो तेरे विन नाथ कौन जाने मेरी पीर को ? ॥ ५० ॥

रोग सोग दु.ख परे मानसी वीथाकुं धरे मान सनमान करे हुं करे जंजीरको,
मंदमति भूप(त) रूप कुगुरु नरक दूत सग करे होत भंग काची (कांजी ?) संग छिरको ।
चचल विहग मन दोरत अनंत(ग ?) वन धरी शीर हाथ कौन पूछे तृग नीरको,
आतम गरीब खरो स(अ)व न विसारो धरो तेरे बीन नाथ कौन मेटे मेरी पीरको ॥ ५१ ॥

लोक बोक जाने कीत आतम अनंत मीत पुरन अखंड नीत अव्याबाध भूपको,
चेतन सुभाव धरे जडतासो दूर परे अजर अमर खरे छांडत विरूपको ।
नरनारी ब्रह्मचारी श्वेत श्याम रूपधारी करता करम कारी छाया नहि धूपको,
अमर अकंप धाम अविकार बुध नाम कृपा भइ तोरी नाथ जान्यो निज रूपको ॥ ५२ ॥

वार वार कहुं तोय सावधान कौन होय मिता नहि तेरो कोय उंधी मति छइ है,
नारी प्यारी जान धारी फिरत जगत भारी शुद्ध बुद्ध लेत सारी लुंठवेको ठइ है ।
संग करो दुःख भरो मानसी अगन जरो पापको भडार भरो सुधीमति गइ है,
आतम अज्ञान धारी नाचे नाना संग धारी चेतनाके नाथकुं अचेतना क्या भइ है ? ॥ ५३ ॥

शीत सहे ताप दहे नगन शरीर रहे घर छोर वन रहे तज्यो धन थोक है,
वेद ने पुराण परे तत्त्वमसि तान धरे तर्क ने मीमांस भरे करे कंठ शोक है ।
क्षणमति ब्रह्मपति सख ने कणाद गति चारवाक न्यायपति ज्ञान विनु बोक है.
रंगबी(व)हीरंग अछु सोच्छके न अंग कछु आतम सम्यक विन जाण्यो सब फोक है ॥ ५४ ॥

षट पीर सात डार आठ छार पांच जार चार मार तीन फार लार तेरी फरे है,
तीन दह तीन गह पांच कह पांच लह पांच गह पांच वह पांच दूर करे है।
नव पार नव धार तेरकुँ विडार डार दशकुं निहार पार आठ सात लरे है,
आतम सुज्ञान जान करतो अमर थान हरके तिमिर मान ज्ञानभान चरे है ॥ ५५ ॥

शीतल सरूप धरे राग द्वेष वास जरे मनकी तरंग हरे दोषनकी हान रे,
सुंदर कपाल उंच कनक वरण कुच अधर अनग रुच पीक धुन गान रे।
षोडश सिंगार करे जोबनके मद भरे देखके नमन चरे जरे कामरान रे,
ऐसी जिन रीत मित आतम अनंग जित काको मूढ वेद धीत ऐही ब्रह्मज्ञान रे ॥ ५६ ॥

हिरदेमे सुन भयो सुधता विसर गयो तिमिरअज्ञान छयो भयो महादुःखीयो,
निज गुण सुज नाहि सत मत बुज नाहि भरम अरुझे ताहि परगुण रुशीयो।
ताप करवेको सुर धरम न जाने मूर समर कसाय वह्नि अरणमे धुखीयो,
आतम अज्ञान वल करतो अनेक छल धार अघमल भयो मूढनमे मुखीयो ॥ ५७ ॥

लंवन महान अंग सुंदर कनक रंग सदन वदन चग चांदसा उजासा है,
रसक रसील द्र(दृ)ग देख माने हार मृग शोभत मांदार शृङ्ग आतम वरासा है।
सनतकुमार तन नाकनाथ गुण मन दव आय दरशन कर मन आसा है,
छिनमे बिगर गयो क्या हे मूढ मान गयो पानीमें पतासा तेसा तनका तमासा है ॥ ५८ ॥

क्षीण भयो अंग तोउ मूढ काम धन जोउ की(क)हा करे गुरु कोउ पापमति साजी है,
खे(खै)लने शींघान चाट माने सुख केरो थाट आनन उचाट मूढ ऐसी मति चाजी है।
मूत ने पुरिश परि महादुरगंध भरी ऐसी जोनी वास करी फेर चहे पाजी है,
करतो अनित रीत आतम कहत मित गंदकीको कीरो भयो गंदकीमे राजी है ॥ ५६ ॥

त्राता धाता मोक्षदाता करता अनंत साता वीर धीर गुण गाता तारो अब चेरेको,
तुँ ज (तुम) है महान मुनि नाथनके नाथ गुणी सेवु निसदिन पुनी जानो नाथ देरेको।
जैसो रूप आप धरो तैसो मुज दान करो अतर न कुछ करो फेर मोह चेरेको,
आतम सरण पर्यो करतो अरज खरो तेरे विन नाथ कोन मेटे भव फेरेको ? ॥ ६० ॥

ज्ञान भान का(क)हा मोरे खान पान ता(दा)रा जोरे मन हु विहंग दोरे करे नाहि थीरता,
मुजसो कठोर घोर निज गुण चोर भोर डारे ब्रह्म डोर जोर फीरु जग फीरता।
अब तो छी(ठि)काने चर्यो चरण सरण पर्यो नाथ शिर हाथ धर्यो अघ जाय खीरता,
आतम गरीब साथ जैसी कृपा करी नाथ पीछे जो पकरो हाथ काको जग फीरता ॥ ६१ ॥

शी(खि?)लीवार ब्रह्मचारी धरमरतन भारी जीवन आनंदकारी गुरु शोभा पावनी,
तिनकी कृपा ज करी तत्त्व मत जान परि कुगुरु कुसंग टरी सुद्ध मति धावनी।
पढतो आनंद करे सुनतो विराग धरे करतो मुगत वरे आतम सोहावनी,
संवत तो मुनि कर निधि इंदु संख धर तत चीन नाम कीन उपदेशबावनी ॥ ६२ ॥

करता हरता आतमा, धरता निर्मल ज्ञान; वरता भरता मोक्षको, करता अमृत पान. १

❀ ॐ अर्हनमः ❀

परिशिष्ट २

—: दादा गुरुदेव :—

श्रीमद्विजयानंद सूरीश्वरजी के शिष्यादि का पट्टक

लेखक—

अज्ञान तिमिर तरणि कलिकाल कल्पतरु पजाव केसरी

युगवीर आचार्य श्री मद्विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज

के चरण सेवी पट्टधर

आचार्य समुद्रसूरि

पजाव देशोद्धारक, विश्वपूज्य शासनमान्य न्यायांभोनिधि जैनाचार्य दादा गुरुदेव १००८ श्री मद्विजयानदसूरीश्वर (आत्मारामजी) महाराज विश्व की एक महान् विभूति थे, परोपकार, शासनोद्धार आदि कार्यों से आपका जीवन अलौकिक एवं सुप्रसिद्ध ही है, अतः यहां आपकी जीवन घटनाओं का उल्लेख न करके केवल आपके सह (साथ में) दीक्षित तथा हस्त दीक्षित शिष्य प्रशिष्यादि और आपके रचित ग्रंथ व आपके कहां २ चौमासे हुए और कहां २ प्रतिष्ठा, अंजनशलाकाये की ? पंजाब में कहां २ मन्दिर हैं और उनकी कब प्रतिष्ठा हुई ? तथा पंजाब में ज्ञान भंडार और उपाश्रयादि कहां कहां है ? तथा आपके शुभ नाम से विद्यापीठ, सभाये इत्यादि किस किस स्थान पर स्थापित हैं ? और आपकी मूर्तियें कहा कहां विराजमान हैं ? उन सब की नामावली पाठकों की जानकारी के लिये यहां लिखी जा रही है—

स्थानकवासी दीक्षा को छोड के दादा गुरुदेव के साथ जिन्होंने संवेगी दीक्षा ली और आपके शिष्य प्रशिष्य बने उनके नाम—

	स्थानक वासी नाम,	संवेगी नाम,
१	श्री विश्नचन्द जी	श्री लक्ष्मीविजय जी
२	,, चपालाल जी	,, कुमुदविजय जी
३	,, हुकमीचन्दजी	,, रंगविजय जी
४	,, सलामतराय जी	,, चारित्रविजय जी
५	,, हाकमराय जी	,, रत्नविजय जी
६	,, खूबचन्दजी	,, संतोषविजयजी
७	,, घनैयालाल जी	,, कुशलविजय जी
८	,, तुलसीराम जी	,, प्रमोदविजय जी
९	,, कल्याणचन्दजी	,, कल्याणविजय जी
१०	,, निहालचन्द जी	,, हर्षविजय जी
११	,, निधानमल जी	,, हीरविजय जी
१२	,, रामलाल जी	,, कमलविजय जी
१३	,, धर्मचन्द जी	,, अमृतविजयजी
१४	,, प्रभुदयाल जी	,, चन्द्रविजय जी
१५	,, रामजीलालजी	,, रामविजय जी
१६	,, चदनलालजी	,, चन्दनविजयजी

श्री दादा गुरुदेव के हस्तदीक्षित शिष्य प्रशिष्यादि के नाम—

१ श्री हर्षविजय जी
२ ,, उद्योतविजय जी
३ ,, विनयविजय जी
४ ,, कल्याणविजय जी
५ ,, सुमतिविजय जी
६ ,, मोतीविजय जी
७ ,, वीरविजय जी
८ श्री कांतिविजय जी
९ ,, हंसविजय जी
१० ,, शांतिविजयजी
११ ,, मोहनविजय जी
१२ ,, मानकविजय जी
१३ ,, जयविजय जी
१४ ,, सुन्दरविजय जी
१५ श्री अमरविजय जी
१६ ,, अमृतविजय जी
१७ ,, हेमविजय जी
१८ ,, राजविजय जी
१९ ,, कुँवरविजयजी
२० ,, संपतविजय जी
२१ ,, माणकविजयजी

२२ श्री वल्लभविजय जी	२७ श्री मानविजय जी	३१ श्री रामविजय जी
२३ ,, भक्तिविजयजी	२८ ,, जशविजयजी	३२ ,, विवेकविजय जी
२४ ,, ज्ञानविजय जी	२९ ,, मोतीविजय जी	३३ ,, कपूरविजय जी
२५ ,, शुभविजय जी	३० ,, चन्द्रविजयजी	३४ ,, लाभविजयजी

२६ ,, लब्धिविजय जी (श्री हीर वि० मा० के शिष्य) आदि

वर्तमान में आपके पट्टधर आचार्यवर्य श्री मद्विजयवल्लभसूरीश्वर जी महाराज आदि एवं उनके शिष्य प्रशिष्यादि और आज्ञावर्ती साधु साध्वीयांजी सैंकड़ों की सख्या में देश देशान्तरों में विचरकर उपकार कर रहे हैं।

श्री दादा गुरुदेव के वरद हस्त से कहां २ प्रतिष्ठा और अंजनशलाका हुई।

	ग्राम	सम्वत्	मिति	प्रतिष्ठा	अजनशलाका
१	अमृतसर	१९४८	वैसाख सुदि ६	,,	,,
२	जीरा	१९४८	मगसर सुदि ११	,,	,,
३	होशियारपुर	१९४८	माघ सुदि ५	,,	×
४	पट्टी	१९५१	माघ सुदि १३	,,	,,
५	अम्बालाशहर	१९५२	मगसर सुदि १५ पूर्णिमा	,,	×
६	सनखतरा	१९५३	वैसाख सुदि १५ ,,	,,	,,

श्री दादा गुरुदेव के रचित ग्रन्थों के शुभ नाम

"उपदेश ही देते न थे वे ग्रंथकर्ता भी रहे,
भर्ता रहे बुधवृन्द के त्रयताप हर्ता भी रहे।
उनकी बनाई पुस्तकें जग में प्रतिष्ठित आठ हैं,
जिनका सुधीजन प्रेमपूर्वक नित्य करते पाठ हैं॥

[सूरिशतक काव्य ९३]

नं०	पुस्तकों के नाम	आरंभ स्थान और सवत्		समाप्ति स्थान और सवत्	
१	श्री नवतत्त्व	बिनौली	१९२४	बडौत	१९२४
२	श्री जैन तत्त्वादर्श	गुजरांवाला	१९३७	होशियारपुर	१९३८
३	श्री अज्ञानतिमिर भास्कर	अम्बाला	१९३९	खंभात	१९४२

४	श्री सम्यक्त्वशल्योद्धार	अहमदाबाद	१६४१	अहमदाबाद	१६४१
५	श्री जैनमत वृक्ष	सूरत	१६४२	सूरत	१६४२
६	श्री चतुर्थस्तुति निर्णय प्रथमभाग	राधनपुर	१६४४	राधनपुर	१६४४
७	श्री चतुर्थस्तुतिनिर्णय द्वितीयभाग	पट्टी	१६४८	पट्टी	१६४८
८	श्री जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर	पालनपुर	१६४५	पालनपुर	१६४५
९	श्री चिकागो प्रश्नोत्तर	अमृतसर	१६४६	अमृतसर	१६४६
१०	श्री तत्त्वनिर्णयप्रसाद	जीरा	१६५१	गुजरांवाला	१६५३
११	श्री ईसाईमत समीक्षा				
१२	श्री जैनधर्म का स्वरूप				

पूजायें—स्तवन

१३	श्री आत्मबावनी	बिनौली	१६२७	बिनौली	१६२७
१४	श्री स्तवनावली	अम्बाला	१६३०	अम्बाला	१६३०
१५	श्री सत्तरा भेदी पूजा	अम्बाला	१६३६	अम्बाला	१६३६
१६	श्री वीसस्थानक पूजा	बीकानेर	१६४०	बीकानेर	१६४०
१७	श्री अष्टप्रकारी पूजा	पालीताना	१६४३	पालीताना	१६४३
१८	श्री नवपद पूजा	पट्टी	१६४८	पट्टी	१६४८
१९	श्री स्नात्र पूजा	जंडियालागुरु	१६५०	जंडियालागुरु	१६५०

सबके सब ग्रन्थ पढ़ने व मनन करने योग्य हैं—

अंधकार है वहां, जहां आदित्य नहीं है ।
अंधकार है वहां, जहां साहित्य नहीं है ॥

श्री दादा गुरुदेव के चौमासे कहाँ और कब हुए

स्थानकवासी पणे में किये हुए चौमासे के नाम	वि० संवत्	ईस्वी सन्	संवेगीपणे में किये हुए चौमासे के नाम	वि० संवत्	ईस्वी सन्
१ राणीया (सरसा)	१६११	१८५४	१ अहमदाबाद	१६३२	१८७५
२ सरगथल	१६१२	१८५५	२ भावनगर	१६३३	१८७६

३ जयपुर	१९१३	१८५६	३ जोधपुर	१९३४	१८७७
४ नागोर	१९१४	१८५७	४ लुधियाना	१९३५	१८७८
५ जयपुर	१९१५	१८५८	५ जण्डियालागुरु	१९३६	१८७९
६ रतलाम	१९१६	१८५९	६ गुजरांवाला	१९३७	१८८०
७ सरगथल	१९१७	१८६०	७ होशियारपुर	१९३८	१८८१
८ दिल्ली	१९१८	१८६१	८ अम्बाला शहर	१९३९	१८८२
९ जीरा	१९१९	१८६२	९ बीकानेर	१९४०	१८८३
१० आगरा	१९२०	१८६३	१० अहमदाबाद	१९४१	१८८४
११ मालेरकोटला	१९२१	१८६४	११ सूरत	१९४२	१८८५
१२ सरसा	१९२२	१८६५	१२ पालीताणा	१९४३	१८८६
१३ होशियारपुर	१९२३	१८६६	१३ राधनपुर	१९४४	१८८७
१४ बिनौली	१९२४	१८६७	१४ महेसाणा	१९४५	१८८८
१५ बडोत	१९२५	१८६८	१५ जोधपुर	१९४६	१८८९
१६ मालेरकोटला	१९२६	१८६९	१६ मालेरकोटला	१९४७	१८९०
१७ बिनौली	१९२७	१८७०	१७ पट्टी	१९४८	१८९१
१८ लुधियाना	१९२८	१८७१	१८ होशियारपुर	१९४९	१८९२
१९ जीरा	१९२९	१८७२	१९ जण्डियालागुरु	१९५०	१८९३
२० अम्बाला	१९३०	१८७३	२० जीरा	१९५१	१८९४
२१ होशियारपुर	१९३१	१८७४	२१ अम्बाला	१९५२	१८९५

प्रान्तः—पंजाब में—	मारवाड़ में—	मालवा में—	राजधानी दिल्ली में—	सौराष्ट्र में—	गुजरात में—	यू० पी० में
२३	६	१	१	२	५	४

कुल चौमासों की संख्या

४२

पंजाब के जैनमंदिरों के व श्री मूलनायकजी के नाम

गांव	मूलनायकजी	प्रतिष्ठा संवत्	मिती
५१ गुजरांवाला	श्री पार्श्वनाथजी	१९२०	वैसाख सुदि १३
५२ श्री आत्मानंद जैन भवन	,, वासु पूज्य स्वामीजी		
(समाधि मंदिर) गुजरांवाला	,,		

×३	श्री आत्मानद् जैन गुरुकुल पंजाब	श्री वासु पूज्य स्वामीजी		
×४	पपनाखा	,, सुविधिनाथजी	१६२२	आश्विन सुदि १०
×५	रामनगर	,, चिंतामणि पार्श्वनाथजी	१६२४	वैसाख वदि ७
×६	पिंडदादनखां	,, सुमतिनाथजी	१६२६	वैसाख सुदि ६
×७	किला शोभासिंग	,, शीतलनाथजी		
८	मालेरकोटला	,, पार्श्वनाथजी	१६४४	श्रावण वदि ७
९	मालेरकोटला	,, पार्श्वनाथजी	लोंकागच्छीय १६०२	
१०	अमृतसर	,, अरनाथजी	१६४८	वैसाख सुदि ६
११	जीरा	,, चिंतामणि पार्श्वनाथजी	१६४८	मगसर सुदि ११
१२	होशियारपुर	,, वासुपूज्य स्वामीजी	१६४८	माघ सुदि ५
१३	होशियारपुर	,, पार्श्वनाथजी	लोंकागच्छीय	
१४	पट्टी	,, मनमोहन पार्श्वनाथजी	१६५१	माघ सुदि १३
१५	पट्टी	,, विमलनाथजी	लोंकागच्छीय उपाश्रय में	
१६	अम्बाला शहर	,, सुपार्श्वनाथजी	१६५२	मगसर सुदि १५ पूर्णिमा
×१७	सनखतरा	,, धर्मनाथजी	१६५३	वैसाख सुदि १५ पूर्णिमा
१८	जंडियाला गुरु	,, ऋषभदेवजी	१६५७	माघ सुदि १३
१९	जंडियाला गुरु	,, पार्श्वनाथजी	लोंकागच्छीय १६५०	मगसर वदि १
२०	लुधियाना	,, कलिकुंडपार्श्वनाथजी	१६६:	माघ सुदि ५
२१	लुधियाना	,, सुपार्श्वनाथजी	लोंकागच्छीय	
×२२	नारोवाल	,, मुनि सुव्रत स्वामीजी	१६६६	माघ सुदि १३
×२३	मुलतान	,, पार्श्वनाथजी	१६६६	माघ सुदि १३
२४	समाना	,, शांतिनाथजी	१६७६	माघ सुदि १३
२५	गढदीवाला	,, ऋषभदेवजी	१६८०	जेठ सुदि ११
×२६	लाहोर	,, शांतिनाथजी	१६८१	मगसर सुदि ५
२७	जेजों	,, पार्श्वनाथजी	१६८६	मगसर वदि ५
२८	जालंधर	,, पार्श्वनाथजी	१६८६	मगसर सुदि ५
२९	मीयाणी	,, शांतिनाथजी		
३०	उडमढ	,, विमलनाथजी	१६८८	माघ सुदि ५

३१ जम्मु शहर	श्री महावीर स्वामीजी		
३२ वेरोवाल	,, पार्श्वनाथजी	१६८८	जेठ सुदि ५
३३ नकोदर	,, धर्मनाथजी		
३४ सढोरा	,, ऋषभदेव स्वामी	१६६५	मंगसर सुदि १०
३५ सुनाम	,, नेमिनाथजी	१६६५	माघ सुदि ७
×३६ खानगाडोगरा	,, शांतिनाथजी	१६६७	फागण वदि ६
×३७ कसूर	,, ऋषभदेव स्वामीजी	१६६६	पोष सुदि १५
३८ रायकोट	,, सुमतिनाथजी	२०००	वैसाख सुदि ६
×३६ स्यालकोट	,, चारशाश्वते जिन	२००३	मगसर सुदि ५
×४० पटियाला			
४१ नाभा	,, संभवनाथजी		यह शिखर वद्ध नहीं है, छोटे हैं
४२ जेहलम	,, चंद्रप्रभ स्वामीजी		
४३ राहों	,, पार्श्वनाथजी	उपाश्रय में	
४४ श्री शकर			
×४५ डेरागाजीखां	,, ऋषभदेव स्वामीजी		फागण वदि ३
×४६ लतम्वर	,, पार्श्वनाथजी		
×४७ वन्नू	,, अजितनाथजी	१६८८	माघ सुदि ५
×४८ कालावाग	,, अभिनन्दन स्वामीजी		
४६ फाजिलका	,, सुमतिनाथजी	१६६६	माघ
५० फाजिलका	,, चन्द्रप्रभ स्वामीजी	२००१	फागण सुदि ३
५१ भेरा	,, चद्रप्रभ स्वामीजी		यह तीनों ही प्राचीन तीर्थ हैं, जैनों के घर नहीं है धर्मशालायें हैं पुराणा कांगड़ा सरकारी किले में भगवान् की मूर्ति विराजमान है।
५२ कांगडा	,, ऋषभदेव स्वामीजी		
५३ हस्तिनापुर	,, शातिनाथजी		
५४ देहली	,, चार पांच मदिरजी		

पजाव में जो जैन मंदिर देख पड़ते आज हैं,
सद्धेतु उनके एक आत्माराम जी मुनिराज हैं।
उपदेश आत्मारामजी का यदि वहा होता नहीं,
तो जैनियों का स्वप्न में आलस कभी खोता नहीं ॥ (सूरि शतक काव्य ६८)

(×) इस चिन्ह वाले सब पाकिस्तान में चले गये हैं।

दादा गुरुदेव के समाधि मंदिर किस किस स्थान पर हैं

	प्रतिष्ठा संवत्	मिती
गुजरांवाला	१६६५	वैसाख सुदि ६
जीरा	२०००	जेठ वदि ७
होशियारपुर	२०००	जेठ सुदि १३
जंडियाला गुरु	२०१२	वैसाख सुदि ७
अमृतसर		

श्री दादा गुरुदेव के शुभ नाम से संस्थापित संस्थाएं

सूरीश के ही नाम पर हैं पुस्तकालय भी बने,
हैं फंड कितने ही खुले, हैं पाठनालय भी बने ।
जिनसे सदा है लाभ जनता का मही पर हो रहा,
जिन की प्रभा से देश यह अज्ञान-तम है खो रहा ॥

×१ श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल पंजाब गुजरांवाला
×२ ,, ,, विद्यालय गुजरांवाला
×३ ,, ,, कन्यापाठशाला ,,
४ ,, ,, कॉलेज अम्बाला शहर
५ ,, ,, हाईस्कूल ,, ,,
६ ,, ,, कन्यापाठशाला ,, ,,
७ ,, ,, लायब्रेरी ,, ,,
८ ,, ,, पब्लिक रिडींग रूम ,, ,,
९ ,, ,, हाईस्कूल मालेरकोटला
१० ,, ,, मिडिल स्कूल और विजयानंद जैन वाचनालय जण्डियाला गुरु
११ ,, ,, मिडिल स्कूल, कन्या पाठशाला होशियारपुर शहर
१२ ,, ,, श्री मिडिल स्कूल लुधियाना
१३ ,, ,, लायब्रेरी अमृतसर
१४ ,, ,, कन्या पाठशाला नारनोल
×१५ ,, ,, लायब्रेरी स्यालकोट शहर

१६ श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब

×१७ " " सभा लाहौर

× { श्री विजयानन्द जैन श्वेताम्बर कमेटी गुजरांवाला
श्री आत्मानन्द जैन सेवक मडल
श्री विजयानन्द जैन सेवक मडल
श्री आत्मानन्द जैन राष्ट्रीय मंडल " }

इसके उपरांत निम्न लिखित नगरों में श्री आत्मानन्द जैन सभाएँ हैं—

१.	लाहौर	६.	रायकोट
२	अमृतसर	१०.	जीरा
३.	जण्डियाला गुरु	११.	पट्टी
४.	जालधर	१२.	स्यालकोट
५.	होशियारपुर	१३.	जेहलम
६.	लुधियाना	१४.	खानगाडोगरा
७.	अम्बाला	१५.	रोपड
८.	मालेरकोटला	१६.	जम्मू शहर

आदि

श्री आत्मानन्द जैन गज अम्बाला :—

यहां से श्री आत्मानन्द जैन ट्रेक्ट सोसाइटी की तरफ से श्री आत्मानन्द जैन ट्रेक्ट (छोटी छोटी पुस्तकों की सीरीज) निकलती रही है।

श्री आत्मानन्द जैन सभा की ओर से श्री आत्मानन्द जैन शिक्षावली आदि पाठ्यपुस्तके भी प्रकाशित हुई है।

यहा से श्री 'आत्मानन्द' पत्र भी निकलता था।

इनके अतिरिक्त 'आत्म वल्लभ सेवक मंडल' इस नाम से भी प्रायः हर एक शहर में श्री गुरुदेव के नाम का छोटा या बड़ा मडल कायम है।

पंजाब के बाहिर :—

१	श्री आत्मानन्द जैन विद्यालय	सादडी
२	,, कन्यापाठशाला	,,
३	,, औषधालय	वेरावल
४	,, लायब्रेरी	,,
५	श्री आत्मानन्द जैन सेवक मंडल	सादडी
६	,, सेन्ट्रल लायब्रेरी	मादडी
७	श्री आत्मवल्लभ जैन सेवा समाज	देसूरी
८	श्री आत्मानन्द जैन पाठशाला	विजापुर
६	श्री आत्मवल्लभ जैन लायब्रेरी	लुणावा
१	,, पाठशाला	खुडाला
११	,, केलवणी फंड	पालणपुर
१२	आत्मानंद जैन पाठशाला	बडोदा
१३	आत्मारामजी जैन ज्ञान मदिर	
१४	आत्मानंद जैन पाठशाला	रतलाम
१५	,, लायब्रेरी	आशापुर
१६	,, ,,	जूनागढ
१७	,, ,,	पूना सिटी
१८	,, भवन	वालापुर
१६	,, सभा	भावनगर
२	,, ,,	वम्बई
२१	,, ,,	बीकानेर
२२	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मडल	आगरा
२३	आत्मारामजी जैन पाठशाला	डभोई
२४	श्री आत्मानद जैन विद्यालय	शिवगंज
२५	श्री आत्मवल्लभ जैन लायब्रेरी	बेडा
२६	श्री आत्मानंद जैन लायब्रेरी	बीजापुर
२७	श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल	झगडीया (गुजरात) इत्यादि

निम्न लिखित संस्थाये हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती मे पुस्तक प्रकाशित करके ज्ञान का प्रचार कर रही है।

श्री आत्मानन्द जैन सभा अम्बाला
श्री आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल आगरा
श्री आत्मानंद जैन सभा भावनगर

श्री आत्मानद जैन सभा भावनगर—'आत्मानद जैन प्रकाश' मासिक पत्र निकालती है।
श्री आत्मानन्द जैन सभा बम्बई —'विजयानद' त्रैमासिक तथा पुस्तके प्रकाशित करती है।

दादा गुरुदेव की मूर्तियें पंजाब में और पंजाब के बाहिर कहां कहां ?

पंजाब मे—

१ गुजरांवाला शहर
२ गुजरांवाला श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल
३ लाहौर
४ अमृतसर
५ लुधियाना
६ अम्बाला शहर
७ होशियारपुर
८ रोपड
९ मियांणी
१० समाना
११ सढौरा
१२ रायकोट
१३ जीरा
१४ कसूर
१५ पट्टी
१६ नकोदर
१७ मालेरकोटला

१८ खानगाडोगरा
१९ नारोवाल
२० स्यालकोट
२१ पिंडदादनखां
२२ फ़ाजिलका बंगला
२३ मुलतान आदि
२४ जण्डियालागुरु समाधि मंदिर में मूर्ति
२५ जण्डियालागुरु मदिर में चरण पादुकाएँ
२६ सनखतरा मंदिर में चरण पादुकाएँ

अन्य भी कई नगरों व गांवों में चरण पादुकायें हैं।

पंजाब के बाहिर—

१ श्री सिद्धाचलजी तीर्थ पर दादाजी की मुख्य टूंक में
२ वल्लभीपुर (वला)
३ श्री गिरनारजी तीर्थ पर
४ जामनगर शहर
५ बडौदा शहर
६ सूरत
७ अहमदाबाद
८ खंभात
९ पालनपुर
१० इडरगढ़
११ पाली
१२ बदनावर
१३ बीकानेर
१४ बालापुर
१५ करचलिया
१६ दरापुरा
१७ जयपुर
१८ डभोई

१६ पादरा

२० पालीताणा

२१ पाटण वगैरह

इत्यादि नगरों के मन्दिरों में मूर्तिएँ और स्थान २ पर आपकी भव्य तस्वीरों से उपाश्रय सुशोभित हैं।

पंजाब के ज्ञान भंडार और उपाश्रय

×१ गुजरांवाला
×२ लाहौर
३ अमृतसर
४ जण्डियालागुरु
५ वेरोवाल
६ पट्टी
७ जीरा
८ होशियारपुर
९ जालन्धर
१० रोपड
११ लुधियाना
१२ अम्बाला
१३ समाना
×१४ नारोवाल
×१५ सनखतरा
१६ मालेरकोटला
×१७ कसूर
१८ रायकोट
×१९ स्यालकोट
२० जम्मू शहर
×२१ रामनगर
×२२ पपनाखा
×२३ खानगाडोगरा

×२४ मुलतान

×२५ डेरागाजीखां

पंजाब से बाहर उपाश्रय व धर्मशाला

श्री आत्मानंद जैन उपाश्रय बड़ोदरा

,, ,, ,, ,, सिनार

श्री आत्मानन्द जैन उपाश्रय हस्तिनापुर (यू० पी०)

,, ,, पंजाबी धर्मशाला पालीताणा (सौराष्ट्र)

,, ,, आत्मवल्लभ जैन धर्मशाला देहली

,, ,, जैन भवन जयपुर (राजस्थान)

आदि में वहाँ के श्री मूलनायकजी के और श्री दादा गुरुदेव के नाम से श्री ज्ञान भंडार है और श्री गुरुदेव के नाम से (श्री आत्मानंद जैन उपाश्रय) तथा गुजरांवाला, लुधियाना, अम्बाला आदि में धर्मशालाएँ भी हैं।
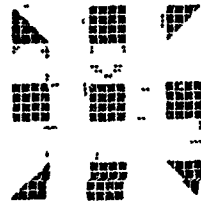
पूज्यपाद्, परमगुरुदेव, अज्ञान-तिमिर-तरणि, कलिकाल-कल्पतरु, भारत-दिवाकर, समयज्ञ, पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य भगवंत १००८

श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज साहेब

के सदुपदेश से इस पुस्तक के सहायकों की

शुभ नामावली

---

५०१) श्रीसंघ पाटन मंडल मरीनड्राईव बम्बई।

२५०) प्रतिष्ठादि विधिविधानकारक धर्मप्रेमी सेठ बालुभाई उत्तमचन्द सूरत अपनी गृहस्थपने की सुपुत्री साध्वीजी श्री जयन्तप्रभाश्री जी की बडी दीक्षा की खुशी में।

२०१) श्राविका श्रीसंघ बम्बई हस्ते ताराबेन जीवनलाल (साध्वी भद्राश्रीजी के उपदेश से)

२०१) श्रीमति सेठाणी धनीबाई (सेठ भेरुदानजी सेठिया की सौभाग्यवति धर्मपत्नि) प्रवर्तनी साध्वी श्री हेमश्रीजी के उपदेश से, हस्ते सेठ भेरुदानजी जुगराजजी सेठिया बीकानेर।

१५१) शाह रीखबचन्दजी कान्तिलालजी बम्बई।

१०१) सेठ मूलचन्दजी विमलचन्दजी हस्ते सागरमलजी बम्बई।

१०१) श्री शान्ताक्रुझ जैन तपगच्छ संघ बम्बई (गणीवर्य श्री इन्द्रविजयजी के उपदेश से)

१०१) श्री बान्दरा जैन संघ बम्बई हस्ते घेनमलजी (श्री बलवन्तविजयजी के उपदेश से)

१०१) शाह भीखाचन्द लल्लुचन्द ककलजीवाला बम्बई हस्ते गजराबेन (गणीवर्य जनक विजयजी के उपदेश से)

१०१) एक सद्गृहस्थ हस्ते बाबूलाल तिलोकचन्द बम्बई

१०१) मणीलाल जमनादास हस्ते जासुदबेन (गणिवर्य जनक जिनविजयजी के उपदेश से) बम्बई।

१०१) गिरधरलाल त्रीकमलाल हस्ते धीरूभाई बम्बई

१०१) श्री संघ जुनेर हस्ते मोतीलाल दलीचन्द (साध्वीश्री चित्तश्रीजी के उपदेश से) महाराष्ट्र।

१०१) जेठालाल मोतीचंद, देवचन्द एण्ड कं० मलाड (गणिवर्य जनक विजयजी के उपदेश से)

१०१) सेठ छोटालाल देवचंद हा. बाबुभाई बम्बई।

१०१) सेठ कांतीलाल प्रभुदास जवेरी बम्बई।

१०२) शा० हजारीमलजी प्रेमचन्दजी भीखीबेन बम्बई।

१०२) शा० पुखराजजी, पृथ्वीराजजी वालीवाला, बम्बई।

१०१) शा० कीका भाई नानचन्द ह. कमलाबहन, सुरत।

५१) मूलचन्द हीराचन्द जामनगर वाला बम्बई।

५१) शा० वाडीलाल दोलतराम बम्बई।

५१) श्री वर्धमान जैन पाठशाला के विद्यार्थियों की तरफ से बम्बई।

५२) शा० रसीकलाल केशवलाल बम्बई।

५१) शा० भीकमचन्द चीमनाजी कोठारी बम्बई।

५१) मेहता वनमालीदास जवेरचन्द बम्बई।

५१) शा० सरदारमल गमनाजी बम्बई ह० हरखचन्द।

५१) पारी दलपतलाल चन्दूलाल बम्बई।

५१) सेठ रमणलाल भगवानदास बम्बई।

५१) शा० जगजीवनदास प्रागजी, बम्बई।

५१) शा० चंदुलाल खुशालचन्द जवेरी बम्बई।

५१) कीसनाजी श्रेसमलजी बम्बई।

५१) शा० हिंमतलाल मणीलाल भोला बम्बई।

५०) शेसमलजी कस्तूरचन्दजी बम्बई।

३१) शा० फूलचन्द फतेचन्द न्यायविजयजी के उपदेश से) बम्बई

३१) सेठ द्वारकादास धनजी ह. बृजलाल, बम्बई।

२५) फूलचन्द मूलचन्द बम्बई।

२५) दलाल प्रेमचन्द भानजी बम्बई।

२५) भीखाभाई वजेचन्द बम्बई ह. कान्तीभाई।

२५) शा० कान्तीलाल खेमचन्द बम्बई।

२५) कान्तीलाल ताराचन्द बम्बई।

२५) मूलचन्दजी ऋषभचन्दजी डागा कलकत्ता।

२५) कल्याणजी वीरजीभाई बम्बई ।

२५) सूरजमलजी सिद्धकरणजी डागा बीकानेर ।

२५) शा० नथमलजी दलीचन्दजी पोमावा वाले, बम्बई ।

२५) पालेज श्री श्राविका संघ, सुधर्मा श्रीजी महाराज के उपदेश से हस्ते रमणलाल न. परीख ।

२५) गुलाबचन्दजी मानेकचन्दजी सादड़ी।

२५) जवेरी कन्हैयालाल भोगीलाल अहमदाबाद ।

२५) छोगमलजी कुन्दनमल कम्पनी बम्बई ।

२५) जमनालाल मनरूपलाल बम्बई ।

२५) शा० सरेमल बाबूलाल की कम्पनी बम्बई ।

२५) जडावचन्द जवेरचन्द पगारीया ठि० ग्राम जावरा ।

२५) शा० केशवलाल रवचन्द बम्बई ।

२५) शा० प्राणलाल रामजीभाई बम्बई ।

२५) हरकिसनदास मोतीलाल चावाले बम्बई ।

२५) कांतीलाल केशवलाल बम्बई ।

२५) शा० भीकमचन्द कालुराम चबुर (बम्बई)

२५) शा० पुकराज गंगारामजी बकर बम्बई ।

२५) नटवरलाल छोटालाल बम्बई ।

२५) रुपचन्द सुराना C/o. मूलचन्द रुपचन्द बम्बई ।

२५) शा० ताराचन्द पुनमचन्द पद्मविजयजी के उपदेश से [गुजरात] मु० व्यारा [वाया सुरत]

पंजाब के सहायकों की शुभ नामावली

(वर्तमान निवास) आगरा (यू. पी.)

१०१) ला० जगन्नाथ दीवानचन्द जैन दुगड गुजरांवालिया ।

१०१) ला० मानकचन्द छोटालाल दुगड गुजरांवालिया ।

११) ला० सुन्दरदास विलायतीराम जैन लोढ़ा गुजरांवालिया ।

११) ला० हंसराज राजकुमार जैन लोढ़ा गुजरांवालिया ।

२१) ला० चुनीलाल लाभचन्द जैन मुन्हानी गुजरांवालिया

११) ला० कुन्दनलाल विजयकुमार जैन बरड़ गुजरांवालिया ।

११) ला० सरदारीलाल जयकुमार जैन मुन्हानी गुजरांवालिया ।

११) ला० पिंडीदास परमानन्द जैन अनविद पारख गुजरांवालिया ।

११) ला० मथुरादास दीनानाथ दुगड गुजरांवालिया।
११) ला० लच्छमनदास फकीरचंद बरड गुजरांवालिया।
११) ला० कुलजसराय कपूरचंद गदीये रामनगरवाले।
११) ला० गनपतराय चंचलदास जैन दुगड लाहोरवाले।
११) ला० ज्ञानचन्द तिलकचन्द दुगड जैन कसूरवाले।
११) ला० साहबदयाल उदयचन्द जैन गदीये रामनगरवाले।
२१) ला० रतनचन्द रिषभदास जैन गदीये हुशियारपुरवाले।

अम्बाला (पंजाब)

२०१) ला० गनेशदास प्यारालाल जैन बरड [रायसाहब] गुजरांवालिया
२०१) ला० सुन्दरदास हरखचन्द विजयकुमार जैन मुन्हानी गुजरांवालिया
१८) ला० ठाकरदास पन्नालाल जैन दुगड गुजरांवालिया।
१८) ला० गनेशदास प्यारालाल जैन बरड गुजरांवालिया।
१८) ला० चोखेशाह सुन्दरदास जैन मन्हानी गुजरांवालिया।
१८) ला० दीवानचन्द मनोहरलाल जैन दुगड गुजरांवालिया।
११) ला० जसवंतराय रोशनलाल जैन दुगड गुजरांवालिया।
११) ला० बुटामल दीवानचन्द जैन बरड गुजरांवालिया।
११) ला० अनतराम कस्तूरीलाल जैन दुगड गुजरांवालिया।
१८) ला० पंजुशाह धरमचन्द जैन नारोवालिया।
१८) ला० मानकचन्द विरशंतकुमार जैन मुन्हानी लाहोरवाले।
१८) ला० मास्टर विद्यासागर जैन हुशियारपुरवाला।
१८) ला० ताराचन्द निरंजनलाल जैन अम्बाला शहर।
१८) ला० संतराम मगतराम जैन अम्बाला शहर।

१८) ला० आत्माराम हुकमचन्द जैन	अंबाला शहर	साध्वी श्री शीलवतीश्री के उपदेश से
१८) ला० आत्माराम चरनदास जैन	,,	,,
११) ला० दोलतराम वचनदास जैन	,,	,,
११) ला० गोपीचन्द किशोरीलाल जैन	,,	,,
१८) ला० गोपीचन्द बाबू रिखबदास वकील जैन	,,	,,
१८) ला० जीशुखराय धरमप्रकाश जैन	,,	,,
११) ला० मुकन्दीलाल चरनदास जैन	,,	,,

१८) ला० गंगाराम बनारसीदास विजयकुमार जैन अंबाला शहर	साध्वी श्री शीलवतीश्री के उपदेश से	
११) ला० बनारसीदास टेकचन्द जैन	"	"
११) ला० बाबूराम मदनलाल जैन दुगड़	"	"
११) ला० प्यारालाल राजकुमार जैन	"	"
११) ला० वीरभाण नेमदास जैन	"	"
५४) ला० मुनिलाल ओमप्रकाश जैन	"	"
११) ला० कश्मीरीलाल चमनलाल जैन	"	"
१८) ला० दीपचन्द ओमप्रकाश जैन	"	"
१८) ला० मुनिलाल कीर्तिलाल जैन	"	"

१८) ला० सदासुखराय केशरदास जैन अम्बाला
११) ला० इन्दरसेन प्रेमचन्द जैन अम्बाला
१८) ला० सुन्दरदास रोशनलाल जैन अम्बाला
७) ला० ब्रिजलाल तरसेमकुमार जैन अम्बाला शहर

जंडियालागुरु (पंजाब)

१०१) ला० टेकचन्द दुर्गादास जैन जडियालागुरु
२१) ला० मोतीलाल शादीलाल जैन गुजरांवालिया
११) ला० मरदारीलाल भगत दोहडा जैन जडियालागुरु
११) ला० चरनदास की धर्मपत्नी विमलावती जडियालागुरु
११) ला० मोकमचन्द दुगड़ जैन की धर्मपत्नी जडियालागुरु
२५) ला० खजाञ्चीलाल राजकुमार मुन्हानी लाहोरवाले
२५) बाईओं का उपाश्रय जडियालागुरु

(वर्तमान निवास) शिवपुरी (मध्यभारत)

११) ला० अमीचन्द कुंजलाल जैन कसूरवाला
११) ला० हंसराज तिलकचन्द जैन जंडियालागुरु वाला
११) ला० रुडामल डिप्टीकुमार जैन जडियालागुरु वाला
११) ला० रतनचन्द मस्तराम जैन जडियालागुरु वाला
११) ला० खजाञ्चीलाल गिरधारीलाल मुन्हानी गुजरांवालिया
११) ला० दिवानचन्द खजानचन्द जैन लिगा गुजरांवालिया

११) ला० भगतराम जंगीरीलाल जैन मुन्हानी गुजरांवालिया
२८१) ला० खजाञ्चीलाल जैन बुरड़ गुजरांवालिया हाल जयपुर ।
१०१) ला० पन्नालाल कुन्दनलाल जैन साढ़ोडावाले

लुधियाना (पंजाब)

१०००) श्री संघ लुधियाना ।
५१) ला० बक्तावरसिंह केदारनाथ जैन आलूवालिया लूधियाना

सनाम (पंजाब)

११) ला० बालकराम चिरंजीलाल जैन अग्रवाल ।
११) ला० खजाञ्चीलाल जसवंतराय जैन गुजरांवालिया ।
११) ला० लालचन्द सत्यपाल जैन संखतरावाला ।
११) ला० काशीराम जैन अग्रवाल ।
२४) श्री जैन संघ सनाम ।

रोपड (पंजाब)

२१) ला० हीरालाल की धर्मपत्नी कटोरीबाई जैन रोपड ।
११) ला० हीरालाल हंसराज जैन रोपड ।
११) ला० हीरालाल लछमनदास जैन रोपड ।
११) ला० जगन्नाथ लाहोरीमल जैन दुगड़ गुजरांवालिया रोपड ।